THE ABHIJÑĀNA-ŚĀKUNTALAM

OF

KĀLIDĀSA

Edited

With the Sanskrit Commentary, Hindi Translation,
Critical and Explanatory Notes
and Literary Introduction

by

Dr. R. S. Tripathi
Incharge, Manuscript Section,
Central Library, B. H. U.
Varanasi-5

VISHWAVIDYALAYA PRAKASHAN
VARANASI

कविता-कामिनी-विलास महाकवि कालिदास संस्कृत के मूर्द्धाभिषिक्त कवि हैं, भारतीय संस्कृति के उन्नायक हैं। आर्य-सभ्यता के प्रसारक हैं, संस्कृत भाषा सहचरी के लास्य हैं। वस्तुतः संस्कृत कविता कालिदास की कला को पाकर अपने को सौभाग्यवती समझती है, कृतकृत्य मानती है।

यदि आपको कविता की सुकुमारता देखनी हो, भावों की सागर-सदृश गहराई और हिमालय-तुल्य ऊँचाई पर उतरना एवं चढ़ना हो, शारदी ज्योत्स्ना तथा वासन्ती वैभव का एकत्र सम्मिश्रण देखना हो, ग्रीष्म के धर्म-विन्दुओं एवं शिशिर के तुहिन-कणों की विशिष्टता का एक साथ आकलन करना हो तो महाकवि की अमृत-निष्यन्दिनी लेखनी के अखण्ड फल अभिज्ञानशाकुन्तल को आप एक बार अवश्य पढ़ें।

विश्व-विश्रुत इस अनुपम नाटक के पीछे संसार का समग्र शिक्षित समुदाय दीवाना है। एक वार भी पारायण करने वाला व्यक्ति जीवन भर के लिए इसे कण्ठाहार बनाने हेतु लालायित रहता है, अपने को धन्य-धन्य समझता है। क्या द्राक्षा की माधुरी जीवन में कभी भुलाई जा सकती है ?

यद्यपि इस नाटकरत्न के बहुत से संस्करण निकल चुके हैं। फिर भी इस संस्करण को सर्वथा अनुपम बनाने का प्रयास किया गया है। यह संस्करण कालिदास की कविता-कामिनी के सौन्दर्य का यथार्थ आस्वादन कराता है। किसी भी श्रेणी के व्यक्ति के लिए—चाहे वह अध्येता हो या राजनेता, अध्यापक हो या विचारक, विद्यार्थी हो या ज्ञानार्थी—यह संस्करण अवश्य ही संग्रहणीय है।

महाकविकालिदासप्रणीतम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

रमानाम्न्या संस्कृतटीकया राष्ट्रभाषानुवादेन
टिप्पण्या शोधपूर्णया भावसंवलितया
विस्तृतभूमिकया च सनाथीकृतम्
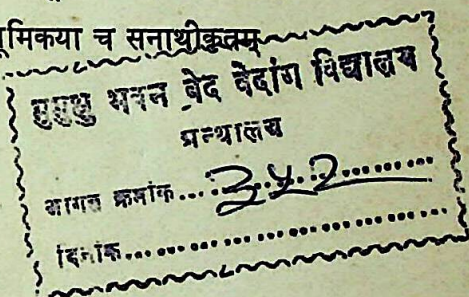
टीकादिप्रणेता सम्पादकश्च

डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी

व्याकरणाचार्यः, पुराणेतिहासाचार्यः (लब्धस्वर्ण-
पदकः), एम० ए०, पी-एच० डी०,
पाण्डुलिपि-विभागाध्यक्षः,
केन्द्रीयग्रन्थालयः
काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः
वाराणसी-५

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९७७ ई०

मूल्य : बीस रुपये (सजिल्द)

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

मुद्रक

भार्गव भूषण प्रेस, त्रिलोचन, वाराणसी

२८/४–७७

समर्पणम्

प्राच्य-पौरस्त्योभयविधविद्यानिष्णातानां दर्शनाटवीपञ्चाननानां
न्यायसिद्धान्तसिद्धानां सहृदयानां सनातनधर्माचरणपूतानां
काशीहिन्दुविश्वविद्यालये दर्शनविभागाध्यक्षपदमलं-
कुर्वतां विदुषां
सरस्वतीसमाराधकानां
पं० रुद्रधर झा महाभागानां
करकमलयोः सादरं
समर्पयति

—रमाशङ्कर त्रिपाठी

प्राक्कथन

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का यह नूतन संस्करण सरस्वती के सेवकों की सेवा में प्रस्तुत होने जा रहा है। 'छात्रों को अधिक-से-अधिक सहायता पहुँचाई जा सके' इस बात को ध्यान में रखते हुए यह संस्करण तैयार किया गया है। कोई भी व्यक्ति इस संस्करण के माध्यम से, बिना किसी की सहायता लिये हुए भी कविता-कामिनी-विलास महाकवि कालिदास के गम्भीर भावों की तलहटी तक अनायास पहुँच सकता है। अध्यापकों, आलोचकों तथा नयी और पुरानी विचारधाराओं के विद्वानों के लिये भी इस संस्करण का उतना ही महत्त्व हो जितना कि छात्रों के लिए—एतदर्थ भी प्रयास किया गया है। प्रारम्भ में अनुसन्धानात्मक भूमिका के साथ इस संस्करण को अन्वय, शब्दार्थ, अर्थ, संस्कृत टीका तथा टिप्पणी आदि से सज्जित करने का भरपूर प्रयास किया गया है। उद्देश्य में कहाँ तक सफलता मिली है, इसका मूल्याङ्कन मेरा काम नहीं है। संक्षेप में यह प्रयास किया गया है कि यह संस्करण काव्य के अर्थ एवं भाव को स्वच्छ दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित कर पाठकों की नम्र अपेक्षित सेवा कर सके।

किसी महाकवि की कविता के भावों को सरल शब्दों में पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने में जो कठिनाइयाँ होती हैं, उन्हें कोई भुक्तभोगी विद्वान् ही जान सकता है। इस प्रकार के कार्य के लिये सारस्वत साधना के साथ ही बाह्य सुविधाओं का होना भी नितान्त आवश्यक है। अन्यथा व्यक्ति को महती कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मेरे लिये तो ये कठिनाइयाँ और बढ़ जाती हैं। यतः मैं विश्वविद्यालय का वेतन-भोगी सेवक हूँ। अपने परिवार का अभिभावक हूँ। बालक बालकृष्ण, आनन्दकृष्ण एवं श्रीकृष्ण का सम्मानित शिक्षक हूँ। तीन वर्षीय बालक 'राधाकृष्ण' का क्रीडा-सहचर हूँ। अपनी आयु के प्रायः नव मास व्यतीत करनेवाले बालक 'गोपालकृष्ण' का धातृकर्मसहायक हूँ। घर का सार्वकालिक अवैतनिक सेवक हूँ। कहाँ तक कहूँ? बस, यही समझ लिया जाय कि मैं एक गृहस्थ हूँ। इस तरह के व्यक्ति को वैचारिक मन्थन में कितनी कठिनाइयाँ होती हैं? इसे तो कोई गृहस्थ लेखक या विचारक ही समझ सकता है। फिर भी मैंने इस कार्य को पूर्ण किया है। एतदर्थ ईश्वर और गुरुचरणों के आशीष का विशेष आभार मानता हूँ।

अभिज्ञानशाकुन्तल के इस संस्करण को वर्तमान रूप देने में संस्कृत, हिन्दी तथा अँग्रेजी के कतिपय प्राप्त संस्करणों से सहायता उपलब्ध हुई है। पाठ की दृष्टि से श्री एम० आर० काले के द्वारा सम्पादित संस्करण विशेष सहायक सिद्ध हुआ है। निर्णय सागर का संस्करण भी इस बात में निर्णायक रहा है। हिन्दी-संस्करणों में साहित्य-

संस्थान, इलाहाबाद का संस्करण पर्याप्त प्रेरणादायक रहा। इनके अतिरिक्त जिन भी विद्वान् लेखकों की कृतियों से सहायता मिली है उनका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

इस संस्करण को पूर्ण रूप देने में सहायक सुश्री शान्ति त्रिपाठी को साधुवाद देते हुए सन्तोष का अनुभव हो रहा है।

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, के सुयोग्य सञ्चालक मित्र पुरुषोत्तमदासजी मोदी, भी अपने सहयोगात्मक कृत्यों के लिये धन्यवादार्ह हैं।

कृष्ण जन्माष्टमी

वि० सं० २०३४

५-९-१९७७

—रमाशङ्कर त्रिपाठी

कालिदास का व्यतित्व एवं कृतित्व

अभिज्ञानशाकुन्तल महाकवि कालिदास की लेखनी का अमृत-निष्यन्द है। विश्व-वन्द्य इस नाटकरत्न को पढ़ने से प्रतीत होता है कि महाकवि की लेखनी कल्पतरु की सुकुमार शाखा की बनी थी। वे कामधेनु के नवनीत को जलाकर मसी बनाते थे। उसमें अमृत की धार उड़ेल कर उसे तरल करते थे। फिर भूर्जपत्र के अतिपावन खण्डों पर, शारदी कौमुदी के पुनीत वितान के नीचे बैठकर, अपने काव्य का श्रीगणेशायनमः करते थे। यदि यह बात न होती तो उनके काव्यों में द्राक्षा की माधुरी, ज्योत्स्ना की स्निग्धता तथा कुन्द की मादक सुरभि की उमड़ती पवित्र त्रिवेणी का पावन सङ्गम कैसे होता ? अभिज्ञानशाकुन्तल महाकवि की प्रतिभा का अनुपम अखण्ड फल है। यह नाटक अकेली वह सीढ़ी है, जिस पर चढ़कर कालिदास विश्व-महाकवि-परिग्रह् के सर्वोच्च सिंहासन पर विराजमान हुए थे। किन्तु ऐसा विश्ववन्द्य कवि कब और कहाँ हुआ ? इसे सही-सही सिद्ध कर पाना इतिहासकारों के लिये आज भी जटिल समस्या है।

(क) कालिदास का काल

संस्कृत के काव्य-गगन में महाकवि कालिदास कब उदित और सुप्रसन्न हो आलोकित हुए इसका निर्देश स्वयं उन्होंने कहीं नहीं किया है। अत्यन्त विनयी एवं निःस्पृह होने के कारण उन्होंने स्वरचित नाटकों में पुरानी परिपाटी का अनुसरण कर केवल अपना नाम-निर्देश भर कर दिया है। किन्तु काव्यों में तो यह भी छोड़ दिया है। धन एवं वैभव की लालसा से प्रेरित होकर उन्होंने अपने आश्रयदाता के सम्बन्ध में एक भी प्रशस्तिपंक्ति नहीं लिखी है। यदि परोक्षभाव से किए हुए उल्लेखों को छोड़ दें, तो अपने नाम की ही भाँति आश्रयदाता के नाम का भी उन्होंने कहीं अपने ग्रन्थों में उल्लेख नहीं किया है। संस्कृत भाषा के कवियों के लिये यह कोई नवीन बात नहीं है। कविता-कामिनी के हास महाकवि भास, भाषा-विभूति भवभूति तथा संस्कृत के क्रान्तिकारी कवि शूद्रक प्रभृति महाकवियों ने भी अपने सत्ता-काल एवं आश्रयदाता आदि के विषय में कुछ भी, या कुछ भी खास, निर्देश नहीं किया है। अपनी प्रतिभा के प्रकाश से विश्व को आलोकित करने वाले इन महाकवियों ने अपनी दैशिक तथा कालिक परिधि के उल्लेख की कोई आवश्यकता ही न समझी। इस अकिञ्चित्कर बात की ओर उनका ध्यान ही न गया। इसे वे अहं का प्रकाशन समझते थे। वस्तुतः वे सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक थे। उनकी महत्ता की इयत्ता देश तथा काल से घेरी नहीं जा सकती। अपने स्थान और काल की बात को लिखना वे अधिक महत्त्वपूर्ण न समझते थे।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि कुछ सदियों पूर्व इस तरह की बात लिखने की परम्परा भारत में प्रचलित न थी। उनकी कृतियों को लेकर कभी इतिहास के भव्य भवन का निर्माण होगा—कदाचित् यह बात उनके सामने न थी। वे केवल वर्तमान-कालिक अपनी कीर्ति से ही सन्तुष्ट थे। यही कारण है कि अन्य कवियों की तरह महाकवि कालिदास ने भी अपने निवास और समय के विवरण को नहीं दिया है। फिर भी यहाँ उनके विषय में विचार करके तथ्य को प्रत्यक्ष करने का प्रयास किया जा रहा है:—

(अ) **स्थितिकाल**—कालिदास का काल-निर्धारण आरम्भ से आज तक विद्वान् आलोचकों के विवाद का विषय बना हुआ है। विभिन्न आलोचकों ने ईसापूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की छठी शताब्दी पर्यन्त इस महाकवि का विभिन्न काल बतलाया है। किन्तु अन्य मत तो केवल थोथी दलील भर हैं। इनमें केवल दो मत प्रधान हैं, जिन्हें विद्वानों का आदर-सम्मान मिल सका है :—

(१) प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत, और (२) चतुर्थ शताब्दी ई० पू० या गुप्त-कालीन मत।

विद्वान् आलोचकों ने महाकवि कालिदास के पूर्वोत्तरवर्ती काल की दो स्पष्ट सीमायें स्वीकृत की हैं। इस महाकवि ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' का कथानक शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र के चरित्र से लिया है। अग्निमित्र मौर्यवंश का विनाश कर मगध साम्राज्य का आधिपत्य अपने अधिकार में लेने वाले सेनापति पुष्यमित्र का सुयोग्य पुत्र था। विद्वानों ने इसका समय ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व निर्धारित किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि कालिदास का समय इससे पूर्व नहीं हो सकता। यह तो हुई पूर्ववर्ती सीमा। अब उत्तरवर्ती सीमा की ओर आइए। कालिदास के नाम का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम कन्नौजाधिपति सम्राट् हर्षवर्धन (६०६-६४७ ई०) के आश्रित कवि गद्य-सम्राट् महाकवि बाण द्वारा विरचित 'हर्षचरित' की प्रस्तावना में किया गया है।[1] पुलकेशी द्वितीय के दक्षिण भारत के 'ऐहोल' नामक ग्राम में प्राप्त हुए शिलालेख (६३४ ई०) में भी इस महाकवि के नाम का सादर उल्लेख हुआ है।[2] ये दोनों ही उल्लेख ईसा की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के हैं। अतः इसके पूर्व ही कालिदास का आविर्भाव सिद्ध होता है। ईसा की सप्तम शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अनन्तर इस महाकवि का काल सिद्ध करने का प्रयास उपहासास्पद होगा। इस प्रकार कालिदास का काल ई० पू० १५० वर्ष के बाद तथा सप्तम शताब्दी के पूर्व कहीं न कहीं होना चाहिए।

इन कतिपय मतों की समीक्षा करने के पूर्व यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि भारतीय परम्परा कालिदास का संबन्ध किसी 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी प्रतापी राजा

---

१. निर्गतासु न वा कस्य कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्वीव जायते ॥ हर्षचरित।

२. स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥—ऐहोल शिलालेख।

से स्थापित करती हैं। इसके साथ ही यह भी माना गया है कि इसी विक्रमादित्य ने शकों को परास्त कर शकारि या शकाराति होने के यश का भागी बना था। अभिनन्द विरचित रामचरित में कहा गया है कि—'कालिदास की कृतियों को 'शकारि' अथवा 'शकाराति' राजा ने प्रसिद्धि प्रदान की।'[१] सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता में विक्रमादित्य के काव्य-प्रेमी होने का उल्लेख किया है।[२] सुभाषित के एक श्लोक में यह कहा गया है कि कालिदास ने विक्रमार्क (विक्रमादित्य) का वर्णन अपने काव्य में किया है।[३] लोक प्रचलित आख्यानों के आधार पर निर्मित ये सुभाषित एक सुदीर्घ परम्परा को द्योतितं करते हैं। अतः इन्हें सर्वथा मिथ्या नहीं माना जा सकता। 'ज्योतिर्विदाभरण' में कालिदास को विक्रमादित्य के नवरत्नों में गिनाया गया है।[४] कुछ लोग ज्योतिर्विदाभरण को कालिदास की ही कृति मानने के पक्षपाती हैं। ये सभी उल्लेख यह प्रमाणित करते हैं कि 'शकारि' 'शकाराति' 'विक्रम' 'विक्रमार्क' तथा 'विक्रमादित्य'—ये सभी उपाधियाँ किसी एक ही पराक्रमी राजा से सम्बद्ध हैं। इसी विक्रमादित्य संज्ञाधारी राजा ने शकों का मानमर्दन किया था। इसी ने अपने समय के विद्वानों को आश्रय देकर विद्या तथा कविता के क्षेत्र में क्रान्ति की लहर पैदा कर दी थी। कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के नामकरण में तथा पात्रों के संभाषण में दो स्थानों पर विक्रम शब्द का सहेतुक प्रयोग किया है[५]। इससे प्रतीत होता है कि वे अपने आश्रयदाता की ओर संकेत कर रहे हैं।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत—जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि भारतीय परम्परा कालिदास को विक्रमादित्य से सम्बद्ध मानती है। विक्रमादित्य के साथ कालिदास का सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि जब कभी किसी राजा ने विक्रमादित्य का विरुद धारण किया तभी उसके साथ कालिदास की कहानियाँ जोड़ दी गई। इस प्रकार विना तर्क एवं उपपत्ति की कल्पना किये ही लोग ऐसा कर डालते हैं। ऐसे लोग ११वीं शताब्दी के राजा भोज के साथ भी कालिदास को लाकर खड़ा कर देने में नहीं हिचकते। वर्तमान

---

१. हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः।
ख्यातिं कामपि कालिदासकृतयो नीताः शकारातिना॥—रामचरित।

२. सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कंकः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥—वासवदत्ता।

३. वल्मीकप्रभवेण रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजः।
व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्रीविक्रमार्को नृपः॥—सुभाषित।

४. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वररुचिर्नवविक्रमस्य॥—ज्योतिर्विदाभरण।

५. 'दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।'—विक्रमोर्वशीय, अंक १।
'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः।—वही, अंक १।

समय में प्रचलित विक्रम संवत् का आरम्भ ५७ वर्ष ई० पू० से होता है। अतः कतिपय विद्वान् ई० पू० प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य की स्थिति मानकर कालिदास को ई० पू० प्रथम शताब्दी में रखने का प्रयास करते हैं। विक्रम संवत् का ई० पू० ५७ वर्ष से आरम्भ होना ही इस मत के पोषकों के लिये एक बड़ा भारी आधार वन गया है। ये लोग विक्रमादित्य को ई० पू० प्रथम शतक में रखने के लिये निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं—(१) सोमदेव के 'कथासरित्सागर' में उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य का उल्लेख है। 'कथासरित्सागर' गुणाढ्य रचित 'वृहत्कथा' पर आश्रित है। गुणाढ्य का काल लगभग ७८ ई० माना जाता है। इन लोगों का कथन है कि प्रथम शताब्दी में रचित 'वृहत्कथा' तथा उसके आधार पर निर्मित ग्रन्थ 'कथासरित्सागर' ऐतिहासिक सामग्री के विषय में प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। गुणाढ्य विरचित 'वृहत्कथा' मिलती ही नहीं है। 'कथासरित्सागर' के अनुसार विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा परमारवंशी महेन्द्रादित्य का पुत्र था। इसने शकों को परास्त किया तथा इस महत्त्वपूर्ण घटना के उपलक्ष्य में उसने अपने नाम से विक्रम संवत् का प्रवर्तन किया। (२) सातवाहन राजा हाल (प्रथम शताब्दी ई०) ने अपने ग्रन्थ 'गाथा-सप्तशती' में विक्रमादित्य का उल्लेख किया है।

किन्तु यह मत भ्रामक है। ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य नाम का कोई राजा हुआ था, इसका प्रमाण अभी तक नहीं मिल पाया है। इस राजा के पूर्ववर्ती अशोक आदि के शिला-लेख आदि मिलते हैं। किन्तु ईसा पूर्व हुए किसी विक्रमादित्य की मुद्रा प्रस्तर-प्रशस्ति आदि कुछ भी अभी तक देखने को नहीं मिला है। कथासरित्सागर कहाँ तक गुणाढ्य की वृहत्कथा का सच्चा-सच्चा प्रतिनिधित्व करती है ? यह कहना कठिन है। कथासरित्सागर स्वयं अप्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें अनेक उत्तरकालीन कथाओं का समावेश है। वृहत्कथा के आधार पर बनी कथाओं को बाद में घाल-मेल की गई कथाओं से अलग कर पाना यदि असंभव नहीं तो अति कठिन अवश्य है। अतः इस प्रकार के ग्रन्थों की बातों पर हमें कहाँ तक विश्वास करना चाहिए, यह एक जटिल समस्या है जहाँ तक विक्रम संवत् की बात है उसके विषय में वास्तविकता इस प्रकार है :—यदि विक्रम संवत् का प्रवर्तक कोई विक्रमादित्य ईसा पूर्व में हुआ होता तो उसका नाम शीघ्र ही इस संवत् से जुड़ गया होता। किन्तु तथ्य कुछ और ही है। 'विक्रमकाल' यह सामासिक पद 'एक खास संवत्' के अर्थ में सर्वप्रथम ईसा की नवम शताब्दी में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु यहाँ विक्रम शब्द विक्रमादित्य राजा का ही बोधक है, इसमें विद्वद्वर्ग सन्देह करता है। अमितगति के 'सुभाषितरत्नसन्दोह' में विक्रम शब्द विक्रमादित्य राजा के अर्थ में पहले-पहल निःसन्देह रूप से प्रयुक्त हुआ है। 'सुभाषित-रत्नसन्दोह' की रचना विक्रम संवत् १०५० में की गई है। अतः जो लोग यह मानते हैं कि सम्प्रति प्रचलित विक्रम संवत् ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य के द्वारा चलाया गया है और निरन्तर चलता आ रहा है, उनका मत प्रामाणिक नहीं है। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी

से ग्यारहवीं शताब्दी तक विक्रम संवत् का उल्लेख न मिलना निश्चय ही उक्त मत को मानने वालों के लिये महान् व्यवधान है।

प्रोफेसर कीलहार्न का मत इस विषय में विलक्षण ही है। वे मानते हैं कि—'विक्रम-संवत्' की विशेषता यह थी कि यह शरद् ऋतु अर्थात् कार्तिक मास से आरम्भ होता था। इसका कारण यह है कि राजा लोग इसी समय दिग्विजय के लिये, युद्ध के लिये निकलते थे। अत: इस काल को विक्रम-काल कहा जाने लगा था। 'हर्षचरित' आदि कतिपय ग्रन्थों में विक्रम शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। वाद में मूल अर्थ न समझ सकने के कारण, भ्रमवश इस पद का प्रयोग 'विक्रमादित्य' के द्वारा प्रवर्तित संवत्सर के अर्थ में होने लगा।' किन्तु प्रोफेसर कीलहार्न तथा उनके भक्तों ने यह सोचने का कष्ट नहीं किया कि यद्यपि प्राचीन काल में शरद् ऋतु को विक्रम-काल कहा जाता था। परन्तु उसके साथ किसी संख्या का तो प्रयोग नहीं होता था। जैसे आज-कल २०३४ विक्रम-संवत् है। ऐसा तो था नहीं कि इस सृष्टि-प्रक्रिया में जब से राजाओं ने विजय-यात्राएँ प्रारम्भ कीं तब से उनके साथ संख्या का भी प्रयोग होने लगा था—जैसे प्रथम विक्रम-काल, द्वितीय विक्रम-काल आदि। ऐसी स्थिति में प्रो० कीलहार्न का मत कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है? इस पर विवेचक स्वयं विचार करें। संस्कृत पर विचार करने वाले पाश्चात्त्य विद्वानों की यह विशेषता है कि जरा-सा भी शब्द-साम्य मिलते ही वे मत-स्थापन के प्रयास में हवाई महल बनाना आरम्भ कर देते हैं।

कुछ विद्वान् कालिदास को ई० पू० प्रथम शताब्दी में सिद्ध करने के लिये अश्वघोष पर उनका प्रभाव दिखलाने का प्रयास करते हैं। कालिदास के काव्यों और बौद्धदार्शनिक अश्वघोष के बुद्धचरित नामक काव्य में अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि और विकास, वर्णन-शैली, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का चुनाव तथा शब्दविन्यास आदि में दोनों कलाकारों में से एक दूसरे से अत्यन्त प्रभावित हैं। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं:— अश्वघोष के काव्यों में तथा कालिदास की रचनाओं में प्राप्त होनेवाली समानताओं के आधार पर कतिपय विद्वानों का मत है कि अश्वघोष ने कालिदास की पंक्तियों की नकल की है, उनके भाषा एवं भाव का अपहरण किया है, चुराया है। समानता द्विविध हो सकती है—प्रसंग की समानता तथा कल्पना की समानता। इस प्रकार की कुछ समानताएँ अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' तथा कालिदास के 'कुमारसम्भव' में देखी जा सकती हैं। शाक्यकुलोत्पन्न नन्द का, भगवान् बुद्ध के उपदेश पर प्रव्रज्या ग्रहण करना 'सौन्दरनन्द' काव्य का प्रतिपाद्य है। नन्द के संन्यास-ग्रहण का समाचार पाकर, उसकी पत्नी सुन्दरी छठे सर्ग में मर्मस्पर्शी शोकव्यञ्जना करती है। 'सौन्दरनन्द' में सुन्दरी तथा 'कुमारसंभव' के काम-पत्नी रति के विलाप में समानता दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार 'सौन्दरनन्द के नन्दविलाप तथा 'रघुवंश' के अजविलाप में भी साम्य दिखलाई पड़ता है। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' के तृतीय सर्ग में, शीतकाल में नगर से बाहर विहार हेतु जाते

हुए कुमार गौतम को देखने के लिये नगर की नारियों की भीड़ उमड़ पड़ती है। इ
तरह 'कुमारसंभव' के सप्तम सर्ग में दूल्हा बने शङ्कर को तथा 'रघुवंश' के सप्तम सर्ग
इन्दुमती के स्वयंवर के अनन्तर कुण्डिनपुर में प्रविष्ट होनेवाले अज को देखने के लि
नगर की स्त्रियों का समूह दौड़ पड़ता है। प्रसंग तथा वर्णन शैली एवं भाव आदि की
समानताओं की ओर विवेचकों का ध्यान जाना आवश्यक है। उदाहरणार्थ दोनों मह
कवियों के काव्यों से कुछ समतावाले श्लोक यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :—

(१) वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परोपासितकुण्डलानि ।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपंकजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पंकजानि ।। —बुद्धचरित, ३।

परस्पर रगड़ खा रहे कर्णाभूषणवाले, वातायन (झरोखे) से निकले हुए, स्त्रियों
मुख-कमल इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे, जैसे महलों में (स्थान-स्थान पर) विकसि
कमल बाँध दिये गये हों ॥

(२) तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ।।—कुमारसंभव,७।६
रघुवंश ७।

(वर को देखने के लिये) अत्यन्त उत्कण्ठित उन सुन्दरियों के भ्रमरसदृश चञ्च
नेत्रों से अलङ्कृत तथा मदिरा की महक से भरे हुए मुखों से भरपूर झरोखे ऐसे मालूम
रहे थे, जैसे विकसित कमलों से सजाये गये हों ॥

कल्पना की समता के साथ-साथ यदि शब्द-साम्य भी मिलता हो तो भाव-ग्रहण
अनुकृति की बात में अधिक प्रामाणिकता आ जाती है। उक्ति-साम्य के कुछ स्थल कालि
दास के काव्यों तथा अश्वघोष की कृतियों में अवश्य देखे जा सकते हैं :—

(१) तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष ।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः ।।—सौन्दरनन्द, ४।

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥
—कुमारसंभव, ५।८

(२) आदित्यपूर्वं विपुलं कुलं ते नवं वयो दीप्तमिदं वपुश्च ।
कस्मादियं ते मतिरक्रमेण भैक्षाक एवाभिरता न राज्ये।।—बुद्धचरित, १०।
एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ।।—रघुवंश २।४

(३) द्वन्द्वानि सर्वस्य यतः प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके ।
अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम् ॥
—बुद्धचरित, ११।४३

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥—उत्तरमेघ, ४६

इन उदाहरणों में आश्चर्यजनक साम्य है। इन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक ने दूसरे का अनुकरण किया है। पर किसने किसका अनुकरण किया है, इसे सरलता से एकाएक नहीं कहा जा सकता।

कालिदास के ग्रन्थों का मनन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह महाकवि बहुश्रुत था। इसने अपने पूर्ववर्ती सभी प्रसिद्ध कवियों की कृतियों का सूक्ष्म परिशीलन किया था। उनकी आकर्षक एवं मनपसन्द उक्तियों का संकलन किया था। इन्होंने मधुमक्षिका की वृत्ति स्वीकार कर अपने काव्यों को हृद्य तथा मधुरतम बनाने का प्रयास किया है। और कहना न होगा कि महाकवि को अपने इस उद्देश्य में अभूतपूर्व सफलता भी मिली है। काव्य-निर्माण के क्षेत्र में महाकवि कालिदास तथा हिन्दी के मूर्धन्य कवि तुलसीदास—दोनों ही—एक ही पथ के पथिक हैं। दोनों ने अपने पूर्ववर्ती साहित्य को निचोड़ कर अपने काव्यों को अलङ्कृत तथा समृद्ध बनाया है। किन्तु दूसरे कवि की ली गई बात को ये दोनों ही कवि इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि उसमें चार चाँद लग जाते हैं, नवीनता आ जाती है। बात उधार ली हुई न होकर निजी बन जाती है। उदाहरण के लिये नीचे कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं :—

(क) "मृगयायां तु व्यायामः श्लेष्मपित्तमेदःस्वेदनाशश्चले स्थिरे च काये लक्ष्य-परिचयः कोपभयस्थानेहितेषु च मृगाणां चित्तज्ञानमनित्ययानं चेति।"
—कौटिल्य अर्थशास्त्र, आठवाँ अधिकरण, प्रकरण १२९, अध्याय ३॥

तुलना—मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्साहयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥ —शाकुन्तल २।५

अर्थशास्त्र का यह अनुकरण रघुवंश तथा कुमारसंभव में प्रचुर रूप से देखा जा सकता है[१]। अर्थशास्त्र कालिदास, भास तथा अश्वघोष सबसे प्राचीन है।

इसी प्रकार शाकुन्तल में कामसूत्र की प्रगट छाया देखी जा सकती है। कण्व के

---

१. तुलना कीजिए—अर्थशास्त्र २।१, १०।७, १७।५५, ७३, ९।१, ७।१५, १।२, ८।३ क्रमशः रघुवंश १५।९, कुमारसंभव ६।७३, रघुवंश १७।४९, १२।५५, १७.५६, १७।७६, १७।८९, १८।५०।

द्वारा शकुन्तला को दिया गया उपदेश कामसूत्र के चतुर्थ अधिकरण के द्वितीय अध्
का सारांश प्रतीत होता है। नीचे दोनों के कुछ अंश प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

(अ) 'परिजने दाक्षिण्यं, न चाधिकमात्मानं पश्येत् ॥' कामसूत्र ४।२।६६
'न चोपालभेत वामतां च न दर्शयेत् । वही ४।२।६८
'श्वश्रूश्वसुरपरिचर्या तत्पारतन्त्र्यमनुत्तर-
वादिता परिमिताप्रचण्डालापकरणमनुच्चैर्हासः ॥' वही, ४।१।३७
'भोगेष्वनुत्सेकः ॥' वही, ४।१।३९
'परिजने दाक्षिण्यम् ॥' वही, ४।१।४०
'नायकापचारेषु किञ्चित्कलुषता नात्यर्थं निर्वदेत् ॥' वही, ४।१।१९

तुलना कीजिये :—शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामा कुलस्याधयः ॥ शाकुन्तल।

काव्यरसिकों ने अभिज्ञानशाकुन्तल के उत्कृष्टतम चार श्लोकों में इस श्लोक
भी गणना की है। स्पष्टतः इस श्लोक की कल्पना कामसूत्र से ली गई है। वात्स्या
का समय विद्वानों ने ईसा की तीसरी शताब्दी का मध्यकाल माना है। यदि कोई
कहे कि कामसूत्र के कर्ता वात्स्यायन ने कालिदास का अनुकरण किया है, तो यह
हासास्पद होगा। काम सम्बन्धी बातों के प्रस्तुतीकरण के लिये प्राचीन काल से
तक कविगण कामसूत्र का आश्रय लेते आये हैं। कामसूत्र एतदर्थ आकर ग्रन्थ है।
कालिदास ने ही उसका अनुकरण किया है—यही मानना समीचीन है।

जब महाकवि कालिदास अपने पूर्ववर्ती समग्र साहित्य का रसास्वादन कर उ
चित्ताकर्षक बातों को लेकर अपने साहित्य को सर्वातिशायी बनाने के पक्षपाती हैं,
उन्होंने यदि अश्वघोष की कल्पनाओं तथा शब्दों का अनुकरण किया है तो कौन
आश्चर्यजनक बात है। यह कौन अछूत बात है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि महाकवि कालिदास अर्थशास्
प्रणेता कौटिल्य (ई० पू० तृतीय शताब्दी), सौन्दरनन्दएवं बुद्धचरित के रचयिता अश्व
(प्र० शताब्दी) तथा कामसूत्र के निर्माता वात्स्यायन (तीसरी शताब्दी का म
काल) के अनन्तर हुए हैं। अश्वघोष बौद्ध कवि था। कालिदास उस समय हुए थे जब
ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र का यह कथन पूर्ण निस्तेज नहीं हुआ था—'यो मे श्रमण
दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।' ऐसी अवस्था में यह कहना कि परम
वैदिक परम्परा का कट्टर उपासक, आस्तिक कवि कालिदास अपनी कृतियों में बौ

कवि भास, सौमिल्ल आदि कवियों का नाम जिस प्रकार सादर उद्धृत करता है, उसी प्रकार उसने अश्वघोष का नाम क्यों नहीं उद्धृत किया ? किन्तु इससे कालिदास की अश्वघोष से पूर्वभाविता नहीं सिद्ध की जा सकती। कालिदास बौद्धकवि अश्वघोष का नाम अपनी रचनाओं में आस्तिक कवियों के नाम के साथ भला कैसे लेता ? किसी कवि का नाम उद्धृत करना श्रद्धा का प्रकाशन है। ऐसी स्थिति में वैदिक परम्परा का कवि बौद्ध दार्शनिक कवि का नाम भला कैसे उद्धृत करता ? उसकी रचनाओं का अध्ययन तो अपनी रचना को उत्कृष्टतम बनाने के लिये आवश्यक था।

कालिदास को ईसा पूर्व प्रथम शतक में रखने के लिये कुछ विद्वानों ने अथक प्रयास किया है। उनकी एक-एक बातों का हम यदि यहाँ उत्तर देने लगें तो एक विशालकाय ग्रन्थ बन जायगा। जो अभीष्ट नहीं है। यदि कालिदास ई० पू० प्रथम शताब्दी में रहे होते तो वे शकों के आक्रमणों से अवश्य परिचित होते। शकों के इस रोमाञ्चक आक्रमण का वर्णन ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ गार्गी संहिता के युगपुराण में मिलता है। युगपुराण गार्गीसंहिता का प्राचीनतम अंश है। यह उपलब्ध पुराणों में सबसे प्राचीन है। संभवतः इसका रूप ई० पू० प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में ही प्रस्तुत हो चुका था, क्योंकि उस काल के बाद के इतिहास का इसमें वर्णन नहीं मिलता। इतिहासकारों ने गार्गी संहिता का काल अधिक-से-अधिक ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्व ही माना है। इसका काल तीसरी शताब्दी के बाद तो कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता। कालिदास अपनी इतनी विस्तृत कृतियों में कहीं भी शकों का उल्लेख नहीं करते। यदि वे पहली शती ई० पूर्व में हुए होते तो निश्चय ही शकों के उस आक्रमण को जानते जिसका वर्णन युगपुराण ने किया है। इस आक्रमण ने पाटलिपुत्र के समस्त पुरुष वर्ग का ही विनाश कर दिया था। वह लिखता है कि राजा नष्ट हो गये थे। प्रान्त बिखर गये थे। वर्णाश्रम धर्म क्षत-विक्षत हो गया था। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में पुराणों का संसार खड़ा कर दिया है। पौराणिक जन-विश्वास, पुराणों के देवता, पौराणिक पूजा, सभी उस पौराणिक साहित्य से संबद्ध हैं जिसका संग्रह-संकलन और संस्करण गुप्तकाल में हुआ था। पहली सदी ई० पू० में पौराणिक साहित्य व्यवस्थित न था। उस समय उसका आधार लेकर तात्कालीन समाज का चित्रण संभव न था।

देवताओं, उनकी मूर्तियों और मन्दिरों का जो विपुल सङ्केत कालिदास के ग्रन्थों में है वह कुषाणकालीन कला-प्रसूत गान्धारशैली और उसकी मूर्ति-सम्पदा के बाद ही संभव था। गान्धारशैली की मूर्ति-सम्पत्ति को बौद्धों के महायान भक्तिसरणि ने पूर्णतया बहा दिया था। महायान सम्प्रदाय का उदय ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ।

इस प्रकार देखा गया कि कालिदास का काल ईसा की द्वितीय-तृतीय शताब्दी के अनन्तर ही किसी समय ठहरता है। इसके पूर्व उन्हें नहीं ढकेला जा सकता। इसी प्रकार उन्हें छठी सदी में भी नहीं रक्खा जा सकता जैसा कि कुछ लोगों ने प्रयास किया है। इसका

कारण यह है कि ४७२ ई० में कुमारगुप्त द्वितीय के शासनकाल में मन्दसोर का अभिलेख लिखनेवाले कवि वत्सभट्टि ने मेघदूत और ऋतुसंहार का खुलेआम अनुकरण किया है उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य हैं :—

"चलत्पताकान्यबलासनाथान्य-
त्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूट-
कूल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥
कैलासतुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्यान्या-
भान्ति दीर्घवलभीनि सवेदिकानि ।
गान्धर्वशब्दमुखराणि निविष्टचित्र-
कर्माणि लोलकदलीवनशोभितानि ॥"

—वत्सभट्टि

"विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥"

—कालिदास (उत्तरमेघ, १)

"निरुद्धवातायनमंदिरोदरं हुताशनो भानुमतो गभस्तयः ।
गुरूणि वासांस्यबलाः सयौवनाः प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम् ॥
न चन्दनं चारुमरीचिशीतलं न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम् ।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतलाः जनस्य चित्तं रमयन्ति साम्प्रतम् ॥"

—कालिदास (ऋतुसंहार, ५।२-३) ।

अतएव कालिदास का समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी से आगे नहीं बढ़ाया जा सकता इनके अतिरिक्त आगे कुछ और प्रमाण दिये जा रहे हैं जिनसे कालिदास का गुप्त-सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का समकालीन होना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है

गुप्तकालीन अभिलेखों तथा सिक्कों की भाषा से कालिदास के काव्यों की भाषा में असाधारण समानता देखी जा सकती है । गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर निर्मित मयूरपृष्ठ पर बैठे कार्तिकेय का वर्णन कालिदास ने अनेकशः किया है । महाकवि का पद 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन' उस स्थिति के कितना निकट है । 'कुमार' और 'स्कन्द' का सहेतुक प्रयोग कालिदास के उत्तर-काव्यों में सरलता से देखा जा सकता है । ये 'कुमार' और 'स्कन्द' शब्द क्या गुप्त राजा कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त की ओर मूकनिर्देश नहीं करते। इन शब्दों के प्रयोगों की उत्तरोत्तर वृद्धि निम्न रेखाचित्र में स्पष्ट देखी जा सकती है।

(क) विक्रमोर्वशीय—

कुमार—चार वार—चौथें अंक की प्रवेशिका, चौथे अंक के अंत में, फिर चौथे अंक के अंत में, और पाँचवें अंक के श्लोक ७ में।

(ख) रघुवंश—

(१) स्कन्द—दो वार—सर्ग २ श्लोक ३६ और सर्ग ७ श्लोक १।

(२) कुमार—तीन वार—सर्ग ३ श्लोक १६, और ५५, तथा सर्ग ५ श्लोक ३६।

(ग) मेघदूत—

स्कन्द—एक वार—श्लोक ४५।

महाकवि के ग्रन्थों में जिस शान्त, सुखी और समृद्ध वातावरण का वर्णन हुआ है, वह व्यापार आदि से सम्पन्न उदारचेता नृपतियों से सुशासित राष्ट्र में ही संभव था। ऐसा वातावरण उस समय केवल गुप्त सम्राटों के ही काल में सुलभ हो सकता है। कालिदास के ग्रन्थों में धार्मिक सहिष्णुता तथा दण्डनीति की विनम्रता का प्रचुर वर्णन हुआ है। 'न खरो न च भूयसा मृदुः' जैसे पद इसी मध्यम मार्ग का प्रतिपादन करते हैं। चीनी यात्री फाह्यान ने धार्मिक सहिष्णुता तथा दण्ड-विधान की विनम्रता को गुप्तशासकों के शासन का जीवन वतलाया है। कवि पौराणिक पराम्पराओं का कट्टर समादरकर्ता और समर्थक है। उनसे कवि के काव्य भरे पड़े हैं। पौराणिक साहित्य की पूर्णता गुप्तकाल में ही हुई है। हिन्दू, बौद्ध तथा जैनमूर्तियों की गुप्तकाल में असीम प्रचुरता थी। मूर्तियों का संसार कालिदास में उमड़ पड़ा है। कवि ने शाकुन्तल में भरत की गुँथी अँगुलियों (जाल-ग्रथिताङ्गुलिकरः) का वर्णन किया है। इस प्रकार की गुँथी अँगुलियों वाली मूर्तियाँ केवल गुप्तकाल में ही उपलब्ध होती हैं। कालिदास ने गंगा-यमुना की चामर-ग्राहिणी मूर्तियों का उल्लेख किया है। इतिहास के पंडितों का कथन है कि इस प्रकार की मूर्तियों का आरम्भ कुषाणकाल के अंत तथा गुप्तकाल के प्रारम्भिक समयों में हुआ है। समुद्र-गुप्त के व्याघ्रलाञ्छित मुद्राओं पर गंगा की ऐसी ही मूर्ति बनी हुई है।

महाकवि कालिदास यूनानी शब्दों से भी परिचित हैं। उन्होंने जामित्र (दायामित्र) लग्न का प्रयोग किया है। इस शब्द का प्रवेश इस देश में अन्य ग्रीक ज्योतिष शब्दों के साथ ही पहली सदी ईसवी के आस-पास हुआ। इन शब्दों के इस देश में प्रचलन में भी कुछ समय लगा होगा। कवि के द्वारा इस शब्द का प्रयोग दो-तीन शती बाद ही किया जाना समीचीन है, क्योंकि उस समय तक यह शब्द सामान्य रूप से प्रचलित हो चुका होगा।

'विक्रमोर्वशीय' नाटक के नाम में विक्रम शब्द का प्रयोग हुआ है। इतिहासकारों ने इस शब्द को अधिक महत्त्व दिया है। उनकी मान्यता है कि नाटक के नायक पुरुरवा

का यहाँ नाम न देकर उसके लिये विक्रम शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि कवि ने प्रच्छन्न रूप से अपने आश्रयदाता विक्रमादित्य का संकेत किया है। 'कुमारसंभव' में प्रयुक्त 'कुमार' शब्द चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र बालक कुमारगुप्त की ओर संकेत करता है, संभव है इस महाकाव्य का प्रणयन कुमारगुप्त के जन्मोत्सव-प्रसंग पर किया गया हो। 'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में रघु के दिग्विजय का वर्णन है। रघु हूणों को वंक्षु नदी की घाटी में परास्त करता है। हूण ईरानी नृपति वहरामगौर से हारने के वाद ४२५ ई० के लगभग वंक्षु नदी की घाटी में आकर बसे थे। उस समय वंक्षु नदी ही फारस और उनकी बस्तियों के बीच की सीमा मान ली गई थी। उसकी दिग्विजय की सीमाएँ दक्षिण दिशा में समुद्रगुप्त की दिग्विजय से मेल खाती हैं और उत्तर दिशा में चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजय-सीमा से साम्य रखती हैं। मेहरौली के स्तम्भ-लेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने बंगाल के शत्रुओं को रौंद कर वंगाल की सातों नदियों को पार किया था। वहाँ उसने हूणों (वह्लीकों) को वंक्षु के तट पर स्थित उनके देश वह्लीक में पहुँच कर पराजित किया। शायद उसके कुछ ही वर्ष वाद, संभवतः ४३० ई० में, रघुवंश रचा गया होगा। इस प्रकार समुद्रगुप्त और उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय **'विक्रमादित्य'** की विजयों का समवेत स्वरूप कवि के आदर्श नृपति रघु की दिग्विजय में समाहित हो गया है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास समुद्रगुप्त की विजयों से परिचित होने के साथ-साथ, चन्द्रगुप्त द्वितीय के संरक्षण में रहे और रघु के व्याज से उसी वेजोड़ शूरमा के शौर्य का वर्णन किये हैं।

अव तक के विवेचनों से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि कालिदास ने विद्वानों एवं कवियों के आश्रयदाता, सरस्वती के परमाराधक चन्द्रगुप्त **विक्रमादित्य** के आश्रय में दुलारपूर्वक पलकर रसभरित काव्यों की रचना की थी। चन्द्रगुप्त का शासनकाल ३८० ई० से लेकर ४१३ ई० तक माना गया है। अतएव कालिदास का स्थिति-काल ईसा की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध और पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच रहा होगा[1]।

महाकवि कालिदास विषयक स्थिति-काल की चर्चा का समापन करने के पूर्व कुछ अवशिष्ट बातों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। कालिदास का तीन बातों से दुर्निवार सम्बन्ध था :—

१. वे विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे।
२. उनका आश्रयदाता उज्जयिनीपुराधीश्वर था।
३. उनका आश्रयदाता शकारि (शकों का उच्छेदक) था।

---

१. अधिक जनकारी के लिये पढ़िये—वी० वी० मिराशीकृत 'कालिदास', भगवतशरण उपाध्याय के 'कालिदास और उनका युग' तथा आर० यस० तिवारीकृत 'महाकवि कालिदास'।

गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य उपाधिधारी था। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि मालवा और सुराष्ट्र की विजय के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त ने चाँदी के सिक्के भी ढलवाये जिनके ऊपर उत्कीर्ण लेख में चन्द्रगुप्त को 'परम भागवत' 'विक्रमादित्य' या 'विक्रमांक' की उपाधि से मण्डित किया गया है—"परमभागवत महाराजाधिराजश्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यस्य। ××× श्रीगुप्तकुलस्य महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त विक्रमाङ्कस्य।"[1] यद्यपि स्कन्दगुप्त ने भी विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। पर उसका काल बहुत पीछे है। अतः तीसरी सदी ईसवी के बाद और स्कन्दगुप्त के पहले चूँकि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रमादित्य है। अतः वही महाकवि का आश्रयदाता विक्रमादित्य है। कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिए। वह आदि विक्रमादित्य हो, द्वितीय विक्रमादित्य हो या तृतीय विक्रमादित्य हो। विक्रमादित्य नामवाला हो या विक्रमादित्य उपाधिधारी। इसका कोई प्रश्न नहीं है। इससे कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं है। जहाँ तक मैं जानता हूँ महाकवि ने कहीं भूलकर भी ऐसा संकेत नहीं किया है कि—'मैं आदि विक्रमादित्य का या संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य का आश्रित कवि हूँ। पता नहीं इतिहास के विद्वानों को यह धुन कहाँ से, कैसे और कब सवार हुई कि कालिदास को आदि विक्रमादित्य, संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य का आश्रित कवि होना चाहिए। कालिदास ने तो केवल विक्रमालंकार तथा विक्रम की ओर ही संकेत किया है[2]। यह विक्रम या विक्रमादित्य कोई भी इस उपाधि या नाम को धारण करने वाला चक्रवर्ती सम्राट् हो सकता है। ऐसी स्थिति में अगर यह मान लिया जाय कि राष्ट्र को शान्ति, समृद्धि तथा वृद्धि प्रदान करनेवाला चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ही कालिदास का आश्रयदाता विक्रमादित्य है और उसी की ओर महाकवि ने संकेत किया है, तो क्या अनुपपत्ति होगी? इतिहास की कौन-सी धारा गलत प्रवाहित होने लगेगी?

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि प्रथम शती ई० पू० में कोई विशिष्ट विक्रमादित्य नहीं मिलता। किंवदन्तियों, कथा-कहानियों तथा स्वयम् अप्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर इतिहास का कोई भी तथ्य दृढ़तापूर्वक नहीं सिद्ध किया जा सकता। सबसे बड़े दुःख की बात यह भी है कि ५७ वर्ष ई० पू० से आरम्भ होनेवाले विक्रम संवत् का उल्लेख नवम शताब्दी के पूर्व कहीं मिलता भी नहीं है।

द्वितीय बात के उत्तर में डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का वह लेखांश उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा जो विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ के पेज २०३ पर छपा है। वे लिखते हैं कि—"चन्द्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य की राजधानी प्रयाग के स्तम्भ अभिलेख में पुष्प कहा गया पाटलिपुत्र

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' विक्रमांक, उत्तरार्ध, पृ० २६९।

२. "अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः।"
"दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।" विक्रमोर्वशी, अंक १॥

नगर था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के अभियानों एवं विजयों से यह प्रकट होता है कि पूर्वी मालवा के विदिशा नगर से भी उनका सम्बन्ध था, जबकि उनके साथ अपना सम्बन्ध प्रदर्शित करनेवाले कनारी प्रदेशों के कुछ शासकों ने उनका वर्णन पाटलिपुत्र के अधीश्वर के साथ-साथ 'उज्जयिनीपुराधीश्वर' के रूप से किया है। उनका उज्जयिनी के साथ सम्बन्ध परम्परागत शकारि विक्रमादित्य से उनकी अभिन्नता का भी अनुमोदन करता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने अपनी दूसरी राजधानी उज्जयिनी को ही बनाया था। चूँकि पश्चिम से, मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र प्रदेश से, ही शकों के आक्रमण का अधिकतर खतरा रहता था, अतः चन्द्रगुप्त के लिये यह आवश्यक हो गया कि उज्जयिनी को (जो पहले अशोक के समय भी, विशेषकर इसलिये कि उसी ओर से अधिकतर विदेशी आक्रमणों का संकट आता था, राजधानी रह चुकी थी) दूसरी राजधानी का वैभव दिया और बाद में यह दूसरी राजधानी प्रथम राजधानी से भी महत्त्वपूर्ण बन गई। अतः यह कहना कि गुप्त सम्राटों की राजधानी उज्जयिनी नहीं पटना ही थी, ठीक नहीं है।

तीसरी बात में विशेष दम नहीं है। इतिहास जानता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही प्रधान रूप से शकारि के विरुद से विभूषित किया गया है। यद्यपि चन्द्रगुप्त द्विती[illegible] विक्रमादित्य ने उत्तराधिकार में सुविस्तृत साम्राज्य पाया था। पर उसके भोगने में ए[illegible] बड़ा विघ्न था। मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र के शक्तिमान् शक-शासक उसके लि[illegible] जबर्दस्त खतरा थे। अतः वह उन्हें निर्मूल कर देना चाहा। मालवा के शकों और गुप्त[illegible] के बीच वाकाटकों का ब्राह्मणराज्य था। उसने वाकाटकराज के साथ अपनी बेटी [illegible] ब्याह कर उनसे सन्धि कर ली। फिर क्या था उसने शकों को निर्मूल कर उदयगिरि [illegible] अपनी विजय की प्रशस्ति के साथ वराह-विष्णु की पृथिवी उद्धार करती हुई मूर्ति खुदवायी [illegible] वह स्वयं उसके शकों से भारत-भूमि के उद्धार की प्रतीक थी। अब सारा मालवा (जिसक[illegible] राजधानी उज्जयिनी संसार के व्यापार का केन्द्र थी), गुजरात और काठियावा[illegible] उसके हाथ में आ गये एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक। शकराज को मारकर अपनी भार्[illegible] ध्रुवदेवी का उद्धार उसने किया था। यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है।[1] इस प्रकार चन्द्रगु[illegible] द्वितीय विक्रमादित्य ही शकारि है, उज्जयिनीपुराधीश्वर है और है साथ ही साथ महाक[illegible] कालिदास का आश्रयदाता विक्रमादित्य भी।

इस तरह हर प्रकार से विचार करने पर हम पाते हैं कि महाकवि कालिदास चन्द्रगु[illegible] विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे। अतः महाकवि को ४०० ई० के लगभग उसी का स[illegible] कालीन होना चाहिये।

---

१. "अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तश्च चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयदिति॥" हर्षचरि[illegible] छठा उच्छ्वास।

इस समय तक प्राय: सभी प्रसिद्ध स्मृतियों की रचना हो चुकी थी। स्मृति-ग्रन्थों से कालिदास पूर्ण परिचित हैं।[1] स्मृतियों की रचना ई० सन् के बाद ही हुई है। अतः कालिदास को ई० पू० में रखना तर्कसंगत न होगा।

(ख) कालिदास का जन्मस्थान

कोहेनूर हीरा की उत्पत्ति किस देश में हुई? किस खान को इसे उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है? यदि आज यह प्रश्न पूछा जाय तो प्रत्येक देश, देश की प्रत्येक खान, प्रत्येक खान का हर मैनेजर, मैनेजर के बीच काम करने वाले प्रत्येक श्रमिक का साधिकार यही कथन होगा कि यह हीरा मेरी खान से निकला है। इसे पाने का गौरव केवल मुझे ही है। ठीक यही बात महाकवि कालिदास के जन्म-स्थान की जिज्ञासा होने पर दृष्टिगोचर होती है। थोथी दलीलों के बल पर बंगाली भाई कालिदास को बंगाल का ही रत्न बतलाते हैं। मैथिल बन्धु इस महाकवि को अपने बीच की विभूति बतलाते हैं। मध्यप्रदेशवासियों का दावा है कि कालिदास मध्यप्रदेश की कविमाला के मध्यमणि हैं। कुछ विद्वान् इन्हें कश्मीर तथा मालवा से सम्बद्ध सिद्ध करते हैं। प्रबल प्रमाण के अभाव में अन्यमत उपेक्षणीय हैं। इनमें केवल मालवा (उज्जयिनी जिसकी राजधानी थी) और कश्मीर ही विचार के योग्य जान पड़ते हैं। वस्तुतः महाकवि ने अपनी कृतियों में इन दोनों प्रदेशों के लिये जो आत्मीयता प्रदर्शित की है, उससे ज्ञात होता है कि इन दोनों प्रदेशों का घनिष्ठ सम्बन्ध उनसे रहा होगा। वास्तविकता तो यह है कि आलोचकों तथा इतिहासकारों के प्रधानतया दो ही मत हैं—१. कालिदास कश्मीर के थे। २. कालिदास उज्जयिनी के थे। दिल्ली विश्वविद्यालय के भूतपूर्व संस्कृत-प्रोफेसर महामहोपाध्याय पं० लक्ष्मीधर कल्ला ने अपने ग्रन्थ 'कालिदास का जन्मस्थान' (The birth place of Kalidas) में यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि कालिदास कश्मीर के ही हीरक थे। उनकी युक्तियों का सार इस प्रकार दिया जा सकता है :—

"कालिदास के ग्रन्थों में हिमालय का विस्तृत तथा अतिसूक्ष्म वर्णन किया गया है। 'कुमारसंभव' तो हिमालय के ही वर्णन से आरम्भ होता है। 'मेघदूत' के यक्ष की निवासभूमि अलका हिमालय की ही गोद में बसी थी। 'विक्रमोर्वशीय' के पुरुरवा और उर्वशी तथा 'कुमारसंभव' के शिव और पार्वती—दोनों युग्मों की प्रणयलीला कश्मीर के पास गन्धमादन पर्वत पर हुई थी। 'रघुवंश' के वशिष्ठ, शाकुन्तल के कण्व तथा मारीच आदि ऋषियों के आश्रम हिमालय में ही बसे हैं। ये सभी स्थान कश्मीर में सिन्धु नदी की घाटी में अवस्थित थे। इन उल्लेखों से हिमालय के प्रति कवि का अगाध प्रेम प्रदर्शित होता है। 'रघुवंश' में वशिष्ठ की गाय पर झपटने वाले सिंह का नाम 'कुम्भोदर' था। वह

---

१. श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्। रघु० २।२॥

अपने को निकुम्भ का मित्र बतलाता है। कश्मीर के 'नीलमतपुराण' में कुबेर ने दैत्यों के निष्कासनार्थं निकुम्भ को नियुक्त किया है। इससे प्रतीत होता है कि कालिदास को कश्मीर की प्राचीन कथाओं का पर्याप्त ज्ञान था। उनके काव्यों में कश्मीर के कतिपय रीति-रिवाजों का वर्णन मिलता है। हिमालय की गुफाओं, वहाँ के स्थानों, आदि का वर्णन महाकवि की कृतियों में किया गया है। सिन्धु तथा मालिनी नामक नदियाँ, शची-तीर्थ, सोमतीर्थ, ब्रह्मसर तीर्थ तथा शक्रघाट आदि स्थान कश्मीर में ही हैं। यक्ष कश्मीर में मेघ को वही मार्ग बतलाता है जो नीलमत पुराण में प्रयाग से हर मुकुट तक शिव के जाने का बतलाया गया है। कालिदास के काव्यों पर कश्मीर के शैवदर्शन प्रत्यभिज्ञा का प्रकट प्रभाव देखा जा सकता है। प्रो॰ कल्ला के अनुसार हरमुकुट की उपत्यका में बसा 'मयग्राम' ही 'मेघदूत' की अलका है। और यहीं है कवि का जन्मग्राम।

डॉ॰ वासुदेव विष्णु मिराशी आदि कतिपय विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि कालिदास के शैशव की क्रीडा-स्थली उज्जयिनी थी। उनके मतों का सार इस प्रकार है :—

मालवा के प्रति कालिदास को विशेष अनुराग है। वह मेघदूत में यहाँ की राजनगरी उज्जयिनी का अत्यन्त तन्मयता के साथ पक्षपातपूर्ण वर्णन करता है। कवि ने इसके वैभव, लोककथानकों, प्रथाओं, प्रसिद्ध महाकाल के मन्दिर, मन्दिर में होनेवाली आरती, आरती के समय सम्पादित वेश्यानृत्य आदि का हृदयाकर्षक वर्णन किया है। इस नगरी के सौन्दर्य एवं सौभाग्य पर कवि इतना मुग्ध है कि वह इसे स्वर्ग का एक कान्तिमान् खण्ड समझता है जिसे स्वर्ग में अपने पुण्यों का फल भोगने वाले पुण्यशाली व्यक्ति, पुण्य समाप्त होने के पहले ही, शेष पुण्य के बदले, अपने साथ धरती पर उतार लाए हैं :—

"स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम्॥"

स्पष्ट है कि कवि उज्जयिनी के वर्णन में आचूड रम गया है, मग्न हो गया है। यही कारण है कि रामगिरि से कैलास की ओर जाने में नगरी-ललाम उज्जयिनी के सीधे मार्ग में न पड़ने पर भी कवि मेघ को सानुरोध वहाँ भेजता है :—

'वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मास्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥ (पूर्व मेघ २९)

"यद्यपि उत्तर की ओर जाने में तुम्हारा मार्ग टेढ़ा हो जायगा, फिर भी तुम उज्जयिनी के प्रासादों के क्रोड में चलनेवाली प्रणयलीलाओं से विमुख मत होना। तुम्हारी बिजली की कौंध से चकित होकर नगरी की सुन्दरियाँ जो चञ्चल कटाक्ष चलाएँगी, उनमें यदि तुम्हारा मन न रमा, तो समझो कि तुम्हारे नेत्र व्यर्थ हैं अथवा तुम्हारा जन्म ही निरर्थक है।"

अतः यह सत्य है कि अलका को छोड़ कर किसी अन्य नगरी का कवि ने इतना मनोरम वर्णन नहीं किया है। उज्जयिनी के प्रति इसी विशाल पक्षपात को देखकर प्रो० मिराशी ने लिखा है कि—उज्जयिनी के वर्णन में कवि नखशिख तक तल्लीन दिखलाई पड़ता है। इन्हीं कतिपय वातों को ध्यान में रखते हुए प्रो० मिराशी ने प्रो० कल्ला के मत का प्रत्याख्यान कर कवि को उज्जयिनी निवासी बतलाने का प्रयास किया है। उनका कहना है :—

"कालिदास नाम कश्मीरी नहीं है। भामह, रुद्रट, कैयट, मम्मट, कल्हण इत्यादि पण्डितों के उल्लेख 'राजतरंगिणी' तथा अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, लेकिन कालिदास का नाम इनमें कहीं उपलब्ध नहीं होता। यदि कालिदास कश्मीर के होते, तो कल्हण जैसा सावधान और जिज्ञासु इतिहासकार इसका उल्लेख 'राजतरंगिणी' में अवश्य किये होता।'[1] इस पर संक्षेप में केवल इतना ही कहना है कि कश्मीर में सभी विद्वानों, कवियों आदि के नाम कैयट, कल्हण आदि की तरह सभी टकारान्त या णकारान्त ही नहीं होते। क्षेमेन्द्र, अभिनवगुप्त, जयरथ, जयद्रथ, परिमलगुप्त आदि नाम कश्मीरी हैं और कवियों के हैं। अतः नाम के आधार पर कालिदास को गैरकश्मीरी सिद्ध करने का प्रयास गैरजिम्मेदारी होगी। कालिदास इस नाम को देखकर यह कहना कि कवि शिवभक्त था। अतः यह नाम ठीक नहीं है। ऐसे स्थलों पर यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति बड़ा हो जाने पर अपना नाम नहीं रखता। नाम रखने का काम माँ-बाप बचपन में करते हैं। नाम और व्यक्ति के काम या स्वीकृत धर्म से कोई खास मतलब नहीं होता। यदि कालिदास इस नाम के आधार पर बंगाली भाई यह कहते हैं कि कालीपूजा के प्रधान प्रदेश बंगाल में कालिदास हुए थे। तब तो विश्व के या देश के सभी दुर्गादास, अम्बिका-प्रसाद, चण्डीदास, संकठाप्रसाद आदि बंगाली ही कहे जायेंगे। यौवन की मध्यबेला में कश्मीर का परित्याग करनेवाले कालिदास का उल्लेख यदि राजतरंगिणी में नहीं हुआ है तो इससे क्या हुआ? राजतरंगिणी शतप्रतिशत प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ है, इसे भला कौन विवेकी व्यक्ति स्वीकार करेगा? इसके साथ ही दूसरी बात यह भी है कि तारुण्य की वेला में, जब कवि प्रसिद्धि के शिखर पर चढ़ रहा था, उसका कश्मीर छोड़कर अन्यत्र चला जाना भला किस स्वाभिमानी कश्मीरी को पसन्द आएगा। प्राचीन काल में विशिष्ट राजनैतिक परिस्थितियों के कारण यह मनोभावना अत्यन्त उग्र रही होगी। अतः कल्हण से हम कालिदास के नामोल्लेख की पूरी-पूरी आशा कैसे कर सकते हैं?

कल्हण की ही भाँति महाकवि बिल्हण ने भी अपने जन्म से कश्मीर को सुशोभित किया है। कल्हण की राजतरङ्गिणी की ही तरह बिल्हण का विक्रमांकदेवचरित भी प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसके प्रथम सर्ग में ही कवि साभिमान लिखता है :—

---

१. कालिदास (पृ० ६०)

सहोदराः कुंकुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः ।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः ।।

तथा—

काव्यं येभ्यः प्रकृतिसुभगं निर्गतं कुंकुमं च,
छायोत्कर्षाद् भवति जगतां वल्लभं दुर्लभं च ।
यस्मिन्नन्तः स्थितवति जगत्सारभूते प्रयाताः,
काश्मीरास्ते नियतमुरगाधीशरक्षास्पदत्वम् ।।

"निश्चय ही कविता के विलास कुंकुम और केसर के सहोदर हुआ करते हैं। क्योंकि कुंकुम और केसर के देश शारदा प्रदेश (कश्मीर) को छोड़ कर अन्यत्र मैंने कविता-विलास को अङ्कुरित होते देखा ही नहीं है।"

और भी—

"जिस प्रदेश से प्रकृति से ही मनोहर काव्य और कुंकुम निकले हैं।" आदि-आदि।

यदि महाकवि कलिदास कश्मीर के न रहे होते तो बिल्हण का यह साभिमान उल्लेख करने का साहस कैसे होता ? बिल्हण ११ वीं शती के कवि हैं। इनके समय तक काव्यगगन में कालिदास के काव्यों की प्रभा पूरी स्निग्धता के साथ छा चुकी थी। ऐसी परिस्थिति में वे कालिदास की ओर से भला कैसे आँखें बन्द कर उक्त घोषणा करते ? स्पष्ट है, बिल्हण के काल तक लोगों की यह दृढ़ धारणा रही कि महाकवि कालिदास कश्मीर की ही विभूति हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि की लेखनी अलका एवं उज्जयिनी दोनों के ही वर्णन में नखशिख तक तल्लीन दिखलाई पड़ती है। परम्परा उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की सभा का उज्ज्वलतम हीरक समझती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की दूसरी, और शायद बाद में प्रधान, राजधानी उज्जयिनी थी। अतएव, यह मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखलाई पड़ती कि कालिदास का जन्म कश्मीर में हुआ था। उसी की केसर-कुंकुम की पराग भरी धूलि में लोट-लोटकर कालिदास ने शैशव बिताया था, किशोरावस्था की प्रणय-लीला का पूर्वाभ्यास किया था, प्रौढावस्था की उषा बेला में रस-क्रीडा का अभ्यास आरम्भ किया था। बाद में परिस्थितिवश उसे अपनी जननी की तरह प्राणप्रिया जन्मभूमि को छोड़कर उज्जयिनी में आना पड़ा। वहाँ उसे सौभाग्यवश राज्यपरिषद् का वैभवपूर्ण वातावरण प्राप्त हुआ। यहीं कवि कालिदास ने अपनी काव्यप्रतिभा के आलोक से तात्कालिक कवि-विद्वत् समूह को मुग्ध कर महाकवि के विरुद्ध को धारण किया। संस्कृत-कविता को विश्ववन्द्य सिंहासन पर बैठा कर भारत का भाल उन्नत किया।

कालिदास का शास्त्रीय ज्ञान

कालिदास की रचनाओं को पढ़ते समय यह ज्ञात होता है कि महाकवि की बुद्धि सकल शास्त्रों का भली-भाँति अवगाहन करनेवाली है। औपनिषदिक वेदान्त विद्या की छटा यत्र-तत्र बिखेरते चलना उनकी वेदान्त-विद्या-विदग्धता का परिचायक है। जगत् और ब्रह्म की एकात्मकता, ब्रह्म की जगत् रूप कार्य के रूप में परिणति आदि बातें कुमारसम्भ में कितनी चारुता के साथ, कितनी काव्यात्मक सरल शैली में वर्णित की गई हैं, यह देखते ही बनता है :—

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद् भेदमुपेयुषे ॥ आदि

इसी प्रकार 'आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ।' आदि वचनों से वह यज्ञादि कर्मकाण्ड-कलाप के ज्ञान के साथ ही वेदोच्चारण विधि का प्रकार भी सूचित करता है।

शाकुन्तल में हंसपदिका के सस्वर गीत को सुनकर राजा उसकी प्रशंसा करते हुए कहता है :—'अहो रागपरिवाहिणी गीतिः।' रघुवंश में भी कवि ने अपनी संगीत-विदग्धता का परिचय देते हुए लिखा है :—

मनोऽभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः ।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥

कालिदास चित्रकला एवं मूर्तिकला में परम प्रवीण परिलक्षित होते हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल का उत्तरार्द्ध उनकी तूलिका की करामातों से भरा पड़ा हुआ है। वे रेखाओं, चित्रों तथा शब्दविन्यासों के द्वारा समानरूप से भावाभिव्यक्ति करने में समर्थ हैं।

इस महाकवि के ग्रन्थों का जब हम सावधान अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा पुराणों की प्रधान-प्रधान बातें, उनके रहस्य बड़ी पटुता के साथ वर्णित किये गये हैं। ज्योतिषशास्त्र के तो कालिदास बहुत महान् पण्डित लगते हैं। आगे लिखित श्लोक से उनका ज्योतिष-विषयक परिपक्व ज्ञान परिलक्षित होता है :—

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम् ।
असूत पुत्रं समये शचीसमा, त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥

रघुवंश में रघु एवं इन्द्र के युद्ध से तथा शाकुन्तल में दुष्यन्त के शब्दवेधी बाण चलाने की कला से महाकवि के युद्ध-विषयक ज्ञान की सूचना मिलती है।

साहित्य शास्त्र के मूल बीज महाकवि के ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं। रघुवंश के प्रथम श्लोक में ही उन्होंने काव्य का लक्षण निर्दिष्ट किया है—'शब्दार्थौ काव्यम्।" इसी प्रकार कविवर कालिदास अपने व्याकरण की प्रौढता को भी यत्र-तत्र सूचित कर चलते

हैं। 'वागर्थाविव' में 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिक का तथा 'पितरौ' में 'पिता माता' इस सूत्र का स्मरण दिलाते हुए वे अपनी व्याकरण विदग्धता को प्रदर्शित क्या नहीं करते? इसी प्रकार व्याकरण में उपमा की साधिकार छटा बिखेरना अकेले कालिदास का ही काम है। जरा देखिये तो इस प्रकार की उपमाओं की छटा :—

स हत्वा बालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं सन्न्यवेशयत्॥

यहाँ 'धातोः स्थान इवादेशम्' यह कैसी हृदयाकर्षक उपमा है। जिस तरह 'अस्' धातु के स्थान में 'भू' तथा 'इण्' के स्थान में 'गा' आदि आदेश स्थानी के सभी कार्यों को करते हैं, उसी प्रकार स्थानी वाली के समस्त राज्यकार्य को उसके स्थान पर बैठाया गया सुग्रीव करेगा। यही है, इस श्लोक का भाव।[1] इस प्रकार की बहुत-सी उपमाएँ कालिदास के रघुवंश तथा कुमारसंभव में भरी पड़ी हैं।

कालिदास की अन्य कृतियाँ

कालिदास की सच्ची कृतियों का निर्णय करना आलोचकों के लिए दुरूह कार्य है। इसका कारण यह है कि संस्कृत-काव्याकाश में कालिदास सर्वाधिक श्रद्धास्पद कविनक्षत्र हुए हैं। अतः उनके बाद होने वाले बहुत से कवियों ने 'कालिदास' का प्रसिद्ध अभिधान धारण कर अपने व्यक्तित्व को छिपाया है। कम-से-कम राजशेखर (१० शतक) तक तीन प्रसिद्ध कालिदास हो चुके थे—'कालिदासत्रयी किमु।' अतः आदिकालिदास की यथार्थ कृतियों का आकलन अत्यन्त दुरूह कार्य है। फिर भी लोगों ने सर्वसम्मति से परम्परा, ग्रन्थों के उल्लेख, उदाहरण तथा भाषा की शैली एवं भावों की समानता के आधार पर निम्न ग्रन्थों को कालिदास विरचित माना है :—

१. काव्य—

(क) **ऋतुसंहार**—ऋतुसंहार कालिदास की प्रथम काव्यकृति है। इतिहासकारों के अनुसार बालकवि कालिदास ने काव्यकला का आरम्भ ऋतुवर्णनपरक इसी लघु काव्य से किया था।

(ख) **कुमारसम्भव**—यह कालिदास की सच्ची निःसन्दिग्ध रचना है। इसमें कवि ने कुमार कार्तिकेय के जन्म के वर्णन का संकल्प किया था। किन्तु दुर्भाग्यवश यह अधूरा

---

१. इस प्रकार की और भी उपमाएँ देखी जा सकती हैं :—
यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः॥ रघु० १५।७
लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः। (कुमार० २।२७)

ही उपलब्ध होता है। इसके वर्तमान १७ सर्गों में से आदि के सात सर्ग तो कालिदास की लेखनी से प्रसूत हैं। अष्टम सर्ग भी उनका ही निःसंशय निर्माण है। आलङ्कारिकों तथा सूक्तिसंग्रहों ने इन्हीं सर्गों से पद्यों को उद्धृत किया है। मल्लिनाथ की संजीवनी टीका भी इन्हीं सर्गों पर उपलब्ध है।

(ग) मेघदूत——यह कालिदास की अनुपम प्रतिभा का परिपक्व निदर्शन है। वियोग-विधुरा प्रेयसी के पास यक्ष का मेघ के द्वारा प्रणय-सन्देश भेजना इस गीति-काव्य का कथ्य है। इस ग्रन्थ ने वाह्य जगत् के विद्वानों का ध्यान प्रमुख रूप से आकृष्ट किया है। इस पर ५० से अधिक टीकाएँ लिखी गई हैं।

(घ) रघुवंश——भारतीय आलोचक रघुवंश को कालिदास का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानते हैं। इस पर प्रभूत ४० टीकाओं की रचना से इसकी महत्ता स्वयमेव प्रकट हो जाती है। १९ सर्गों का यह महाकाव्य काव्यजगत् का मध्यमणि है।

२. नाटक——कालिदास के तीन नाटक प्रसिद्ध हैं।

(क) मालविकाग्निमित्र, (ख) विक्रमोर्वशीय और (ग) अभिज्ञानशाकुन्तल।

(क)——कालिदास के नाटकों में 'मालविकाग्निमित्र' सबसे अवर नाटक है। इसमें शुङ्गवंशीय नृपति अग्निमित्र तथा मालविका के प्रेम का अभिराम चित्रण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आश्रय लेकर मनोरमता के साथ अंकित किया गया है।

(ख)——'विक्रमोर्वशीय' में कालिदास ने एक वैदिक प्रेमाख्यान की कमनीय प्रेम-छटा विखेरी है। यह प्रेमाख्यान ऋग्वेद (१०।९५) तथा शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) में निर्दिष्ट किया गया है।

(ग) अभिज्ञानशाकुन्तल——यह कालिदास का सर्वाधिक प्रसिद्ध नाटक है। भारतीय आलोचकों ने तो इसे नाटक साहित्य का मध्यमणि बतलाया है:——'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।' पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसे सर्वोत्कृष्ट नाटक कहा है।

ये ही ग्रन्थ महाकवि के निर्विवाद हैं। कई विद्वान् ज्योतिर्विदाभरण आदि कतिपय ग्रन्थों को भी महाकवि कालिदास की ही कृति मानते हैं, किन्तु अभी तक सभी आलोचक विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं।

कालिदास की मान्यताएँ

कालिदास कट्टर वैदिक परम्परा के ब्राह्मण कवि हैं। उनके ग्रन्थों में ब्राह्मण-कालीन यज्ञीय परम्परा का अक्षुण्ण निर्वाह तथा औपनिषदिक पद्धति का अविकल सन्देश मिलता है। उनके काव्य पौराणिक विचारधारा के प्रतिनिधि ग्रन्थ प्रतीत होते हैं। सनातनधर्म और ब्राह्मण-दर्शन की, उपमा के व्याज से, यत्र-तत्र झाँकी विखेरते चलना कालिदास की

सहजात प्रकृति है। पौराणिक एवं स्मृतियों[1] में प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था के वे प समर्थक हैं।[2] वे नित्य श्रौतविधि से हवन के पक्षपाती हैं। शाकुन्तल में आश्रम से ले राजमहल तक अग्निस्थापन की अनूठी झाँकी देखने को मिलती है। उनके ग्रन्थों आरम्भिक मङ्गलाचरणों के देखने से सिद्ध होता है कि वे शैवमतानुयायी थे। कि विष्णु एवं वैष्णवों के प्रति भी उनके मन में महान् समादर था। उनका रघुवंश वैष्ण काव्य है। व्रत-उपवास, देवार्चन, सन्ध्या-वन्दन आदि का दृश्य उनके काव्यों में सं मोहक दृश्य उपस्थित करता है। वे लोक प्रचलित शकुन, निमित्त आदि के मानने पक्षपाती थे। ज्योतिष आदि में उनका प्रगाढ विश्वास था। संक्षेप में कहा जाय कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक काल तक की परम्परा-प्रचलित सा धर्म-सम्बन्धी बातें उन्हें मान्य थीं, इष्ट थीं। लोकाचार का वे सर्वथा हार्दिक समर्थ करते थे। परलोक, स्वर्ग-नरक आदि में उनका दृढ़ विश्वास था। उनके समक्ष श्रु स्मृति प्रतिपादित धर्म-अधर्म की परिभाषा थी। जिसका परिपालन वे सबके लि आवश्यक समझते थे। वे स्त्री-शिक्षा तथा पर्दाप्रथा के पक्षपाती थे। उनकी नायि ललित कला के साथ ही साथ काव्य-कला में भी पारङ्गत थीं। शकुन्तला स्वयं कवि करना तथा लिखना-पढ़ना जानती है।

कालिदास कर्मवाद और पुनर्जन्म पर विश्वास करते थे।[3] अपने कर्मों के कारण उर्वशी तथा हरिणी को मृत्यु-लोक में आना पड़ा। पुनर्जन्मवाद का समर्थन उन्होंने ज जगह पर किया है। वस्तुतः कालिदास वर्ण, आश्रम और सनातन धर्म के परम्परा कवि थे।

अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा का मूल और उसमें परिवर्तन

कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल के कथानक का मूल आधार है—महाभा के आदि पर्व में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान। महाभारत के आख्यान का संक्षेप प्रकार है :—

"एक दिन पुरुवंशी राजा दुष्यन्त शिकार खेलते-खेलते महर्षि कण्व के आश्रम में पहुँचा। कण्व उस समय आश्रम में उपस्थित न थे। वे फल लाने के लिये बाहर गये उनकी अनुपस्थिति में शकुन्तला राजा का स्वागत करती है। उसे देखकर राजा का कामातुर हो उठता है। उनके पूछने पर शकुन्तला अपने जन्म की वास्तविक कथा कह है। जन्म की कहानी सुन लेने के बाद दुष्यन्त प्रलोभनों के साथ विवाह का प्रस्ताव कर

---

१. सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥ शा० ६।१।

२. श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्। रघुवंश २।२।

३. तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥ शाकु० ५।२

है। इस पर शकुन्तला, एक चतुर महिला की भाँति, यह शर्त रखती है कि मेरे ही पुत्र को तुम्हारे बाद सिंहासन मिलना चाहिए। राजा उसकी यह शर्त स्वीकार कर लेता है। परिणामतः दोनों गान्धर्व-विधि से परिणय-सूत्र में आबद्ध होते हैं। कुछ देर तक वहाँ रहकर दुष्यन्त हस्तिनापुर वापस लौट आता है। शकुन्तला गर्भवती होकर पुत्र-रत्न पैदा करती है। छः वर्ष की वय में ही वह बालक अत्यन्त पराक्रमी बन जाता है। व्याघ्र, सिंह आदि पशुओं को पकड़ कर उनसे क्रीडा करना उसके लिये सामान्य बात थी। यही कारण है कि उसका नाम सर्वदमन रखा जाता है। इसके बाद कण्व पुत्र के साथ शकुन्तला को राजा के पास भेजते हैं। तपस्वी लोग उसे राजा के पास पहुँचाकर लौट आते हैं। जब शकुन्तला दुष्यन्त के समक्ष पहुँचती है तब पहचानते हुए भी वह उसे ग्रहण करने से अस्वीकार करता है। पहचानता भी नहीं है। वह कहता है—'यह पुत्र मेरा नहीं है। तुम स्वतन्त्र हो। जहाँ चाहो जाओ।" शकुन्तला ने सत्य एवं धर्म की दुहाई दी। किन्तु राजा ने एक भी न मानी। हताश निराश वह लौटने लगती है। ठीक इसी समय आकाशवाणी होती है—"**भरस्व पुत्रं दौष्यन्ति सत्यमाह शकुन्तला**"—'शकुन्तला सत्य कह रही है। पुत्र तुम्हारा ही है। उसका भरण-पोषण करो।' इस पर राजा कहता है कि उसे सच्चाई ज्ञात थी। किन्तु सभासदों के भय से वह शकुन्तला को ग्रहण करने में संकोच कर रहा था। अब वह शकुन्तला को पटरानी के पद पर प्रतिष्ठित करता है और भरत (सर्वदमन) को युवराज पद पर आसीन करता है। आकाशवाणी ही सर्वदमन का नाम भरत होने की बात कहती है।"

महाभारत की इस निर्जीव एवं नीरस कथानक में कालिदास ने चमत्कारी परिवर्तन कर उसे सजीव एवं सरस बनाया है, उसमें वशीकरण का जादू भर दिया है—यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं। महाभारत में अपने जन्म की कथा शकुन्तला ने स्वयं कही है। कालिदास ने ये सारी बातें उसकी दो प्यारी सखियों, प्रियंवदा और अनसूया, के द्वारा कहलवाई है। इस प्रकार महाकवि ने बड़ी ही खूबी के साथ शकुन्तला के शील एवं मुग्धत्व की रक्षा-योजना की है। महाभारत की शकुन्तला एक प्रगल्भा, संसार-निपुणा, निर्भीक एवं स्पष्टवादिनी नारी की भाँति विवाह करने के पूर्व यह शर्त रखती है कि उसका ही पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी बनेगा। कालिदास की शकुन्तला लज्जा एवं सुकुमारता की पोटली है। वह अपनी सखियों से कहती है—"**तद्यदि वामनुमतं, तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि।** (पृ० १५८)। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की शकुन्तला यदि हृदयपक्ष प्रबल एवं मस्तिष्कपक्ष सुकोमल है तो महाभारत की शकुन्तला में हृदयपक्ष की अपेक्षा मस्तिष्क पक्ष प्रबल है। महाभारत में कण्व फल-मूलादि लाने वन गये हैं, जहाँ से वे २—४ घण्टे में ही लौट आए होंगे। इतने ही स्वल्प समय में चार आँखें होना, दिल का चुराया जाना, प्रणय-प्रस्ताव करना, हृदय एवं बातों का आदान-प्रदान होना, रति के लिये तैयार होना, गाढ परिरम्भ तदनन्तर निर्भीक अविरत ब्रह्मानन्द सहोदर रस का जी भरकर, छककर आस्वाद लेना आदि बातें

अस्वाभाविक एवं अयौक्तिक प्रतीत होती हैं। नाटक में महर्षि कण्व शकुन्तला के अ
की शान्ति के लिये दीर्घ प्रवास पर सोमतीर्थ गये हैं। इस विराट् अन्तराल में आश्र
घटित होनेवाली घटनाओं की स्वाभाविक पीठिका प्रस्तुत की गई है। यज्ञ के र
तपस्वियों का राजा से ठहरने की प्रार्थना करना, नायक-नायिका के प्रणय का उद्
विकास एवं उद्रेक तथा दुर्वासा का शाप—ये सारी घटनाएँ कण्व के दीर्घकालीन प्र
में ही संभव हो सकती थीं। दुर्वासा के शाप की चर्चा महाभारत की कथा में है ही न
कवि ने नाटक में शाप की योजना कर दुष्यन्त के, मूलकथा के, साधारण चरित को उठा
आदर्श की पीठिका पर ससम्मान स्थापित किया है। महाभारत के धूर्त, कपटी दुष
को, उसके अप्रशस्त चरित को, शाप की सहायता से कालिदास ने स्पृहणीय बना दि
हैं, चार चाँद लगा दिया है। मूलकथा में आश्रम में ही शकुन्तला पुत्र को उत्पन्न क
है और छः वर्ष का होने पर ही शकुन्तला को पुत्र के साथ हस्तिनापुर भेजा जाता
कालिदास ने प्रसव के पूर्व ही शकुन्तला को पतिगृह भेजकर भारतीय परम्परा का अनु
किया है। कालिदास ने अपने कथानक में शाप तथा उसकी निवृत्ति के लिये मुद्रिका
योजना की नवीन उद्भावना की है। महाभारत का दुष्यन्त कामुक, भीरु एवं स्वार्थी प्र
होता है किन्तु शापवाली घटना की योजना से उसके चरित्र का यह कृष्णपक्ष उज्ज्वल
गया है। शाप की अवस्था में शकुन्तला का पति द्वारा तिरस्कृत होना स्वाभाविक
ऐसी स्थिति में दर्शक या पाठक दुष्यन्त को दोषी नहीं ठहराते। इसके साथ ही, शकु
को अभिशप्त कर उसे शीलस्खलन के लिये, आश्रम की मर्यादा को तोड़ने के
दण्ड देने का विधान भी कर दिया गया है। वस्तुतः नाटक में विप्रलम्भ तथा अ
मिलन का जो अत्यन्त करुण एवं हृदयस्पर्शी चित्र उपस्थित हो सका है, वह इसी
वाली घटना का प्रतिफल है। शापवश राजा शकुन्तला को भूल गया था। अतः
की परिसमाप्ति के लिए किसी साधन से राजा की स्मृति जागृत करना आवश्यक
इस कार्य के लिये महाकवि ने अँगूठी वाली घटना की योजना की है। हस्तिनापुर
राजा के समक्ष शकुन्तला के जाने के पूर्व अँगूठी का गिरना और फिर उसके प्रत्याख्यान
अनन्तर उसका नाटकीय ढंग से मिलना। उसे देखकर राजा की स्मृति का जागृत होना
ये दोनों घटनाएँ बड़ी ही निपुणता एवं स्वाभाविकता के साथ संयोजित की गई हैं।
अंक में धीवर तथा राष्ट्रीय के दृश्य-सन्निवेश में अँगूठी वाला प्रसंग अत्यन्त निपुणता
साथ उपस्थित किया गया है। शाप तथा अँगूठी की घटनाओं से मानो वह मनोवैज्ञा
कड़ी प्रस्तुत हो गई है जो वर्तमान को अतीत से जोड़ती है, कार्य को कारण से जोड़ती
और मानव जीवन को ईश्वरीय जीवन से जोड़ती है। इसीलिये राइडर (Ryder)
ठीक ही कहा है कि यह योजना एक दैवी घटना है जो नाटक को आच्छादित किये हुए
किन्तु जो मानव-प्रणय के आलोक को पर्याच्छिन्न नहीं करती, प्रत्युत उसे असाधा
व्यापकता एवं सार्वलौकिकता प्रदान करती है। अन्ततः तापसी वृद्धा गौतमी,
पुरोहित, माधव्य नामक विदूषक, वैखानस, सेनापति इत्यादि अनेक नवीन पात्रों

उद्भावना कर तथा शकुन्तला को प्रकृति-कुमारी के रूप में चित्रित कर, नाटककार ने 'शाकुन्तल' के संसार को सर्वथा अनूठा, प्रशस्य एवं स्पृहणीय बना दिया है[1]।

शकुन्तला का उपाख्यान पद्मपुराण में भी वर्णित है। अतः बहुत से विद्वान् इसीको नाटक का मूल मानते हैं। पद्मपुराण के कथानक से नाटक के कथानक में अस्सी प्रतिशत से अधिक साम्य है। इस साम्य को देखकर प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० विंटरनित्स का मत है कि कालिदास ने अपने नाटक की कथावस्तु पद्मपुराण से ली होगी। लेकिन इस मत के सप्रमाण खण्डन के लिये देखिये प्रो० मिराशी कृत 'कालिदास' (पृ० २०४)। प्रो० मिराशी का अनुमान है कि 'शाकुन्तल' के प्रसंगों तथा महाभारत के ओजस्वी भाषणों को लेकर, पद्मपुराणकार ने अपने शकुन्तलोपाख्यान की कन्था जोड़ी है।

अभिज्ञान शाकुन्तल नाम पड़ने का कारण

'अभिज्ञानशाकुन्तल' इस नाम के दो अंश हैं—अभिज्ञान + शाकुन्तल. अभिज्ञान का अर्थ है—पहचानने का साधन, निशान—अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम्। अभिज्ञान शब्द इसी अर्थ में वाल्मीकि रामायण में कई बार प्रयुक्त हुआ है।[2] संभवतः अभिज्ञान शब्द को कवि ने वाल्मीकि रामायण से ही ग्रहण किया है। इसे काश्मीर शैवदर्शन की प्रत्यभिज्ञा शाखा से नहीं लिया गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का जन्म कालिदास के अनन्तर शताब्दियों बाद हुआ है। शाकुन्तलम् का अर्थ है—शकुन्तला विषयक, शकुन्तला सम्बन्धी—शकुन्तलाया इदं शाकुन्तलम्। नीचे इस नाम की कुछ व्युत्पत्तियाँ दी जा रही हैं :—

अभिज्ञान—शाकुन्तलम्—

क—अभिज्ञानम् (भावे ल्युट्) = अभिज्ञानभूतमित्यर्थः तच्च तत् शाकुन्तलम् (शकुन्तलायाः इदं शाकुन्तलम्, शकुन्तला + अण्, वृद्धिः)। इसका अर्थ है—शकुन्तला-सम्बन्धी वह नाटक, जो अभिज्ञान (परिचय) स्वरूप हो।

ख—अभिज्ञानेन (करणाधिकरणयोश्चेति करणे ल्युट्) स्मृतं शाकुन्तलं = शकुन्तला-वृत्तान्तं शकुन्तलाविवाहवृत्तान्तं वा यस्मिन् तत्। इसका अर्थ है—शकुन्तलाविषयक वृत्तान्त अथवा विवाह जिस (नाटक) में निशानी से याद आया हो।

---

१. देखिये—महाकवि कालिदास : रमाशङ्कर तिवारीकृत।

२. अभिज्ञानं प्रयच्छ त्वं जानीयाद् राघवो हि यत्। सु० का० ३८।१०
इदं श्रेष्ठमभिज्ञानं ब्रूयास्त्वं तु मम प्रियम्। वही ३८।१२
मणिं दत्त्वा ततः सीता हनूमन्तमथाब्रवीत्।
अभिज्ञानमभिज्ञातमेतद् रामस्य तत्त्वतः॥
मणिं दृष्ट्वा तु रामो वै त्रयाणां संस्मरिष्यति।
वीरो जनन्या मम च राज्ञो दशरथस्य च॥ वही ३९।१–२।

ग—अभिज्ञानम्=परिचयस्वरूपम् शाकुन्तलम्=शकुन्तलायाः सम्बन्धि च यत्र (नाटके) तत्। इसका अर्थ होगा—जिस (नाटक) में शकुन्तला का (विवाहादि) परिचयमय है।

घ—अभिज्ञानप्रधानं शाकुन्तलं यस्मिन् (नाटके) तत्, मध्यमपदलोपी सम अर्थ :—जिस नाटक में शकुन्तला का विवाह आदि वृत्तान्त अभिज्ञान प्रधान हो।

ङ—अभिज्ञानं च शकुन्तला चेति अभिज्ञानशकुन्तले, ते आश्रित्य कृतं का अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अभिज्ञानशकुन्तल+अण्, वृद्धिः। अर्थः—निशानी या प तथा शकुन्तला के विषय में विरचित दृश्यकाव्य।

च—अभिज्ञानेन स्मृता शकुन्तला अभिज्ञानशकुन्तला। ताम् अधिकृत्य कृतं का अभिज्ञानशाकुन्तलम्। वृद्धया आकारागमः।

कुछ प्राचीन पुस्तकों में अभिज्ञानशकुन्तल नाम मिलता है। ऐसी स्थिति में इ व्युत्पत्ति होगी—अभिज्ञानेन (अभि+ज्ञा+ल्युट् करणे) स्मृता=स्मृतिपथमा शकुन्तला यस्मिन (नाटके) तत् अभिज्ञानशकुन्तलम्। शाकपार्थिवादि समास हो स्मृता का लोप हो गया है। बहुव्रीहि-समास प्रधान है। इसका अर्थ होगा—जि शकुन्तला निशानी (अँगूठी) से याद की गई है, वह नाटक।

उपमा कालिदासस्य

कालिदास प्रायः सभी प्रचलित अलंकारों के प्रयोग में दक्ष हैं। किन्तु उपमा उनका चामत्कारिक अधिकार है। संस्कृत जगत् ही नहीं अपितु विश्व का भी ऐसा कवि नहीं है जो महाकवि की उपमाकला की समता कर सके। इनकी रचनाओं में उ की प्रचुरता के साथ ही उसका सौष्ठव भी देखते ही बनता है। इनके उपमाओं की ए त्मिकता तथा रसपेशलता नितान्त हृदयावर्जक है, औचित्य तथा सन्दर्भ को सुन्दर व की कला में वे पारङ्गत हैं। यहाँ उनकी उपमाओं के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

तपस्या के लिये आभूषणों का परित्याग कर केवल वल्कल धारण करने वाली पार्व चन्द्र तथा ताराओं से मण्डित, अरुणोदय से युक्त रजनी के समान बतलाई गई है (कुम ५।४४)। स्तनों के भार से किंचित् झुकी हुई आतपसदृश लालवस्त्र धारण की हुई पार्व फूलों के गुच्छों से झुकी हुई नवीन लाल पल्लवों से मण्डित संचारिणी लता के समान प्र होती हैं :—

पर्याप्त-पुष्पस्तनकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव

स्वयंवर में उपस्थित भूपालों को छोड़कर जब इन्दुमती आगे बढ़ जाती है, तब राजमार्ग पर दीपशिखा के द्वारा छोड़े गये महलों के समान प्रतीत होते हैं। यहाँ निरा

राजाओं की विषण्णता तथा खिन्नता की अभिव्यक्ति इस उपमा के द्वारा बड़ी सुन्दरता से की गई है :—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ रघु० ६।६७ ॥

इसी उपमा–सौष्ठव पर मुग्ध होकर साहित्यिक-समुदाय ने महाकवि को 'दीपशिखा कालिदास' कहना आरम्भ किया है।

सम्पूर्ण उपमा का एक और सुन्दर निदर्शन देखिये। सायंकाल दिलीप गाय लेकर लौट रहे हैं। लाल रंग की गाय आगे-आगे है। शुभ्रवसनधारी दिलीप पीछे-पीछे हैं। हरितवस्त्रधारिणी सुदक्षिणा अगवानी के लिये आगे बढ़ रही है। अतः वह गाय वैसी ही प्रतीत हो रही है जैसे दिन और रात के मध्य रक्तवर्णा सन्ध्या हो :—

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥ रघु० २।२०

महाकवि अपनी रचनाओं में उपमा के माध्यम से कभी आधुनिक विज्ञान-संमत तत्त्व का संकेत करते हैं,[1] तो कभी इतिवृत्त का निर्देश।[2]

अव यहाँ शाकुन्तल से उपमा के कुछ निदर्शन प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—हरिण भाग रहा है। राजा पीछा कर रहा है। उसके धनुष पर वाण चढ़ा हुआ है। तपस्वी राजा को रोकता है। वह कहता है—'पुष्पराशि की तरह सुकोल शरीरवाला यह हरिण आप के अग्नि-तुल्य निर्मम वाण को क्या वर्दाश्त कर सकेगा[3]?'

इसी प्रकार शकुन्तला को पुष्पित लता के समान वतलाकर कवि ने उसके सौन्दर्य में कितनी मादकता भर दी है। दुष्यन्त की दृष्टि में शकुन्तला लता से जरा भी कम नहीं है—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥ १।२१

एक दूसरे स्थान पर शकुन्तला के अनुपम सौन्दर्य की छटा विखेरने के लिये जरा मालोपमा की इस छटा को निरखिये—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥ २।१०

---

१. देखिये—रघु० ५।४
२. देखिये—वही २।३९
३. देखिये—शाकुन्तल १।१०

इस प्रकार यहाँ एक सामान्य दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है। यों तो अ
शाकुन्तल में ही शतशः उपमा सौन्दर्य देखा जा सकता है। इस महाकवि की उपमा विष
सिद्धहस्तता को देखने से ज्ञात होता है कि कालिदास उपमा के लिये और उपमा के
कालिदास के लिये है।

तत्र श्लोकचतुष्टयम्

नाटक काव्यमाला के मध्यमणि हैं। शाकुन्तल उन मध्यमणियों का नग है। च
अंक शाकुन्तलरूपी नग का आकर्षक रंग है। चार श्लोक उस रंग की स्निग्ध चमक
ये चार श्लोक करुणभाव के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इनके भाव मार्मिक एवं नित
स्वाभाविक हैं। ये श्लोक हैं—

१—यास्यत्यद्य शकुन्तलेति० (४।६)।
२—शुश्रूषस्व गुरून्० (४।१८)।
३—अस्मान् साधु विचिन्त्य० (४।१७)।

अथवा

अभिजनवतो भर्तुः० (४।१९)
४—भूत्वा चिराय सदिगन्त० (४।२०)

कुछ लोगों के अनुसार ये प्रसिद्ध श्लोक ये भी हो सकते हैं:—

(१) यास्यत्यद्य० (४।६), (२) शुश्रूषस्व० (४।१८), (३) पातुं न प्रथ
(४।९) तथा (४) अस्मान् साधु० (४।१७)॥

प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

दुष्यन्त

दुष्यन्त इस नाटक का नायक है। वह राजा है। उज्ज्वल चन्द्रवंश की सन्तान है। धीरोदात्त है। दशरूपककार के अनुसार धीरोदात्त नायक को महाबली, अति गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर-प्रकृति, अहङ्कार विहीन एवं दृढ़संकल्प होना चाहिए।[1] दुष्यन्त इन सभी गुणों से मण्डित है। वह पवित्र पुरुवंश का क्षत्रिय राजा है।

वह अपने कुल की प्रतिष्ठा का बहुत ध्यान रखता है। उसे अपने पूर्वज महाराज पुरु के पावन आचरण से सर्वदा प्रेरणा एवं शिक्षा मिलती रहती है। वह ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहता जिससे कुल की मर्यादा धूमिल हो, पतित हो। वह अपने को अपने कुल को पतन की धारा की लपेट में आने से बचाने के लिए सर्वदा सचेष्ट रहता है, सतर्क रहता है।[2] ऋषिकुमारों तथा गौतमी के साथ शकुन्तला हस्तिनापुर में राजा के समक्ष उपस्थित है। झीनी साड़ी के भीतर से छन-छनकर निकल रहे शकुन्तला के शरीर-लावण्य से, उसकी मदमाती चाल से वह जान जाता है कि यह स्त्री अपूर्व सौन्दर्य से मण्डित है। किसलय की तरह कोमल है।[3] किन्तु जब प्रतिहारी शकुन्तला के सौन्दर्य की ओर राजा का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करती है तब वह कहता है—'पर-स्त्री की ओर ध्यान से देखना उचित नहीं होता'।[4] जिसके पास यौवन हो, विपुल वैभव हो तथा अपरिमित प्रभुत्व हो उसका यह कथन, उसका यह विचार भला किस विवेकी व्यक्ति का हृदय नहीं आकृष्ट करता ? भूमण्डल पर यदि किसी युवक सम्राट् का इतना पावन विचार, इतना निर्मल आचरण हो सकता है तो वह आर्य संस्कृति-सभ्यता की पुनीत त्रिवेणी में आचूड स्नान किये हुए भारतीय चक्रवर्ती का ही हो सकता है।

यद्यपि वह कण्व के आश्रम में जाता है। वहाँ अपूर्व सौन्दर्य से मण्डित शकुन्तला को देखता है। झाड़ी में छिपकर उसके सौन्दर्य को निरखता है[5]। उसके अङ्ग-अङ्ग में

---

१. देखिये—दशरूपक २–४,५।

२. व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम्। ५।२१।
विनिपातः पौरवैः प्रार्थ्यते इति न श्रद्धेयमेतत्। (पृ० ३२०)

३. का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥ ५।१३।

४. 'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।' (पृ० २८८)

५. भवतु, पादपान्तर्हित एव विश्रब्धं तावदेनां पश्यामि। (पृ० ३८)

छलकती लावण्य-कान्ति पर मुग्ध हो प्रशंसा करता है। उस पर आसक्त होता है। उ
पाने के लिये लालायित हो जाता है। किन्तु उसका विवेक ब्राह्मणकन्या के प्र
आकृष्ट होने से रोकता है। मन भ्रमर मानता नहीं। वह सोचता है आज मेरे मन
क्या हो गया है? क्यों ब्राह्मण-कुमारी की ओर बार-बार दौड़कर जा रहा है? उस
मन में विचार उठता है—'क्या यह संभव है कि शकुन्तला महर्षि कण्व की असवर्ण स
(ब्राह्मणेतर पत्नी) से उत्पन्न हुई हो?' शीघ्र ही वह निश्चय करता है—'अथवा सन्दे
करना व्यर्थ है। निश्चय ही यह क्षत्रियों के ग्रहण योग्य है। क्योंकि मेरा पवित्र म
इसे चाहता है। सन्देहास्पद विषयों में सदाचारियों के अन्तःकरण के विचार ही प्रमा
हुआ करते हैं। फिर भी सही-सही इसका पता लगाऊँगा[1]।' यह सच है कि शकुन्तल
के सौन्दर्य का जादू उसे अपनी ओर खींचता है। किन्तु दुष्यन्त विवेक-विहीन कामी पु
की भाँति अन्धा नहीं बनता। यदि यह कन्या उसके ग्रहण करने के योग्य होगी तभी व
उसकी ओर बढ़ेगा, अन्यथा नहीं। अवसर मिलने पर वह शकुन्तला की सखियों से पू
ही बैठता है—'पूज्य कण्व बालब्रह्मचारी हैं। आप लोगों की यह सखी उनकी पुत्री है
यह कैसे[2]?' और उसे जब शकुन्तलाविषयक सारा तथ्य ज्ञात हो जाता है, तब व
सोचता है—'जिसे अब तक अग्नि समझ रहा था, वह स्पर्श योग्य रत्न है। इसके लि
हृदय में अभिलाषा का उठना पाप नहीं है। यह मेरे जैसे क्षत्रिय के द्वारा ग्रहण की ज
सकती है[3]।' उसका यह प्रेम भी एकतरफा नहीं है। दुष्यन्त की भाँति शकुन्तला प्र
दर्शन में ही अपना हृदय खो बैठती है[4]। वह शकुन्तला से गान्धर्व-विवाह करता है
उसे प्रत्यभिज्ञान के रूप में अँगूठी देता है। शीघ्र ही हस्तिनापुर बुलवाने का वचन दे
है। किन्तु दुःख है कि दुर्वासा के शाप-प्रभाव ने उसे विस्मृति के गर्त में धकेल दिया
शकुन्तला के विषय में उसे कुछ भी स्मरण न रहा। वह अपना वादा पूरा न कर सका
आने पर भी शकुन्तला को ठुकरा दिया। किन्तु निर्दयतापूर्ण इस कर्कशता के लिये पाठ
उसे दोषी नहीं ठहराते। अँगूठी की प्राप्ति के पश्चात् वह पश्चात्ताप की भीषण आ
में तपता है। सारी बातें स्मृतिपटल पर जब आ जाती हैं तो शकुन्तला को ठुकराने, कठो
वचन बोलने तथा अपने कर्तव्यच्युति के लिये वह महान् दुःख का अनुभव करता है औ
अन्त में शकुन्तला के पैरों पर गिरकर क्षमा की भीख माँगता है[5]।

---

१. देखिये प्रथम अङ्क, श्लोक २२ और उसके आगे-पीछे का अंश।
२. भगवान् काश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः। इयं च वः सखी तदात्मजेति कथमेत
   (पृ० ६२)
३. आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्॥ १।२८॥
४. शकुन्तला—(आत्मगतम्) किन्तु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि
   संवृत्ता। (पृ० ५८)
५. देखिये—अङ्क ७, श्लोक २४।

दुष्यन्त आदर्श पति है। अपनी रानियों की भावनाओं का पूरा-पूरा सम्मान करता है। रानी हंसपदिका के व्यञ्जनागर्भित उपालम्भपूर्ण गीत को सुनकर वह उन्हें सान्त्वना देने के लिये विदूषक को भेजता है[1]। महारानी वसुमती आ रही हैं। यह समाचार चतुरिका से मिलता है। राजा शकुन्तला की छवि देखने में मग्न है। इसमें रमा हुआ देखकर मानगर्वित महारानी अप्रसन्न होंगी। अतः वह शकुन्तला की छवि विदूषक के साथ अन्यत्र भेज देता है। महारानी की अप्रसन्नता उसे सह्य नहीं। वह उनके सम्मान और आदर में कमी नहीं आने देना चाहता। नायक दुष्यन्त के इस चरित्र को देखकर सानुमती उसकी प्रशंसा करती है[2]।

दुष्यन्त प्रजा-रक्षण में तत्पर रहनेवाला युवक राजा है। वह अपने जमाने का जाना-माना योद्धा और अप्रतिम धनुर्धर है। उसकी शारीरिक गठन देखने योग्य है। देवता लोग भी उसके प्रत्यञ्चा चढ़े धनुष पर भरोसा रखते हैं[3]। अपनी शूरता-वीरता के कारण ही वह इन्द्र का प्रिय सखा है[4]। दैत्यों-दानवों के साथ संग्राम में वह इन्द्र से भी आगे रहता है[5]। वह पौरुष में इन्द्र के समान है[6]। उस महापराक्रमी के धनुष की टंकार को सुनते ही राक्षस भय के मारे भाग खड़े होते हैं। वह अत्यन्त प्रतापी और तेजस्वी है[7]। अपने पूर्वजों की भाँति ही आपत्तिग्रस्त जनों को अभयदान देने के लिये वह सर्वदा कटिबद्ध रहता है[8]। प्रजारक्षण उसके जीवन का सर्वस्व है। एक प्रजारञ्जक राजा की भाँति उसकी घोषणा है कि—मेरी प्रजा के मध्य जो भी व्यक्ति अपने जिस-जिस प्रेमी सम्बन्धी से विछुड़ता है, पापकर्म के अतिरिक्त, दुष्यन्त उनके लिये वह—वह प्रेमी सम्बन्धी है[9]। सत्य तो यह है कि दुष्यन्त की तरह प्रजापालक आदर्श राजा बहुत ही कम मिलते हैं। वह राजाओं के लिये आदर्श राजा है।

दुष्यन्त धर्मपरायण राजा है। आदि से अन्त तक वह धर्म का निष्ठा से पालन करता है। उसकी मातृ-भक्ति प्रशंसनीय है। वह कण्व के आश्रम में यज्ञ की रक्षा में संलग्न

---

१. मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका। निपुणमुपालब्धोऽस्मीति। (पृ० २६४)
राजा—गच्छ। नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम्। (पृ० २६६)
२. सानुमती—अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसंभावनमपेक्षते। (पृ० ४०६)
३. देखिये—अङ्क २, श्लोक १५।
४. अयं स बलभित्सखो दुष्यन्तः। (पृ० १२४)
५. पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी। ७।२६।
६. आखण्डलसमो भर्ता। ७।२८।
७. का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरतः।
हुंकारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति॥ ३।१।
८. देखिये—२।१६।
९. देखिये—६।२३।

है। हस्तिनापुर से आदरणीया माँ का सन्देश मिलता है—"आगामी चौथे दिन मे उपवास की पारणा है। उस अवसर पर आपका उपस्थित होना आवश्यक है।" व बड़ी द्विविधा में पड़ जाता है। एक ओर तो तपस्वियों का कार्य है। दूसरी ओर पूज्य माँ का आदेश। क्या हो ? कैसे हो ? अन्ततः उसे एक उपाय सूझता है। वह विदूषक को माँ की सेवा में भेज देता है। आखिर माताओं ने उसे भी तो पुत्र की तरह माना है[1] उसके हृदय में ऋषियों के प्रति महान् आदरभाव है। उनकी रक्षा से, उनकी सेवा से प्राप्त पुण्य को वह अमूल्य निधि समझता है।[2] ऋषियों के आदेश पालन में वह अपने को धन्य-धन्य मानता है।[3] यद्यपि वह मृगया का व्यसनी है। फिर भी तपस्वी के कहने पर मृग के ऊपर बाण नहीं चलाता। आश्रम की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये वह विनीत वेश से आश्रम में प्रवेश करता है। अपने सैनिकों को आश्रम की मर्यादा का बोध कराता है। मारीच ऋषि के समक्ष वह हरिण-शावक की भाँति दीन बन जाता है। उनके आशीष को अपने समृद्ध भविष्य का मूलमन्त्र समझता है[4]।

प्राचीन राज-परम्परा के अनुसार राजा दुष्यन्त ललित कला का अप्रतिम उपासक है। सङ्गीत और चित्रकला में तो वह अनुपम है। पञ्चम अङ्क के प्रारम्भ में वह हंसपदिका के स्वरसंयोग को सुनकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। चित्र-निर्माण कला में तो वह अपना शानी नहीं रखता। उसकी इस कला की निपुणता में शाकुन्तल का षष्ठ अंक प्रबल प्रमाण है। उसने शकुन्तला आदि का चित्र स्वयं बनाया है। विदूषक और सानुमती—दोनों ही उसकी चित्रकारी पर मन्त्र-मुग्ध हैं[5]।

वस्तुतः महाकवि कालिदास ने अपने इस नायक को काफी ठोक-पीटकर रच-रच कर बनाया है। उसे सफल शासक के सभी गुणों से अलङ्कृत किया है। वह कर्तव्यनिष्ठ, प्रजावत्सल, निर्लोभी, सहृदय, निर्भीक, पराक्रमी, विनीत और अविकत्थन है। सच है, दुष्यन्त की तरह नायक बहुत कम मिलते हैं। आखिर वह ठहरा भी तो कविता-कामिनी-विलास महाकवि कालिदास के अप्रतिम नाटक शाकुन्तल का धीरोदात्त नायक।

---

१. देखिये—२।१७ और उसके आगे-पीछे का अंश।

२. यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद्धनम्।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥ २।१३।

३. देखिये—पृ० १२६।

४. देखिये—सप्तम अंक का अन्तिमांश।

५. विदूषक—(विलोक्य) साधु वयस्य। मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः। स्खलतीव दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु।
सानुमती—अहो, एषा राजर्षेर्निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति। (पृ० ३८६)

शकुन्तला

शकुन्तला इस नाटक की मुग्धा नायिका है। महाकवि की तूलिका से रंगी जाकर शकुन्तला सर्वात्मना अनुपम बन बैठी है। वह कण्व की पालिता सुपुत्री है। उसके वास्तविक जननी-जनक हैं—मेनका और विश्वामित्र। विश्वामित्र भीषण तप में रत थे। इन्द्र उनकी तपश्चर्या से भयभीत हो उठे। उन्होंने सोचा—'विश्वामित्र कहीं हमारे पद के अधिकारी न बन बैठें। फलतः देवसुन्दरी मेनका को तप-भंग के लिये भेजा गया। देवसुन्दरी का शरीर और लावण्य त्रिलोकी का सुन्दरतम निदर्शन था। वह जिधर निकल पड़ती उधर अनुपम शमा बँध जाती थी। लोगों के श्वास रुक जाते थे। एक तो मेनका का सौन्दर्य यों ही पर्याप्त से अधिक था। दूसरी ओर उसी समय वसन्त भी अपने मादक यौवन के साथ सूखी लकड़ियों को भी सरस एवं रंगीन बना रहा था। फिर मानव की क्या बिसात जो मेनका और वसन्त के झोंके से अपने आपको बचा ले। महर्षि का तप विचलित हुआ। तप की सारी गाढ़ी कमाई उन्होंने देवसुन्दरी के चरणों पर अर्पित कर दी। फलतः शकुन्तला का जन्म हुआ। मेनका पुत्री को पैदा कर स्वर्ग चली गई। महर्षि भी आँख मूँद तपस्या में लीन हुए। दयालु शकुन्तों (पक्षियों) ने पुत्री का पालन करना आरम्भ किया। मुनि कण्व की अबोध शिशु पर दया-दृष्टि पड़ी। वे उसे आश्रम में लाये। यही है संक्षेप में शकुन्तला की जन्म-कथा।

शकुन्तला महर्षि कण्व के पावन आश्रम में पलती है, बढ़ती है। आश्रम का वातावरण शान्त एवं निश्छल है। उसकी अवस्था के साथ-साथ उसका मानसिक तथा शारीरिक सौन्दर्य निखरता जाता है। शैशव को पार कर वह किशोरावस्था में प्रवेश करती है। इसी अवस्था में उसके शरीर पर सौन्दर्य का सागर उमड़कर लहराने लगता है। प्रौढ़ा-वस्था की प्रथम देहली पर पैर रखते ही वह अपने जमाने की अनुपम सुन्दरी मानी जाने लगती है। उसके सुकुमार सौन्दर्य की कहानी देश के कोने-कोने में पहुँचती है। झोपड़ी से राजमहल तक उसके लावण्य की गाथा से गूँजने लगते हैं। चक्रवर्ती सम्राट् दुष्यन्त के कानों तक उसकी छवि की छटा की कीर्ति पहुँचती है। दुष्यन्त व्याकुल है उसे देखने के लिये[1]। अन्ततः उसने कण्व के आश्रम की ओर मृगया का कार्य-क्रम बना ही डाला। उसे क्या मालूम था कि इस कार्य-क्रम का अन्तिम आखेट मुझे ही बनना है। आश्रम में पहुँचकर वह शकुन्तला को दूर से देखता है। देखते ही उसके सलोने शरीर पर मुग्ध हो जाता है। वह सोचता है—आश्रम-कार्य में इस सलोने शरीर को लगाना कोरी विवेक-हीनता है[2]। वस्तुतः शकुन्तला का शरीर सुकुमार लता की भाँति है। उसका रक्ताभ

---

१. राजा—कथमियं सा कण्वदुहिता ? (पृ० १३८)

२. असाधुदर्शी तत्र भवान् काश्यपः। य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।
इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥ १।१८ ।

अधर किसलय की भाँति है। उसकी मृदु बाहें कोमल लता-शाखाओं के तुल्य हैं। उसके शरीर पर कुसुम की तरह लुभावना यौवन किलकारी मार-मार कर अठखेलियाँ कर रहा है[१]। कोई कैसे कह सकता है कि यह सुकुमारी सुन्दरी किसी मोहिनी लता से कम है? वस्तुतः शकुन्तला जैसी भुवन-मोहिनी तरुणियाँ इस भूतल पर असंभव हैं। क्या दीप्ति से लपलपाती बिजली कभी भूतल से उत्पन्न होती है[२]? सच तो यह है कि वह विधाता की सृष्टि की विलक्षण स्त्री-रत्न है। विधि की कल्पना-प्रसूत है[३]। उसका रूप न सूँघा गया प्रसून है। नख-क्षत-विहीन किसलय है। न बिंधा हुआ रत्न है। अनास्वादित नवीन मधु है। पुण्यों का अखण्डित फल है[४]। यही कारण है कि दुष्यन्त जैसा अनुपम सुन्दर युवक चक्रवर्ती आश्रम की ललामभूता शकुन्तला का दर्शन ही नेत्र का फल मानता है। उसे ही इस भूमण्डल की दर्शनीय वस्तु समझता है[५]।

शकुन्तला में शालीनता कूट-कूटकर भरी हुई है। आभिजात्य तो उसका सहजात गुण है। उसके इस गुण को आश्रम के शान्त और पावन वातावरण ने और निखारा है। वह सुशील और लज्जाशील है। यद्यपि राजा के साथ चार आँखें होते ही उसके निर्दोष हृदय-साम्राज्य पर कामदेव साधिकार अधिकार कर बैठता है[६]। वह उसके हृदय में विप्लव मचाता है। उसके शिर पर खड़ा होकर ताण्डव करना चाहता है[७]। पर शकुन्तला की शालीन लज्जाशील प्रवृत्ति उसे ऐसा नहीं करने देती। उसके काम-जनित हाव-भाव बड़े ही मर्यादित ढङ्ग से होते हैं। भीतर ही भीतर काम की प्रचण्ड ज्वाला उसे जलाकर छार बना रही है। किन्तु उसने किसी से कुछ कहा नहीं। उसकी अवस्था अत्यन्त बिगड़ रही थी। सखियों को चिन्ता हुई। उन लोगों ने आग्रह किया। अत्यन्त हठ किया तब कहीं शकुन्तला ने अपनी जबान खोली—'सखि, तपोवन के रक्षक वह राजर्षि जब से मेरी दृष्टि के विषय बने·····।' बस, इतना आधा कह कर लज्जा के मारे चुप हो जाती है। प्रथम अंक में जब राजा उसकी प्रशंसा करता है तब भी वह लजाकर शिर नीचे झुका लेती है। राजा के साथ गान्धर्व-विवाह के अनन्तर वह गर्भवती हो जाती है। राजा हस्तिनापुर जा चुके हैं। पिता कण्व प्रवास से वापस आ गये हैं। शकुन्तला

---

१. अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥ १।२१

२. देखिये—१।२६।

३. रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे। २।९।

४, देखिये—२।१०।

५. राजा—माधव्य, अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि। येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्। (पृ० ११०)

६. शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता। (पृ० ५८)

७. शकुन्तला—(आत्मगतम्) हृदय, मोत्ताम्य। एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते। (पृ० ६०

समक्ष जीवन-मरण की समस्या है। वह अत्यन्त वत्सल पिता से क्या कहेगी ? कैसे कहेगी ? वे क्या सोचेंगे ? किन्तु आकाशवाणी ने उसकी इस विकट समस्या का समाधान स्वयं प्रस्तुत कर दिया। ये हैं उसकी लज्जाशीलता और शालीनता के कुछ उदाहरण। आखिर भारतीय परिवेश में पली ललनाओं का आभूषण लज्जाशीलता और शालीनता को ही तो माना गया है।

जिसकी गोद में लोट-पोट कर पली, बढ़ी उस प्रकृति से शकुन्तला का घनिष्ठतम सम्बन्ध है। आश्रम के वृक्षों, पशुओं और पक्षिओं के प्रति उसके हृदय में ममता की लहरियाँ हिलोरे लेती हैं[1]। आश्रम के वृक्षों को सींच कर ही वह जल पीती है। यद्यपि वह प्रसाधनप्रिय है, फिर भी उनके पत्ते आदि नहीं तोड़ती[2]। आश्रम से विदा होने के समय वह सखियों की ही भाँति आश्रम के वृक्षों, लताओं तथा हरिण आदि से भी विदाई लेती है, मिलती है।

शकुन्तला पहले दर्जे की पतिव्रता पत्नी है। दुष्यन्त का वियोग उसके लिये असह्य है। राजा के हस्तिनापुर चले जाने पर वह अपनी भी सुध-बुध खो बैठी है। दुर्वासा के शाप का उसे जरा भी पता नहीं है। हस्तिनापुर में निर्ममता के साथ दुष्यन्त उसका तिरस्कार करता है, परित्याग करता है। पर शकुन्तला अपने इस निर्मोही पति की ओर से विमुख नहीं होती। वह दुष्यन्त को दोष न देकर अपने भाग्य को ही कोसती है, दोषी ठहराती है।[3] मारीच के आश्रम में वह तपस्विनी के वेश में रहती है। प्रसाधन क्या होता है, इसे उसने इस आश्रम में जाना ही नहीं है। सप्तम अङ्क का उत्तरार्ध उसके सुचरित से भरा हुआ है। उसकी इसी तपस्या का परिणाम है कि उसका पति उससे मिलता है। पैरों पड़ता है। मनाता है। और फिर अनुपम सुख भोग के लिये उसे सादर अपनी राजधानी में ले जाता है।

मधुरभाषिणी, कोकिलकण्ठी शकुन्तला ने यदि एकान्त में, यौवन की उमंग में बहकर, गान्धर्व-विवाह न किया होता तो कदाचित् उसे तप की भीषण आग में न झुलसना पड़ता। वैसी स्थिति में कोई भी विचारवान् व्यक्ति उसकी चारित्रिक दुर्बलता पर उँगली उठाने का दुःसाहस न करता। लेकिन वह बेचारी क्या करती, ठहरी जो मानव।

---

१. शकुन्तला—न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु। (पृ० ३६-३८)
२. देखिये–४।९।
३. शकुन्तला—उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः। नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामाभिमुखमासीद् येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः। (पृ० ४७२)

कण्व

महर्षि कण्व आश्रम के पूज्य कुलपति हैं। उनका दूसरा नाम काश्यप है। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं[१]। उनका आश्रम यज्ञशाला से अलंकृत है[२]। वे श्रौत-विधि से अग्निहोत्र करनेवाले ब्रह्मर्षि हैं। उनका कठोर तपोवल अनुपम है। तप के प्रभाव से त्रिकाल एवं त्रिलोकी उनके हस्तामलकवत् हैं। महर्षि मारीच जैसा तपस्वी भी उनके प्रति आदरभाव रखता है[३]। यह कण्व की ही उग्र तपस्या का फल है कि राक्षस यज्ञ में विघ्न करने का साहस नहीं करते। भूत, भविष्य सभी उन्हें ज्ञात हैं। शकुन्तला की भावी विपत्ति का उन्हें ज्ञान है। यही कारण है कि वे उसके उपशमन के लिये सोमतीर्थ जाते हैं। शकुन्तला के गर्भवती होने का समाचार सर्वप्रथम उन्हें आकाशवाणी वतलाती है। उनके प्रभाव के कारण ही शकुन्तला की विदाई के समय वृक्ष-वनदेवता आभूषण आदि प्रदान करते हैं।

शकुन्तला उनकी धर्मपुत्री है। जननी-जनक-विहीन शकुन्तला का महर्षि कण्व निःस्वार्थ लालन-पालन करते हैं। वे शकुन्तला की शालीनता से सन्तुष्ट हैं। उनके हृदय की सारी ममता निश्छल रूप से शकुन्तला को प्राप्त है। अपनी अनुपस्थिति में वे अतिथि-सत्कार का सारा भार व्यवहार-निपुण शकुन्तला को सौंपते हैं[४]। शकुन्तला के पति-गृह-गमन के समय उनकी सारी ममता उमड़ पड़ती है। सगे पिता की भाँति शोक उन्हें व्याकुल कर देता है। उनका गला रुँधने लगता है[५]। वस्तुतः शकुन्तला के प्रति उनका वात्सल्य निःस्वार्थ है, आदर्श है, अनुकरणीय है।

यद्यपि वे ऋषि हैं। फिर भी लोक-व्यवहार में पारङ्गत हैं[६]। विदाई के समय शकुन्तला को दिया गया उनका उपदेश स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। उसका मूल्य निर्धन महिला से लेकर महारानी तक के लिये समान है[७]। राजा के लिये भेजा गया उनका सन्देश सरल, मार्मिक तथा सारगर्भित है[८]। शकुन्तला पति-गृह जा रही है। उसकी इच्छा है कि अनसूया और प्रियंवदा भी साथ चलें। किन्तु कुमारी युवतियों का सखी की ससुराल जाना अव्यवहारिक है। अतः वे शकुन्तला के आग्रह को बड़ी बुद्धिमानी से

---

१. राजा—भगवान् काश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः। (पृ० ६२)
२. प्रियंवदा—अग्निशरणं प्रविष्टस्य ...... (पृ० २१२)
३. मारीचः—तपःप्रभावात् प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः। (पृ० ४९०)
४. वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। (पृ० २६)
५. देखिये—४।६, ४।२१
६. वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्। (पृ० २४८)
७. देखिये—४।१८।
८. देखिये—४।१७।

टाल देते हैं।[१] वे कन्या को धरोहर समझते हैं। उनके भार को सँभालना वे बड़ी सतर्कता और योग्यता का कार्य मानते हैं—'अर्थो हि कन्या परकीय एव०' (४।२२)।

मानव-मनोविज्ञान के वे परमाचार्य हैं। शकुन्तला दुःखी है। वह एक अपरिचित स्थान में कैसे रहेगी ? उसका जीवन क्या दूभर नहीं हो जायेगा ? आदि बातें उसे व्यग्र बना रही हैं। अतः उसकी व्यग्रता को दूर करते हुए वे कहते हैं—पति-गृह पहुँचने पर वहाँ के कार्यों में मग्न हो जाने से तुम इस दुःख को भूल जाओगी[२]।

वस्तुतः कण्व का जीवन गङ्गा के प्रवाह की भाँति पावन है। हिम की भाँति उज्ज्वल है। सागर की भाँति विस्तृत है। त्रिवेणी की तरह तरल और स्निग्ध है।

विदूषक

विदूषक हास्यरस का पात्र होता है। शाकुन्तल के विदूषक का नाम है माधव्य। कथा के विकास में माधव्य का स्वल्प योगदान है। फिर भी इसके कार्यों का पूर्णतया अवमूल्यन नहीं किया जा सकता है। माधव्य जाति से ब्राह्मण है। यह राजा का अन्तरङ्ग मित्र है। दुष्यन्त शकुन्तला के साथ चल रहे अपने प्रेमाख्यान को एक मात्र इसी से प्रकट करता है। राजमाता भी इसे पुत्रवत् प्यार करती हैं। अतः आश्रम से वह हस्तिनापुर वापस जाता है। वहाँ जाकर राजामाता के पुत्रकृत्य का सम्पादन करता है। इस प्रकार दुष्यन्त को आश्रम में अपनी प्रेमलीला बढ़ाने का, पूरी करने का अवसर मिल जाता है। कथा आगे बढ़ती है। राजपरिवार का यह अतिविश्वसनीय व्यक्ति है। राजा हंसपदिका को आश्वस्त करने के लिये इसे उसके पास भेजता है। यह व्यग्रता की अवस्था में राजा को धैर्य बँधाता है। समय-समय पर उसका मनोरञ्जन करता है। और उचित परामर्श भी देता है[३]।

यह पेटू और डरपोक है। खाने की चिन्ता, लड्डू पाने की व्यग्रता इसके शिर पर लँगड़ी नाच नाचती है। राक्षसों की बात सुनते ही इसके प्राण फड़फड़ाने लगते हैं। इसे अपने प्राणों का बड़ा मोह है। इसकी जीने की इच्छा अत्यन्त बलवती है। इसकी सरलता और मुग्धता पर तरस आती है[४]।

शार्ङ्गरव और शारद्वत

शार्ङ्गरव और शारद्वत—दोनों ही महर्षि कण्व के शिष्य हैं। महर्षि इनका सम्मान करते हैं। वे इनके नाम के साथ सम्मानसूचक 'मिश्र' शब्द जोड़ते हैं[५]। इससे इनकी

---

१. वत्से, इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्। (पृ० २५०)
२. देखिये—४।१९।
३. देखिये—अंक ६।
४. विदूषक—न विस्मरामि। किन्तु सर्वं कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थं इत्याख्यातम्। मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम्। अथवा भवितव्यता खलु बलवती। (पृ० ३७०)
५. गौतमि, आदिश्यन्तां शार्ङ्गरवमिश्राः शकुन्तलानयनाय। (पृ० २१६)

विद्या और अवस्था की प्रौढ़ता सूचित होती है। प्रतीत होता है कि इन दोनों में शार्ङ्गर अवस्था में बड़ा है। अतः कण्व राजा के लिये सन्देश उसीसे कहते हैं[1]। वह शकुन्तला के अङ्गरक्षकों में सबसे वड़ा है। वही दल का नेता है। शारद्वत् उसकी अपेक्षा अल्प वयस्क है। शार्ङ्गरव लोकाचार का भी पंडित है[2]। दोनों परस्पर एक दूसरे का आद करते हैं। हस्तिनापुर में राजा के समक्ष जव शार्ङ्गरव पूरी उत्तेजना में वोल रहा तब उसे शारद्वत ही शान्त करता है[3]।

दोनों के चरित्र में महान् अन्तर है। (१) दोनों ही तपोवन के जीवन को पाव समझते हैं। दोनों ही नागर जीवन से उद्वेग अनुभव करते हैं। किन्तु दोनों की उद्वे की अनुभूति की पद्धति में अन्तर है। प्रथम की उग्र है तो द्वितीय की शान्त। शार्ङ्गरव राज-प्रासाद ऐसे लग रहा है जैसे उसमें से आग की लपटें निकल रही हों।[4] शारद्व के विचार दार्शनिक हैं। उसमें दूसरों के प्रति सहानुभूति है। उसे दूसरों से घृणा नहं है।[5] (२) शार्ङ्गरव दुर्वासा टाइप का वेखटक वेधड़क तपस्वी है। अपने तप व ब्रह्मतेज के सामने वह त्रिलोकी को तृण समझता है। फिर भूतल के एक खण्ड रा दुष्यन्त की क्या विसात है जो उसे शार्ङ्गरव न फटकार दे, न झटकार दे। लोग उसे क्रोधं कह सकते हैं, असहिष्णु कह सकते हैं, अशान्त वना सकते हैं। किन्तु इसे कभी नहीं भूल चाहिए कि शार्ङ्गरव का ब्रह्मतेज आखिर भड़का किस परिस्थिति में है ? दुष्यन्त आश्रम पधारे थे। शकुन्तला को दुलारे थे। मौज-मस्ती ले वापस चले आये थे। यह स शार्ङ्गरव से छिपा न था। क्या तेल की वूंद कभी पानी के नीचे दबती है ? जिन दि दुष्यन्त अपनी निर्लज्ज कामवासना को आश्रम में दफना रहा था। उन दिनों शार्ङ्गर का ब्रह्मदण्ड शायद उठ जाता। पर विवशता थी शकुन्तला की सहमति की। य अपनी वहन ही चण्डी वन वैठे तो वेचारा भाई क्या करेगा ? ठीक है इस प्रकार के सम्ब को भी तो समाज अनुमति देता है। अतः वह शान्त ही वना रहा। किन्तु आज कुलपि ने चोरी करने वाले राजा को जव वही सम्पत्ति समर्पित कर दी तो यह लेने से अस्वीक कर रहा है। जिसका अनास्वादित फूल-सा यौवन विगाड़ा। आज उसे पहचान भी न रहा है। गुरुपुत्री बिलख रही है। सब समझा रहे हैं। पर राजछत्र का अभिमा यह राजा मान ही नहीं रहा है। ऐसी परिस्थिति में शार्ङ्गरव ने जो कुछ कहा है वह मान चित है, समयोचित है। कर्तव्य है।

शारद्वत मितभाषी, अक्रोधी, सहिष्णु और शान्त प्रकृति का है। वह परिमित ब

---

१. शार्ङ्गरव, इति त्वया मद्वचनात् स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः। (पृ० २४६)
२. ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। (पृ० २४२)
३. शार्ङ्गरव, किमुत्तरेण (पृ० ३२०)
४. देखिये—५।१०
५. देखिये—५।११

ही करता है। शार्ङ्गरव और राजा के विवाद को उग्ररूप धारण करने पर शारद्वत ही उसे शान्त करता है। वह शार्ङ्गरव को शान्त होने के लिये कहता है।[1] शकुन्तला से कहता है कि अब तुम राजा को विश्वास दिलाओ।[2] अन्त में वह राजा से कहता है—'शकुन्तला तुम्हारी पत्नी है। तुम इसे रखो या छोड़ो। इस पर तुम्हारा ही अधिकार है। अब हम लोग जाते हैं।[3] शार्ङ्गरव उग्र है। शारद्वत शान्त है। इसी के कारण विवाद का अन्त हुआ। यह सच्चे अर्थ में तपस्वी है।

अनसूया और प्रियंवदा

अनसूया और प्रियंवदा शकुन्तला की प्राणप्यारी सखियाँ हैं। ये तीनों ही सुन्दरी हैं। तीनों की आयु प्रायः बराबर है।[4] किन्तु शकुन्तला इन दोनों की अपेक्षा अधिक रूपवती है। आयु में अनसूया सबसे बड़ी प्रतीत होती है। तीनों में घनिष्ट प्रेम है। वे सभी एक दूसरी को सुखी देखना चाहती हैं।

अनसूया और प्रियंवदा के चरित्र में कुछ साम्य और कुछ वैषम्य है। दोनों के चरित्र की समानताएँ इस प्रकार हैं:—(१) दोनों ही शकुन्तला से निःस्वार्थ हार्दिक प्रेम करती हैं। उसे सगी बहन-सी मानती हैं। शकुन्तला को सुखी और प्रसन्न रखने के लिये सतत प्रयत्नशील रहती हैं। तृतीय अंक में कामदग्ध शकुन्तला को अस्वस्थ देखकर वे दोनों ही चिन्तित होती हैं। रहस्य ज्ञात हो जाने पर राजा और शकुन्तला का सङ्गम कराने का प्रयास करती हैं। (२) दोनों ही शिष्ट, विनीत, मधुरभाषिणी और वाक्पटु हैं। वे राजा से मिलने पर अपनी पटुता का परिचय देती हैं। राजा उनके व्यवहार से पर्याप्त प्रभावित है। (३) दोनों कर्मठ, कार्यदक्ष और बुद्धिमती हैं। आश्रम के वृक्षों की सेवा में दोनों का समान उत्साह है। शकुन्तला के हस्तिनापुर प्रस्थान के समय वे दोनों ही उसे सप्रेम सजाती हैं, सवारती हैं। तृतीय अंक में दोनों ही शकुन्तला को सुखी रखने के लिये राजा से वचन लेती हैं।[5] दुर्वासा के शाप को ज्ञात कर दोनों ही हार्दिक कष्ट का अनुभव करती हैं।

इसके अतिरिक्त दोनों के चरित्र में कुछ वैषम्य भी है। (१) अनसूया गम्भीर स्वभाव की है। उसमें प्रौढता एवं परिपक्वता अधिक है। प्रियंवदा विनोदशीला है। चुलबुली है। प्रौढता एवं परिपक्वता की मात्रा अपेक्षाकृत उसमें कम है। अनसूया

---

१. शार्ङ्गरव, विरम त्वमिदानीम्। (पृ० ३०४)
२. शकुन्तले, …… दीयतामस्मै प्रत्यय प्रतिवचनम्। (पृ० ३०४)
३. तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा। ५।२६।
४. अहो, मधुरमासां दर्शनम्। (पृ० ३४)। अहो, समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम् (पृ० ५८)। भोः, इदानीं तिस्रस्तत्र भवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः। (पृ० ३८८)।
५. देखिये—३।१७।

बहुत शर्माती नहीं है। राजा के आश्रम में आने पर वही उनकी अगवानी करती है। विश्वामित्र और मेनका से शकुन्तला की उत्पत्ति बतलाकर वही राजा की जिज्ञासा का उपशमन करती है। प्रियंवदा राजा और शकुन्तला के परस्पर आकर्षण को भाँपकर शकुन्तला से विवाह विषयक हँसी करती है, चुटकी लेती है[१]। उसकी चुटकी पर जब बनावटी कोप कर शकुन्तला जाने लगती है तब प्रत्युत्पन्नमति प्रियंवदा उसे रोकने का बहाना बनाकर कहती है—'तुम जा नहीं सकती। मैंने तुम्हारी क्यारी में दो घड़ा जल सींचा है। अतः तुम्हारे ऊपर मेरा दो घड़े जल का ऋण बाकी है।' आदि आदि। वह मधुरभाषिणी है। यही कारण है कि उसकी बातों पर हृदय से कोई अप्रसन्न नहीं होता। मधुरभाषिणी होने के कारण ही कदाचित् उसका नाम प्रियंवदा है। (२) अनसूया विचारगम्भीर और स्वल्पभाषिणी है। हँसी-मजाक की बातों में उसकी विशेष रुचि नहीं परिलक्षित होती। किसी बात का निर्णय वह झटिति नहीं करती। उसकी बात की सरणि से ऐसा ज्ञात होता है कि पर्याप्त ऊहापोह करके ही वह किसी बात का उत्तर देती है। प्रियंवदा वाक्चतुर है। अधिक बोलने वाली है। विनोदप्रिय है। (३) अनसूया शङ्कालु प्रकृति की है। वह सहसा किसी बात पर विश्वास नहीं करती। दुष्यन्त और शकुन्तला परिणय के पावन सूत्र में बँधने जा रहे हैं। अतः वह राजा से निवेदन करती है—'राजाओं की कई पत्नियाँ होती हैं। भविष्य में आप ऐसा कीजिए जिससे मेरी सखी को किसी प्रकार का कष्ट न उठाना पड़े[२]।' चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में राजा आश्रम से विदा होकर हस्तिनापुर जा चुका है। अनसूया का मन चिन्तित है— 'रनिवास में मग्न होकर राजा शकुन्तला का स्मरण करेगा अथवा नहीं[३]।' इसके विपरीत प्रियंवदा शीघ्र विश्वास कर लेने वाली तरुणी है। अपनी सखी अनसूया की आशंका पर वह उसे आश्वस्त करती हुई कहती है—'निश्चिन्त रहो। उस प्रकार की सुन्दर आकृतियाँ गुणों से विहीन नहीं हुआ करतीं[४]।' (४) अनसूया दूरदर्शिनी है। वह भविष्य की चिन्ता करती है। प्रियंवदा सरल है। वह भविष्य की झंझट में न पड़कर वर्तमान से ही सन्तुष्ट रहती है। वह राजा और शकुन्तला के संगम पर ही प्रसन्न है। (५) अनसूया धीरप्रकृति की परिपक्व बुद्धिवाली तरुणी है। प्रियंवदा शीघ्र घबड़ा जाती है। दुर्वासा के शाप को सुनकर वह घबड़ा उठती है, किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है। किन्तु अनसूया सधैर्य महर्षि को मनाने के लिये प्रियंवदा को प्रेषित करती है। प्रियंवदा भयभीत है कि कुलपति शकुन्तला के गान्धर्व विवाह पर कैसी प्रतिक्रिया व्यक्त करेंगे। किन्तु अनसूया आश्वस्त हो उसे समझाती है—'ऋषि इसका अनुमोदन करेंगे। शकु

---

१. देखिये—(पृ० ६२)।
२. बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वाहय। (पृ० १७६)
३. राजर्षिः⋯आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति। (पृ०
४. विस्रब्धा भव। नहि तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति। (पृ० १९२)

किसी गुणशाली को देनी थी। भाग्य ने स्वयं वैसा संयोग ला उपस्थित कर दिया।' अतः पिता कण्व के अप्रसन्न होने की कोई बात ही नहीं है।

ये हैं दोनों सखियों की कुछ चारित्रिक समताएँ और विषमताएँ।

गौतमी

गौतमी कण्व की धर्म-भगिनी है। वह तपस्या की प्रतिमूर्ति है। सरल है। निश्छल है। दया धर्म की पेटारी है। इसका नाम लेते ही प्रतीत होता है—एक कृशकाय तपस्या-जर्जर महिला सामने खड़ी है। सीधा-सादा निराभरण वेश। मस्तक पर चमकती तपस्या की रेखायें पड़ी हैं। शकुन्तला अस्वस्थ है। उस बेचारी तपस्विनी को क्या पता कि वह किस खेल में अलमस्त है। अपने ६०-७० वर्ष के जीवन में कभी सांसारिकता की ओर उसकी मनोवृत्ति गई ही न थी। किसी वसन्त की बयार ने उसके मन और शरीर पर गुदगुदी पैदा ही न कर सकी थी। अतः वह समाचार पाते ही मन्त्रपूत जल लेकर शकुन्तला के पास पहुँचती हैं। जल से सींचती है। प्यार से पूछती है—'बिटिया, तुम्हारे शरीर का सन्ताप कुछ कम हुआ ?' शकुन्तला कुछ लाभ होने का उत्तर देती है। बेचारी बुढ़िया उस तापसी को क्या पता कि इसके रोग की असली दवा मिल गई है। चल रही है। और मैंने आकर उसमें कुछ विघ्न किया है। वह शकुन्तला को बड़े प्यार के साथ-साथ ले जाती है। उसकी सेवा करती है।

गौतमी के सदाचार और सद्व्यवहार का ही परिणाम है कि कण्व जैसा महर्षि भी उसका समादर करता है[1]। हस्तिनापुर में राजा के समक्ष गौतमी जिस धैर्य और सरलता से अपना कर्तव्य निभाती हैं, उससे दर्शकों का हृदय प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। राजा शकुन्तला के साथ ही उसका भी अपमान करता है। स्त्री-समूह की निन्दा करता है। उन्हें धूर्त बतलाता है[2]। किन्तु तपस्विनी गौतमी शान्त और निर्विकार बनी रहती है। नारी की पृथिवी-सदृश क्षमाशीलता और सहिष्णुता का वह निदर्शन है। वस्तुतः भारत का अतीत गौतमी जैसी आर्य महिलाओं के पावन चरित से उज्ज्वल है, धन्य-धन्य है।

---

१. कथं वा गौतमी मन्यते। (पृ० २४८)
२. देखिये—५।२२।

पात्र-परिचयः

पुरुष-पात्र

दुष्यन्त—नाटक का नायक। यह हस्तिनापुर का राजा है।
माधव्य-(विदूषक)—राजा का मित्र।
सर्वदमन-(भरत)—शकुन्तला से उत्पन्न राजा दुष्यन्त का पुत्र।
सोमरात—दुष्यन्त का पुरोहित।
सूत—दुष्यन्त का सारथि।
वातायन—राजा का कञ्चुकी। रनिवास की देखभाल करने वाला वृद्ध ब्राह्मण।
रैवतक—राजा का द्वार-रक्षक।
वैतालिक—स्तुतिपाठक, भाट।
श्याल—राजा का साला। नगर का कोतवाल।
सूचक–, **जानुक**– } नगर के दो पुलिस, सिपाही।
करभक—राजमाता का सन्देश राजा के पास पहुँचाने वाला सेवक।
मातलि—इन्द्र का सारथि। यही राजा को स्वर्ग ले जाता है और वहाँ से वापस लाता है।
काश्यप-(कण्व)—आश्रम के कुलपति। शकुन्तला के पालक धर्म-पिता।
शार्ङ्गरव–, **शारद्वत**– } कण्व के शिष्य।
वैखानस–, **गौतम, हारीत, शिष्य** } ” ”
मारीच (कश्यप)—एक महर्षि। देवों और दानवों के पिता। एक प्रजापति।
गालव—मारीच का शिष्य।
सूत्रधार—नाटक का आरम्भकर्ता तथा रंगमञ्च का अध्यक्ष।
धीवर—एक मछुआ।

स्त्री-पात्र

शकुन्तला—नाटक की नायिका। दुष्यन्त की धर्मपत्नी। कण्व की पालिता पुत्री

अनसूया—
प्रियंवदा— } शकुन्तला की प्यारी सखियाँ।

गौतमी—कण्व के आश्रम की वृद्धा तापसी।

अदिति-(दाक्षायणी)—महर्षि मारीच की धर्मपत्नी।

सानुमती—मेनका की सखी अप्सरा। यह शकुन्तला की भी सखी है।

चतुरिका— राजा की सेविका।

मधुकरिका—
परभृतिका— } राजा के उद्यान की पालिकाएँ।

वेत्रवती (प्रतिहारी)—द्वारपालिका।

यवनी—राजा की सेविका।

तापसी (सुव्रता)—मारीच के आश्रम की एक तापसी।

नाटक में वर्णित अन्य पात्र

मघवा (इन्द्र)—देवताओं का राजा।

जयन्त—इन्द्र का पुत्र।

कौशिक (विश्वामित्र)—ऋषि विश्वामित्र। शकुन्तला के जन्मदाता पिता।

दुर्वासा—एक ऋषि।

मेनका—शकुन्तला की माता। एक अप्सरा।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ १ ॥

अन्वयः—या, स्रष्टुः, आद्या, सृष्टिः; या, विधिहुतम्, हविः, (देवान्), वहति; च, या, होत्री; ये, द्वे, कालम्, विधत्तः; श्रुतिविषयगुणा, या, विश्वम्, व्याप्य, स्थिता; याम्, सर्वबीजप्रकृतिः, इति, आहुः; यया प्राणिनः, प्राणवन्तः, (सन्ति); ताभिः, प्रत्यक्षाभिः, अष्टाभिः, तनुभिः, प्रपन्नः, ईशः, वः, अवतु ॥ १ ॥

शब्दार्थः—या = जो, स्रष्टुः = विधाता की, आद्या = पहली, सर्वप्रथम, सृष्टिः = रचना (है); या = जो, विधिहुतम् = विधिपूर्वक हवन की गई, हविः = (घृत आदि) हवि को, (देवान् = देवताओं तक), वहति = पहुँचाती है; च = और, या = जो, होत्री = हवन करने वाली (है); ये = जो, द्वे = दो (मूर्तियां), कालम् = समय को, विधत्तः = करती हैं; श्रुतिविषयगुणा = कान का विषय (शब्द) ही है गुण जिसका ऐसी, या = जो, विश्वम् = सम्पूर्ण जगत् को, व्याप्य = व्याप्त करके, स्थिता = स्थित है; याम् = जिसको, सर्वबीजप्रकृतिः = समस्त बीजों का कारण, इति = ऐसा, आहुः = कहा गया है; यया = जिसके द्वारा, प्राणिनः = जीवधारी, प्राणवन्तः = प्राणवाले (अर्थात् जीवित), (सन्ति = हैं), ताभिः = उन, उक्त, प्रत्यक्षाभिः = प्रत्यक्ष, अष्टाभिः = आठ, तनुभिः = मूर्तियों से, प्रपन्नः = युक्त, ईशः = शिव, वः = आप सबकी, अवतु = रक्षा करें ॥ १ ॥

टीका—तत्र श्रीमान् कालिदासनामा महाकविः प्रारिप्सितस्य नाटकस्य निर्विघ्नसमाप्त्यर्थं स्वेष्टदेवतावैशिष्टचसङ्कीर्तनपुरस्सरमाशीर्वचनरूपं मङ्गलं नान्द्योपस्थापयन् नाटकीयं वस्तु ध्वनयति—**या सृष्टिरिति।** या = जलरूपा मूर्तिः, स्रष्टुः = जगन्निर्मातुः, आद्या = प्रथमा, सृष्टिः = रचना, ब्रह्मणा जगन्निर्मातुं मनसि निश्चित्य प्रथमं जलमेव निर्मितम् "अप एव ससर्जादौ" (१, ८) इति मनुवचनात् तथा शतपथब्राह्मणवचनात् (११, १, ६, अपीदमेव तथ्यं समर्थितं भवति । 'सर्वादौ सर्गात् सर्गोत्पत्तिहेतुत्वाच्चादि... ध्वन्यते, इति राघवभट्टचरणाः । या = अग्निरूपा मूर्तिः, विधिहुतम्—विधिना विधानेन, श्रुतिस्मृत्युक्तेन मार्गेणेत्यर्थः, हुतम् = दत्तम्, हविः = हवनीयद्रव्यजातम्, वहति = आदत्ते, देवान् प्रापयति वा, 'अग्निमुखा वै देवा' इति 'अग्निर्होता' इतिस्मृतेश्च, च = और, या = मूर्तिः, होत्री—जुहोतीति होत्री = यजमानरूपेत्यर्थः, अनेनेन्द्रादीनामपि तर्पकत्वा...तिशयो व्यज्यते । ये द्वे = चन्द्रसूर्यरूपे मूर्ती, कालम् = समयम्, अहोरात्रात्मकं समयमित्य...

प्रथम अङ्क

अर्थ :—जो (मूर्ति) विधाता की पहली रचना है (अर्थात् जलरूप मूर्ति), जो (मूर्ति) विधिपूर्वक हवन की गई (घृत आदि) हवि को (देवताओं तक पहुँचाती है अर्थात् अग्निरूप मूर्ति), और जो (मूर्ति) हवन करने वाली है (अर्थात् यजमानरूप मूर्ति), जो दो (मूर्तियाँ) समय को करती हैं (अर्थात् दिन और रात का विधान करने वाली सूर्य और चन्द्ररूपी मूर्तियाँ), कान का विषय (शब्द) ही है गुण जिसका ऐसी जो (मूर्ति) सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित है (अर्थात् आकाशरूप मूर्ति), जिसको समस्त बीजों का कारण कहा गया है (अर्थात् पृथिवीरूप, मूर्ति), तथा जिसके द्वारा जीवधारी प्राणवाले हैं (अर्थात् वायुरूप मूर्ति)—उन प्रत्यक्ष आठ मूर्तियों से युक्त शिव आप सब की रक्षा करें ॥ १ ॥

विशेष—जल, अग्नि, यज्ञकर्त्ता (अर्थात् यजमान) सूर्य और चन्द्र, आकाश, पृथ्वी तथा वायु—ये आठ शिव की मूर्तियाँ कही गई हैं ॥ १ ॥

विधत्तः = कुरुतः । यद्यपि कालस्तु नित्यस्तथापि तस्य विभाजकत्वेनैतौ कारणत्वेनोक्ताविति । श्रुतिः = श्रवणेन्द्रियम् तस्य विषयः = गोचरः, ज्ञेयोऽर्थः शब्द इत्यर्थः, गुणो यस्याः सा, शब्दगुणा इति भावः, आकाशरूपा मूर्तिः 'शब्दगुणकमाकाशमिति' वैशेषिकवचनम्, विश्वम् = जगत्, निखिलं ब्रह्माण्डजातमिति भावः, व्याप्य = व्याप्तं कृत्वा, अवष्टभ्येत्यर्थः, स्थिता = वर्तमानाऽऽस्ते । याम् = पृथिवीरूपां मूर्तिम्, सर्वबीजप्रकृतिः—सर्वबीजानाम् = सर्वशस्यानाम्, प्रकृतिः = योनिः ('प्रकृतिः सहजे योनौ' इति विश्वः), इति = इत्थम्, आहुः = कथयन्ति, बुधा इति शेषः । अत्रेतिनिपातेन कर्मण उक्तत्वात्प्रकृतौ प्रथमा भवतीति ज्ञेयम् । तथा च वामनः 'निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः । परिगणनस्य प्रायिकत्वात्' इति । यया = वायुरूपया मूर्त्या, प्राणिनः = जन्मिनः, प्राणभृत इत्यर्थः, प्राणवन्तः = जीववन्तः बलवन्तश्चेत्यपि, सन्तीति क्रियाशेषः । ताभिः = पूर्वोक्ताभिः, प्रत्यक्षाभिः = इन्द्रियग्राह्याभिः, अष्टाभिः = अष्टसंख्याकाभिः तनुभिः = मूर्तिभिः, प्रपन्नः = युक्तः, प्रसन्न इति पाठे तु जगत्सु कृतप्रसाद इति यावत्, ईशः = शिवः, वः = युष्मान् रङ्गागतान् सभ्यान्, अवतु = रक्षतु । आशीरियं सूत्रधारेण पठितेति । अत्र पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः । स्रग्धराच्छन्दः ॥१॥

टिप्पणी—स्रष्टुराद्या—मनु आदि शास्त्रकारों के अनुसार ब्रह्मा ने सर्वप्रथम जल की ही रचना की थी ।

वहति—शास्त्र में बतलाई गई विधि के अनुसार हवन करने से अग्नि उस हवि को देवों तक पहुँचाता है ।

कालं विधत्तः—काल अखण्ड तथा अनादि है । किन्तु सूर्य एवं चन्द्र के द्वारा दिन-रात आदि के रूप में उसका विभाग होता है । अतः सूर्य एवं चन्द्र काल के कर्ता बतलाये गये हैं ।

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये, यदि नेपथ्यविधानमवसितम्, इतस्तावदागम्यताम्।

(प्रविश्य)

नटी—आर्यपुत्र, इयमस्मि। [अज्जउत्त, इयं ह्मि।]

सूत्रधारः—आर्ये, अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्। अद्य खलु कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत् प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः।

सर्वबीजप्रकृतिरिति—'प्रकृतिः' 'आहुः' का कर्म है। अतः इसमें द्वितीया विभक्ति होनी चाहिए। किन्तु 'इति' इस निपात के द्वारा कर्म के कह दिये जाने से 'प्रकृतिः' में प्रथमा विभक्ति हुई है।

प्राणिनः प्राणवन्त :—यद्यपि प्राणी और प्राणवान् शब्द समानार्थक हैं; किन्तु पहला जीव के अर्थ में रूढ़ है और दूसरा विशेषण है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं होता।

प्रत्यक्षाभि :—प्रत्यक्ष का अर्थ नेत्र-गोचर न होकर इन्द्रियगोचर है। अतः त्वक् इन्द्रिय से ज्ञात वायु भी प्रत्यक्ष है। यद्यपि न्यायशास्त्र के अनुसार आकाश और वायु प्रत्यक्ष नहीं हैं। किन्तु वेदान्त इन्हें प्रत्यक्ष मानता है।

इस श्लोक में पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार तथा स्रग्धरा छन्द है। छन्द का लक्षण:—

'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'॥ १॥

व्युत्पत्तिः—**सृष्टि :**—√सृज् + क्तिन् + विभक्तिकार्यम्। **स्रष्टु :**—√सृज् + तृच् षष्ठ्येकवचने विभक्तिकार्यम्। **आद्या**—आदि + यत् + टाप् + विभक्त्यादिकार्यम्। **हुतम्**—√हु + क्त + विभक्तिकार्यम्। **होत्री**—√हु + तृच् + ङीप्। **व्याप्य**—वि + √आप् + ल्यप्। **प्राणवन्त :**—प्राण + मतुप् + विभक्तिकार्यम्। **प्रपन्न :**—प्र + √पद् + क्त (त) + विभक्तिकार्यम्॥ १॥

शब्दार्थ :—**नान्द्यन्ते**—नान्दी = मङ्गलाचरण, अन्ते = समाप्ति पर = मङ्गलाचरण की समाप्ति पर। **सूत्रधारः** = प्रधान नट, मण्डली का नेता। **नेपथ्याभिमुखम्**—नेपथ्य = वेष धारण करना, वेष धारण करने का स्थान और पर्दा, अभिमुख = ओर, सामने मुँह करके = नेपथ्य की ओर मुँह करके। **नेपथ्यविधानम्** = वस्त्र आदि धारण करने का कार्य, सज-धज, **अवसितम्** = समाप्त हो गया हो, **इतः** = इधर।

टीका—**नान्द्यन्ते**—नन्दयति = आनन्दयति जनानिति नान्दी, नन्दन्ति देवा अस्याम् अनया वा नान्दी = नाटकादौ प्रथमं मङ्गलार्थं विहितं पद्यं नान्दीत्युच्यते। उक्तञ्चापि साहित्यदर्पणे—

(मङ्गलाचरण की समाप्ति पर)

सूत्रधार—(नेपथ्य की ओर देखकर) आर्ये, यदि वस्त्र आदि धारण करने का कार्य समाप्त हो गया हो तो जरा (तावत्) इधर आओ।

विशेष—**आर्ये**—प्राचीन काल में पति-पत्नी परस्पर आर्या एवं आर्य कह कर पुकारते थे। स्त्री अपने पति को 'आर्य' तथा पति अपनी स्त्री को 'आर्या' कहता था। बड़े जनों को भी 'आर्य' या 'आर्या' कहने की प्रथा थी।

(प्रवेश करके)

नटी—आर्यपुत्र, यह (मैं उपस्थित) हूँ।

सूत्रधार—प्रिये, विद्वानों से भरपूर है यह सभा। (इसमें) आज हमें कालिदास के द्वारा विरचित कथानकवाले अभिज्ञानशाकुन्तल नामक नवीन नाटक के साथ उपस्थित होना है (अर्थात् अभिज्ञानशाकुन्तल नामक नवीन नाटक का अभिनय करना है)। अतः प्रत्येक पात्र के विषय में सावधानी रखनी चाहिये (अर्थात् प्रत्येक पात्र को उसके निर्धारित अभिनय के विषय में पूर्ण अभ्यास होना चाहिए)।

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।
देव-द्विज-नृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥

श्लोकान्तर्वर्त्येकैकं वाक्यमेवात्रैकं पदं मत्वाऽत्राष्टपदा नान्दी। तथा हि—'या स्रष्टुराद्या सृष्टिः' इत्येकं पदम्। एवमेवान्यदपि ज्ञेयम्। एकैकवाक्यस्यैकैकपदत्वे नाट्यप्रदीपकारवचनमेव मानम्। तथा हि—

श्लोकपादः पदं केचित् सुप्तिङन्तमथापरे।
परेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे॥

केनचिदाचार्येण चतुष्पदाऽपि नान्द्युच्यते—

'तां षोडशपदामेके केचिदाहुश्चतुष्पदाम्।'

सूत्रधारः—सूत्रम् = नाट्यप्रयोगानुष्ठानम् धारयतीति सूत्रधारः = प्रधाननटः। उक्तञ्च साहित्यदर्पणे सूत्रधारलक्षणम्—

नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते॥

नेपथ्याभिमुखम्—नेपथ्यस्य = वेशरचनास्थानस्य अभिमुखम् = सम्मुखम्, अवलोक्य = दृष्ट्वा। नेपथ्यविधानम्—नेपथ्यस्य = वेशरचनायाः विधानम् = कार्यम्, अवसितम् = परिसमाप्तम्। इतः = अस्मिन् रङ्गमञ्चे॥

टिप्पणीः—**सूत्रधारः**—नाट्य (रूपक) के उपकरण आदि को 'सूत्र' कहते हैं। उसे धारण करने वाला सूत्रधार कहलाता है।

नेपथ्यः—नेपथ्य शब्द के तीन अर्थ हैं—वेश धारण करना, वेशधारण का स्थान और पर्दा।

व्युत्पत्तिः—**नान्दी**— √नन्द् + घञ् + अण् + विभक्तिकार्यम्।

सूत्रधारः—सूत्र + √धृ + अण् + विभक्तिकार्यम्। **अवसितम्**—अव + √सो + क्त + विभक्तिकार्यम्॥

नटी—सुविहितप्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते।
[सुविहिदप्पओअदाए अज्जस्स ण किं पि परिहाइस्सदि ।]
सूत्रधारः—आर्ये, कथयामि ते भूतार्थम् ।
आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥२॥

शब्दार्थः—प्रविश्य = प्रवेश करके, रङ्गमञ्च पर आकर। आर्यपुत्र = स्वामी, पतिदेव। आर्ये = प्रिये, अभिरूपभूयिष्ठा = विद्वानों से भरपूर, विद्वान् हैं अधिक जिसमें ऐसी, परिषत् = सभा। कालिदासग्रथितवस्तुना = कालिदास द्वारा विरचित कथानकवाले, अभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन = अभिज्ञानशाकुन्तल नामक उपस्थातव्यम् = उपस्थित होना है, अभिनय करना है ॥

टीका—प्रविश्येति। प्रविश्य = नेपथ्यात् रङ्गमञ्चे समागत्य। आर्यपुत्र—आर्यस्य = आदरणीयस्य श्वसुरस्य पुत्रः = सुतस्तत्सम्बुद्धौ हे आर्यपुत्र = भोः स्वामिन्। आर्ये = प्रिये, अभिरूपभूयिष्ठा—अभिरूपाः = पण्डिताः मनोज्ञाश्च ('अभिरूपं बुधे रम्ये' इति शाश्वतः) भूयिष्ठाः = बहवो यस्यामेतादृशी, परिषत् = सभा अनेन सभ्यप्रशंसा कृता। कालिदासग्रथितवस्तुना—कालिदासेन = तदाख्ये प्रसिद्धेन कविना ग्रथितम् = निबद्धम् वस्तु = इतिवृत्तम् यस्मिन् तत् तेन। अनेन कविप्रशंसा। अभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन—शकुन्तलामधिकृत्य कृतं नाटकं शाकुन्तलम्, अभिज्ञायतेऽनेन इति अभिज्ञानम् = प्रकृते अङ्गुलीयकम्, अभिज्ञानप्रधानं शाकुन्तलम् अभिज्ञानशाकुन्तलम्। उत्तरस्य प्रधानपदस्यात्र लोपः। अभिज्ञानशाकुन्तलम् इति नामधेयम् = नाम यस्य तेन। विस्तरस्तु भूमिकायां द्रष्टव्यः। उपस्थातव्यम् = आराधयितव्यमित्यर्थः, रङ्गमञ्चे अभिनेतव्यमिति भावः ॥

टिप्पणी—नटी—यह सूत्रधार की पत्नी तथा कार्यसहायिका होती है।

आर्यपुत्र—प्राचीनकाल में स्त्रियाँ अपने पति को आर्यपुत्र कहा करती थीं। बोलने की यह एक सभ्य प्रथा थी।

आधीयतां यत्नः—प्रत्येक पात्र के विषय में सावधानी रखनी चाहिए, ताकि कहीं कोई त्रुटि न होने पावे ॥

व्युत्पत्तिः—भूयिष्ठा—बहु + इष्ठन् + टाप् + विभक्त्यादिकार्यम्।
उपस्थातव्यम्—उप + √ स्था + तव्यत् + विभक्तिकार्यम्।
यत्नः—यत् + नङ् (भावे) + विभक्तिकार्यम् ॥

शब्दार्थः—सुविहितप्रयोगतया = सुशिक्षित अभिनय के कारण, अथवा अच्छे प्रकार की गई अभिनय-व्यवस्था के कारण, आर्यस्य = आर्य के, आपके, न किमपि = कुछ भी नहीं, कोई भी, परिहास्यते = न्यूनता रहेगी, कमी रहेगी। भूतार्थम् = सच्ची बात, यथार्थ ॥

नटी—आपके सुशिक्षित अभिनय के कारण (अथवा—आपके द्वारा अच्छी प्रकार की गई अभिनय-व्यवस्था के कारण) कोई भी कमी न रहेगी।

सूत्रधार—आर्ये, तुमसे सही बात कह रहा हूँ।

विद्वानों के सन्तोष तक (अर्थात् जब तक विद्वान् सन्तुष्ट न हो जाँय तब तक) मैं अपनी अभिनय-कुशलता को सफल नहीं समझता हूँ; (क्योंकि) अत्यधिक शिक्षित जनों का भी चित्त अपने ऊपर अविश्वासयुक्त (ही) होता है ॥ २ ॥

टीका—नटस्तुतिं प्रस्तौति नटी—सुविहितेति। आर्यस्य = पूज्यस्य भवतः, सुविहितप्रयोगतया—सुविहितः = सुशिक्षितः प्रयोगः = अभिनयक्रिया येन तस्य भावस्तया, अथवा—सुविहितः = साधुकृतः प्रयोगः = अभिनयव्यवस्था येन तत्ता सुविहित-प्रयोगता तया अभिनयकौशलेनेत्यर्थः, न किमपि = किञ्चिदपि न, परिहास्यते = परिहीनं भविष्यति। अभिनयस्तु सर्वाङ्गीणतया सुसमृद्धः सन्तोषकरश्च भविष्यतीति नटीहृदयम्। भूतार्थम्—भूतम् = यथार्थम् अर्थम् = तत्त्वम्, सत्यार्थमित्यर्थः, ('भूतं क्ष्मादौ पिशाचादौ न्याये सत्योपमानयोः।' इति विश्वः) ॥

टिप्पणी—सुविहितप्रयोगतया—नटी के कहने का भाव यह है कि—आपकी अभिनयकुशलता तथा अभिनय-व्यवस्था एवं बारम्बार के अभ्यास के कारण ऐसी कोई कमी न रहेगी जो विद्वान् दर्शकों को खले ॥

व्युत्पत्तिः—परिहास्यते—परि + √हा + लृट्लकारे विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—विदुषाम्, आ परितोषात्, प्रयोगविज्ञानम्, साधु, न, मन्ये; (यतः), बलवत्, शिक्षितानाम्, अपि, चेतः, आत्मनि, अप्रत्ययम्, (भवति) ॥ २ ॥

शब्दार्थः—विदुषाम् = विद्वानों के, आ परितोषात् = सन्तोष तक, प्रयोग-विज्ञानम् = अभिनयकुशलता को, साधु = ठीक, सफल, न = नहीं, मन्ये = मानता हूँ, समझता हूँ; (यतः = क्योंकि); बलवत् = विशेष रूप से, अत्यधिक, शिक्षितानाम् = शिक्षितों का, शिक्षा पाये हुए जनों का, अपि = भी, चेतः = चित्त, आत्मनि = अपने ऊपर, अप्रत्ययम् = अविश्वासयुक्त, (भवति = होता है) ॥ २ ॥

टीका—भूतार्थमेव कथयति—आ परितोषादिति। विदुषाम् = पण्डितानाम्, आ परितोषात् = सन्तोषपर्यन्तम्, मर्यादावचनेऽत्र आङ्, यावत् पण्डितानां सन्तोषो न भवति तावदित्यर्थः, प्रयोगविज्ञानम्—प्रयोगस्य = अभिनयस्य विज्ञानम् = कौशलम्, आत्मन इति शेषः, 'मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानमि'त्युक्तिः, साधु = सफलम्, उत्कृष्टमिति यावत्, न मन्ये = न स्वीकरोमि। तत्र हेतुमुपन्यस्यति—बलवदपीति। (यतः = यस्मान्न मन्ये तस्मादित्यर्थः), बलवत् = दृढं यथा स्यात्तथेत्यर्थः, शिक्षितानाम् = कृताभ्यासानां विज्ञानामित्यर्थः, अपिनाऽल्पशिक्षितानां सर्वथा दौर्बल्यं सूचितम्, यदा शिक्षितानां चेतोऽप्रत्ययं तदाऽल्पशिक्षितानां का कथेति भावः, चेतः = हृदयम्, आत्मनि = स्वस्मिन्, अप्रत्ययम् = अविश्वसनीयं भवतीति शेषः। आथव

नटी—आर्य, एवमेतत् । अनन्तरकरणीयमार्य आज्ञापयतु। [अज्ज, एवं एदम् । अणन्तरकरणिज्जं अज्जो आणवेदु ।]

सूत्रधारः—किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादनतः । तदिदमेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम्। संप्रति हि—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः ।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥३॥

बलवदिति चेतोविशेषणम् । निपुणाः स्वकीयं बलाबलं जानन्तोऽपि फलविषये सर्वदा सशङ्का भवन्तीत्यभिप्रायः । अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । आर्या छन्दः ॥ २ ॥

टिप्पणी—अप्रत्ययं चेतः—योग्य गुरु का योग्यतम शिष्य, पर्याप्त तैयारी के बाद भी, जब अपने वैदुष्य का प्रदर्शन विद्वानों की सभा में करने चलता है तब एक बार उसका भी मन सफलता के विषय में सन्देह से दोलायित हो उठता है । यही अवस्था यहाँ सूत्रधार की भी है।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार तथा आर्या छन्द है । छन्द का लक्षण—

'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ २ ॥'

व्युत्पत्तिः—**आ परितोषात्**—सन्तोष पर्यन्त । परि + √ तुष्+घञ् पञ्चमी विभक्तिः। यहाँ 'आङ् मर्यादावचने' इस नियम से 'आङ्' के योग से 'परितोषात्' में पञ्चमी विभक्ति हुई है। यहाँ परितोषात् के साथ आङ् का समास नहीं हुआ है। समास होने पर 'आपरितोषम्' रूप बनता है।

बलवत्—'बलवत्' शब्द क्रियाविशेषण है । अतः इसका अन्वय 'शिक्षितानाम्' के साथ ही होगा न कि 'चेतः' के साथ जैसा कि कुछ टीकाकार करते हैं ॥

शब्दार्थः—अनन्तरकरणीयम् = अब, इसके बाद करनेयोग्य कार्य, अब इसके बाद जो करना है उसे । परिषदः = सभा के, श्रुतिप्रसादनतः = कानों को प्रसन्न करने के अतिरिक्त, कानों को अच्छे लगने के अतिरिक्त। तावत् = सर्वप्रथम, अचिरप्रवृत्तम् = शीघ्र ही प्रारम्भ हुए, उपभोगक्षमम्—(ठण्डी हवा आदि के) सेवन के योग्य, ग्रीष्मसमयम् = ग्रीष्म ऋतु का, अधिकृत्य = आश्रय लेकर, आलम्बन करके ॥

टीका—नटीति । अनन्तरकरणीयम्—न अन्तरम् = अवकाशः कालविप्रकर्षो यस्मिन् कर्मणि तत् अनन्तरम्, अनन्तरं करणीयम् अनन्तरकरणीयम् = अतः परं कर्तव्यमित्यर्थः । श्रुतिप्रसादनतः—श्रुतेः = कर्णस्य प्रसादनम् = आनन्दः तस्मात्, श्रुतिप्रमोदहेतोरित्यर्थः, तावत् = प्रथमम्, अचिरप्रवृत्ताम् = सम्प्रत्येव उपस्थितम्, उपभोगक्षमम्—उपभोगस्य = शीतवातादिसेवनस्य क्षमम् = योग्यम्, ग्रीष्मसमयम् = ग्रीष्मर्तुम्, अधिकृत्य = आश्रित्य, विषयीकृत्येति यावत् ॥

नटी—आर्य, यह ऐसा ही है (अर्थात् आपका कथन ठीक है)। अब इसके बाद जो करना है, उसे आप आदेश दें।

सूत्रधार—इस सभा के कानों को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और क्या (करना है)? तो शीघ्र ही प्रारम्भ हुए, (ठण्डी हवा आदि के) सेवन-योग्य इस ग्रीष्म ऋतु का आश्रय लेकर गाओ (अर्थात् गर्मी का गाना गाओ)।

सुखद प्रतीत होता है जल में डुबकी लगाकर स्नान जिनमें ऐसे, पाटलपुष्प के संपर्क से सुगन्धित हो जाती हैं वन की हवाएँ जिनमें ऐसे, घनी छाया में सुखपूर्वक आती है नींद जिनमें ऐसे दिन सायङ्काल के समय मनोहर (होते हैं) ॥३॥

टिप्पणी—**उपभोगक्षमम्**—गर्मी में प्रकृति का सेवन पूर्णरूप से किया जाता है। लोग सायं-प्रातः ठण्डी हवा का सेवन करते हैं। नदियों के जल में तैरते हैं। घासों पर लेटते हैं। चाँदनी में भ्रमण कर रात्रि का आनन्द लूटते हैं। यही है गर्मी की उपभोग्य-योग्यता।

ग्रीष्मसमयम्—इससे प्रतीत होता है कि नाटक का अभिनय सर्वप्रथम गर्मी में हुआ था ॥

गीयताम्—प्रत्येक ऋतु का अपना-अपना गाना होता है। यदि कजली वर्षा की रानी है, तो फाग हेमन्त एवं वसन्त का प्राण। इस प्रकार प्रत्येक ऋतु के विशिष्ट गाने हुआ करते हैं।

व्युत्पत्तिः—**उपभोग**:—उप + √भुज् + घञ् + विभक्तिकार्यम्।

अधिकृत्य—अधि + √कृ + ल्यप् (य) ॥

अन्वयः—सुभगसलिलावगाहाः, पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः, प्रच्छायसुलभनिद्राः, दिवसाः, परिणामरमणीयाः, (भवन्ति) ॥३॥

शब्दार्थः—सुभगसलिलावगाहाः = सुखद प्रतीत होता है जल में डुबकी लगाकर स्नान जिनमें ऐसे, पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः = पाटल-पुष्प के संपर्क से सुगन्धित हो जाती हैं वन की हवाएँ जिनमें ऐसे, प्रच्छायसुलभनिद्राः = घनी छाया में सुखपूर्वक आती है नींद जिनमें ऐसे, दिवसाः = दिन, परिणामरमणीयाः = सायङ्काल के समय मनोहर, (भवन्ति = होते हैं) ॥३॥

टीका—ग्रीष्ममेव विशिनष्टि—सुभगेति। सुभगसलिलावगाहाः—सुभगः = अतिप्रियः सलिलेषु = जलेषु अवगाहः = मज्जनम् येषु ते तथोक्ताः, पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः—पाटलस्य = तदाख्यस्य कुसुमस्य संसर्गेण = सम्पर्केण सुरभिः = सुगन्धिः वनवातः = वनवायुः येषु ते तथोक्ताः, प्रच्छायसुलभनिद्राः—प्रकृष्टा छाया यस्मिन् प्रदेशे तत् प्रच्छायं तस्मिन् सुलभा = सुखेन लभ्या निद्रा = स्वापः येषु ते तथोक्ताः, एतादृशाः दिवसाः = दिनानि, परिणामरमणीयाः—परिणामे = अवसाने, सायङ्काले इत्यर्थः, रमणीयाः = मनोरमाः, सुखसञ्चरणीया इति यावत्। सर्वैर्विशेषणैः प्रकृतस्वीयपरिश्रम-खेदविनोदो ध्वन्यते। अत्र 'विशेषणसाभिप्रायत्वे परिकरः' इति लक्षणात् परिकरालङ्कारः। स्वभावोक्तिश्च। श्रुतिवृत्त्यनुप्रासावपि स्तः। आर्या च छन्दः ॥३॥

नटी—तथा। (इति गायति)

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥४॥
[तह]–[ईसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमारकेसरसिहाइं।
ओदंसअन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं ॥४॥]

सूत्रधारः—आर्ये, साधु गीतम्। अहो, रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः। तदिदानीं कतमत् प्रकरणमाश्रित्यैनमाराधयामः।

नटी—नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति। [णं अज्जमिस्सेहिं

टिप्पणी—प्रच्छाय०—'प्रच्छाय' यह विशेषण है। किन्तु यह यहाँ संज्ञा की तरह प्रयुक्त हुआ है। ऐसे स्थलों पर स्थान आदि जोड़ कर ही अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार के अर्थ करने में वामन का वचन प्रमाण है—'विशेषणमात्रप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्तौ' अर्थात् केवल विशेषण का प्रयोग वहीं करना चाहिए जहाँ विशेष्य का ज्ञान होता हो।

परिणामरमणीयाः—इससे महाकवि ने यह भी सङ्केत कर दिया है कि नाटक का परिणाम रमणीय = सुखद होगा।

इस श्लोक में परिकर, स्वभावोक्ति तथा अनुप्रास अलङ्कार हैं। यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या। छन्द का लक्षण—

'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या' ॥३॥

व्युत्पत्ति :—परिणाम—परि + √नम् + घञ् + विभक्त्यादिकार्यम् ॥

अन्वयः—प्रमदाः, दयमानाः, भ्रमरैः, ईषत्, ईषत्, चुम्बितानि, सुकुमारकेसरशिखानि शिरीषकुसुमानि, अवतंसयन्ति ॥४॥

शब्दार्थ :—प्रमदाः = युवतियाँ, स्त्रियाँ, सुन्दरियाँ, दयमानाः = दया करती हुई, भ्रमरैः = भौंरों के द्वारा, ईषत् = कुछ, ईषत् = कुछ, चुम्बितानि = चूमे गये, आस्वादित, सुकुमारकेसरशिखानि = अत्यन्त कोमल केसर-शिखा वाले, शिरीषकुसुमानि = शिरीष के फूलों को, अवतंसयन्ति = कानों का आभूषण बना रही हैं ॥४॥

टीका—ईषदीषदिति। प्रमदाः—प्रकृष्टो मदो = रूपसौभाग्यजातो विकारो यासां ताः, युवत्य इत्यर्थः, दयमानाः = सदयाः सत्यः, भ्रमरैः = षट्पदैः, ईषदीषत् मन्दमन्दम्, अनिर्भरमिति यावत्, चुम्बितानि = पीतानि, सुकुमारकेसरशिखानि

नटी—ठीक है (ऐसा कहकर गाती है)—

युवतियाँ दया करती हुई, भौंरों के द्वारा कुछ-कुछ आस्वादित, अत्यन्त कोमल केसर-शिखावाले, शिरीष के फूलों को कानों का आभूषण बना रही हैं ॥४॥

सूत्रधार—आर्ये, बहुत अच्छा गाया गया। ओह, राग के द्वारा आकृष्ट चित्त-वृत्तिवाली पूरी नाट्यशाला चित्रित-सी (प्रतीत हो रही है)। तो इस समय किस प्रकरण (नाटक) का आश्रयण लेकर अर्थात् किस नाटक का अभिनय कर इस (नाट्यशाला) को प्रसन्न करें।

नटी—अरे, पूज्य आपके द्वारा पहले ही आदेश दिया गया है कि अभिज्ञानशाकुन्तल नामक अनुपम नाटक अभिनय के लिए विषय बनाया जाय (अर्थात् अभिज्ञानशाकुन्तल का अभिनय किया जाय)।

सुकुमाराः = कोमलाः केसराणाम् = किञ्जल्कानाम् शिखाः = अग्रभागाः येषां तानि, शिरीषकुसुमानि = शिरीषपुष्पाणि, अवतंसयन्ति = कर्णभूषणीकुर्वन्ति। ('अवतंसः कर्णभूषणम्' इत्यमरः)। अत्र प्रमदा शब्देन शकुन्तला गृहीता। बहुवचनं पूजार्थमिति राघवभट्टः। अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः। उद्गाथा च छन्दः ॥४॥

टिप्पणी—**दयमानाः**—यद्यपि युवतियाँ शिरीष के फूलों को तोड़ कर अपने कानों का आभूषण बना रही हैं। किन्तु फूलों को वे तोड़ना नहीं चाहतीं। उन्हें फूल तोड़ने में दया आ रही है।

चुम्बितानि—भ्रमर फूलों पर बैठ कर फिर उड़ जा रहे हैं। उनका यह स्वभाव है कि वे एक फूल से उड़कर दूसरे फूलों पर बैठते हैं। यही है उनका फूलों को कुछ-कुछ चूमना। यहाँ भौंरों के द्वारा फूलों के चुम्बन से दुष्यन्त का शकुन्तला से प्रेम-मिलन तथा 'दयमानाः' पद से अप्सरा के द्वारा शकुन्तला का रक्षण सूचित होता है। यहाँ सुकोमल शिरीष कुसुम के द्वारा शकुन्तला का, भ्रमर के द्वारा दुष्यन्त का तथा दयालु युवतियों के द्वारा अप्सरा का बोध कराया गया है।

यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा उद्गाथा छन्द है। छन्द का लक्षण :—

'पूर्वार्द्धे उत्तरार्धे मात्रास्त्रिंशदिति सुभगसंभणिताः।
सा उद्गाथा उक्ता पिङ्गलकविदृष्टषष्टिमात्राङ्काः' ॥४॥

व्युत्पत्तिः— **चुम्बितानि**—चुम्ब+क्त+विभक्तिकार्यम् ॥४॥

शब्दार्थः—साधु = बहुत अच्छा, रागबद्धचित्तवृत्तिः = राग के द्वारा आकृष्ट चित्त-वृत्तिवाली, आलिखितः = चित्रित, सर्वतः = चारों ओर, चतुर्दिक्, पूरी, रङ्गः = नाट्यशाला, दर्शकगण। प्रकरणम् = नाटक, आराधयामः = प्रसन्न करें। आर्यमिश्रैः = पूज्य आपके द्वारा, सम्यग् = ठीक, अनुबोधितः = स्मरण दिलाया गया हूँ ॥

टीका—**सूत्रधार** इति। साधु = शोभनम्, रागबद्धचित्तवृत्तिः = रागेण = स्वर-विशेषेण बद्धा = आकृष्टा चित्तवृत्तिः = मनोवृत्तिर्यस्य स तथोक्तः, आलिखितः = चित्रितः,

पढमं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउन्दलं णाम अपुव्वं णाडअं पओए अधिकरीअदु त्ति।]

सूत्रधारः—आर्ये, सम्यगनुबोधितोऽस्मि। अस्मिन् क्षणे विस्मृतं खलु मया। कुतः।

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥५॥

(इति निष्क्रान्तौ)

प्रस्तावना

सर्वतः = सर्वत्र, रङ्गः = नाटचशाला, रङ्गस्था जना इत्यर्थः। प्रकरणम् = रूपकमित्यर्थः आराधयामः = अनुरञ्जयामः।

द्वितीयपक्षे—रज्यत इति रङ्गः। अथ रङ्गः = रागः विद्यतेऽस्मिन्नित्यर्श आदित्वादचि रङ्गः = राजा। रागे = अनुरागे बद्धा चित्तवृत्तिर्यस्य सः। सर्वत्र आलिखि इव = सर्वत्र ता पश्यतीत्यर्थः। इति राघवभट्टाः।

आर्यमिश्रैः—आर्याश्च ते मिश्राः आर्यमिश्राः = पूज्यास्तैः, सम्यक् = सुष्ठु अनुबोधितः = स्मारितस्त्वयेति शेषः ॥

टिप्पणी—रङ्गः—रङ्ग शब्द का अर्थ है नाटचशाला। किन्तु इसका यहाँ अ है—नाटचशाला में उपस्थित व्यक्ति अर्थात् दर्शक।

प्रकरणम्—नाटक की भाँति प्रकरण रूपक के दस भेदों में एक है। अभिज्ञा शाकुन्तल नाटक है, प्रकरण नहीं। महाकवि शूद्रक का 'मृच्छकटिकम्' प्रकरण है। सूत्रधार को प्रकरण के स्थान पर नाटक कहना चाहिए था। किन्तु दर्शकों की भाँति भी नटी के गान पर मन्त्र-मुग्ध हैं। सुधबुध खो बैठा हैं। अतः भूलकर वह नाटक अभिनय करने की जगह प्रकरण के अभिनय की बात कह रहा है। वह यह भी गया है कि किस नाटक का अभिनय करना है। नटी उसे स्मरण कराती है कि अभिज्ञा शाकुन्तल का अभिनय करना है। अपनी भूल की बात वह आगे स्वीकार कर रहा है।

आर्यमिश्रैः—'मिश्र' शब्द आदरसूचक शब्द है। यह शब्द के अन्त में लगता तथा नित्य बहुवचन होता है—'पूज्ये मिश्रवचनं नित्यं बहुवचनान्तम्' रङ्गनाथः। के अनुसार कुल, शील, दया आदि सद्गुणों से युक्त व्यक्ति को आर्य कहा जाता है। अपने पति को भी आर्य या आर्यपुत्र ही कहती है॥

व्युत्पत्तिः—रङ्गः—रञ्ज् + घञ् + विभक्तिकार्यम्।

आश्रित्य—आ + श्रि + ल्यप् ॥

सूत्रधार—आर्ये, (तुम्हारे द्वारा) ठीक स्मरण दिलाया गया हूँ। इस समय मैं भूल ही गया था। क्योंकि—

आकृष्ट कर दूर ले जाते हुए, अत्यन्त वेगवाले मृग के द्वारा यह राजा दुष्यन्त जैसा (अर्थात् दुष्यन्त की तरह) मैं मनोहर तथा अत्यन्त प्रभावकारी तुम्हारे संगीत के राग से बलात् हर लिया गया हूँ (अर्थात् जिस प्रकार अत्यन्त वेग से भागते हुए हरिण के द्वारा आकृष्ट कर महाराज दुष्यन्त दूर ले जाये जा रहे हैं उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे संगीत से मोहित कर अपने सही-सही कार्य से दूर कर दिया गया हूँ) ॥५॥

(इस प्रकार बात कर दोनों निकल जाते हैं)

॥ प्रस्तावना समाप्त ॥

अन्वयः—हारिणा, अतिरंहसा, सारङ्गेण, एषः राजा, दुष्यन्तः, इव, हारिणा, अतिरंहसा, तव, गीतरागेण, प्रसभम्, हृतः, अस्मि ॥५॥

शब्दार्थः—हारिणा = आकृष्ट कर दूर ले जाते हुए, अतिरंहसा = अत्यन्तवेगशाली, सारङ्गेण = मृग के द्वारा, एषः = यह, राजा = राजा, दुष्यन्तः = दुष्यन्त, इव = जैसा, हारिणा = मनोहर, अतिरंहसा = अत्यन्त प्रभावकारी, तव = तुम्हारे, गीतरागेण = संगीत के राग से, प्रसभम् = बलात्, हृतः = हर लिया गया, अस्मि = हूँ ॥५॥

टीका—विस्मरणकारणं वदन् नायकस्य दुष्यन्तस्य प्रवेशं सूचयति—तवेति। हारिणा = स्वसेनाया दूरं नेत्रा, अतिरंहसा—अति = अतिशायि रंहः = वेगः यस्यासौ तेन, अतीव वेगगामिना सारङ्गेण—सारम् = शवलम् अङ्गः = अवयवः अस्येति सारङ्गः = कृष्णसारस्तेन, शकन्ध्वादिः पररूपः, एषः = अयं दृश्यमानः, राजा = भूपतिः, दुष्यन्तः इव = दुष्यन्तो यथा, हारिणा = मनोहरेण, अतिरंहसा = अतीव प्रभावकारिणा, तव = भवत्याः, गीतरागेण = गीतस्वरेण, प्रसभम् = बलात्, हृतः = अपहृतचित्तवृत्तिः अस्मि। नृपतिपक्षे हृतः = दूरं प्रापितः। यथा एष नृपतिर्दुष्यन्त आकृष्टकर्त्राऽतिवेगवता च मृगेण स्वसेनाया दूरं प्रापितस्तथाऽहमपि अतिप्रभावकारिणा मनोहरेण च गीतेनाकृष्ट-चित्तवृत्तिः सन् स्वकर्तव्यमेव विस्मृतवानिति। अत्र काव्यलिङ्गमुपमा चालङ्कारौ। अनुष्टुप् छन्दः ॥५॥

प्रस्तावना—परिचयः, भूमिका, आमुखमिति। तल्लक्षणं यथा साहित्यदर्पणे:—'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा। सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥ आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा॥'

टिप्पणी—**अस्मि**—'अस्मि' अव्यय भी है। इसका अर्थ है 'मैं', किन्तु यहाँ क्रिया के रूप में ही 'अस्मि' का प्रयोग किया गया है।

एष राजेव—सूत्रधार के कहने का अभिप्राय यह है कि—'तुम्हारे संगीत के जादू ने मुझे इस प्रकार अपनी ओर आकृष्ट किया कि मैं अपने को भी भूल गया। जैसे अत्यन्त वेगशाली हरिण राजा दुष्यन्त को अपनी सेना से दूर भगा ले गया।

हारिणा, अतिरंहसा—ये दोनों पद सारङ्गेण तथा गीतरागेण दोनों ही के विशेषण के रूप में यहाँ प्रयुक्त किये गये हैं।

(ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च)

सूतः—(राजानं मृगं चावलोक्य) आयुष्मन्,

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।
मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम् ॥६॥

राजा—सूत, दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः। अयं पुनरिदानीमपि—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।

प्रस्तावना—प्रस्तावना = परिचय, भूमिका, आमुख। प्रस्तावना का लक्ष्य दर्शकों को नाटककार तथा नाटक से परिचय कराना है। इसके साथ ही पात्रों को रङ्गमञ्च पर लाना भी प्रस्तावना का उद्देश्य है। बिना सूचना के पात्रों का रङ्गमञ्च पर प्रवेश नहीं होता है। प्रस्तावना के लक्षण के लिये देखिये टीका।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग तथा उपमा अलङ्कार है। यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है—अनुष्टुप्। छन्द का लक्षण—

'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' ॥ ५ ॥

व्युत्पत्तिः—हारिणा— √हृ + णिनि (इन्)—हारिन + तृतीयैकवचने विभक्तिकार्यम्।

प्रस्तावना—प्र + √स्तु + णिच् + युच् + टाप् + विभक्तिकार्यम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—मृगानुसारी = मृग का पीछा करते हुए, सशरचापहस्तः = बाण के सहित धनुष हाथ में लिये हुए, बाण चढ़ा हुआ धनुष हाथ में लिये हुए ॥

टीका— तत इति। मृगानुसारी—मृगम् = हरिणम् अनुसरति = अनुधावति इति मृगानुसारी, सशरचापहस्तः— शरेण = बाणेन सह वर्तमानः सशरः = आरोपित इत्यर्थः चापः = धनुर्हस्ते = करे यस्य स तथोक्तः, चापे स्थापितबाण इत्यर्थः, रथेन = स्यन्दनेन, सुवति = प्रेरयति अश्वानिति सूतः = सारथिः ॥

व्युत्पत्ति—मृगानुसारी—मृग + अनु + √सृ + णिनि (इन्) + विभक्तिकार्यम्

सूत— √सू + क्त + (त) + विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वय—कृष्णसारे, च, अधिज्यकार्मुके, त्वयि, चक्षुः, ददत्, मृगानुसारिणम्, साक्षात्, पिनाकिनम्, पश्यामि, इव ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—कृष्णसारे = चितकबरे हरिण पर, च = तथा, अधिज्यकार्मुके = डोरी चढ़ी हुई धनुषवाले, त्वयि = आप पर, चक्षुः = दृष्टि, ददत्, = देते हुए, पात करते हुए, मृगानुसारिणम् = मृग का पीछा करते हुए, साक्षात् = प्रत्यक्ष पिनाकिनम् = धनुर्धारी शिव को, पश्यामि = देख रहा हूँ, इव = मानो ॥ ६ ॥

(तदनन्तर मृग का पीछा करते हुए, वाण चढ़ा हुआ धनुप हाथ में लिये हुए, रथ पर सवार राजा और सारथि प्रवेश करते हैं)

सूत—(राजा और मृग को देखकर) चिरञ्जीविन्, चितकवरे हरिण तथा डोरी चढ़ी हुई धनुपवाले (अर्थात् धनुष चढ़ाए हुए) आप पर दृष्टिपात करते हुए (मैं) मृग का पीछा करते हुए साक्षात् धनुर्धारी शिव को मानो देख रहा हूँ ॥६॥

राजा—सारथि, इस हरिण के द्वारा हम लोग वहुत दूर तक खींच लाये गये हैं (अर्थात् इसका पीछा करते-करते हम लोग वहुत दूर निकल आये हैं)। यह अव भी—

टीका—कृष्णसार इति । कृष्णसारे = चित्राङ्गे मृगविशेषे, च = तथा, अधिज्यकार्मुके—अधि = अधिगता अधिरोपितेत्यर्थः ज्या = प्रत्यञ्चा यस्मिन् तत् तथाभूतं कार्मुकम् = धनुर्यस्य तस्मिन्, त्वयि = भवति राजनि, चक्षुः = दृष्टिम्, ददत् = पातयन्, अहमिति शेषः, मृगानुसारिणम्—मृगमनुसरतीति तं मृगमनुधावन्तमित्यर्थः, दक्षाध्वरे मृगरूपेण पलायमानं यागं वधार्थमनुसरन्तमिति भावः, साक्षात्= स्वयम्, पिनाकिनम् = पिनाकपाणिं शिवम्, पश्यामीव = अवलोकयामीव । उत्कृष्टेन स्वशरीरेण शिवमनुकरोति भवान् धनुश्च पिनाक इव भीपणमिति भावः । शिवभक्तः कविरपि शिवमेव पश्यति । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । अनुष्टुप् छन्दः ॥ ६ ॥

टिप्पणी—मृगानुसारिणम्—एक वार शिव के श्वसुर दक्ष ने यज्ञ किया । वह शिव पर क्रुद्ध था । अतः उसने शिव को न तो आमन्त्रित किया और न उसका भाग ही निकाला । पति के अपमान से दुःखित सती ने योगाग्नि से अपने शरीर को भस्म कर दिया । फलतः क्रुद्ध हुए शिव ने यज्ञ का विध्वंस करना आरम्भ किया । यज्ञ हरिण का रूप धारण कर भाग चला । शिव ने अपना धनुप 'पिनाक' लेकर उसका पीछा किया । (महाभारत सौप्तिक पर्व) । इसी कथा की ओर यह सङ्केत किया गया है ।

पिनाकिनम्—शङ्कर के धनुप का नाम था 'पिनाक' । अतः उन्हें 'पिनाकी' कहा जाता है । 'पिनाकिनम्' द्वितीया का एकवचन है ।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है । छन्द का लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ ६ ॥

व्युत्पत्तिः—अवलोक्य—अव + √लोक् + ल्यप् ।

मृगानुसारिणम्—मृग+अनु + √सृ+णिनि + द्वितीयाविभक्त्यैकवचनम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—सूत = सारथि, सारङ्गेण = हरिण के द्वारा, आकृष्टाः = खींच लाये गये हैं; लाये गये हैं । इदानीम् = अव, अपि = भी ॥

टीका—राजेति । सूत = रथवाहक, सारङ्गेण = हरिणा, आकृष्टाः = आकृष्य नीताः, दूरमानीता इत्यर्थः । इदानीमपि = दूरमाकृष्यापीत्यर्थः ॥

व्युत्पत्तिः—आकृष्टाः—आ + √ कृष् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥७॥

(सविस्मयम्) तदेष कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तः।

सूतः—आयुष्मन्, उद्घातिनी भूमिरिति मया रश्मि- संयमनाद् रथस्य मन्दीकृतो वेगः। तेन मृग एष विप्रकृष्टान्तरः संवृत्तः। सम्प्रति समदेशवर्तिनस्ते न दुरासदो भविष्यति।

अन्वयः—पश्य, अनुपतति, स्यन्दने, मुहुः, ग्रीवाभङ्गाभिरामम्, दत्तदृष्टिः, शरपतनभयात्, भूयसा, पश्चार्द्धेन, पूर्वकायम्, प्रवृष्टः; श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः, अर्द्धावलीढैः दर्भैः, कीर्णवर्त्मा; उदग्रप्लुतत्वात्, वियति, बहुतरम्, उर्व्याम्, स्तोकम्, प्रयाति ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—पश्य = देखो, अनुपतति = पीछे दौड़ते हुए, स्यन्दने = रथ पर, मुहुः = बार-बार, ग्रीवाभङ्गाभिरामम् = गर्दन मोड़ कर मनोहरतापूर्वक, दत्तदृष्टिः = दृष्टिपात करता हुआ; शरपतनभयात् = बाण लगने के भय से, भूयसा = अधिकांश, पश्चार्द्धेन = पिछले भाग से; पूर्वकायम् = अगले भाग में, प्रवृष्टः = सिमटा हुआ, श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः = श्रम के कारण खुले हुए मुख से गिरने वाले, अर्द्धावलीढैः = आधे चबाये गये, दर्भैः = कुशों से, कीर्णवर्त्मा = मार्ग को व्याप्त करता हुआ, उदग्रप्लुतत्वात् = ऊँची छलाँग भरने के कारण, वियति = आकाश में, बहुतरम् = अधिक, उर्व्याम् = भूतल पर, स्तोकम् = थोड़ा, कम, प्रयाति = चल रहा है ॥ ७ ॥

टीका—हरिणस्य मानसिकीं शारीरिकीञ्च दशामुपवर्णयन्नाह—**ग्रीवेति**। पश्य = अवलोकय, यद्वा पश्य इत्याश्चर्येऽव्ययम्, पश्येति वाक्यार्थस्य कर्मत्वम्, अनुपतति—अनु = पश्चात् पतति = सरति, धावमाने, अनुगच्छतीत्यर्थः, स्यन्दने = रथे, मुहुः = पुनः पुनः, ग्रीवाभङ्गाभिरामम्—ग्रीवायाः = कन्धरायाः भङ्गेन = वलनेन, परिवर्तनेनेत्यर्थः, अभिरामम् = मनोहरं यथा स्यत्तथा, दत्तदृष्टिः— दत्ता = निक्षिप्ता दृष्टिः = नेत्रं येनासौ तादृशः; शरपतनभयात्—शरस्य = बाणस्य पतनम् = पातः, प्रहार इति यावत्, तस्माद् भयम् = भीतिः तस्मात्, भूयसा = बाहुल्येन, पश्चार्द्धेन—पश्चात् अर्द्धम् पश्चार्द्धं पृषोदरादित्वात्तलोपः, तेन शरीरस्य पृष्ठभागेन, पूर्वकायम् = देहस्याग्रभागम्, प्रविष्टः = संलग्नः; श्रमविवृतमुखभ्रंशिभि :—श्रमेण = भयवशाद्धावनजनितया क्लान्त्या विवृतम् = व्यात्तम्, यन्मुखम् = आननम् तस्मात् भ्रंशिभिः = पतद्भिः, अर्द्धावलीढैः—अर्द्धम् = अल्पम् अवलीढैः = चर्वितैः, दर्भैः = कुशैः, कीर्णवर्त्मा—कीर्णम् = व्याप्तम् वर्त्म = पन्थाः यस्य स तादृशः; उदग्रप्लुतत्वात्—उदग्रम् = उत्कटम् ऊर्ध्वं वा प्लुतम् = कूर्दनम् यस्य तद्भावात् वियति = आकाशे, बहुतरम् = अधिकम्, उर्व्याम् = भूमौ, स्तोकम् = अल्पम् प्रयाति = गच्छति। अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः। स्रग्धरा च छन्दः॥

टिप्पणी— **दत्तदृष्टि :**—भागता हुआ हरिण डर के मारे अपने पीछे-पीछे दौड़ने वाले रथ को मुड़-मुड़ कर देख लेता है।

पश्चार्द्धेन—अपने सामने चलने वाले जानवर को पीछे से एक डण्डा मार दीजिये और देखिये वह भय के मारे अपने पूँछवाले हिस्से को आगे की ओर सिकोड़कर धँसा लेता है। यही अवस्था हरिण की है।

देखो, पीछे दौड़ते हुए रथ पर बार-बार गर्दन मोड़ कर मनोहरतापूर्वक दृष्टिपात करता हुआ, वाण लगने के भय से (अपने) अधिकांश पिछले भाग से अगले भाग में सिमटा हुआ (अर्थात् शरीर के पिछले भाग को अगले भाग में सिकोड़ता हुआ), श्रम के कारण खुले हुए मुख से गिरने वाले आधे चबाये गये कुशों से मार्ग को व्याप्त करता हुआ, ऊँची उछाल भरने के कारण आकाश में अधिक (तथा) भूतल पर कम चल रहा है ॥ ७ ॥

(आश्चर्य के साथ) तो (अभी) पीछे-पीछे दौड़ते हुए ही मुझे यह क्यों कठिनाई से दृष्टिगोचर होने लगा है ?

सूत—चिरञ्जीविन्, भूमि ऊबड़-खाबड़ थी। अतः मैंने (लगाम की) रस्सी खींचकर रथ का वेग मन्द कर दिया था। यही कारण है कि यह हरिण अधिक दूरवर्ती हो गया है। अब आप समतल भूमि पर आ गये हैं (अतः) आप के लिये यह दुष्प्राप्य नहीं होगा (अर्थात् अब शीघ्र ही आप इसे पा जायँगे)।

पश्य—यहाँ राजा का अभिप्राय है कि इतना थक जाने पर भी हरिण पूरे वेग से भाग रहा है।

काव्यप्रकाश के अनुसार इसमें भयानक रस है। यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार तथा स्रग्धरा छन्द है। छन्द का लक्षण—

'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' ॥ ७ ॥

व्युत्पत्तिः—अनुपतति—अनु + √पत् + शतृ (अत्) + सप्तम्येकवचनम्। प्रविष्ट :—प्र + √ विश् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—सविस्मयम् = आश्चर्य के साथ, अनुपततः = पीछा करते हुए, पीछे-पीछे दौड़ते हुए, प्रयत्नप्रेक्षणीयः = कठिनाई से दृष्टिगोचर, दिखलाई पड़ने वाला, संवृत्तः = हो गया है ॥

टीका—सविस्मयमिति। सविस्मयम्—विस्मयेन = आश्चर्येण सहितं सविस्मयम् = साश्चर्यम्। अनुपततः = पश्चाद्धावितस्य, प्रयत्नप्रेक्षणीयः—प्रयत्नेन = प्रयासेन, कृच्छ्रेणेति यावत्, प्रेक्षणीयः = निरीक्षणीयः, संवृत्तः = सञ्जातः। नाऽहं सततमवलोकयितुं पारयामीति भावः ॥

शब्दार्थः—उद्घातिनी = ऊबड़-खाबड़, ऊँची-नीची, रश्मिसंयमनात् = (लगाम की) रस्सी खींचकर। विप्रकृष्टान्तरः = अधिक फासलावाला, अधिक दूरवर्ती, दुरासदः = दुष्प्राप्य ॥

टीका—सूत इति। उद्घातिनी—उद्घातयति = पादस्खलनं जनयतीत्युद्घातिनी = निम्नोन्नता, रश्मिसंयमनात्—रश्मेः = प्रग्रहस्य संयमनम् = आकर्षणं तस्मात्, विप्रकृष्टान्तरः—विप्रकृष्टम् = अत्यधिकम् अन्तरम् = अवकाशः यस्य तादृशः। दुरासदः = दुष्प्रापः ॥

टिप्पणी—उद्घातिनी—सूत का अभिप्राय यह है कि भूमि ऊबड़-खाबड़ थी। अतः मैंने रथ का वेग कम कर दिया। अन्यथा घोड़ों के गिर जाने का एवं रथ का धुरा टूट जाने का भय था ॥

व्युत्पत्तिः—उद्घातिनी—उत् + √हन् + णिनि + ङीप्। दुरासद :—दुर् + आ + √सद् + खल् + विभक्तिकार्यम् ॥

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषवः ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (रथवेगं निरूप्य)

आयुष्मन्, पश्य पश्य—

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः ।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलंघनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः ॥८॥

राजा—सत्यम् । अतीत्य हरितो हरींश्च वर्तन्ते वाजिनः

तथा हि—

शब्दार्थः—मुच्यन्ताम्=छोड़ दी जाँय, ढीली कर दी जाँय, अभीषवः=ल[गाम]
की डोरियाँ । निरूप्य=देख कर, अभिनय कर ॥

टीका— राजेति । मुच्यन्ताम्=शिथिलीक्रियन्ताम्, अभीषवः=प्रग्रहाः, र[श्मयः]
('अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ' इत्यमरः) । निरूप्य=दृष्ट्वा=अभिनीय वा ॥

टिप्पणी—निरूप्य—इसका अर्थ है—अभिनय करके, देखकर के । किन्तु
इसका अर्थ 'अभिनय करना' ही अभीष्ट है 'देखना' नहीं ।

अन्वयः—रश्मिषु, मुक्तेषु, अमी, रथ्याः, मृगजवाक्षमया, इव, निरायतपूर्व[काया:]
निष्कम्पचामरशिखाः, निभृतोर्ध्वकर्णाः, आत्मोद्धतैः, अपि, रजोभिः, अलङ्घ[नीयाः]
(सन्तः), धावन्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—रश्मिषु=रस्सियों के, मुक्तेषु=ढीली कर दी जाने पर, अमी[=ये]
रथ्याः=रथ के घोड़े, मृगजवाक्षमया=मृग के वेग को सहन न करने के [कारण]
इव=मानो, निरायतपूर्वकायाः=शरीर के अगले भाग को फैलाये हुए, निष्कम्प[चामर]
शिखाः=गर्दन के बालों के निश्चल अग्रभागवाले, निभृतोर्ध्वकर्णाः=निश्चे[ष्ट]
उठे हुए कानों वाले, आत्मोद्धतैः=अपने (खुरों से) उड़ाई गई, अपि=भी, रजो[भिः=]
धूल से, अलङ्घनीयाः=अलङ्घनीय, (सन्तः=होकर), धावन्ति=दौड़ रहे हैं ॥८॥

टीका—मुक्तेष्विति । रश्मिषु=प्रग्रहेषु, मुक्तेषु=शिथिलीकृतेषु सत्सु, अ[मी=]
एते, रथ्याः=रथवाहकाः अश्वाः, ('रथ्यो वोढा रथस्य यः' इत्यमरः), मृगजवा[क्षमया—]
मृगस्य जवः=वेगस्तदक्षमया=अक्षान्त्या, इवेति हेतूत्प्रेक्षा, निरायतपूर्व[कायाः—]
नितरामायतः=अतिदीर्घः पूर्वकायः=पूर्वशरीरम्, शरीरस्योत्तरार्द्धमित्यर्थः,
तादृशाः, निष्कम्पचामरशिखाः—निष्कम्पाः=वेगातिशयात् निश्चलाः चामरा[णि=]
गललोम्नाम् शिखाः=अग्रभागाः येषां ते तथोक्ताः, निभृतोर्ध्वकर्णाः—निभृतौ=[निश्चलौ]
ऊर्ध्वौ=उत्थितौ कर्णौ=श्रवणे यस्य सः, आत्मोद्धतैः—आत्मना=स्वेन उद्धतैः=उत्[क्षिप्तैः]

राजा—तो ढीली कर दी जाँय लगाम की डोरियाँ (अर्थात् लगाम ढीली कर दो)।

सूत—जो आपकी आज्ञा। (रथ के वेग का अभिनय कर) चिरञ्जीविन्, देखिये-देखिये—

(लगाम की) रस्सियों के ढीली कर दी जाने पर ये रथ के घोड़े मानो मृग के वेग को न सहन करने के कारण शरीर के अगले भाग को फैलाये हुए, गर्दन के बालों के निश्चल अग्रभाग वाले, निश्चेष्ट ऊपर उठे हुए कानों वाले, अपने (खुरों से) उड़ाई गई भी धूल से अलङ्घनीय (होकर) दौड़ रहे हैं ॥८॥

सचमुच। (मेरे रथ के घोड़े) सूर्य और इंद्र के घोड़ों को भी (वेग में) मात कर रहे हैं। जैसे कि—

अपि = च, नेम्युत्थितैस्तु सुतरामित्यपि शब्दार्थः, रजोभिः = धूलिभिः, अलङ्घनीयाः = अनतिक्रमणीयाः सन्तः, धावन्ति = अतिवेगेन गच्छन्ति। एतेन वातातिशयो वेगः सूचितः। अत्र विशेषणचतुष्टयेन वेगातिशयो व्यज्यते। पाठान्तरे त्वेवं व्याख्येयं—प्रसरतां विस्तारमधिगतानां स्वेषां स्वखुरोत्थानां रजसां पांशूनामपि अलङ्घ्याः, च्युताः = अपगताः कर्णानां भङ्गाः = अवनतयः येषां ते तथोक्ताः, निश्चलोद्ध्र्वकर्णाः, ते = तव, वाजिनः = अश्वाः, वर्त्मनि = मार्गे, धावन्ति, नु = अथवा, तरन्ति = प्लवन्ते। पश्येति पूर्वेणान्वयः। अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः। वसन्ततिलका च छन्दः ॥८॥

टिप्पणी— **निरायत०**–निरायत० आदि चार विशेषण घोड़ों की तीव्र गति को सूचित करने के लिये प्रयुक्त हुए हैं। यदि किसी व्यक्ति ने सरपट दौड़ते हुए घोड़ों को देखा होगा तो उसके लिये इस श्लोक का अर्थ अतिसरल प्रतीत होगा। अतिवेग से दौड़ने वाले घोड़े अपने गर्दन की तरफ के भाग को अत्यन्त लम्बा कर लेते हैं। **निष्कम्प०**—गर्दन के ऊपर के बालों को निश्चलरूप से खड़ा कर लेते हैं। **निभृत०**—कानों को निस्तब्धरूप से खड़ा कर लेते हैं। **रजोभिः**—इससे यह प्रतीत होता है कि घोड़े वायु की गति से भी अधिक वेगशाली थे। तभी तो उनके खुरों से भी उठी धूलि उन्हें लाँघ नहीं पाती थी।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥८॥

व्युत्पत्तिः— **रथ्याः**—रथ + यत् + विभक्तिकार्यम् ॥८॥

शब्दार्थ:—सत्यम् = सचमुच, वस्तुतः। अतीत्य = लाँघकर, अतिक्रमण कर, हरितः = सूर्य के घोड़ों को, हरीन् = इन्द्र के घोड़ों को, वाजिनः = घोड़े ॥

टीका— राजेति। सत्यम् = वस्तुतः, तव कथनं यथार्थतां भजत इति भावः। अतीत्य = अतिक्रम्य, हरितः = सूर्याश्वान्, हरीन् = इन्द्राश्वान्, तथा हि निरुक्ते— ('हरी इन्द्रस्य हरित आदित्यस्य' १-१५) इति। अत एवेन्द्रो हरिहयस्तथा सूर्यो हरिदश्वश्च कथ्यते। राघवभट्टा अप्येतादृशीमेव व्याख्यां कुर्वन्ति। तथा हि—'हरितो हरिद्वर्णान्।

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद् विपुलतां
यदर्द्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत् ।
प्रकृत्या यद् वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किञ्चित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥९॥

सूत, पश्यैनं व्यापाद्यमानम् । (इति शरसन्धानं नाटयति)

(नेपथ्ये)

भो भो राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः ।

'पलाशो हरितो हरित्' इत्यमरः । नीलवर्णानिति यावत् । हरिताश्वानप्यतीत्यातिक्र... वाजिनोऽश्वा वर्तन्ते । वेगेन सूर्याश्वा अप्येभिर्जिता इत्यर्थः ।' वाजिनः = मदीयाः अश्वाः

टिप्पणी—हरितो हरीन्—सूर्य के घोड़ों को 'हरित्' तथा इन्द्र के घोड़ों को 'ह... कहा जाता है । इसीलिये सूर्य को 'हरिदश्व' और इन्द्र को 'हरिहय' कहा जाता है... ऋग्वेद (१-१६-११; १-१०१-१० आदि) में 'हरयः' इन्द्र के घोड़ों के लिये... (१-५०-८; १-११५-४) में 'हरितः' सूर्य के घोड़ों के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

व्युत्पत्तिः—अतीत्य = लांघ कर, अतिक्रमणकर । अति + √इण् (इ) +ल्यप्

अन्वयः—रथजवात्, यत्, आलोके, सूक्ष्मम्, दृश्यते तत्, सहसा, विपुलताम्, व्र... यत्, अर्द्धे, विच्छिन्नम्, तत्, कृतसन्धानम्, इव, भवति, यत्, प्रकृत्या, वक्रम्, तत्, ... नयनयोः, समरेखम्, (प्रतीयते); (वस्तुतः), क्षणम्, अपि, किञ्चित्, न, मे, दूरे, पार्श्वे, (अस्ति) ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—रथजवात् = रथ के वेग के कारण, यत् = जो वस्तु, आलोके... दूर से देखने में, सूक्ष्मम् = छोटी, (दृश्यते = दिखलाई, पड़ती हैं), तत् = ... सहसा = एकाएक, विपुलताम् = विशालता को, व्रजति = प्राप्त हो जाती है; ... जो (वृक्ष आदि वस्तु), अर्द्धे = बीच में, विच्छिन्नम् = कटी हुई है, विभक्त है, तत् ... वह, कृतसन्धानम् = जुड़ी हुई, इव = सी, (प्रतीयते = प्रतीत होती है) है; यत् = (वस्तु,), प्रकृत्या = स्वभावतः, वस्तुतः, वक्रम् = टेढ़ी है, तत् = वह, अपि = ... नयनयोः = आँखों के लिये, समरेखम् = सीधी लाइन वाली, सीधी-सी, (भवति ... हो जाती है); (वस्तुतः = वास्तविकता तो यह है कि), क्षणम् = एक क्ष... लिये, अपि = भी, किञ्चित् = कोई वस्तु, न = न तो, मे = मुझसे, दूरे = दू... न = न तो, पार्श्वे = पास में, (अस्ति = है) ॥ ९ ॥

टीका—प्रकारान्तरेण रथवेगं निरूपयति—यदालोक इति । रथजवात्—रथ... स्यन्दनस्य जवः = वेगस्तस्मात्, यत् = यद्वस्तु, यद्वृक्षरूपं वस्त्वित्यर्थः, आलोके = ... प्रथमदर्शन इत्यर्थः, ('आलोकौ दर्शनद्योतौ, इत्यमरः) सूक्ष्मम् = लघु, यद्दूरेण ... दृश्यतेऽवलोक्यत इत्यर्थः, तत् = तद्वृक्षरूपं वस्तु वृक्षादिकं वा, सहसा = ...

रथ के वेग के कारण जो वस्तु दूर से देखने में छोटी (दिखलाई पड़ती) है, वह एकाएक विशालता को प्राप्त हो जाती है (अर्थात् विशाल हो जाती है)। जो (वृक्ष आदि वस्तु) बीच में कटी हुई है, वह जुड़ी-सी (प्रतीत होती) है। जो (वस्तु) स्वभावतः टेढ़ी है, वह भी आँखों के लिये सीधी-सी (हो जाती) है। (वास्तविकता तो यह है कि) एक क्षण के लिये भी कोई वस्तु न तो मुझ से दूर है और न पास ही है ॥ ९ ॥

सूत, मारे जाते हुए इस (हरिण) को देखो (अर्थात् देखो अब मैं इस हरिण को मारना ही चाहता हूँ)। (ऐसा कह कर धनुष पर वाण चढ़ाने का अभिनय करता है)

(पर्दे के पीछे)

राजन्, यह आश्रम का हरिण है, इसे न मारिये, न मारिये।

तस्मिन्नेव क्षण इति यावत्, विपुलताम् = विशालताम्, व्रजति = गच्छति, स्थूलं दृश्यत इत्यर्थः। यत् = यद्वृक्षरूपं वस्तु, अर्द्धे = अर्द्धभागे, 'अद्धा' इति पाठे तु 'वस्तुतः' इति व्याख्येयम्, विच्छिन्नम् = कर्तितं विभक्तं वा, तत् = तद्वस्तु, कृतसन्धानम्—कृतम् = विहितम् सन्धानम् = योजना यस्य येन वा तत् तादृशमिव, भवति = जायते। छिन्नमपि वस्तु दूरत एकमिव दृश्यत इत्यर्थः। यत् = यद्वृक्षरूपं वस्तु, प्रकृत्या = स्वभावेन, वक्रम् = कुटिलम्, तदपि = तद्वस्त्वपि, नयनयोः = नेत्रयोः, समरेखम्—समा = सरला, ऋज्वीति यावत् रेखा = लेखा यस्य यत्, सरलरेखासदृशं प्रतीयत इति शेषः। वस्तुतः क्षणमपि = स्वल्पकालमपि, किञ्चित् = किमपि वस्तु, न मे दूरे = न मे विप्रकृष्टे, न पार्श्वे = न समीपे, अस्तीति क्रियाशेषः। अत्र स्वभावोक्ति-विरोधाभास उत्प्रेक्षा यथासङ्ख्यं चार्थालङ्काराः। छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासः श्रुत्यनुप्रास-श्चेति शब्दालङ्काराः। शिखरिणी च छन्दः ॥ ९ ॥

टिप्पणी—यत्—यहाँ 'यत्' एवं 'तत्' शब्दों के द्वारा वृक्षरूप वस्तु का निर्देश किया गया है। वृक्ष ही दूर से देखने पर छोटे दिखलाई पड़ते हैं। आधे कटे हुए वृक्ष ही जुड़े हुए से प्रतीत होते हैं। टेढ़े वृक्ष ही सीधे प्रतीत होते हैं। तीव्र गति से भागती हुई रेलगाड़ी पर सवार होकर श्लोक में वर्णित इन बातों का आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं।

सूक्ष्मं···विपुलताम्—रथ की तीव्र गति का निरूपण करने के लिये इस श्लोक में चार बातों का वर्णन किया गया है—(क) जो वृक्ष पल भर पहले दूर रहने पर छोटे से दिखलाई पड़े हैं, वही पास पहुँचने पर विशाल दिखलाई पड़ रहे हैं। (ख) जो वृक्ष आधे या कुछ कटे हैं, वे जुड़े हुए से प्रतीत हो रहे हैं। (ग) टेढ़े-मेढ़े वृक्ष सीधे प्रतीत हो रहे हैं। (घ) कोई भी वृक्ष आदि जो दूर हैं, पलक मारते ही पास में आ जाते हैं और जो पास में हैं वे दूर निकल जाते हैं।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार तथा शिखरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' ॥ ९ ॥

सूतः—(आकर्ण्यावलोक्य च) आयुष्मन्, अस्य खलु ते बाणपथवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः।

राजा—(ससंभ्रमम्) तेन हि प्रगृह्यन्तां वाजिनः।

सूतः—तथा। (इति रथं स्थापयति)

(ततः प्रविशत्यात्मनातृतीयो वैखानसः)

वैखानसः—(हस्तमुद्यम्य) राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते ॥१०॥

तत् साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥११॥

व्युत्पत्तिः—विपुलताम्—विपुल + तल् (त) + विभक्तिकार्यम्। विच्छिन्नम्-वि + √छिद् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ:—एनम् = इसे, इसको, व्यापाद्यमानम् = मारे जाते हुए। शरसन्धानम् = बाण चढ़ाने का, नाटयति = अभिनय करता है। आकर्ण्य = सुनकर। बाणपथवर्तिनः = बाण-प्रहार की सीमा के भीतर आए हुए, निशाने की दूरी के भीतर आये हुए, कृष्णसारस्य = चितकबरे हरिण के, अन्तरे = बीच में। प्रगृह्यन्ताम् = रोक लिये जाँय। वैखानसः = तपस्वी ॥

टीका—सूत इति। एनम् = अमुं हरिणम्, अन्वादेशे एनादेशः, व्यापाद्यमानम् = मया दृश्यमानम्। शरसन्धानम्—शरस्य = बाणस्य सन्धानम् = धनुषि संयोजनम्, नाटयति = अभिनयति। आकर्ण्य = श्रुत्वा। बाणपथवर्तिनः—बाणस्य = शरस्य पन्थाः = मार्गः तद्वर्तिनः, बाणप्रहारसीम्नि समागतस्य, कृष्णसारस्य = कर्बुरितस्य मृगस्य अन्तरे = मध्ये। प्रगृह्यन्ताम् = स्थिरीक्रियन्ताम्। वैखानसः = तपस्वी ('वैखानसो वनेवासी वानप्रस्थश्च तापसः' इति वैजयन्ती) ॥

टिप्पणी—आत्मना तृतीय—अपने से तीसरा अर्थात् स्वयं अपने और दो शिष्य। यहाँ 'आत्मनश्च पूरणे' इस सूत्र से तृतीया का अलुक् होता है।

व्युत्पत्ति:—उपस्थिताः—उप + √स्था + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—अस्मिन्, मृदुनि, मृगशरीरे; पुष्पराशौ, अग्निः, इव; अयम्, बाणः, न खलु न खलु, संनिपात्यः। बत, हरिणकानाम्, अतिलोलम्, जीवितम्, क्व, च, निशितनिपाताः, वज्रसाराः, ते, शराः, च, क्व ॥ १० ॥

सूत—(सुनकर और देखकर) चिरञ्जीविन्, बाण-प्रहार की सीमा के भीतर आये हुए चितकबरे हरिण तथा आपके बीच में तपस्वी उपस्थित हो गये हैं।

राजा—(घबराहट के साथ) यदि ऐसी बात है तो घोड़े रोक लिये जाँय।

सूत— ठीक है। (रथ को रोकता है।)

(तदनन्तर दो शिष्यों के साथ तपस्वी प्रवेश करता है।)

तपस्वी—(हाथ उठा कर) राजन् यह आश्रम का हरिण है, (अतः) न मारिये, न मारिये।

इस सुकोमल मृग-शरीर पर, फूलों की ढेर पर आग की तरह, यह बाण नहीं-नहीं छोड़ने के योग्य है (अर्थात् यह बाण मत चलाइये, मत चलाइये)। अहह, बेचारे हरिणों का अतिचञ्चल प्राण कहाँ और तीक्ष्ण प्रहार करने वाले वज्र की तरह कठोर आप के बाण कहाँ ?॥ १० ॥

अतः धनुष पर रख कर अच्छे प्रकार से निशाना साधे गये बाण को उतार लीजिये। आप का शस्त्र पीडितों की रक्षा के लिये (है), निरपराधों पर प्रहार के लिये नहीं ॥११॥

शब्दार्थः—अस्मिन् = इस, मृदुनि = सुकोमल, मृगशरीरे = मृग-शरीर पर; पुष्पराशौ=फूलों की ढेर पर, अग्निः = आग की, इव = तरह, अयम्=यह, बाणः = बाण, न खलु = न, नहीं, न खलु = न, नहीं, संनिपात्यः = छोड़ने के योग्य है। बत=अहह, यह अनुकम्पा का सूचक अव्यय है, हरिणकानाम्=बेचारे हरिणों का, अतिलोलम् = अतिचञ्चल, लकलक करनेवाला, जीवितम् = जीवन, प्राण, क्व=कहाँ, च=और, निशितनिपाताः=तीक्ष्ण प्रहार करने वाले, वज्रसाराः=वज्र की तरह कठोर, ते = आपके, शराः=बाण, 'च' का यहाँ कुछ अर्थ नहीं है, क्व=कहाँ ॥ १० ॥

टीका—शमप्रधाने तपोवने हिंसां निवारयन्नाह—न खल्विति। अस्मिन्=एतस्मिन्, पुरोवर्तिनीत्यर्थः, मृदुनि = सुकोमले, मृगशरीरे— मृगस्य = हरिणस्य शरीरे = देहे; पुष्पराशौ—पुष्पाणाम् = प्रसूनानाम् राशिः = समूहस्तस्मिन्, अग्निः =वह्निः, इव = यथा; यथा पुष्पसमूहे वह्निर्निपतति तथेत्यर्थः, अयम् = एषः, त्वया धनुषि स्थापित इत्यर्थः, बाणः = शरः, न खलु न खलु = नैव नैव, खलु इत्यनुनये, आवेगे द्विरुक्तिः, सन्निपात्यः = निक्षेपणीयः। बत = खेदे अनुकम्पायां वा, हरिणकानाम् =अनुकम्पनीयानां मृगाणाम्, अतिलोलम्=अतिचञ्चलम्, जीवितम्=जीवनम्, क्व=कुत्र, च = तथा, निशितनिपाताः निशितः=अतितीक्ष्णः दुःसह इति यावत् निपातः = प्रहारः येषां ते तादृशाः, वज्रसाराः—वज्रस्य = कुलिशस्य इव सारः = बलम् काठिन्यमिति यावत् येषां ते तादृशाः, ते = तव, शराः = बाणाश्च, क्व = कुत्र। क्वद्वयं शरशरीयोर्महद्वैषम्यं सूचयति। चेति भेदे। निर्णयसागरग्रन्थे नायं श्लोकः पठितः। अत्रार्थान्तरन्यास उपमा विषमाश्चालङ्काराः। मालिनी वृत्तम् ॥१०॥

टिप्पणी—हरिणकानाम्—यहाँ अनुकम्पा के अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है। अतः इसका अर्थ होता है—बेचारे हरिण।

वज्रसाराः—इस शब्द के द्वारा राजा को वज्रधारी इन्द्र के समान बतलाया गया है। यहाँ अर्थान्तरन्यास, उपमा तथा विषम अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—मालिनी। छन्द का लक्षण—'न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः' ॥१०॥

राजा—एष प्रतिसंहृतः। (इति यथोक्तं करोति।)

वैखानसः—सदृशमेतत् पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः।

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥१२॥

इतरौ—(बाहू उद्यम्य) सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि।

राजा—(सप्रणामम्) प्रतिगृहीतम्।

वैखानसः—राजन्, समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। ए
खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते।

अन्वय :—तत्, साधुकृतसन्धानम्, सायकम्, प्रतिसंहर। वः, शस्त्रम्, आर्तत्राणा (वर्तते), अनागसि, प्रहर्तुम्, न ॥११॥

शब्दार्थ :—तत् = तो, अतः, साधुकृतसन्धानम् = धनुष पर रख कर अच्छे प्र से निशाना साधे गये, सायकम् = बाण को, प्रतिसंहर = उतार लीजिये। वः = आप शस्त्रम् = शस्त्र, आर्तत्राणाय = पीडितों की रक्षा के लिये, (वर्तते = हैं), अनागसि निरपराधों पर, प्रहर्तुम् = प्रहार के लिये, न = नहीं ॥११॥

टीका—तदिति। तत् = तस्मात्, साधुकृतसन्धानम्—साधु = सम्यग्रूपेण कृतम् विहितम् सन्धानम् = धनुष्यारोपणम् यस्य तथाविधम्, सायकम् = बाणम्, प्रतिसंहर तूणीरमानयेत्यर्थः। वः = युष्माकम्, शस्त्रम् = प्रहरणम्, आर्तत्राणाय—आर्तानाम् विपन्नानाम्, पीडितानामिति यावत्, त्राणाय = रक्षणाय, वर्तत इति शेषः, अनागसि— विद्यते आगः = अपराधः ('आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः) यस्मिन्नसौ अनागाः निरपराधस्तस्मिन्, प्रहर्तुम् = मोक्तुम्, न = न वर्तते। अत्र काव्यलिङ्गमर्थान्तरन्यास लङ्कारौ। अनुष्टुप् छन्दः ॥११॥

टिप्पणी—साधु०—अच्छे प्रकार से धनुष पर रक्खे हुए। यदि साधु को रख कर क्रियाविशेषण माना जाय तो अर्थ होगा—बाण को अच्छे प्रकार से उ लीजिये।

वः—पुरुवंशी राजाओं की ओर सङ्केत करने के लिए ही यहाँ 'वः = युष्मा इस बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग तथा अर्थान्तरन्यास अलङ्कार एवं अनुष्टुप् छन्द छन्द के लक्षण के लिये देखिये श्लोक ६ की टिप्पणी ॥११॥

व्युत्पत्ति :—शस्त्रम्—√शस्+ष्ट्रन् (त्र)+विभक्तिकार्यम् ॥११॥

शब्दार्थः—प्रतिसंहृतः = धनुष पर से उतार लिया गया। तथोक्तम् = कथनानु जैसा कहा वैसा ही। सदृशम् = योग्य, अनुरूप, उचित, पुरुवंशप्रदीपस्य = पुर के दीपक ॥

टीका—राजेति। प्रतिसंहृतः = धनुषो दूरीकृत्य तूणीरे स्थापित इत्य

राजा—यह धनुष पर से उतार लिया गया। (ऐसा कह कर कथनानुसार करता है)

तपस्वी—(प्रसन्नतापूर्वक) पुरुवंश के दीपक आपके लिये यह उचित ही है।

अर्थः—जिसका पुरु के वंश में जन्म (हुआ) है, (उस) आप के लिये यह अत्यन्त उचित ही है। ऐसे ही गुणों से युक्त चक्रवर्ती पुत्र को (आप) प्राप्त करें ॥१२॥

अन्य दोनों (तपस्वी)—(हाथ उठाकर) अवश्य चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त करें।

राजा—(प्रणाम करते हुए) शिरोधार्य है ब्राह्मणों का वचन।

तपस्वी—राजन्, हम लोग समिधा लाने के लिये जा रहे हैं। यह (सामने)

यथोक्तम्—उक्तम्=कथितम् अनतिक्रम्य=अनुल्लङ्घ्य इति यथोक्तम्=कथनानुरूपम्। सदृशम्=योग्यम्। **पुरुवंशप्रदीपस्य**—पुरुवंशस्य=पुरुकुलस्य प्रदीपः=दीपकस्तस्य, पुरुवंशप्रकाशकस्येति यावत्॥

टिप्पणी—**पुरुवंशप्रदीपस्य**—किसी वंश के अतितेजस्वी व्यक्ति को उस वंश का दीपक कहने की प्रथा बहुत पुरानी है॥

अन्वयः—यस्य, पुरोः, वंशे, जन्म, (तस्य), तव, इदम्, युक्तरूपम्। एवंगुणोपेतम्, चक्रवर्तिनम्, पुत्रम्, आप्नुहि ॥१२॥

शब्दार्थः—यस्य=जिसका, पुरोः=पुरु के, वंशे=वंश में, जन्म=जन्म (हुआ) है, (तस्य=उस), तव=आपके लिये, इदम्=यह, युक्तरूपम्=अत्यन्त उचित ही है। एवंगुणोपेतम्=ऐसे ही गुणों से युक्त, चक्रवर्तिनम्=चक्रवर्ती, पुत्रम्=पुत्र को, आप्नुहि=प्राप्त करें ॥१२॥

टीका—**जन्मेति**। यस्य पुरोः=तदाख्यस्य राज्ञः, वंशे=कुले, जन्म=उत्पत्तिः, तस्येति शेषः, तव=भवतः, इदम्=एतत्, अस्मदुक्तकरणमित्यर्थः, युक्तरूपम्—अतिशयेन युक्तं युक्तरूपम्=अत्यन्तमुचितम्, प्रशंसायां रूपम्। एवंगुणोपेतम्—एवंगुणैः=एतादृशविनयादिगुणैरित्यर्थः उपेतम्=सम्पन्नम्, चक्रवर्तिनम्=सार्वभौमम्, पुत्रम्=सुतम्, आप्नुहि=लभस्वेत्याशीः। अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः। अनुष्टुप् छन्दः ॥१२॥

टिप्पणी—**पुरोर्वंशे**—पुरु चन्द्रवंश के प्रख्यात राजा थे। कालान्तर में चन्द्रवंश पुरुवंश भी कहा जाने लगा।

चक्रवर्तिनम्—सम्पूर्ण भू-मण्डल पर शासन करनेवाला राजा चक्रवर्ती कहा जाता था।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है। छन्द के लक्षण के लिये देखिये श्लोक ६ की टिप्पणी ॥ १२ ॥

व्युत्पत्तिः—**युक्तरूपम्**—√ युज् + क्त + रूपप् (प्रशंसायाम्) + विभक्तिकार्यम्।

चक्रवर्तिनम्—चक्र + √ वृत् + णिनि + विभक्तिकार्यम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—उद्यम्य = उठा कर, सर्वथा=सब तरह से, अवश्य। प्रतिगृहीतम् = स्वीकार है, शिरोधार्य है। समिदाहरणाय=समिधा लाने के लिये, प्रस्थिताः=जा रहे

चेदन्यकार्यातिपातः प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः।
अपि च—

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद् भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति ॥१३॥

राजा—अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः।

वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।

राजा—भवतु। तामेव द्रक्ष्यामि। सा खलु विदित

हैं, चले हैं। अनुमालिनीतीरम् = मालिनी नदी के तट पर। अन्यकार्यातिपातः = दूसरे कार्य की रुकावट, अन्य कार्य में बाधा। आतिथेयः = अतिथिजनोचित ॥

टीका—इतराविति। उद्यम्य = उत्थाप्य, सर्वथा = सर्वप्रकारेण, अवश्यमित्यर्थः। प्रतिगृहीतम् = स्वीकृतम्, शिरोधार्यमिति यावत्। समिदाहरणाय—समिधाम् = यज्ञीय काष्ठानाम् आहरणाय = आनयनाय, आहर्तुमित्यर्थः, प्रस्थिताः = प्रचलिताः। अनुमालिनीतीरम्—मालिन्यास्तीरे इति अनुमालिनीतीरम् = मालिन्यास्तटे इत्यर्थः, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। अन्यकार्यातिपातः—अन्यस्मिन् = अपरस्मिन् कार्ये = कृत्ये अतिपातः = व्याघातः, कर्मान्तरातिक्रम इत्यर्थः। आतिथेयः—अतिथीनामयमातिथेयः = अतिथिजनोचित इत्यर्थः ॥

टिप्पणी—समिदाहरणाय—जङ्गल की उन पवित्र लकड़ियों को समित् या समिध कहते हैं जो अग्नि में हवन की जाती हैं।

कुलपतेः—जो दस हजार विद्यार्थियों को पढ़ाता है, उनके भोजन-वस्त्र आदि की व्यवस्था करता है, उन्हें छात्रावास प्रदान करता है, वह कुलपति कहा गया है—

मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नपानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः ॥ (राघवभट्टटीका)

व्युत्पत्तिः—उद्यम्य—उद् + √ यम् + यत्। प्रणामम्—प्र—√ नम् घञ् + विभक्तिकार्यम्। प्रस्थिताः—प्र + √ स्था + क्त + विभक्तिकार्यम्। आहरणाय—आ + √ हृ + ल्युट् + विभक्तिकार्यम्। आतिथेय:—अतिथि + ढञ् (एय) + विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—तपोधनानाम्, प्रतिहतविघ्नाः, रम्याः, क्रियाः, समवलोक्य, मौर्वीकिणाङ्कः मे, भुजः, कियत्, रक्षति, इति, ज्ञास्यसि ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—तपोधनानाम् = तपस्वियों की, प्रतिहतविघ्नाः = निर्विघ्न, रम्याः = रमणीय, क्रियाः = क्रियाओं को, समवलोक्य = देखकर, मौर्वीकिणाङ्कः = धनुष

मालिनी नदी के तट पर कुलपति कण्व का आश्रम दिखलाई पड़ रहा है। यदि (आपके) अन्य कार्य में बाधा न हो तो (वहाँ) जाकर अतिथिजनोचित सत्कार स्वीकार कीजिये। और भी—

तपस्वियों की निर्विघ्न रमणीय क्रियाओं को देख कर 'धनुष की डोरी की रगड़ से उत्पन्न चिह्न से अलङ्कृत मेरी भुजा (प्रजा की) कितनी रक्षा करता है' यह जानियेगा ॥ १३ ॥

राजा—क्या कुलपति यहाँ (आश्रम में) उपस्थित हैं?

तपस्वी—(वे) अभी-अभी पुत्री शकुन्तला को अतिथि-सत्कार के लिये नियुक्त करके उसके विपरीत भाग्य को शान्त करने के लिये सोम-तीर्थ गये हैं।

राजा—ठीक है, उसी (कण्व-पुत्री) का ही दर्शन करूँगा। वह ज्ञात हो गई है

डोरी की रगड़ से उत्पन्न चिह्न से अलङ्कृत, मे = मेरी (अर्थात् आपकी), भुजः = भुजा, कियत् = कितनी, कहाँ तक, रक्षति = रक्षा करता है, इति = यह, ज्ञास्यसि = जानियेगा ॥ १३ ॥

टीका—रम्या इति। तपोधनानाम्—तपः = तपस्या एव धनम् = सम्पत्तिः येषां ते तपोधनाः = तपस्विनस्तेषाम्, प्रतिहतविघ्नाः—प्रतिहताः = दूरीकृताः विघ्नाः = अन्तरायाः यासां तास्तथोक्ताः, निर्विघ्ना इत्यर्थः, क्रियाः = यज्ञादिकार्याणि, समवलोक्य = निरीक्ष्य, मौर्वीकिणाङ्कः—मौर्व्याः = प्रत्यञ्चायाः यः किणः = आघातजनितः शुष्कव्रणः एव अङ्कः = चिह्नम् यत्र स तथाभूतः, मे = मम, पृथिवीपालकस्येति यावत्, भुजः = बाहुः, कियत् = कियत्परिमाणम्, रक्षति = पालयति, इति = एतत्, ज्ञास्यसि = ज्ञानं करिष्यसि। अत्र पूर्वार्द्धे परिकरालङ्कारः। काव्यलिङ्गमपि। आर्या छन्दः। अत्र ज्ञप्तिर्नाम नाट्यलक्षणम् ॥१३॥

टिप्पणी—किणाङ्कः—बाण छोड़ देने के बाद धनुष की डोरी बायें हाथ की हथेली के ऊपर रगड़ती है। धीरे-धीरे वहाँ गाँठ पड़ जाती है। यही है किणाङ्क।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में परिकर अलङ्कार है। इसमें काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है। यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या। लक्षण के लिये देखिये पीछे श्लोक २, ३ की टिप्पणी ॥१३॥

व्युत्पत्ति:—रम्या:—√रम्+यत्+विभक्तिकार्यम्। समवलोक्य—सम्+अव+लोक्+ल्यप् ॥१३॥

शब्दार्थ:—अपि = क्या, सन्निहितः = उपस्थित। दुहितरम् = पुत्री, को बेटी को, नियुज्य = नियुक्त करके, दैवम् = भाग्य, ग्रह, प्रतिकूलम् = विपरीत, शमयितुम् = शान्त करने के लिये। विदितभक्तिम् = ज्ञात हो गई है भक्ति जिस की ऐसे। साधयामः

भक्ति मां महर्षेः कथयिष्यति ।

वैखानसः—साधयामस्तावत् । (इति सशिष्यो निष्क्रान्तः ।)

राजा—सूत, नोदयाश्वान् । पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति भूयो रथवेगं निरूपयति ।)

राजा—(समन्तादवलोक्य) सूत, अकथितोऽपि ज्ञायत एवायमाभोगस्तपोवनस्येति ।

सूतः—कथमिव ।

राजा—किं न पश्यति भवान् । इह हि—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥१४॥

=सिद्ध करते हैं, सम्पन्न करते हैं । चोदय=प्रेरित करो, आश्रमाभोगः=आश्रम की सीमा ॥

टीका—राजेति । अपीति प्रश्ने । सन्निहितः=उपस्थितः । दुहितरम्=सुताम् नियुज्य=नियुक्तां कृत्वा, दैवम्,=भागधेयम्, प्रतिकूलम्=विपरीतम्, शमयितुम् =शान्तं कर्तुम्, अनुकूलयितुमित्यर्थः । विदितभक्तिम्—विदिता=ज्ञाता भक्तिः=श्र मुनिं प्रति श्रद्धेत्यर्थः, यस्य स तम् । साधयामः=सम्पादयामः, उद्दिष्टं कार्यं कर्तुं गच्छ इत्यर्थः । चोदय=प्रेरय । आश्रमाभोगः—आश्रमस्य=ऋषीणां निवासस्थान आभोगः=परिपूर्णता विस्तारः सीमेति यावत् ॥

टिप्पणी—अपि—यदि वाक्य के प्रारम्भ में 'अपि' का प्रयोग किया जाय वह प्रश्नवाचक हो जाता है ।

अतिथिसत्काराय—कण्व ने अपनी अनुपस्थिति में आश्रम में आये हुए व्यक्ति के आदर-सत्कार का भार शकुन्तला के कन्धे पर डाला था । इससे भी शकुन्तला दुर्भाग्य कुछ अंश तक न्यून ही हुआ होगा ।

दैवं.......शमयितुम्—इससे यह प्रतीत होता है कि शकुन्तला की भावी वि का ज्ञान मुनि कण्व को पहले से ही था । वे दुर्वासा के शाप तथा दुष्यन्त के द्वारा शकु के परित्याग की बात से पूर्वपरिचित थे ।

भक्ति जिसकी ऐसे मुझे महर्षि कण्व से अवश्य कहेगी (अर्थात् वह महर्षि के प्रति मेरी भक्ति को जानकर आने पर उनसे कह देगी)।

तपस्वी—अब हम (अपना काम) सम्पन्न करते हैं (अर्थात् अब हम अपने कार्य के लिये जाते हैं)। [ऐसा कह कर शिष्यों के साथ निकल गया।]

राजा—सारथि, घोड़ों को हाँको। पावन आश्रम के दर्शन से हम अपने आपको पवित्र करें।

सारथि—जैसी आपकी आज्ञा। (ऐसा कह कर फिर वेग से रथ चलाने का अभिनय करता है।)

राजा—(चारों ओर देख कर) सारथि, बिना कहे हुए भी प्रतीत ही होता है कि यह तपोवन के आश्रमों की सीमा है।

सारथि—किस प्रकार ?

राजा—क्या नहीं देख रहे हैं आप ? यहाँ तो—

(कहीं) वृक्षों के नीचे, तोतों से युक्त कोटरों के अग्रभाग से गिरे हुए तिन्नी-धान (दिखलाई पड़ रहे हैं)। कहीं इङ्गुदी के फलों को फोड़ने वाले (अतएव) चिकने पत्थर दिखलाई पड़ रहे हैं। (कहीं) विश्वस्त होने के कारण निःशङ्क गति-वाले हरिण (रथ की) घरघराहट को सुन रहे हैं तथा (कहीं) जलाशयों की जाने वाले मार्ग (मुनि जनों के) वल्कलों के अग्रभाग से टपकने वाले जल की रेखा से चिह्नित (हैं) ॥१४॥

सोमतीर्थम्—कुछ विद्वान् सोमतीर्थ को पानीपत के पास स्थित तीर्थ मानते हैं। कुछ लोगों के अनुसार प्रभासतीर्थ का ही दूसरा नाम सोम तीर्थ है। काठियावाड़ में सोमनाथ के पास यह एक तीर्थस्थान है। यही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

व्युत्पत्तिः—**सन्निहितः**—सम् + नि + √धा + क्त + विभक्तिकार्यम्। **नियुज्य**—नि + √युज् + ल्यप्। **शमयितुम्**—√शम् + णिच् + तुमुन्। **आभोगः**—आ + √भुज् + घञ् + विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—(क्वचित्), तरूणाम्, अधः, शुक-गर्भ-कोटर-मुख-भ्रष्टाः, नीवाराः, (अवलोक्यन्ते); क्वचित्, इङ्गुदीफलभिदः, प्रस्निग्धाः, उपलाः, सूच्यन्ते, एव; (क्वचित्), विश्वासोपगमात्, अभिन्नगतयः, मृगाः, शब्दम्, सहन्ते; च, (क्वचित्), तोयाधारपथाः, वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः, (सन्ति) ॥१४॥

शब्दार्थः—(क्वचित्=कहीं), तरूणाम् = वृक्षों के, अधः = नीचे, शुक-गर्भ-कोटर-मुख-भ्रष्टाः = तोतों से युक्त कोटरों के अग्रभाग से गिरे हुए, नीवाराः = तिन्नी-धान, (अवलोक्यन्ते = दिखलाई पड़ रहे हैं); क्वचित् = कहीं, इङ्गुदीफलभिदः = इङ्गुदी के फलों को फोड़ने वाले, प्रस्निग्धाः = चिकने, उपलाः = पत्थर, सूच्यन्ते = दिखलाई पड़ रहे हैं, एव = ही; (क्वचित् = कहीं), विश्वासोपगमात् = विश्वासप्राप्त होने के कारण,

अपि च—

कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूला
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भांकुरायां
नष्टाशंका हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति ॥१५॥

विश्वस्त होने के कारण, अभिन्नगतयः = अपरिवर्तित गति वाले, निःशङ्क गतिवा[illegible] मृगाः = हरिण, शब्दम् = शब्द को, घरघराहट को, सहन्ते = = सहन कर रहे हैं; [illegible] रहे हैं; च = तथा, (क्वचित् = कहीं), तोयाधारपथाः = जलाशयों को जाने [illegible] मार्ग, वल्कल-शिखानिष्यन्द-रेखाङ्किताः = वल्कलों के अग्रभाग से टपकने वाले [illegible] की रेखा से चिह्नित, (सन्ति = हैं) ॥१४॥

टीका—नीवारा इति। (क्वचित् = कुत्रचित्), तरूणाम् = वृक्षाणाम्, अधः = अधस्तले, शुकेत्यादिः—शुकाः = कीराः गर्भे = मध्ये येषां तानि च कोटराणि = तरु[illegible]राणि तेषां मुखानि = अग्रभागास्तेभ्यः भ्रष्टाः = पतिताः, नीवाराः = मुनिधान्यानि, अव[illegible]क्यन्त इति क्रियाशेषः। अत्र मुखशब्दोपादानेन नीवाराणां बाहुल्यं सूचितम्। क्वचित् = कस्मिंश्चित् स्थाने, इङ्गुदीफलभिदः—इङ्गुदीफलानि = तापसतरुफलानि भिन्दन्ति = विदारयन्ति तथोक्ताः, अत एव प्रस्निग्धाः = चिक्कणाः, उपलाः = प्रस्तराः, सूच्यन्ते = लक्ष्यन्ते, एव = च। प्रस्तर-खण्डैः इङ्गुदीफलपेषणेन तापसास्तैलं निःसारयन्ति [illegible] प्रसिद्धिः। (क्वचित्), विश्वासोपगमात्—विश्वासः = अत्रास्माकं हिंसा न के[illegible] क्रियते इत्येवंरूपः प्रत्ययः तस्य उपगमात् = लाभात्, प्राप्तेरित्यर्थः, अभिन्नगतयः = अभिन्ना = अपरिवर्तिता, अचकितेति यावत्, गतिः = गमनम् येषां तथाभूताः, मृगाः = हरिणाः, शब्दम् = रथनेमिध्वनिम्, सहन्ते = शब्दं श्रुत्वा न पलायन्ते इति भावः। च = त[illegible] (क्वचित्), तोयाधारपथाः—तोयानाम् = जलानाम् आधाराः = आशयाः, देवखात[illegible] इत्यर्थः, तेषां पन्थानः = मार्गाः इति तोयाधारपथाः, अत्र 'ऋक्पूरब्धूः' इति समासान्तो[illegible]त्ययः, वल्कलेत्यादि—वल्कलानाम् = तरुत्वङ्निर्मितमुनिवाससाम् याः शिखाः = अग्रभा[illegible]स्तेभ्यः निस्यन्दः = जलस्रवणम् तेन याः रेखाः = पंक्तयः ताभिः अङ्किताः = चिह्नि[illegible] सन्तीति क्रियाशेषः। एभिश्चिह्नैर्ज्ञायतेऽयमाश्रमाभोग इति। अत्र काव्यलिङ्गक्रिया[illegible]च्चयस्वभावोक्त्योऽलङ्काराः। शार्दूलविक्रीडितं च छन्दः ॥१४॥

टिप्पणी—शुकगर्भ०—तोते नीवार धान की बालियों को तोड़कर कोटर में [illegible] अपने बच्चों को देते हैं। वे स्वयं भी कोटरों के मुख-द्वार पर बैठ कर खाते [illegible] इस प्रकार नीवार के छिलके तथा बालियों के डण्ठल वृक्षों के नीचे गिरे हुए हैं।

इङ्गुदी०—इङ्गुदी एक जङ्गली वृक्ष है। यह काँटेदार होता है। इसके फ[illegible] कठोर आवरण के नीचे तेलदार बीज होता है। तपस्वी लोग इङ्गुदी को तोड़[illegible] उसके बीजों को पीस कर तेल लगाते थे।

और भी :—

वायु के कारण चञ्चल नालियों के जल से धुली हुई जड़वाले वृक्ष हैं (अर्थात् वृक्षों की जड़ें धुली हुई हैं)। (हवन किये गये) घृत के धुएँ के उठने से कोमलपत्तों (कोपलों) की कान्ति की ललाई वदली हुई (दिखलाई पड़ रही है)। और ये निर्भीक हरिणों के वच्चे कटे हुए कुशों के अङ्कुरों वाली (अर्थात् जहाँ पर कुशों के पत्ते चर लिये गये हैं ऐसी) उद्यान-भूमि पर, पास में ही, धीरे-धीरे विचरण कर रहे हैं ॥ १५ ॥

शब्दं सहन्ते—आश्रम के मृग मुनि-जनों के साथ रहते-रहते निर्भीक हो गये थे। अतः उन्हें मनुष्य आदि से भय न लगता था। यही कारण है कि वे रथ को देख कर, उसके शब्दों को सुन कर भी भयभीत होकर भागते न थे।

तोयाधार०—मुनिजन पेड़ों की छाल पहनते थे। छाल को कपड़े की तरह निचोड़ा नहीं जा सकता। अतः स्नान के बाद उसे हाथ में लटकाये ही वे लोग कुटी की ओर आते थे। इस प्रकार रास्ते भर टपकते पानी की कतारें वन जाया करती थीं।

इन सारी बातों से प्रतीत होता है कि अब आश्रम की सीमा प्रारम्भ हो गई है।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग, क्रियासमुच्चय और स्वभावोक्ति अलङ्कार है। यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित। छन्द का लक्षण—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥ १४ ॥

व्युत्पत्ति—नीवाराः—नी + √ वृ + घञ् + विभक्तिकार्यम्।

प्रस्निग्धाः—प्र + √ स्निह् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—पवनचपलैः, कुल्याम्भोभिः, शाखिनः, धौतमूलाः, (सन्ति); आज्यधूमोद्गमेन, किसलयरुचाम्, रागः, भिन्नः, (दृश्यते); च, एते, नष्टाशङ्काः, हरिणशिशवः; छिन्नदर्भाङ्कुरायाम्, उपवनभुवि, अर्वाक्, मन्दमन्दम्, चरन्ति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ :—पवनचपलैः = वायु के कारण चञ्चल, कुल्याम्भोभिः = नालियों के जल से, शाखिनः = वृक्ष, धौतमूलाः = धुली हुई जड़वाले (सन्ति = हैं); आज्यधूमोद्गमेन = (हवन किये गये) घृत के धूएँ के उठने से, किसलयरुचाम् = कोमलपत्तों (कोपलों) की कान्ति की, रागः = ललाई, भिन्नः = बदली हुई, (दृश्यते = दिखलाई पड़ रही है); च = और, एते = ये, नष्टाशङ्काः = निर्भय, हरिणशिशवः = हरिणों के बच्चे, छिन्नदर्भाङ्कुरायाम् = कटे हुए कुशों के अङ्कुरों वाली, उपवनभुवि = उद्यान-भूमि पर, अर्वाक् = पास में ही, मन्दमन्दम् = धीरे-धीरे, चरन्ति = विचरण कर रहे हैं ॥ १५ ॥

टीका—कुल्याम्भोभिरिति। पवनचपलैः—पवनेन = वायुना चपलैः = चञ्चलैः, कुल्याम्भोभिः—कुल्यानाम् = कृत्रिमसरिताम् ('कुल्याल्पा कृत्रिमा सरिदि' त्यमरः) अम्भोभिः = जलैः, शाखिनः = वृक्षाः, धौतमूलाः—धौतम् = क्षालितम् मूलम् = तलभागः येषां तथाभूताः, सन्तीति क्रियाशेषः। आज्यधूमोद्गमेन—आज्यस्य = हव्यस्य

सूतः—सर्वमुपपन्नम् ।

राजा—(स्तोकमन्तरं गत्वा) तपोवननिवासिनामुपरोधो मा भूत् । एतावत्येव रथं स्थापय, यावदवतरामि ।

सूतः—धृताः प्रग्रहाः । अवतरत्वायुष्मान् ।

राजा—(अवतीर्य) सूत, विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम । इदं तावद् गृह्यताम् । (इति सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयार्पयति) सूत, यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः ।

सूतः—तथा । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम् । यावत् प्रविशामि । (प्रविश्य, निमित्तं सूचयन्)

घृतस्य धूमोद्गमेन = धूमस्योद्ध्वंगमनेन, किसलयरुचाम्—किसलयानाम् = नवोद्गतपत्राणाम् रुचः = कान्तयस्तासां तथाभूतानाम्, रागः = लौहित्यम्, भिन्नः = परिवर्तितः, दृश्यत इति शेषः । च = तथा, एते = इमे, मम पुरतो वर्तमानाः, नष्टाशङ्काः = निःशङ्काः, हरिणशिशवः = मृगशावकाः, छिन्नदर्भाङ्कुरायाम्—छिन्नाः = चर्विताः दर्भाणाम् = कुशानाम् अङ्कुराः यस्यां तथाविधायाम्, उपवनभुवि = उद्यानभूमौ, अर्वाक् = समीपे, मन्दमन्दम् = शनैः शनैः, चरन्ति = विचरन्ति, भ्रमन्तीत्यर्थः । अत्र काव्यलिङ्ग स्वभावोक्तिश्चालङ्कारौ । मन्दाक्रान्ता च छन्दः ॥ १५ ॥

टिप्पणी—कुल्या—'कुल्या' उस बड़ी नाली को कहते हैं, जिससे एक कतार में स्थित वृक्षों का समूह सींचा जाता है । इससे ज्ञात होता है, कि दुष्यन्त आश्रम के एकदम पास में पहुँच गया है ।

कतिपय संस्करणों ने इस श्लोक को प्रक्षिप्त मान कर छोड़ दिया है ।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग तथा स्वभावोक्ति अलङ्कार एवं मन्दाक्रान्ता छन्द है । छन्द का लक्षणः—'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' ॥ १५ ॥

व्युत्पत्तिः—भिन्नः—√ भिद् + क्त + विभक्तिकार्यम् । रागः—√ रञ्ज् + घञ् + विभक्त्यादिकार्यम् । नः—√ छिद् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—उपपन्नम् = ठीक है, सही है । स्तोकम् = थोड़ा-सा । अनन्तरम् = दूर । उपरोधः = विघ्न, बाधा । प्रग्रहाः = लगाम या लगाम की रस्सी ।

टीका—सूत इति । उपपन्नम् = युक्तम्, यथार्थमभिहितमित्यर्थः । स्तोकम् = स्वल्पं किञ्चिदित्यर्थः, अन्तरम् = अवकाशम् । तपोवननिवासिनाम् = तपस्विनामित्यर्थः उपरोधः = बाधा । प्रग्रहाः—प्रगृह्यन्ते अश्वाः एभिरिति प्रग्रहाः = रश्मयः

सूत—सब कुछ सही है।

राजा—(थोड़ी दूर जाकर) तपोवन के निवासियों को कोई विघ्न न होवे। अतः यहीं रथ रोक दो, जब तक मैं उतरता हूँ।

सारथि—लगाम की रस्सियाँ खींच ली गई हैं। (अब) चिरञ्जीवी आप उतरें।

राजा—(उतर कर) सारथि; सादे वेश से ही प्रवेश करने के योग्य हैं तपोवन (अर्थात् तपोवन में सादे वेश से ही प्रवेश करना चाहिए)। तो यह लो (ऐसा कह कर सारथि को आभूषण और धनुष उतार कर देता है)। सारथि, जब तक मैं आश्रमवासियों को देख कर लौटता हूँ, तब तक घोड़े जल से भीगी पीठवाले किये जाँय (अर्थात् तब तक घोड़ों को स्नान करा दो)।

सूत—वैसा ही होगा। (निकल गया)।

राजा—(चलकर और देख कर) यह आश्रम का प्रवेश-मार्ग है। इसके अन्दर चलता हूँ। (प्रवेश करके शकुन सूचित करता हुआ)—

टिप्पणी—उपरोधः—राजा का अभिप्राय यह है कि यदि मैं रथ से चलूँगा तो अपने-अपने कार्यों में रत तपस्वियों का मन अनावश्यक रूप से रथ की ओर आकृष्ट होगा। इससे उनके कार्यों में बाधा पहुँचेगी।

व्युत्पत्ति :—उपपन्नम्—उप + √ पद्+क्त + विभक्त्यादिकार्यम्। उपरोधः—उप + √ रुध् + घञ् + विभक्तिकार्यम्॥

शब्दार्थः—विनीतवेशेन = विनम्रवेश से, सादे वेश से, प्रवेष्टव्यानि = प्रवेश करने के योग्य हैं। आभरणानि = आभूषण, उपनीय = उतार कर, पास में जाकर। प्रत्यवेक्ष्य = देखकर, उपावर्ते = लौटता हूँ, आर्द्रपृष्ठाः = भीगी पीठ वाले, जल से सिक्त पीठवाले, वाजिनः = घोड़े। आश्रमद्वारम् = आश्रम का प्रवेश मार्ग। निमित्तम् = शकुन॥

टीका—राजेति। विनीतवेशेन = विनीतश्चासौ वेशस्तेन विनीतवेशेन = नम्रवेशेन = अनुद्धतवेशेनेति यावत्; प्रवेष्टव्यानि = प्रवेष्टुमर्हाणि। आभरणानि = आभूषणानि, उपनीय = उत्तार्येति भावः। प्रत्यवेक्ष्य = दृष्ट्वा, उपावर्ते = प्रत्यागमिष्यामि, आर्द्रपृष्ठाः—आर्द्राणि = जलसिक्तानि पृष्ठानि = पृष्ठभागाः येषां तथाभूताः, वाजिनः = अश्वाः। आश्रमद्वारम्—आश्रमस्य = तपोभूमि-भागस्य द्वारम् = प्रवेशमार्गः। निमित्तम् = शुभसूचकं लिङ्गम्, स्पन्दनमिति भावः॥

टिप्पणी—विनीतवेशेन—राजा का कर्तव्य है कि वह अधिकार के आडम्बर से दूर रहते हुए सादे वेष में तपोवन में प्रवेश करे। मनु० (८-२) का कथन है कि—'विनीतवेषाभरणः पश्येत् कार्याणि कर्मिणाम्॥'

व्युत्पत्ति :—अवतीर्य—अव + √ तृ + ल्यप्। प्रवेष्टव्यानि—प्र + √ विश् + णिच् + तव्यत् + विभक्तिकार्यम्। आभरणानि—आ + √ भृ + ल्युट् + विभक्तिकार्यम्। अपनीय—उप + √ नी + ल्यप्। प्रत्यवेक्ष्य—प्रति + अव + √ ईक्ष् + ल्यप्॥

(नेपथ्ये)

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥१६॥

इत इतः सख्यौ। [इदो इदो सहीओ।]

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये, दक्षिणेन वृक्षवाटि[का]मालाप इव श्रूयते। यावदत्र गच्छामि। (परिक्रम्यावलो[क्य] च) अये, एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघ[टै]र्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते। (नि[पुणं] निरूप्य) अहो, मधुरमासां दर्शनम्।

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः। १[७]

अन्वय:—इदम्, आश्रमपदम्, शान्तम् (अस्ति); बाहुः, च, स्फुरति; इह, [अस्य], फलम्, कुतः; अथवा, भवितव्यानाम्, सर्वत्र, द्वाराणि, भवन्ति ॥१६॥

शब्दार्थ:—इदम् = यह, आश्रमपदम् = आश्रम-स्थान, शान्तम् = शान्त; [शान्ति] (अस्ति = है); बाहुः = भुजा, च = भी, स्फुरति = फड़क रही है; इह = यहाँ, अ[स्य] = इसका, फलम् = फल, कुतः = कहाँ हो सकता है? अथवा = या, भवितव्यानाम् = भा[वी] होनी के, द्वाराणि = द्वार, मार्ग, सर्वत्र = सब जगह, भवन्ति = होते हैं ॥१६॥

टीका—निमित्तं वितर्कते—शान्तमिति। इदम् = एतत्, परिदृश्यमानमिति [भावः], आश्रमपदम् = आश्रमस्थानम्, शान्तम् = शान्तरसाश्रयम्, शमप्रधानमिति याव[त्] तु प्रथमरसाश्रयमिति भावः, अस्तीति शेषः। बाहुः = दक्षिणो भुजः, स्फुरति = स्प[न्दते], इह = अत्राश्रमे, अस्य = एतस्य स्फुरणस्येत्यर्थः, फलम् = वरवनितालाभरूपं फलमि[ति] तथा चोक्तम् अद्भुतसागरे—'वामेतरभुजस्पन्दो वरस्त्रीलाभसूचकः' कुतः = कस्मात्? [न] सम्भवतीत्यर्थः। अथवेति विकल्पे, भवितव्यानाम् = अवश्यम्भाविनां विषयाणाम्, सर्व[त्र] = सर्वेषु स्थानेषु, द्वाराणि = आगममार्गाः, प्राप्तिकारका उपायाः, भवन्ति = जायन्ते। [अ]त्रापि फलं सम्भवत्येवेति भावः। अत्रार्थान्तरन्यास आक्षेपश्चालङ्कारौ। आ[र्या] छन्दः ॥१६॥

टिप्पणी—शान्तम्—शान्तरस-प्रधान। यहाँ पर लक्षणा के द्वारा आश्रमपद का [अर्थ] है—आश्रमवासी जन। जब आश्रमवासी शमप्रधान हैं, तो फिर उनसे शृङ्गार[-रस का] आलम्बन होने की कैसे आशा की जा सकती है?

स्फुरति—दाहिनी भुजा के फड़कने का फल है—सुन्दरी स्त्री का मिलना। यहाँ कैसे सम्भव है? प्रमाण के लिये देखिये टीका।

यह आश्रम-स्थान शान्त (है)। (मेरी दाहिनी) भुजा भी फड़क रही है। यहाँ इसका फल कहाँ से हो सकता है? अथवा होनी के द्वार सब जगह होते हैं ॥१६॥

(पर्दे के पीछे)

सखियों, इधर से, इधर से (आओ)।

राजा—(कान लगाकर) अरे! वृक्षों की वाटिका के दाहिनी ओर बातचीत-सी सुनाई पड़ रही है। तो वहाँ जाता हूँ। (घूम कर और देखकर) अरे, ये तापस-कुमारियाँ अपनी शक्ति के अनुरूप, सींचने के लिए लिये गये घड़ों से छोटे वृक्षों को जल देने के लिये इधर ही आ रही हैं (ध्यान से देख कर) अहा! इनका स्वरूप बहुत मनोहर है॥

रनिवास में भी दुर्लभ यह शरीर यदि आश्रम में निवास करनेवाले व्यक्ति का (है तो कहना पड़ेगा कि) निश्चय ही उपवन की लतिकाएँ जङ्गल की लताओं से (कोमलता, सुन्दरता आदि) गुणों के द्वारा तिरस्कृत कर दी गई हैं। (अर्थात् जंगल की लताओं ने उपवन की लतिकाओं को गुणों में हरा दिया है) ॥१७॥

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास और आक्षेप अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। छन्द के उदाहरण के लिये देखिये पीछे श्लोक २, ३ की टिप्पणी ॥१६॥

व्युत्पत्तिः—शान्तम्—√शम्+क्त+विभक्तिकार्यम्। भवितव्यानाम्—√भू+तव्यत्+विभक्तिकार्यम् ॥१६॥

शब्दार्थः—नेपथ्ये = पर्दे के पीछे। आलापः = बातचीत, तपस्विकन्यकाः = तापस-कुमारियाँ, स्वप्रमाणानुरूपैः = अपनी शक्ति के अनुरूप, सेचनघटैः = सींचने के लिए लिये गये घड़ों से, बालपादपेभ्यः = छोटे वृक्षों को, पयः = जल, मधुरम् = मीठा, मनोहर, दर्शनम् = स्वरूप॥

टीका—नेपथ्य इति। नेपथ्ये = वेशरचनास्थाने। आलापः = कथोपकथनम्। तपस्विकन्यकाः = तापसबालिकाः, स्वप्रमाणानुरूपैः = स्वावयवप्रमाणयोग्यैरित्यर्थः, अथवा स्वसामर्थ्यानुकूलैः।'स्वशब्देन प्रमाणपदसाहचर्यात् सामर्थ्यं लक्ष्यते। तस्य प्रमाणं मानं तदनुरूपैः' इति राघवभट्टः। सेचनघटैः—सेचनस्य घटैः, अथवा सेचनार्थाः घटाः सेचनघटास्तैः, उत्तरपदलोपी समासः, बालपादपेभ्यः—बालाः = लघवश्च ते पादपास्तेभ्यः, पयः = जलम्, मधुरम् = मनोहर, दर्शनम्—दृश्यते = अवलोक्यते इति दर्शनम् = रूपम्॥

टिप्पणी—मधुरं दर्शनम्—तापस-कन्याओं का श्रम से सुगठित शरीर इतना आकर्षक था कि देखते ही राजा का मन उन पर मुग्ध हो उठा॥

व्युत्पत्तिः—आलापः—आ+√लप्+घञ्+विभक्तिकार्यम्। मधुरम्—मधु+र+विभक्तिकार्यम्॥

अन्वयः—शुद्धान्तदुर्लभम् इदम्, वपुः, यदि, आश्रमवासिनः, जनस्य, (अस्ति, तर्हि), खलु, उद्यानलताः, वनलताभिः गुणैः, दूरीकृताः ॥१७॥

शब्दार्थः—शुद्धान्तदुर्लभम् = रनिवास में भी दुर्लभ, इदम् = यह, वपुः = शरीर, यदि = यदि, आश्रमवासिनः = आश्रम में निवास करने वाले, जनस्य = व्यक्ति का, (अस्ति = है, तर्हि = तो), खलु = निश्चय ही, उद्यानलताः = उपवन की लतिकाएँ, वनलताभिः जंगल की लताओं से, गुणैः = गुणों के द्वारा, दूरीकृताः = तिरस्कृत कर दी गई हैं ॥१७॥

यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि ।

(इति विलोकयन् स्थितः।

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला।

शकुन्तला—इत इतः सख्यौ। [इदो इदो सहीओ।]

अनसूया—हला शकुन्तले, त्वत्तोऽपि तातकाश्यपस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि। येन नवमालिकाकुसुमपेलवाऽपि त्वमेतेषामालवालपूरणे नियुक्ता। [हला सउन्दले, तुवत्तो वि तादकस्सवस्स अस्समरुक्खआ पिअदरे त्ति तक्केमि। जेण णोमालिआकुसुमपेलवा वि तुमं एदाणं आलवालपूरणे णिउत्ता।]

शकुन्तला—न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे

टीका—शुद्धान्तेति। शुद्धान्तदुर्लभम्—शुद्धान्तेषु=राजान्तःपुरेषु ('शुद्धान्तः पुरे' इति मेदिनी) दुर्लभम् = दुष्प्रापम्, इदम् = पुरतो दृश्यमानम्, वपुः = शरीररूपमित्यर्थः, यदि = चेत्, आश्रमवासिनः—आश्रमे वस्तुं शीलं यस्य तादृशस्य तपोवननिवासिन इत्यर्थः, जनस्य = व्यक्तेः, अस्ति तर्हीति शेषः, खल्विति निश्चये, उद्यानलताः = उद्याने लालिताः वल्लर्यः, वनलताभिः = वनस्थाभिः लताभिः गुणैः = सौन्दर्यसौरभादिभिः, दूरीकृता=निराकृताः, पराजिता इति भावः। अत्र बिम्बानुबिम्बप्रतिपादनान्निदर्शनालङ्कारः। आर्या च छन्दः ॥ १७ ॥

टिप्पणी—शुद्धान्त०—राजा के रनिवास को शुद्धान्तः इसलिये कहा जाता है क्योंकि वहाँ रहनेवाली स्त्रियाँ आचार-व्यवहार आदि में सब तरह से शुद्ध रक्खी जाती थीं।

दूरीकृताः···वनलताभिः—राजा के कहने का भाव यह है कि इन सुन्दरी कन्याओं के सौन्दर्य के सामने रनिवास की सुन्दरियों का सौन्दर्य फीका-सा है।

यहाँ पर पूर्वार्द्ध में विशेष के प्रस्तुत होने पर भी सामान्य के कथन के कारण अप्रस्तुत प्रशंसा तथा पूर्वार्द्ध एवम् उत्तरार्द्ध में कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उसकी समाप्ति उपमा में होती है, अतः निदर्शना अलङ्कार है।

श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या। लक्षण :—

'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये पञ्चदश चतुर्थके साऽऽर्या ॥ १७ ॥

व्युत्पत्तिः—दुर्लभम्—दुर् + √ लभ् + खल् (अ) + विभक्तिकार्यम् ॥

शब्दार्थ :—आश्रित्य = आश्रय लेकर, खड़ा होकर। प्रतिपालयामि = प्रतीक्षा करता हूँ। स्थितः = खड़ा हो जाता है। यथोक्तव्यापारा—पूर्वोक्त कार्य करती हुई वृक्षों को सींचती हुई ॥

तो (वृक्ष की) इस छाया का आश्रय लेकर (अर्थात् छाया में खड़ा होकर) प्रतीक्षा करता हूँ। (ऐसा सोचकर देखता हुआ खड़ा हो जाता है)

(तदनन्तर पूर्वोक्त कार्य करती हुई सखियों के साथ शकुन्तला प्रवेश करती है।)

शकुन्तला—सखियों, इधर से, इधर से (सींचो)।

अनसूया—प्रिय सखि शकुन्तला, पिता काश्यप (कण्व) को आश्रम के ये वृक्ष तुमसे भी अधिक प्रिय हैं, ऐसा मैं अनुमान करती हूँ। यही कारण है कि नवमालिका (नेवारी) के फूल के तुल्य सुकुमार तुम इन (वृक्षों) के आलवाल (थाला) भरने के कार्य में नियुक्त की गई हो।

शकुन्तला—केवल पिता का आदेश ही नहीं, मेरा भी इन (वृक्षों) पर सगे भाई के समान स्नेह है॥

टीका—यावदिति। आश्रित्य=गृहीत्वा। प्रतिपालयामि = प्रतीक्षे। स्थितः = गतिनिवृत्तः सन् तिष्ठति। यथोक्तव्यापारा = यथोक्तः = पूर्वनिर्दिष्टः व्यापारः = कार्यम् यस्या सा तादृशी॥

टिप्पणी—**छायामाश्रित्य**—राजा के कहने का भाव यह है कि मैं छाया में छिप कर खड़ा हो जाता हूँ॥

व्युत्पत्तिः—**आश्रित्य**—आ + श्रि + ल्यप्॥

शब्दार्थः—हला = प्रिय सखि, त्वत्तः = तुमसे भी अधिक, तर्कयामि = अनुमान करती हूँ, नवमालिका-कुसुम-परिपेलवा = नवमालिका (नेवारी) के फूल के तुल्य सुकुमार, आलवालपूरणे = थाला भरने में। तातनियोगः = पिता का आदेश, सोदरस्नेहः = भाई के समान स्नेह॥

टीका—अनसूयेति। हलेति सख्याः सम्बोधने, ('हण्डे हञ्जे हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' इत्यमरः) त्वत्तः = त्वामपेक्ष्यापि। तर्कयामि = अनुमिनोमि, विचारयामीति यावत्, नवमालिका-कुसुम-परिपेलवा—नवमालिकायाः कुसुमवत् = पुष्पवत् परिपेलवा = सुकोमला। आलवालपूरणे— आलवालानाम् = वृक्षमूलवेष्टनजलाधारस्य पूरणे = पूर्णकरणे। तातनियोगः—तातस्य = पितुः कण्वस्य नियोगः = आदेशः। सोदरस्नेहः—समानमुदरं ये ते सोदराः = भ्रातरः तेषु स्नेहः = प्रेम, भ्रातृस्नेह इत्यर्थः॥

टिप्पणी—**हला**—सखियाँ एक दूसरे को 'हला' कह कर सम्बोधित करती हैं। कभी-कभी रानियाँ दासी को भी हला कहती हैं—'हण्डे हञ्जे हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' अमरकोश।

परिपेलवा—'परिपेलवा' का अर्थ है—अत्यन्त कोमल। वामन मम्मट आदि साहित्यशास्त्रियों ने पेलव शब्द को अश्लीलता का सूचक मानकर प्रयोग का निषेध किया है। पर महाकवि कालिदास ने इस शब्द का बहुत जगह प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि यह शब्द उनके समय तक अश्लीलता का सूचक नहीं माना जाता था॥

सोदरस्नेहोऽप्येतेषु । [ण केवलं तादणिओओ एव्व । अत्थि मे सोदरसिणोहो वि एदेसु ।] (इति वृक्षसेचनं रूपयति ।)

राजा—कथमियं सा कण्वदुहिता । असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते ।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपु-
स्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥१८॥

भवतु, पादपान्तर्हित एव विश्रब्धं तावदेनां पश्यामि । (इति तथा करोति ।)

शकुन्तला—सखि अनसूये, अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रिताऽस्मि । शिथिलय तावदेतत् । [सहि

व्युत्पत्तिः—नियोगः—नि + √युज् + घञ् + विभक्तिकार्यम् । स्नेहः—√स्निह् + घञ् + विभक्तिकार्यम् ॥

शब्दार्थ :—असाधुदर्शी = ठीक दृष्टि से देखने वाले नहीं हैं, यथार्थ मूल्यांकन करने वाले नहीं हैं, तत्र भवान् = पूज्य आदरणीय, काश्यपः = कण्व, आश्रमधर्मे = आश्रम कार्य में ॥

टीका—राजेति । असाधुदर्शी—साधु = सम्यक् पश्यतीति = अवलोकयतीति साधुदर्शी । न साधुदर्शी असाधुदर्शी = असम्यग्दर्शी, अविवेचक इति भावः, तत्र भवान् = अत्यन्तादरणीयः; काश्यपः = कण्वः, आश्रमधर्मे = तपोवनविहिते कार्ये ॥

टिप्पणी—असाधुदर्शी—राजा के कहने का भाव यह है कि—शकुन्तला सुकुमार है । आश्रम के कार्य अतिकठोर हैं । फिर भी कण्व ने इस आश्रम के कार्य में उसे नियुक्त किया है । इसमें प्रतीत होता है कि उनमें वस्तुओं के सही मूल्याङ्कन की क्षमता नहीं है ।

व्युत्पत्तिः—असाधुदर्शी—न + साधु + √दृश + णिनि (ताच्छील्ये) विभक्तिकार्यम् ।

अन्वयः—यः ऋषिः, अव्याजमनोहरम्, इदम्, वपुः, किल, तपःक्षमम्, साधयितुम्, इच्छति; सः, ध्रुवम्, नीलोत्पलपत्रधारयाः शमीलताम्, छेत्तुम्, व्यवस्यति ॥१८॥

शब्दार्थः—यः = जो, ऋषिः = महर्षि, अव्याजमनोहरम् = बिना किसी बनावट के ही सुन्दर, इदम् = इस, वपुः = शरीर को, किल = खेद है कि तपःक्षमम् = तप

राजा—क्या यह वही कण्वपुत्री (शकुन्तला) है ? (जिसके सौन्दर्य की चर्चा चारों ओर व्याप्त है)। अवश्य ही पूज्य कण्व (वस्तुओं का) यथार्थ मूल्यांकन करनेवाले नहीं हैं। जो कि वे इसे आश्रम के कार्यों में नियुक्त किये हैं।

जो महर्षि (कण्व) विना किसी बनावट के ही सुन्दर (शकुन्तला के) इस शरीर को, खेद है कि तपस्या के योग्य बनाने की इच्छा करते हैं; वह निश्चय ही, नीले कमल के पत्ते की धार से शमी की लता की काटने का उद्योग करते हैं ॥१८॥

अच्छा, वृक्षों से छिप कर ही, विश्वासपूर्वक, अब इसको देखूंगा।

शकुन्तला—सखि, अनसूया, अत्यन्त कस कर बाँधे गये वृक्ष की छाल (की चोली) से प्रियम्वदा के द्वारा कस दी गई हूँ। थोड़ा इसको ढीला कर दो।

योग्य, साधयितुम् = बनाने की, इच्छति = इच्छा करते हैं; सः = वह, ध्रुवम् = निश्चय ही, नीलोत्पलपत्रधारया = नीले कमल के पत्ते की धार से, शमीलताम् = शमी की लता को, छेत्तुम् = काटने का, व्यवस्यति = उद्योग करते हैं ॥१८॥

टीका—इदमिति। यः ऋषि = यः महर्षिः अव्याजमनोहरम्—अव्याजेन—व्याजम् = छलं विना मनोहरम् = सुन्दरम्, स्वभावरम्यमित्यर्थः, प्रसाधनं विनापि चित्ताकर्षकमिति यावत्, इदम् = एतत्, परिदृश्यमानमित्यर्थः वपुः = शरीरम्, शकुन्तलायाः शरीरमिति यावत्, किलेति खेदे, तपःक्षमम्—तपसः = तपस्यायाः क्षमम् = योग्यम्, साधयितुम् = विधातुम्, इच्छति = वाञ्छति; सः = तादृशः महर्षिरित्यर्थः, ध्रुवम् = अवश्यम्, नीलोत्पलपत्रधारया—नीलोत्पलस्य = नीलकमलस्य यत् पत्रम् = दलम् तस्य धारया = प्रान्तभागेन, शमीलताम् = शमीवल्लरीम्, शमीलता कण्टकबहुला च भवति, छेत्तुम् = कर्तितुम्, व्यवस्यति = उधुङ्क्ते। शकुन्तलाया आश्रमकार्ये नियोगस्तु नीलकमलपत्रधारया कण्टकबहुलायाः शमीलतायाश्छेदनसदृशं कार्यं विद्यत इति भावः। अत्रनिदर्शनालङ्कारः। वंशस्थं च छन्दः ॥१८॥

टिप्पणी—अव्याजमनोहरम् = विना किसी प्रसाधन आदि के ही चित्ताकर्षक प्रतीत होने वाला।

शमीलताम्—शमी एक अति पवित्र वृक्ष है। यह कांटेदार होता है। राजा का भाव यह है कि—जिस प्रकार नीले कमल के पत्ते की धार से शमी की लता (डाल) को काटना असम्भव तथा अविवेकपूर्ण है, उसी प्रकार शकुन्तला से वृक्ष-सेचन आदि आश्रम का कार्य लेना असम्भव तथा अविवेकपूर्ण है।

इस श्लोक में निदर्शना अलङ्कार तथा वंशस्थ छन्द है। छन्द का लक्षण :—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितंजरौ' ॥ १८ ॥

व्युत्पत्तिः—साधयितुम्—√साध् + णिच् + तुमुन्। छेत्तुम्—√छिद् + तुमुन् ॥१८॥

शब्दार्थः—पादपान्तर्हितः = वृक्षों से ओट करके, पेड़ों से छिप कर, विश्रब्धम् = विश्वासपूर्वक, निःसंकोच, अतिपिनद्धेन = अत्यन्त कस कर बांधे गये, वल्कलेन = वृक्ष

अणसूए, अदिपिणद्धेण वक्कलेण पिअंवदए णिअन्तिद ह्मि
सिढिलेहि दाव णं।]

अनसूया—तथा। [तह।] (इति शिथिलयति।)

प्रियंवदा—(सहासम्) अत्र पयोधरविस्तार[यि]
आत्मनो यौवनमुपालभस्व। मां किमुपालभसे। [ए[त्थ]
पओहरवित्थारइत्तअं अत्तणो जोव्वणं उवालह। मं [किं]
उवालहसि।]

राजा सम्यगियमाह।

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां ...
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण॥१९॥

अथवा काममननुरूपमस्या वपुषो वल्कलं न पुनरलङ्का[र]
श्रियं न पुष्यति। कुतः—

की छाल से, नियन्त्रिता = कस दी गई, कस कर बँधी हुई, सिकुड़ी हुई। पयोधरविस्[तार]
यितृ = स्तनों को विशाल बना देने वाले॥

टीका—भवत्विति। पादपान्तर्हितः—पादपैः = तरुभिः अन्तर्हितः, = अन्त[र्हितः]
विश्रब्धम् = विश्वस्तम्, निःशङ्कमिति यावत्। अतिपिनद्धेन = दृढं बद्धेन, ववल्कलेन
तरुत्वचा, नियन्त्रिता = निविडं पीडिता। पयोधरविस्तारयितृ—पयोधरयोः = स्त[नयोः]
विस्तारयितृ = वर्द्धकम्, यौवनम् = बाल्यात् परंवयः॥

टिप्पणी—पादपान्तरित :—राजा वृक्षों की ओट से शकुन्तला के शारी[रिक]
सौन्दर्य का रस लेना चाहता है। यदि वह सामने आ जाय तो चुलबुलाती हुई
युवतियाँ लजा जायँगी, अङ्गों को ढक लेंगी तथा दूर खिसक जायँगी। अतः वह पेड़ों
आड़ में ही खड़ा होना चाहता है। इससे राजा को भी शकुन्तला के यौवन भरे [शरीर]
पर टकटकी लगाने में सङ्कोच न होगा।

वल्कलेन—पहले तपस्वी लोग पेड़ों की छाल पहना करते थे।

व्युत्पत्ति :—पिनद्धेन—अपि + नह् + क्त + तृतीयैकवचने विभक्तिकार्यम्।
भागुरिमतेन अकारलोपः। नियन्त्रिता—नि + √यन्त्र् + क्त + टाप्। विस्तार[यितृ]
वि + √स्तॄ + णिच् + तृच् + विभक्तिकार्यम्॥

अन्वयः—स्कन्धदेशे, उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना, स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना, वल्[कलेन]
अस्याः, इदम्, अभिनवम्, वपुः, पाण्डुपत्रोदरेण, पिनद्धम्, कुसुमम्, इव; स्वाम्, शो[भाम्]
न, पुष्यति॥१९॥

अनसूया——अच्छा (ऐसा कह कर ढीला करती है)

प्रियंवदा——(हँसती हुई) इसके लिये तुम (अपने) स्तनों को विशाल बना देने वाले अपनी युवावस्था को उलाहना दो। मुझे क्यों उलाहना (दोष) दे रही हो?

राजा——ठीक इसने कहा——

कन्धे पर जिसमें छोटी गाँठ लगाई गई है ऐसे, दोनों स्तनों के विस्तार को ढकने वाले वल्कल से इस (शकुन्तला) का यह मनोहर शरीर पीले पत्तों के मध्य-भाग से आच्छादित फूल की तरह, अपनी शोभा को नहीं प्रस्फुटित कर रहा है॥१९॥

अथवा भले ही (यह) वल्कल (शकुन्तला के) इस शरीर के अनुरूप नहीं है, तो भी यह (यह इस पर) आभूषण की शोभा को नहीं प्रस्फुटित कर रहा है, ऐसी बात नहीं है (अर्थात् प्रस्फुटित कर ही रहा है)। क्योंकि——

शब्दार्थः——स्कन्धदेशे = कन्धे पर, उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना = जिस में छोटी गाँठ लगाई गई है ऐसे, स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना = दोनों स्तनों के विस्तार को ढकनेवाले, वल्कलेन = वल्कल से, अस्याः = इसका, इदम् = यह, अभिनवम् = मनोहर, यौवन से भरपूर, वपुः = शरीर, पाण्डुपत्रोदरेण = पीले पत्तों के मध्य-भाग से, पिनद्धम् = ढके हुए, आच्छादित, कुसुमम् = फूल की, इव = तरह, स्वाम् = अपनी, शोभाम् = शोभा को, न = नहीं, पुष्यति = धारण कर रहा है, प्रस्फुटित कर रहा है॥१९॥

टीका——इदमिति। स्कन्धदेशे = अंस-प्रदेशे, उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना——उपहितः = अर्पितः, दत्त इति यावत्, सूक्ष्मः = स्वल्पः ग्रन्थिः = बन्धनम् यस्य तेन, स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना——स्तनयुगस्य = पयोधरयुगलस्य परिणाहम् = विस्तारम् ('परिणाहो विशालता' इत्यमरः) आच्छादयतीति तथोक्तेन, वल्कलेन = वृक्षत्वचा, अस्याः = शकुन्तलायाः, इदम् = एतत्, अभिनवम् = नवीनम्, मनोज्ञमिति यावत्, वपुः = शरीरम्, पाण्डुपत्रोदरेण ——पाण्डुपत्राणाम् = परिणतपर्णानाम् उदरेण = अभ्यन्तरेण, पिनद्धम् = बद्धम्, वेष्टितमित्यर्थः, कुसुमम् = प्रसूनम्, इव = यथा, स्वाम् = स्वकीयाम्, शोभाम् = कान्तिम् न पुष्यति = न धारयति। अथवा स्वां शोभां न पुष्यति? अपि तु पुष्यत्येवेति काक्वा व्यज्यते। अत्र पूर्णोपमालङ्कारः। मालिनी च छन्दः॥१९॥

टिप्पणी——**स्कन्ध देशे**——प्राचीन काल में अरण्यवासिनी रमणियाँ पेड़ के छाल की चोली धारण किया करती थीं। इसमें आगे और पीछे की ओर दो डोरियाँ रहती थीं। इन्हें कन्धे पर बाँधा जाता था।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा मालिनी छन्द है। छन्द का लक्षण——

'न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः'॥ १९॥

व्युत्पत्तिः—— **पिनद्धम्**——अपि + √ नह् + क्त + विभक्तिकार्यम्॥ १९॥

शब्दार्थ:——कामम् = भले ही, यद्यपि यह सही है कि, अननुरूपम् = अनुरूप नहीं है, योग्य नहीं है, वपुषः = शरीर के अलङ्कारश्रियम् = आभूषण की शोभा को॥

टीका——अथवेति। कामम् = सम्यग्, यद्यपि वा, अननुरूपम् = अयोग्यम्, वपुषः = शरीरस्य अलङ्कारश्रियम्——अलङ्कारस्य = आभूषणस्य श्रियम् = शोभाम्॥

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥२०॥

शकुन्तला—(अग्रतोऽवलोक्य) एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः। यावदेनं संभावयामि। [एसो वादेरिदपल्लवङ्गुलीहिं तुवरेदि विअ मं केसररुक्खओ। जाव णं संभावेमि।] (इति परिक्रामति।)

प्रियंवदा—हला शकुन्तले, अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ। [हला सउन्दले, एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं चिट्ठ।]

शकुन्तला—किं निमित्तम्। [किं णिमित्तं।]

प्रियंवदा—यावत् त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति। [जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसररुक्खओ पडिभादि।]

टिप्पणी—वपुषः—राजा का अभिप्राय यह है कि वल्कल इस शरीर के लायक नहीं है। कहाँ यह सलोना शरीर और कहाँ रूखी यह पेड़ की छाल। पर यह तो इस शरीर पर कुछ अच्छा भी लग रहा है॥

अन्वयः—शैवलेन, अपि, अनुविद्धम्, सरसिजम्, रम्यम्, (प्रतीयते) मलिनम्, अपि, लक्ष्म, हिमांशोः, लक्ष्मीम्, तनोति; वल्कलेन, अपि, इयम्, तन्वी, अधिकमनोज्ञा (प्रतिभाति); हि, मधुराणाम्, आकृतीनाम्, किमिव मण्डनम्, न, (भवति)॥ २०॥

शब्दार्थः—शैवलेन = सेवार से, अपि = भी, अनुविद्धम् = घिरा हुआ, सरसिजम् = कमल, रम्यम् = मनोहर, (प्रतीयते = प्रतीत होता है)। मलिनम् = मलिन, काला, अपि = भी, लक्ष्म = कलङ्क, चिह्न, हिमांशोः = चन्द्रमा की, लक्ष्मीम् = शोभा को, तनोति = बढ़ाता है। वल्कलेन = वल्कल से, अपि = भी, इयम् = यह, तन्वी = कृशाङ्गी, अधिक मनोज्ञा = अधिक मनोहर (प्रतिभाति = प्रतीत हो रही है।) हि = क्योंकि, मधुराणाम् = सुन्दर, आकृतीनाम् = आकृतियों के लिये, किमिव = कौन सी वस्तु, मण्डनम् = अलङ्कार, न = नहीं, (भवति = होती है)॥ २०॥

टीका—शकुन्तलायाः सौन्दर्यं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयति—सरसिजमिति। शैवलेन = जलनील्या ('जलनीली तु शैवालं शैवलम्' इत्यमरः), अपि = च, अनुविद्धम् = आवृतम्, सरसिजम् = कमलम्, रम्यम् = मनोहरम्, प्रतीयते इति शेषः। मलिनम् = कृष्णवर्णम्

सेवार से भी घिरा हुआ कमल मनोहर (प्रतीत होता है)। मलिन भी कलङ्क चन्द्रमा की शोभा को बढ़ाता है। वल्कल से भी यह कृशांगी (शकुन्तला) अधिक मनोहर (प्रतीत हो रही है। क्योंकि सुन्दर आकृतियों के लिये कौन-सी वस्तु अलङ्कार नहीं (होती है ? अर्थात् सारी वस्तुएँ अलङ्कार बन जाती हैं) ॥ २० ॥

शकुन्तला—(सामने देखकर) यह बकुल (मौलश्री) का वृक्ष वायु के द्वारा हिलाई जा रही पत्ते रूपी अंगुलियों से मुझे (अपने पास पहुँचने के लिये) शीघ्रता करा-सा रहा है। तो जब तक इसका (सींच कर) सत्कार करती हूँ। (ऐसा कहकर घूमती है)।

प्रियम्वदा—सखी शकुन्तला, जरा क्षण भर यहीं रुकी रहो।

शकुन्तला—किस लिये ?

प्रियम्दा—क्योंकि तुम्हारे पास में स्थित रहने पर यह बकुल (मौलश्री) का वृक्ष लता से युक्त-सा प्रतीत होता है।

अपि = च, लक्ष्म = कलङ्कः, चिन्हमिति यावत् ('चिह्नं लक्ष्म च' इत्यमरः), हिमांशोः = चन्द्रस्य, लक्ष्मीम् = शोभाम्, तनोति = विस्तारयति। वल्कलेन = तरुत्वचा, अपि = च, इयम् = एपा, तन्वी = कृशाङ्गी अधिकम=नोज्ञा—अधिकम्अत्यर्थं यथा तथा मनोज्ञा = मनोहारिणी, प्रतिभातीति क्रियाशेषः। हि = यतः, मधुराणाम् = मनोहराणाम्, आकृतीनाम् = वपुपाम्, किमिव = सर्वमेव वस्त्वित्युत्तमहीनं स्वसम्बद्धं निखिलञ्चेति भावः, मण्डनम् अलङ्कार, न, भवति = न जायते ?। सर्वमेव मण्डनं भवतीति फलितार्थः। अत्र प्रतिवस्तूप मालारौ मार्ऽर्थान्तरन्यास मालिनी च छन्दः ॥ २० ॥

टिप्पणी—**शैवलेन**—शैवल या सेवार जल में रहने वाली वह हरी घास है, जिसमें जड़ नहीं होती। यह पानी पर तैरती रहती है तथा तेजी से चारों ओर फैलती है।

मधुराणां मण्डनम्—सुन्दर सुगठित शरीर पर वल्कल हो या मृगचर्म अथवा चिथड़ा सब कुछ शारीरिक शोभा को बढ़ाने वाला होता है।

इस श्लोक में एक सामान्य धर्म का ही तीन चरणों में रम्य, लक्ष्मीविस्तार तथा मनोज्ञ शब्दों के द्वारा कथन होने से प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है। चतुर्थ चरण में सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—मालिनी। इसका लक्षण श्लोक १९ में दिया जा चुका है ॥ २० ॥

व्युत्पत्तिः—**सरसिजम्**—सरसि + √जन् + ड (अ) + विभक्तिकार्य तथा 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यनेन सप्तम्याः वैकल्पिकोऽलुक्।

अनुविद्धम्—अनु + व्यध् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥ २० ॥

शब्दार्थः—वातेरितपल्लवाङ्गुलिभिः = वायु के द्वारा हिलाई जा रही पत्ते रूपी अंगुलियों से, त्वरयति इव = शीघ्रता करा-सा रहा है। सम्भावयामि = सत्कार करती हूँ। उपगतया = पास में स्थित रहने पर। प्रतिभाति = प्रतीत होता है। प्रियम्वदा = प्रिय वचन बोलने वाली, सार्थक नामवाली। तथ्यम् = सत्य, यथार्थ ॥

शकुन्तला—अतः खलु प्रियंवदाऽसि त्वम् । [अदो क्खु पिअंवदा सि तुमं ।]

राजा—प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियंवदा । अस्याः खलु—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥२१॥

अनसूया—हला शकुन्तले, इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका । एनां विस्मृतासि । [हला सउन्दले, इअं सअंवरवहू सहआरस्स तुए किदणामहेआ वणजोसिणित्ति णोमालिआ । णं विसुमरिदा सि ।]

शकुन्तला—तदात्मानमपि विस्मरिष्यामि । (लतामुपेत्यावलोक्य च) हला रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः । नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः । [तदा अत्ताणं वि विसु

टीका—शकुन्तलेति । वातेरितपल्लवाङ्गुलिभिः—वातेन = वायुना ईरिताः = प्रेरिताः, सञ्चालिताः इत्यर्थः, पल्लवाः = कोमलपत्राणि एव अङ्गुलयः = करशा ताभिः, त्वरयतीव = शीघ्रतां कारयतीव । सम्भावयामि = सिञ्चनेन अभिनन्दा उपगतया = समिपवर्तिन्या । प्रतिभाति = प्रतीयते । प्रियंवदा—प्रियम् = मनोहर वदति प्रियंवदा, प्रियं भाषणेन यथार्थं ते नाम इत्यर्थः ॥

टिप्पणी—त्वया···लतासनाथ:—प्रियंवदा के कहने का भाव यह है कि— तुम इस छोटे केसर वृक्ष के पास खड़ी हो तो ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो कोई उस वृक्ष से सटी हुई है । इस कथन से शकुन्तला के शरीर की दुर्बल बनावट तथा वर्ण प्रतीत होता है । स्त्रियों के शरीर की शोभा है दुर्बलता, न कि स्थूलता ।

प्रियमपि तथ्यम्—यद्यपि ऐसा बहुत ही कम देखने में आता है कि जो बात में प्रिय लगे वह यथार्थ भी हो । किन्तु प्रियंवदा का यह कथन प्रिय होते हुए यथार्थ है ।

व्युत्पत्तिः—केसरवृक्षक :—केसरः चासौ वृक्षकः । ह्रस्वः वृक्षः वृक्षकः ह्रस्वार्थे कन् । उपगतया—उप + √गम् + क्त + टाप् + तृतीयैकवचने विभक्तिकार्यम् ।

अन्वयः—अधरः, किसलयरागः, (अस्ति); बाहू, कोमलविटपानुकारिणौ, (स्तः), अङ्गेषु, कुसुमम्, इव, यौवनम्, सन्नद्धम्, (वर्तते) ॥ २१ ॥

शकुन्तला—इसीलिये तुम प्रियंवदा (प्रिय वचन बोलने वाली) हो।

राजा—प्रिय होने पर भी सत्य बात कही है प्रियम्वदा ने शकुन्तला को। निश्चय ही इसका—

अधर कोपल के समान लाल (है)। दोनों भुजाएँ कोमल शाखाओं के सदृश हैं। (इसके) अङ्गों में फूल की तरह लुभावना यौवन व्याप्त (है)॥ २१॥

अनसूया—सखी शकुन्तला, तुम्हारे द्वारा 'वनज्योत्स्ना' नाम रक्खी गई यह आपकी स्वयंवर-वधू नवमालिका (नेवरी) है। क्या इसको भूल गई हो?

शकुन्तला—तब तो अपने-आपको भी भूल जाऊँगी। (लता के समीप जाकर और उसे देखकर) सखी, बड़े सुन्दर समय में लता और वृक्ष की इस जोड़ी का मिलन हुआ है। वनज्योत्स्ना नवीन फूलरूपी यौवन से और आम स्निग्ध (चिकने) पल्लवों से युक्त होने के कारण उपभोग के योग्य है। (ऐसा कह कर देखती हुई रुक जाती है) ४५.

शब्दार्थः—अधरः = नीचे का ओष्ठ, किसलयरागः = कोपल के समान लाल, (अस्ति = है); बाहू = दोनों भुजाएँ, कोमलविटपानुकारिणौ = कोमल शाखाओं के सदृश (स्तः = हैं); अङ्गेषु = अङ्गों में, कुसुमम् = फूल की, इव = तरह, यौवनम् = युवावस्था, लोभनीयम् = लुभावना, यौवन, सन्नद्धम् = व्याप्त, (वर्तते = है)॥ २१॥

टीका—शकुन्तलायाः सौन्दर्यातिशयं वर्णयन्नाह—अधर इति। अधरः = दन्तच्छदः, अधरोष्ठ इति यावत्, किसलयरागः = किसलयस्य = नवनिर्गतस्य कोमलपत्रस्येव रागः = लौहित्यं यस्य तथाभूतः। अधरोऽत्यर्थं रक्तवर्णः कोमलश्चेति भावः। अस्तीति क्रियाशेषः। बाहू = भुजौ, कोमलविटपानुकारिणौ—कोमलयोः = मृदुलयोः विटपयोः = शाखयोः अनुकारिणौ = सदृशौ, तुल्याविति भावः। स्त इति क्रियाशेषः। अङ्गेषु = अवयवेषु, कुसुमम् = प्रसूनम्, इव = यथा, यौवनम् = तारुण्यम्, सन्नद्धम् = सम्बद्धम्। वर्तते। अत्रोपमालङ्कारः। आर्या च छन्दः॥ २१॥

टिप्पणी—**अधरः**—इस श्लोक में शकुन्तला का सौन्दर्य फूली हुई वसन्त की लता के सदृश लुभावना बतलाया गया है॥ २१॥

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। छन्द के लक्षण के लिये देखिये श्लोक १६, १७ की टिप्पणी॥ २१॥

व्युत्पत्तिः—**यौवनम्**—यूनः भावः यौवनम्, युवन् + अण् + विभक्त्यादिकार्यम्। **सन्नद्धम्**—सम् + √नह् + क्त + विभक्तिकार्यम्॥ २१॥

शब्दार्थः—स्वयंवरवधूः = स्वयं वरण करने वाली वधू, सहकारस्य = आम की, कृतनामधेया = नाम रक्खी गई, जिसका तुमने नाम रक्खा है, ऐसी। आत्मानम् = अपने आपको, लतापादपमिथुनस्य = लता और वृक्ष की जोड़ी का, व्यतिकरः = संयोग, मिलन, स्निग्धपल्लवलतया = स्निग्ध (चिकने) पल्लवों से युक्त होने के कारण, उपभोगक्षमः = सम्भोग के योग्य॥

रिस्सं। हला रमणीए क्खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्स वइअरो संवुत्तो। णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी, बद्धपल्लवदाए उवभोअक्खमो सहआरो।], (इति पश्यन्ती तिष्ठति।)

प्रियंवदा—अनसूये, जानासि किं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं पश्यतीति। [अणसूए, जाणासि किं सउन्दला वणजोसिणिं अदिमेत्तं पेक्खदि त्ति।]

अनसूया—न खलु विभावयामि। कथय। [ण क्खु विभावेमि। कहेहि।]

प्रियंवदा—यथा वनज्योत्स्नाऽनुरूपेण पादपेन संगता अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति। [जह वणजोसिणी अणुरूवेण पादवेण संगदा, अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअं त्ति।]

शकुन्तला—एष नूनं तवात्मगतो मनोरथः। (इति कलशमावर्जयति) [एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो।]

राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात् अथवा कृतं सन्देहेन।

टीका—अनसूयेति। स्वयंवरवधूः—स्वयं वृणोति या सा स्वयंवरा सा चासौ वधूश्चेति स्वयमेव प्रसृत्य सहकारस्य कृताश्रयणेत्यर्थः, सहकारस्य = आम्रस्य, कृतनामधेया—कृतम् निर्दिष्टम् नामधेयम् = नाम यस्याः तथा। आत्मानम् = स्वम्, लतापादपमिथुनस्य—लतायाः = वल्लर्याः, वनज्योत्स्नाया इत्यर्थः, पादपस्य = सहकारवृक्षस्य च यत् मिथुनम् = युग्मम्, व्यतिकरः = समागमः, स्निग्धपल्लवतया—स्निग्धाः = चिक्कणाः, अनुरागपूर्णाः इत्यर्थः पल्लवाः = नूतनपत्राणि यस्य सः, तस्य भावस्तया। नायकव्यहारारोपात् समासोक्तिः। उपभोगक्षमः—उपभोगस्य = छायासेवनादिसुखस्य, अन्यत्र सम्भोगस्य, क्षमः = योग्यः। अनेन शकुन्तलादुष्यन्तयोस्तारुण्यमुपभोगक्षमत्वञ्च तथा भावी समागमोऽपि सूचितः॥

टिप्पणी—स्वयंवरवधूः—जो कन्या स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार पति का वरण करती है, उसे 'स्वयंवरवधू' कहते हैं। इस प्रकार की प्रथा प्राचीन भारत में विशेष रूप से प्रचलित थी।

नवकुसुम०—यहाँ कुसुम शब्द के दो अर्थ हैं—पुष्प तथा रजोदर्शन। नवमालिका का रजोदर्शन हो चुका है। अतः वह सहकार को अपनी शाखा-बाहुओं से लपेट है

प्रियंवदा--अनुसूया, जानती हो किसलिये शकुन्तला वनज्योत्स्ना को बहुत अधिक देख रही है ?

अनसूया--नहीं समझ पा रही हूँ (तुम्हीं) बतलाओ।

प्रियंवदा—(यह सोच रही है कि) 'जिस प्रकार वनज्योत्स्ना योग्य वृक्ष से मिल गई है, इसी तरह क्या मैं भी अपने अनुरूप वर को प्राप्त करूँगी ?'

शकुन्तला--यह निश्चय ही तुम्हारी अपनी अभिलाषा है। (ऐसा कह कर घड़ा घुमाती है)

राजा--क्या यह संभव है कि यह (शकुन्तला) कुलपति (कण्व) की असवर्ण स्त्री से उत्पन्न हुई हो? अथवा (इसमें) सन्देह की आवश्यकता नहीं है।

चाहती है। उधर सहकार भी स्निग्ध = अनुरागपूर्ण है। अतः सम्भोग में पूर्णतया सक्षम है। अतः दोनों की जोड़ी मनोरम है। यहाँ नवमालिका से शकुन्तला तथा सहकार से दुष्यन्त का उपस्थापन किया गया है॥

व्युत्पत्तिः— **सहकारस्य**—सहकारयति इति तस्य। सह+√कृ+णिच्+अण्+षष्ठ्येकवचने विभक्तिकार्यम्। **रमणीये**--√रम्+अनीयर् (अनीय) +सप्तम्यैकवचने विभक्तिकार्यम्। **व्यतिकरः**--वि + अति + √ कृ + घ + विभक्तिकार्यम्। **संवृत्तः**--सम+√वृत् + क्त + विभक्तिकार्यम्।

शब्दार्थः—किंनिमित्तम् = किसलिये, अतिमात्रम् = बहुत अधिक। विभावयामि = समझ पा रही हूँ। अपि नाम = क्या ? अनुरूपम् = योग्य। आवर्जयति = घुमाती है, उलटती है॥

टीका—**प्रियंवदेति**। किंनिमित्तम्=कस्मात् कारणात्, अतिमात्रम्=अत्यधिकम्। विभावयामि = अनुमातुं शक्नोमि। अपीति प्रश्ने, नामेति संभावनायाम्। अनुरूपम् = योग्यम्। आवर्जयति = भ्रामयति॥

टिप्पणी— **अनुरूपेण पादपेन**—यहाँ प्रियंवदा ने शकुन्तला की वास्तविक मनोदशा का वर्णन किया है। इससे राजा को शकुन्तला के विवाह के विषय में सोचने का अवसर उपस्थित हो जाता है।

व्युत्पत्तिः—**आवर्जयति**—आ+√वृज्+णिच्+लटि प्रथमपुरुषैकवचने रूपम्।

शब्दार्थः—अपि नाम = क्या यह संभव है कि, असवर्णक्षेत्रसंभवा = असवर्ण स्त्री से उत्पन्न। कृतम् = आवश्यकता नहीं है, व्यर्थ है॥

टीका—**राजेति**। अपीति प्रश्ने, नामेति सम्भावनायाम्। असवर्णक्षेत्रसम्भवा—असवर्णम् = ब्राह्मणेतरम् यत् क्षेत्रम् = स्त्री ('क्षेत्रं शरीरे केदारे सिद्धस्थानकलत्रयोः' इति मेदिनी) तस्मात् सम्भवः = उत्पत्तिर्यस्याः सा, ब्राह्मणेतरवनितासमुत्पन्नेत्यर्थः। कृतम् = अलम्, संशयो निरर्थक इत्यर्थः॥

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।। ॥२२॥

तथापि तत्त्वत एनामुपलप्स्ये ।

शकुन्तला—(ससंभ्रमम्) अम्मो, सलिलसेकसंभ्र-मोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते (इति भ्रमरबाधां रूपयति।)

चित्यं ध्वनितमिति राघवभट्टः । यत् = यस्मात्, मे = मम, जितेन्द्रियस्य पुरुकुलोत्पन्न-दुष्यन्तस्येति ध्वनिः, आर्यम् = पवित्रम्, निर्दोषमिति यावत्, मनः = चेतः, अस्याम्=

टिप्पणी—असवर्णक्षेत्रसम्भवा—यहाँ क्षेत्र का अर्थ है—पत्नी । राजा के मन में यह सन्देह होता है कि शायद शकुन्तला कण्व की ऐसी पत्नी की सन्तान हो जो क्ष-की बेटी रही हो । यदि ऐसी बात हो तो वह शकुन्तला से विवाह करने के योग्य है । मनुस्मृति के अनुसार अपने वर्ण की कन्या से विवाह करना सर्वोत्तम है । अपने से हीन वर्ण की कन्या के साथ भी विवाह किया जा सकता है, पर अपने से उच्च वर्ण की कन्या से विवाह वर्जित है । उदाहरण के लिये कहा जा सकता है कि ब्राह्मण चारों वर्णों की कन्याओं से विवाह कर सकता है । क्षत्रिय ब्राह्मण को छोड़कर शेष तीनों वर्णों की कन्या से विवाह करने का अधिकारी है—'सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि । काम-प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥ शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते । स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ (मनु० ३।१२–१३) ॥

अन्वय :—(इयम्), असंशयम्, क्षत्रपरिग्रहक्षमा, (अस्ति) यत्, मे, आर्यम्, मनः, अस्याम्, अभिलाषि, (वर्तते); हि, सन्देहपदेषु, वस्तुषु, सताम्, अन्तःकरणप्रवृत्तयः, प्रमाणम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ :—(इयम् = यह), असंशयम् = निश्चय ही, क्षत्रपरिग्रहक्षमा = क्षत्रिय द्वारा विवाह करने के योग्य, (अस्ति = है); यत् = जिससे कि, मे = मेरा, आर्यम् = पवित्र, मनः = मन, अस्याम् = इसके विषय में, अभिलाषि = अभिलाषापूर्ण, (अस्ति = है); हि = क्योंकि, सन्देहपदेषु = सन्देहास्पद; वस्तुषु = विषयों में, सताम् = सत्पुरुषों की, अन्तःकरणप्रवृत्तयः = अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ, प्रमाणम् = प्रमाण हुआ करती हैं ॥२२॥

टीका—तस्याः असवर्णवनितोत्पत्तिमेव भङ्ग्यन्तरेण साधयति—असंशयमिति । (इयम् = एषा शकुन्तला), असंशयम् = निश्चितम्, क्षत्रपरिग्रहक्षमा—क्षत्रम् = क्ष-(क्षत्रं क्षत्रियराजन्यौ' इति नाममाला), तस्य परिग्रहः = स्त्रीत्वेनाङ्गीकारः ('परि-परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयोः' इति विश्वः) तत्क्षमा = तत्समर्था, अस्तीति क्रिया । अत्र मत्परिग्रहक्षमेति वक्तव्ये क्षत्रेति सामान्योक्तेरप्रस्तुतप्रशंसा । तया च नायक-

(यह) निश्चय ही क्षत्रिय के द्वारा विवाह करने के योग्य (है), जिससे कि मेरा पवित्र मन इसके विषय में अभिलाषापूर्ण (है)। क्योंकि सन्देहास्पद विषयों में सत्पुरुष के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ प्रमाण हुआ करती हैं ॥ २२ ॥

तो भी सही रूप से इस (शकुन्तला) को जानूँगा (अर्थात् इसके विषय में ठीक ठीक पता लगाऊँगा)।

शकुन्तला—(घबराहट के साथ) अरी माँ री, जल सींचने से घबड़ा कर उठा हुआ (यह) भौंरा नवमालिका को छोड़कर मेरे मुख की ओर दौड़ कर आ रहा है। (ऐसा कह कर भौंरे से पीड़ा का अभिनय करती हैं)।

एतस्याम्, अभिलाषि = साभिलाषम्, वर्तते इति शेषः। हि = यस्मात्, सन्देहपदेषु = सन्देहस्थानेषु, वस्तुषु = विषयेषु, सताम् = सच्चारित्र्ययुक्तानां जनानाम्, अन्तःकरणप्रवृत्तयः—अन्तःकरणस्य = चेतसः प्रवृत्तयः = वर्तनानि, प्रमाणम् = कर्तव्यनिर्णायकम्, उपादेयत्वज्ञानकारणान्येवेत्यर्थः। कर्तव्याकर्तव्यनिश्चयस्थले साधूनां मन एव प्रमाणम्। सर्वथा प्रशस्तोऽहं पौरवः। तथापि मनश्च मे शकुन्तलां प्रति धावति। तन्नूनमियं मे ग्राह्येति भावः। अत्रार्थान्तरन्यासाप्रस्तुतप्रशंसाकाव्यलिङ्गानि चालङ्काराः। वंशस्थं च छन्दः ॥ २२ ॥

टिप्पणी—आर्यम्—दुष्यन्त का भाव यह है कि मेरा मन सब प्रकार से पवित्र है। फिर भी शकुन्तला की ओर जा रहा है। अतः अवश्य ही इसकी माँ को क्षत्रियकन्या होनी चाहिये।

प्रमाणम्—प्रमाण शब्द सर्वदा नपुंसकलिङ्ग का एकवचन रहता है। अतः बहुवचन के साथ भी 'प्रमाणम्' का प्रयोग होता है। जैसे—वेदाः प्रमाणम्।

अन्तःकरणप्रवृत्तयः—यदि किसी कार्य में सन्देह हो तो सज्जनों को, कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में अपने हृदय से पूछना चाहिये। हृदय जो कह दे वही करना चाहिये। इस विषय में मनु का वचन भी है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥' (मनु० २—६)।

इस श्लोक में 'सन्देहपदेषु वस्तुषु' में पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है, क्योंकि पद का अर्थ वस्तु भी है। इसके अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वंशस्थ। छन्द के लक्षण के लिये देखें पीछे श्लोक १८ की टिप्पणी ॥ २२ ॥

व्युत्पत्ति—असंशयम्—अ + सम् + √शी + अच् + विभक्तिकार्यम्। **आर्यम्**—√ऋ + ण्यत् + विभक्तिकार्यम्। **अभिलाषि**—अभि + √लष् + णिनि + विभक्तिकार्यम्। **प्रमाणम्**—प्र + √मा + ल्युट् + विभक्तिकार्यम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ :—तथापि = तो भी, तत्त्वतः = सही रूप से, ठीक-ठीक, एनाम् = इस को, उपलप्स्ये = प्राप्त करूँगा, जानूँगा ॥

टीका—तथापीति। तथापि = तर्केण एवं निर्णीतेऽपि अर्थे, तत्त्वतः = स्वरूपेण यथार्थतः इत्यर्थः, उपलप्स्ये = ज्ञास्यामि ॥

अम्मो, सलिलसेअसंभमुग्गदो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ।]

राजा—(सस्पृहं विलोक्य) साधु, बाधनमपि रमणीयमस्याः।

यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते
ततस्ततः प्रेरितवामलोचना।
विवर्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते
भयादकामाऽपि हि दृष्टिविभ्रमम् ॥२३॥

अपि च। (सासूयमिव)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥२४॥

शब्दार्थ :—ससंभ्रमम् = घबराहट के साथ, सलिल-सेक-संभ्रमोद्गतः = जल सींचने से घबड़ा कर उठा हुआ। उज्झित्वा = छोड़ कर, मधुकरः = भ्रमर, भौंरा, अभिवर्तते = दौड़ कर आ रहा है। भ्रमरबाधाम् = भौंरे से पीड़ा का, रूपयति = अभिनय करती है ॥

टीका—शकुन्तलेति। ससंभ्रमम्—संभ्रमेण = भयसहितेन वेगेन, सहितं ससंभ्रमं यथा तथा। सलिलेत्यादि—सलिलस्य = जलस्य सेकेन = सिञ्चनेन संभ्रमः = व्याकुलता तेन उद्गतः = उत्थितः। उज्झित्वा = त्यक्त्वा, मधुकरः = भ्रमरः, अभिवर्तते = आक्रामति। भ्रमरबाधाम्—भ्रमरेण = द्विरेफेण बाधाम् = पीडाम्, रूपयति = अभिनयति ॥

टिप्पणी—वदनं··अभिवर्तते—मुख की ओर दौड़ रहा है। यहाँ इस कथन द्वारा कवि यह प्रदर्शित करना चाहता है कि शकुन्तला का मुख नवमालिका के पुष्प की भाँति मनोहर है। तभी तो भ्रमर उसकी ओर दौड़ रहा है। फूलों के रहते भ्रमर अन्यत्र नहीं बैठते ॥

अन्वय :—हि, यतः, यतः, षट्चरणः, अभिवर्तते; ततः, ततः, प्रेरितवामलोचना, विवर्तितभ्रूः, इयम्, भयात्, अकामा, अपि, अद्य, दृष्टिविभ्रमम्, शिक्षते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ :—हि = क्योंकि, यतः = जिधर से, यतः = जिधर से, षट्चरणः = भौंरा, अभिवर्तते = जाता है, ततः = उधर से, प्रेरितवामलोचना = सुन्दर नेत्रों को घुमाती हुई, विवर्तितभ्रूः = भौंहों को टेढ़ी की हुई, इयम् =

राजा—(अभिलाषा के साथ देख कर) वाह, इसका परेशान होना भी सुन्दर (लग रहा) है ।

क्योंकि जिधर-जिधर भौंरा जाता है उधर-उधर सुन्दर नेत्रों को घुमाती हुई, भौंहों को टेढ़ी की हुई यह (शकुन्तला) भय के कारण, न चाहती हुई भी, आज कटाक्षपात सीख रही है ॥ २३ ॥

और भी (मानो ईर्ष्यापूर्वक)—

भ्रमर, (तुम) चञ्चल नेत्र-प्रान्त वाली, काँपती हुई आँख को वार-वार छू रहे हो (चूम रहे हो) । रहस्य की वात कहनेवाले की तरह कान के पास पहुँचकर अत्यन्त धीरे से गुनगुना रहे हो । हाथों को हिलाती हुई (इस शकुन्तला) के, रति आण अधर को पी रहे हो (अर्थात् अधर का चुम्बन कर रहे हो) । हम (तो) तथ्य के अनुसन्धान में (ही) मारे गये, तुम निश्चय ही कृतार्थ हो गये ॥ २४ ॥

(शकुन्तला), भयात् = भय के कारण, अकामा = न चाहती हुई, अपि = भी अद्य = आज दृष्टिविभ्रमम् = कटाक्षपातं, शिक्षते = सीख रही है ॥ २३ ॥

टीका—वाधनेऽपि तस्याः रमणीयत्वं प्रतिपादयन्नाह—**यत इति** । हि = यतः, यतः यतः = यस्यां यस्यां दिशि, षट्चरणः = भ्रमरः, अभिवर्तते = अभिधावति; ततः ततः = तस्यां तस्यां दिशि, प्रेरितवामलोचना—प्रेरिते = चालिते वामे = सुन्दरे, लोचने = नेत्रे यया सा तथोक्ता, विवर्तितभ्रूः—विवर्तिते = वक्रीकृते भ्रुवौ = भ्रूकुटयौ यया तथाविधा, इयम् = एषा, शकुन्तलेत्यर्थः, भयात् = भीतेः, अकामा—नास्ति कामः = इच्छा यस्याः सा, अनिच्छन्तीत्यर्थः, अथवा नास्ति कामः = कामाभिलाषः यस्यां यस्याः वा सा तादृशी, अपि = च, अद्य = सम्प्रति, दृष्टिविभ्रमम्—दृष्टेः = नेत्रस्य विभ्रमम् = विलासम्, शिक्षते = अभ्यस्यति । शिक्षते इत्यत्र शिक्षते इवेत्यर्थात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । वंशस्थं छन्दः ॥ २३ ॥

टिप्पणी—**यतो यतः**—यह श्लोक कतिपय संस्करणों में नहीं है । किन्तु मेरे विचार से इसे यहाँ होना चाहिये । इसके भाव तथा प्रसंग को उचित समझकर इसे इस संस्करण में दे दिया जा रहा है ।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा वंशस्थ छन्द है । छन्द का लक्षण—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ॥ २३ ॥

व्युत्पत्तिः—**यतः ततः**—यत् + तसिल्, तत् + तसिल् + उभयत्र विभक्तिकाएँ रूपसिद्धिः ॥ २३ ॥

अन्वयः—मधुकर, (त्वम्), चलापाङ्गाम्, वेपथुमतीम्, दृष्टिम्, वहुशः, स्पृशसि; रहस्याख्यायी, इव, कर्णान्तिकचरः (सन्), मृदु, स्वनसि; करौ, व्याधुन्वत्याः (अस्याः), रतिसर्वस्वम्, अधरम्, पिबसि; वयम्, तत्त्वान्वेषात्, हताः, त्वम्, खलु, कृती ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—मधुकर = भ्रमर, (त्वम् = तुम), चलापाङ्गाम् = चञ्चल-नेत्र-प्रान्त वाली, वेपथुमतीम् = काँपती हुई, दृष्टिम् = आँख को, वहुशः = वार-वार, स्पृशसि = छू रहे हो; रहस्याख्यायी = रहस्य की बात कहनेवाले की, इव = तरह, कर्णान्तिकचरः (सन्) = कान के पास पहुँच कर, मृदु = अत्यन्त धीरे से, स्वनसि = गुन-गुना रहे हो; करौ = दोनों हाथों को, व्याधुन्वत्याः = फटकारती हुई, हिलाती हुई, (अस्याः = इस शकुन्तला के),

शकुन्तला—नैष धृष्टो विरमति। अन्यतो गमि-ष्यामि। (पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) कथमितोऽप्या-गच्छति। हला, परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेणा-भिभूयमानाम्। [ण एसो धिट्ठो विरमदि। अण्णदो गमिस्सं। कहं इदो वि आअच्छदि। हला, परित्ताअह मं इमिणा दुव्विणीदेण महुअरेण अहिहूअमाणं।]

उभे—(सस्मितम्) के आवां परित्रातुम्। दुष्यन्त-माक्रन्द। राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम। [का वअं परि-त्तादुं। दुस्सन्दं अक्कन्द। राअरक्खिदव्वाइं तवोवणाइं णाम।

रतिसर्वस्वम् = रति के प्राण, अधरम् = अधर को, पिवसि = पी रहे हो; वयम् = ह[म] तत्त्वान्वेषात् = तथ्य के अनुसन्धान से (में), हताः = मारे गये, त्वम् = तुम, खलु = निश्चय ही, कृती = कृतकृत्य, कृतार्थ हो गये ॥ २४ ॥

टीका—चलापाङ्गामिति। मधुकर = भ्रमर, त्वमिति शेषः, चलापाङ्गाम्—चलौ = चञ्चलौ अपाङ्गौ = नेत्रप्रान्तौ यस्या सा तथोक्ताम्, वेपथुमतीम् = कम्पमाना[म्] दृष्टिम् = लोचनम्, बहुशः = वारं वारम्, स्पृशसि = छुपसि, रहस्याख्यायी—रहस्यम् = गोपनीयम् आख्यातुम् = वक्तुम् शीलमस्य सः, इव = यथा, निभृतप्रवक्ता इवेत्य[र्थः] कर्णान्तिकचरः—कर्णयोः = श्रोत्रयोः अन्तिके = समीपे चरतीति तथाभूतः, [सन्] मृदु = नीचैः मधुरं वा, स्वनसि = ध्वनसि; करौ = हस्तौ, व्याधुन्वत्याः = त्वां निषेद्धुं विशेषेण समन्तात् चालयन्त्याः, (अस्याः = शकुन्तलाया इत्यर्थः), रतिसर्वस्वम् = सुरतसर्वधनम्, अधरम् = अधरोष्ठम्, पिबसि = चुम्बसि; वयम् = अहम्, ('अस्मदो द्वयोश्च' इति बहुवचनम्), तत्त्वान्वेषात्—तत्त्वस्य = तथ्यस्य, मदुद्ग्राह्ययोग्या न वा इति वस्तुनः, अन्वेषात् = अनुसन्धानात्, हताः = वञ्चिताः, त्वम् = अस्याः अधराम्[ृत]पानादिकर्तभिवानित्यर्थः, खल्विति निश्चये, कृती = कृतार्थः। नवमालिकां परित्यज्य [प्रथमं] नीलोत्पलभ्रमात् शकुन्तलायाः नेत्रं प्रति धावितः भ्रमरः। समीपं गते सति पुनः कर्ण-शिरीषाभ्यामाकृष्टस्तत्र एव चलितः। ततश्चापि पक्वविम्ववुध्या अधरमागतः। [अत्र सा]नुरागो राजा भ्रमरे कामिचरितमारोप्य सस्पर्द्धमाहेति तात्पर्यम्। अत्र व्यतिरेकसमा-लिङ्गालङ्कारो। शिखरिणी छन्दः ॥ २४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में भ्रमर को कामी तथा शकुन्तला को कामिनी रूप [में] चित्रित किया गया है।

चलापाङ्गाम्—प्रेयसी के मटकते (चञ्चल) नेत्रों को चूमने में जो मजा है, [उसे] तो कोई भुक्तभोगी ही समझ सकता है। रतिकाल में इसका अपना एक वि[शिष्ट] स्थान है।

शकुन्तला—यह ढीठ (भौंरा) नहीं रुक रहा है। (मैं) दूसरी ओर जाती हूँ। (कुछ पग चल कर रुककर, दृष्टिपात करती हुई) क्या (वह) इधर भी आ रहा है? सखी, इस अविनीत दुष्ट भौंरे से परेशान की जाती हुई मुझको बचाओ।

दोनों—(मुस्करा कर) हम दोनों बचाने के लिये कौन हैं? दुष्यन्त को पुकारो। (क्योंकि) तपोवन राजा के द्वारा रक्षणीय होते हैं।

स्पृशसि—यहाँ 'स्पृशसि' का अर्थ है 'चूम रहे हो'।

रहस्याख्यायी—प्रेमी अपनी प्रेमिका से रहस्य की बातें करता है। धीरे बोलता है। कान के पास मुँह करके बोलता है।

रतिसर्वस्वम्—रमण का प्राण है प्रिया के अधर का पान। यदि कोई रमण का सच्चा सच्चा आनन्द चाहता है तो उसे प्रियतमा के अधर का चुम्बन तथा पान अवश्य करते रहना चाहिये। इसके बिना रमण पानी पीटने से अधिक महत्त्व नहीं रखता है।

वयं तत्त्वान्वेषात्—राजा का भाव यह है कि अभी तक तो हम यहीं सोच-विचार कर रहे थे कि यह ब्राह्मण कन्या है अथवा क्षत्रियवाला। हमारा और इसका काम-मिलन धर्मानुकूल है अथवा धर्मविरुद्ध। किन्तु भ्रमर, तुमने तो यह सब विचार न करके सामने आते ही इस सुन्दरी पर आक्रमण कर दिया। इसके यौवन का सारा रस ले लिया। तुम सफल रहे और मैं असफल।

यहाँ 'वयं हताः त्वं कृती' में उपमान राजा से उपमेय भ्रमर की विशेषता होने से व्यतिरेक अलङ्कार है। 'त्वं कृती' के लिये पहले तीन चरण कारण हैं, अतः इसमें काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—शिखरिणी। छन्द का लक्षण—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' ॥ २४ ॥

व्युत्पत्तिः—दृष्टिम्—√दृश + क्तिन् + विभक्तिकार्यम्। रहस्याख्यायी—रहस्य + आ + √ चक्ष् + णिनि + प्रथमैकवचने विभक्तिकार्यम्। कृती—कृतम् अस्यास्तीति, √ कृत् + इन् + विभक्त्यादिकार्यम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—धृष्टः = ढीठ! दुर्विनीतेन = दुष्ट, अविनीत, मधुकरेण = भौंरे से, परिभूयमानाम् = तंग की जाती हुई, परेशान की जाती हुई। सस्मितम् = मुस्कराकर। आक्रन्द = पुकारो। राजरक्षितव्यानि = राजा के द्वारा रक्षणीय।

टीका—शकुन्तलेति। धृष्टः = दुर्विनीत। दुर्विनीतेन = दुष्टेन, मधुकरेण = भ्रमरेण, परिभूयमानाम् = तिरस्कृताम्, बाध्यमानामित्यर्थः। सस्मितम्—स्मितेन = ईषद्धास्येन सहितं यथा तथा। आक्रन्द = आघोषय। राजरक्षितव्यानि—राज्ञा = नृपतिना रक्षितव्यानि = त्रातव्यानि। नामेति परिहासोक्तिरियम्।

टिप्पणी—राजरक्षितव्यानि—तपोवन की रक्षा करना राजा का पावन कर्तव्य है। अतः दुष्यन्त को पुकारो। नाटककार ने यह वाक्य दुष्यन्त को प्रकट होने के लिये क्रु॰-

राजा—अवसरोऽयमात्मानं प्रकाशयितुम् । न भेतव्यं न भेतव्यम्—(इत्यर्धोक्ते स्वगतम्) राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत् । भवतु । एवं तावदभिधास्ये ।

शकुन्तला—(पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) कथमितोऽपि मामनुसरति । [कहं इदो वि मं अणुसरदि ।]

राजा—(सत्वरमुपसृत्य)

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम् ।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु ॥२५॥

(सर्वा राजानं दृष्ट्वा किंचिदिव संभ्रान्ताः)

वाया है। भ्रमर के द्वारा शकुन्तला पर आक्रमण, शकुन्तला का भयभीत होना, राजा का रक्षार्थ सहसा प्रवेश करना। ये सारी बातें स्वाभाविक-सी प्रतीति होती हैं।

व्युत्पत्तिः—धृष्टः—√ धृष् + क्त + विभक्तिकार्यम् । परिभूयमानाम्—परि √भू + यक् + शानच् + विभक्त्यादिकार्यम् । परित्रातुम्—परि + √ त्रा + तुमुन् ।

शब्दार्थ :—आत्मानम् = अपने आपको, प्रकाशयितुम् = प्रकट करने के लिये, स्वगतम् = अपने आप, राजभावः = राजापन, राजत्व, अभिज्ञातः = प्रकट, मालूम, इतः = यहाँ ।

टीका—राजेति । आत्मानम् = स्वम्, प्रकाशयितुम् = दर्शयितुम् । स्वगतम् = आत्मगतम्, राजभावः = मम राजस्वरूपम्, अभिज्ञातः = विदितः । इतः = इह, दिशि, सप्तम्यर्थे तसिः ॥

टिप्पणी—न भेतव्यम्—'डरो मत यह मैं आ ही गया' यह राजा कहना चाहता है। किन्तु 'डरो मत' पर ही रुक जाता है। यहीं है उसका अर्धकथन।

स्वगतम्—नाटक रूपक में दो प्रकार के कथन पाये जाते हैं—(१) सबको सुनने के योग्य तथा (२) कुछ ही लोगों को सुनाने के योग्य। सबको सुनाने के योग्य को श्रोता, दर्शक तथा रङ्गमञ्च पर उपस्थित सभी पात्रों को सुनने के योग्य होता है किन्तु 'स्वगत' को सुनने के अधिकारी दर्शक तथा कुछ ही अन्य व्यक्ति होते हैं। जिस विषय में यह कथन किया जाता है वह तथा उसके व्यक्ति इसे सुनने के अधिकारी नहीं होते हैं। साहित्यदर्पण में इसका लक्षण इस प्रकार है :—'अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम् ।' (६-१३७) ॥

व्युत्पत्तिः—प्रकाशयितुम्—प्र + √काश् + णिच् + तुमुन् । भेतव्यम्—√भी + तव्यत् + विभक्तिकार्यम् । अभिज्ञातः—अभि + √ज्ञा + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥

राजा—अपने आपको प्रकट करने के लिए यह (उचित) अवसर है। डरने की आवश्यकता नहीं डरने की आवश्यकता नहीं। (ऐसा आधा ही कहने पर, अपने आप) किन्तु (इस प्रकार मेरा) राजत्व प्रकट हो जायगा। अच्छा, तो इस प्रकार कहूँगा।

शकुन्तला—(कुछ पग चलने के अनन्तर रुक कर, दृष्टिपात करती हुई) क्या इधर भी (यह) मेरा पीछा करता हुआ आ रहा है?

राजा—(शीघ्रता से पास में जा कर)

दुष्टों के दण्ड-दायक पुरुवंशी राजा के भू-मण्डल का शासन करने पर कौन यह भोली-भाली तापस-कन्याओं के साथ धृष्टता का आचरण कर रहा है ॥२५॥

(सभी राजा को देख कर थोड़ा-सा घबड़ा गईं)

अन्वयः—दुसिनीतानाम्, शासितरि, पौरवे, वसुमतीम्, शासति (सति), कः, अयम्, मुग्धासु, तपस्विकन्यासु, अविनयम्, आचरति ॥२५॥

शब्दार्थः—दुर्रविनीतानाम् = दुष्टों के, शासितरि = शासक, दण्डदायक, पौरवे = पुरुवंशी राजा के, वसुमतीम् = भू-मण्डल का, शासति (सति) = शासन करने पर, कः = कौन, अयम् = यह, मुग्धासु = भोली-भाली, तपस्विकन्यासु = तापस-कन्याओं के साथ, अविनयम् = धृष्टता का, आचरति = आचरण कर रहा है ॥२५॥

टीका—क इति। दुर्विनीतानाम् = दुष्टानाम्, शासितरि = शासके, दण्डयितरीत्यर्थः, पौरवे = पुरुवंश्ये राजनि, वसुमतीम् = पृथिवीम्, शासति (सति) = पालयति सति, कोऽयम् = क एषः, मुग्धासु = बालासु सरलासु वा, तपस्विकन्यासु = तापसानां बालिकासु, अविनयम् = अत्याचारम्, आचरति = करोति। अत्राप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः। आर्याजातिः ॥२५॥

टिप्पणी—पौरवे—यहाँ दुष्यन्त ने यह नहीं कहा कि—'मुझ पुरुवंशी राजा दुष्यन्त के' शासन करने पर। क्योंकि ऐसा कहने पर तो यह विदित ही हो जाता कि यही राजा दुष्यन्त हैं।

शासितरि—इस कथन से यह विदित होता है कि उस समय दुष्टों को कठोर दण्ड दिया जाता था।

मुग्धासु—किशोरावस्था को पार कर युवावस्था में प्रवेश करती हुई सुन्दरी मुग्धा कही जाती है ॥२५॥

यहाँ प्रस्तुत दुष्यन्त और शकुन्तला का अप्रस्तुत पौरव और तपस्विकन्या के रूप में वर्णन होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या। लक्षण :—यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥२५॥

व्युत्पत्ति :—उपसृत्य—उप+√सृ+ल्यप्। पौरवे—पुरु+अण्+आदिवृद्धौ विभक्तिकार्ये रूपम्। मुग्धासु—√मुह्+क्त+विभक्तिकार्यम् ॥२५॥

अनसूया—आर्य, न खलु किमप्यत्याहितम्। इ नौ प्रियसखी मधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता [अज्ज, ण क्खु किं वि अच्चाहिदं। इयं णो पिअसही महुअरे अहिहूअमाणा कादरीभूदा।] (इति शकुन्तलां दर्शयति

राजा—(शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा) अपि तपो वर्धते
(शकुन्तला साध्वसादवचना तिष्ठति।)

अनसूया—इदानीमतिथिविशेषलाभेन। हला शकुन्त गच्छोटजम्। फलमिश्रमर्घमुपहर। इदं पादोदकं भविष्यति [दाणिं अदिहिविसेसलाहेन। हला सउन्दले, गंच्छ उड फलमिस्सं अग्घं उवहर। इद पादोदअं भविस्सदि।]

राजा—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्।

प्रियंवदा—तेन ह्यस्यां प्रच्छायशीतलायां सप्तप वेदिकायां मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः। [हि इमस्सिं पच्छाअसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए मुहु उववििसिअ परिस्समविणोदं करेदु अज्जो।]

शब्दार्थः—किञ्चिदिव = थोड़ा सा, संभ्रान्ताः = घबड़ा गईं। अत्याहित सङ्कट, नौ = हम दोनों की, अभिभूयमाना = आक्रमण की जाती हुई; परेशा जाती हुई, कातरीभूता = भयभीत हो गई थी। साध्वसात् = घबराहट के अवचना = मौन। अतिथिविशेषलाभेन = विशिष्ट अतिथि की प्राप्ति से। उटजम् = में। पादोदकम् = पैर धोने के लिये जल॥

टीका—सर्वाराजानमिति। किञ्चिदिव = ईषदिव। संभ्रान्ता = त्रस्ता इव अत्याहितम् = महद्भयम् ('अत्याहित महद्भयम्' इत्यमरः), नौ = आवयोः, अभिभू = बाध्यमाना, कातरीभूता = व्याकुलीकृता। साध्वसात् = संभ्रमात्, अवि वचनम् = भाषणम् अस्या इति अवचना—अविद्यामनम् = अनिर्गतम् वचनं यस्य अवचना = निरुत्तरा। अतिथिविशेषलाभे—अतिथीनाम् = अभ्यागतानाम् विशेषः = तस्य लाभेन = प्राप्त्या। चाटुवाद एष राजनि। उटजम् = कुटीरम्। पादोदकम् = प्रक्षलनार्थ जलमित्यर्थः, पाद्यंवारीति यावत्॥

आर्यः—इस देश में अपने से श्रेष्ठ पुरुष को 'आर्य' तथा श्रेष्ठ महिला को कहने की प्राचीन सभ्य परिपाटी थी।

अनसूया—आर्य, कोई सङ्कट नहीं है। यह हमारी प्रियसखी (शकुन्तला) भ्रमर के द्वारा परेशान की जाती हुई भयभीत हो गई थी। (ऐसा कह कर शकुन्तला की ओर इशारा करती है।)

राजा—(शकुन्तला की ओर मुख करके) क्या (आपका) तप बढ़ रहा है (अर्थात् आपका तप निर्विघ्न तो चल रहा है न?)

(शकुन्तला घबराहट के कारण मौन खड़ी रहती है)

अनसूया—सम्प्रति विशिष्ट अतिथि (आप) की प्राप्ति से (तप बढ़ रहा है।) सखी शकुन्तला, कुटी में जा और फलयुक्त अर्घ ला। (घड़े का) यह जल पैर धोने के लिये होगा।

राजा—आप लोगों की सत्य एवं प्रिय वाणी से ही (हमारा) अतिथि-सत्कार कर दिया गया है।

प्रियंवदा—तो सघन छाया के कारण शीतल, सप्तपर्ण वृक्ष के (नीचे बने) इस चबूतरे पर क्षण भर बैठकर आप (अपनी) थकान को दूर कर लें।

टिप्पणी— **अवचना तिष्ठति**। शकुन्तला अपरिचित पुरुष को देखकर कुछ घबड़ा-सी गई। अतः उसके मुख से कोई उत्तर न निकल सका। उसके स्थान पर आगे अनसूया अत्यन्त शिष्ट ढङ्ग से उत्तर दे रही है।

अर्घम्—सत्कार की सामग्री। कण्व ने अतिथि-सत्कार का भार शकुन्तला को सौंपा था। अतः अनसूया उसे ही अर्घ लाने का कार्य सौंप रही है। अर्घ में आठ वस्तुएँ मिली होती हैं—

'आपः क्षीरं कुशाग्रं च दधि सर्पिः सतण्डुलम्।
यवः सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गोऽर्घः प्रकीर्तितः॥

व्युत्पत्तिः—**किञ्चित्**—किम्+चित्। **सम्भ्रान्ताः**—सम्+√भ्रम्+क्त+टाप्+विभक्तिकार्यम्। **अभिभूयमाना**—अभि+√भू+शानच् (कर्मणि)+टाप्+विभक्तिकार्यम्। **साध्वसात्**—साधु+√अस्+अच्+पञ्चम्येकवचने विभक्तिकार्यम्॥

शब्दार्थः—सूनृतया=सत्य एवं प्रिय, गिरा=वचन से, वाणी से, आतिथ्यम्=अतिथि-सत्कार। प्रच्छायशीतलायाम्=सघन छाया के कारण शीतल, सप्तपर्ण-वेदिकायाम्=सप्तपर्ण वृक्ष के (नीचे बने) चबूतरे पर, परिश्रमविनोदम्=थकान को मिटा लें, थकान को दूर कर लें। परिश्रान्ताः=थकी हुई॥

टीका—**राजेति**। सूनृतया=सत्यया प्रियया च, ('सूनृतं तु प्रिये सत्ये' इत्यमरः), गिरा = वाण्या, अतिथ्यम् = अतिथिसत्कारः। अतः पुनरलमायासेन। प्रच्छायशीतलायाम्—प्रकृष्टा च्छाया प्रच्छायम्, 'विभाषा सेनासुरे'ति ह्रस्वः, प्रच्छायेन = सघनया छायया शीतला=स्निग्धा तस्याम्, सप्तपर्णवेदिकायाम्—सप्तपर्णस्य=सप्तच्छदस्य वेदिकायाम्=चत्वरे, परिश्रमविनोदम्—परिश्रमस्य=श्रान्तेः विनोदम्=अपनयनम्। परिश्रान्ताः=खिन्नाः॥

टिप्पणी—**सप्तपर्ण०**—सप्तपर्ण वृक्ष की प्रत्येक लघु टहनी में सात-सात पत्ते होते

राजा—नूनं यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः।

अनसूया—हला शकुन्तले, उचितं नः पर्युपासनमति-थीनाम्। अत्रोपविशामः। [हला सउन्दले, उइदं णो पज्जुवासण अदिहीणं। एत्थ उवविसह्म।] (इति सर्वा उपविशन्ति)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपो-वनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता। [किं णु क्खु इमं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअह्मि संवुत्ता।]

राजा—(सर्वा विलोक्य) अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अनसूये, को नु खल्वेष चतुर-गम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन् प्रभाववानिव लक्ष्यते। [अणसूये, को णु क्खु एसो चउरगम्भीराकिदी महुरं पिअं आलवन्तो पहाववन्तो विअ लक्खीअदि।]

अनसूया—सखि, ममाप्यस्ति कौतूहलम्। पृच्छामि तावदेनम्। (प्रकाशम्) आर्यस्य मधुरालापजनितो विस्र-म्भो मां मन्त्रयते—कतम आर्येण राजर्षिवंशोऽलंक्रियते।

हैं। यही कारण है कि इसे सप्तपर्ण कहा जाता है। इसकी छाया घनी एवं शीतल होती है। इसकी सुखद छाया के नीचे बैठकर आनन्द लेने के लिये लोग चबूतरा बनाते हैं।

व्युत्पत्तिः—सूनृतया—सू + √नृत् + क + टाप् + विभक्ति—कार्यम्। कृतम्—√कृ + क्त + विभक्तिकार्यम्। आतिथ्यम्—अतिथि + ष्यञ् + विभक्तिकार्ये रूपम्। परिश्रान्ताः—परि + √श्रम् + क्त + टाप् + विभक्तिकार्यम्॥

शब्दार्थ :—पर्युपासनम् = पास बैठना। प्रेक्ष्य = देखकर, वनविरोधिनः = तपोवन-विरोधी, विकारस्य = विकार का, गमनीया = विषयभूत, पात्र, संवृत्ता = हो गई हूँ। समवयोरूपरमणीयम् = समान आयु और रूप के कारण मनोहर, सौहार्दम् = मैत्री। मधुरगम्भीराकृतिः = मधुर और गम्भीर आकृति वाला, प्रभाववान् = प्रभावशाली।

टीका—अनसूयेति। पर्युपासनम् = परिवृत्य स्थितिः, सम्मानमित्यर्थः। प्रेक्ष्य = अवलोक्य, वनविरोधिनः—वनस्य = तपोवनस्य, आश्रमस्येति यावत्, विरोधिनः = विरुद्धस्य संयमप्रतिकूलस्येत्यर्थः, विकारस्य = चित्तविकृतेः, सात्त्विकभावस्येत्यर्थः, गमनीया = विष-

राजा—निश्चय ही आप लोग भी इस कार्य से थकी हुई होंगी।

अनसूया—सखी शकुन्तला, अतिथि के पास बैठना हमारे लिये उचित (ही) है। यहाँ हम लोग बैठें। (इस प्रकार सभी बैठ जाती हैं।)

शकुन्तला—(अपने आप) क्या कारण है कि इस (व्यक्ति) को देखकर तपोवन के विरोधी विकार का पात्र हो गई हूँ?

राजा—(सब को देखकर) वाह, आप लोगों की मैत्री समान आयु और रूप के कारण मनोहर है।

प्रियंवदा—(एक ओर हाथ से ओट करके) अनसूया, मनोहर और गम्भीर आकृति-वाला यह कौन व्यक्ति है, जो कुशल और प्रिय वचन बोलता हुआ प्रभावशाली-सा प्रतीत हो रहा है।

अनसूया—सखी, मुझे भी जानने की इच्छा है। अच्छा (तावत्), इनसे पूछती हूँ। (प्रकट रूप से) आदरणीय आपके मधुर भाषण से उत्पन्न विश्वास मुझे (आपसे पूछने के लिये) प्रेरित कर रहा है कि—आपके द्वारा कौस-सा राजर्षि-वंश

भूता, संवृत्ता = सञ्जाता, अस्मि = वर्ते। समयोरूपरमणीयम्—वयः = आयुः रूपम् = आकारश्चेति वयोरूपम्, समं वयोरूपं तेन रमणीयम् = मनोहारि, सौहार्दम् = सख्यम्, मधुरगम्भीराकृतिः—मधुरा = मनोहरा गम्भीरा = दुरवगाहा आकृतिः = आकारः यस्यासौ तथाभूतः, प्रभाववान् = प्रभावसम्पन्नः।

टिप्पणी—**वनविरोधिनो विकारस्य**—तपोवन नियम एवं संयमपूर्वक तपस्या का स्थान है। मानसिक विकारों का दमन तपोभूमि में ही संभव है। किन्तु दुष्यन्त को देखकर शकुन्तला का मन काम के वशीभूत हो रहा है। यही है वनविरोधी विकार का उदय होना।

जनान्तिकम्—हाथ से आड़ करके दो पात्रों का वार्तालाप करना। जब कोई पात्र किसी दूसरे पात्र से इस प्रकार बात करता है कि उसे दूसरे पात्र अथवा वह पात्र जिसके विषय में बात की जा रही है, न सुन सके तो उसे 'जनान्तिक' कहते हैं। इस प्रकार से बात करने के समय वक्ता अपने मुख के पास हाथ से आड़ कर लेता है। उस समय हाथ की सारी अँगुलियाँ सीधी ऊपर की ओर खड़ी रहती हैं तथा अनामिका अँगुली टेढ़ी कर ली जाती है। हाथ की इसी स्थिति को 'त्रिपताका' कहते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार है—

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात् तज्जनान्ते जनान्तिकम्॥
(सा० द० ६–१३९)॥

व्युत्पत्ति:—**पर्युपासनम्**—परि + उप + √आस् + ल्युट् + विभक्तिकार्यम्। **प्रेक्ष्य**—प्र + इक्ष् + ल्यप्। **संवृत्ता**—सम् + √वृ + क्त + टाप् + विभक्तिकार्यम्। **विलोक्य**—वि + √लोक् + ल्यप्। **सौहार्दम्**—सुहृत् + अण् + विभक्त्यादिकार्यम्।

शब्दार्थः—कौतूहलम् = जानने की इच्छा। मधुरालापजनितः = मधुर भाषण से

कतमो वा विरहपर्युत्सकजनः कृतो देशः। किंनिमित्तं
सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः
[सहि, मम वि अस्थि कोदूहलं । पुच्छिस्सं दाव
अज्जस्स महुरालावजणिदो वीसम्भो मं मन्तावेदि—कद
अज्जेण राएसिवंसो अलंकरीअदि । कदमो वा विरहप
स्सुअजणो किदो देसो। किंणिमित्तं वा सुउमारदरो
तवोवणगमणपरिस्समस्स अत्ता पदं उवणीदो।]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हृदय मोत्ताम्य। एषा
चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते। [हिअअ, मा उत्तम्म। एसा
चिन्तिदाइं अणसआ मन्तेदि।]

राजा—(आत्मगतम्) कथमिदानीमात्मानं निवेदया
कथं वात्मापहारं करोमि। भवतु। एवं तावदेनां व
(प्रकाशम्) भवति, यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियु
सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः।

उत्पन्न, विश्रम्भः = विश्वास, मन्त्रयते = प्रेरित कर रहा है। विरहपर्युत्सुकजनः =
से व्याकुल बनाया है जहाँ के लोगों को ऐसा। किंनिमित्तम् = किस कारण से, त
गमनपरिश्रमस्य = तपोवन में आने के परिश्रम का, पदम् = आश्रय, स्थान = भाजन

टीका—अनसूयेति। कौतूहलम् = निर्णयकौतुकम्। मधुरालापजनितः—मधु
श्रवणप्रियः य आलापः = वार्ता तेन जनितः = उत्पादितः, विश्रम्भः = विश्
मन्त्रयते = वक्तुं प्रेरयति, विरहपर्युत्सुकजनः—विरहेण = वियोगेन पर्युत्सु
उत्कण्ठिताः जनाः—मानवाः यस्मिन् तादृशः। किंनिमित्तम् = कस्मात् कारणात्, त
गमनपरिश्रमस्य—तपोवने = तपसोऽरण्ये गमनम् = यात्रा तेन यः परिश्रमस्तस्य, प
स्थानम्, आश्रय इति यावत्।

टिप्पणी—राजर्षेः—अपनी वृद्धावस्था में राजा तपस्या के लिये जङ्गल
जाया करते थे। यदि वे अधिक तेजस्वी तथा यशस्वी होते थे तो उनका वंश उ
नाम से कहा जाता था। जैसे रघु से रघुवंश, पुरु से पुरुवंश एवं यदु से यदुवंश
अनसूया के इस कथन से विदित होता है कि उसने राजा को कुछ-कुछ पहचान लिया

आत्मा पदमुपनीतः—इस वाक्य में अनसूया ने राजा से तीन प्रश्न किये
प्रश्न जिस प्रकार उपस्थित किये गये हैं, उससे प्रश्नकर्ता की वाक्पटुता विदित हो

व्युत्पत्तिः—कौतूहलम्—कुतुहल + अण् + विभक्तिकार्ये रूपम्। विश्र

सुशोभित किया जा रहा है ? (अर्थात् आप किस राज-वंश के दीपक हैं ?) (वह) कौन-सा देश है, जहाँ के निवासी आपके द्वारा विरह से व्याकुल बनाये गये हैं ? (अर्थात् आप कहाँ से आये हैं ?)। किस कारण से (आपने) अपने आपको तपोवन में आने के परिश्रम का भाजन बनाया है ? (अर्थात् आप तपोवन में किस कारण से आये हैं ?)।

शकुन्तला—(अपने आप) हृदय, अधीर मत होओ। तुम्हारे द्वारा जिज्ञासित विचारों को यह अनसूया पूछ रही है।

राजा—(अपने आप) किस प्रकार मैं अपने आपको प्रकट करूँ, अथवा किस प्रकार अपने आपको छिपा लूँ ? (अर्थात् क्या मैं अपना सही परिचय दे दूँ, अथवा छिपा लूँ ?)। अच्छा, इस प्रकार इससे कहता हूँ। (प्रकट रूप में) श्रीमतीजी, पुरुवंशी राजा (दुष्यन्त) के द्वारा मैं धर्माधिकारी नियुक्त किया गया हूँ तथा इस तपोवन में यह जानने के लिये आया हूँ कि यहाँ (धार्मिक) क्रिया-कलाप निर्विघ्न तो चल रहा है न।

वि + √श्रम्भ् + घञ् + विभक्तिः। **उपनीत**ः—उप + √नी + क्त + विभक्तिकार्यम्।

शब्दार्थः—मा = मत, उत्ताम्य = अधीर होओ। चिन्तितानि = जिज्ञासित विचारों को। आत्मापहारम् = अपने आपको छिपाना, अपना परिचय न देना। अविघ्नक्रियोपलम्भाय = धार्मिक क्रियाओं की निर्विघ्नता की जानकारी के लिये।

टीका—शकुन्तलेति। मा इति निषेधेऽव्ययपदम्, उत्ताम्य = उत्कण्ठितं भव। चिन्तितानि = ज्ञातुं विचारितानि। आत्मापहारम्—आत्मनः = स्वस्य अपहारम् = परिहारम्, गोपनमिति यावत्। अविघ्नक्रियोपलम्भाय—अविघ्नाः = अप्रतिबन्धाः याः क्रियाः = धार्मिककृत्यानि तपोऽनुष्ठानानीति यावत्, तासाम् उपलम्भाय = सम्यक् ज्ञानाय।

टिप्पणी—**मोत्ताम्य**—शकुन्तला का यौवन से मतवाला हृदय दुष्यन्त पर निछावर हो चुका है। जिस क्षण दोनों की आँखें दो-दो चार हुईं उसी क्षण उन लोगों को यह ज्ञात हो गया था कि वे एक-दूसरे के लिये विह्वल हो उठे हैं। पर दोनों का हृदय एक-दूसरे की यथार्थ स्थिति जानने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है।

यः पौरवेण राज्ञा—राजा के इस कथन के दो अर्थ हो सकते हैं—प्रथम अर्थ के अनुसार वह अपने को छिपाता है, जैसा कि ऊपर लिखा गया है। दूसरे अर्थ के अनुसार वह अपना यथार्थ परिचय जरा गूढ़ शब्दों में देता है। इसके अनुसार अर्थ इस प्रकार होगा—पुरुवंशी राजा (मेरे पिता) ने मुझे धर्माधिकार में (अर्थात् धर्मनिर्णय के स्थान, सिंहासन पर) नियुक्त किया है। मैं वर्तमान राजा दुष्यन्त हूँ। यहाँ आश्रम की स्थिति देखने आया हूँ।

व्युत्पत्तिः—**अपहारम्**—अप + हृ + घञ् + विभक्तिः। **नियुक्तः**—नि + √युज् + क्त + विभक्तिकार्यम्। **आयातः**—आ + √या + क्त + विभक्तिकार्यम्॥

अनसूया—सनाथा इदानीं धर्मचारिणः । [सणाहा दा धम्मआरिणो ।] (शकुन्तला शृङ्गारलज्जां रूपयति ।)

सख्यौ—(उभयोराकारं विदित्वा, जनान्तिकम्) हे शकुन्तले, यद्यत्राद्य तातः संनिहितो भवेत् । [हला सउ जइ एत्थ अज्ज तादो संणिहिदो भवे ।]

शकुन्तला—ततः किं भवेत् [तदो किं भवे ।]

सख्यौ—इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं क ष्यति । [इमं जीविदसव्वस्सेण वि अदिहिविसेसं कि करिस्सदि ।]

शकुन्तला—युवामपेतम् । किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रये न युवयोर्वचनं श्रोष्यामि । [तुम्हे अवेध । किं वि हि करिअ मन्तेध । ण वो वअणं सुणिस्सं ।]

राजा—वयमपि तावद् भवत्योः सखीगतं कि पृच्छामः ।

सख्यौ—आर्य, अनुग्रह इवेयमभ्यर्थना [अज्ज, अणु विअ इअं अब्भत्थणा ।]

राजा—भगवान् कश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित प्रकाशः । इयं च वः सखी तदात्मजेति कथमेतत् ।

अनसूया—शृणोत्वार्यः । अस्ति कोऽपि कौशिक गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः । [सुणादु अज्जो । को वि कोसिओ त्ति गोत्तणामहेओ महाप्पहाओ राएसी ।

शब्दार्थ:—सनाथाः = सनाथ हो गये, धर्मचारिणः = धर्म का आचरण करने सन्निहितः = उपस्थित । जीवितसर्वस्वेन = जीवन के सर्वस्व से, प्राणप्रिय व अपेतम् = हटो । युवयोः = तुम दोनों के ॥

टीका—अनुसूयेति । सनाथाः = नाथवन्तः, धर्मचारिणः = तपस्विन इ सन्निहितः = उपस्थितः । जीवितसर्वस्वेन—जीवनस्य = जीवनस्य सर्वस्वेन = प्राणाधिकया शकुन्तलया इत्यर्थः । अपेतम् = दूरे गच्छतम् । युवयोः = द्वयोः ॥

टिप्पणी—आकारं विदित्वा—शकुन्तला और दुष्यन्त एक-दूसरे पर आस गये थे । उनकी मुखाकृति को देखने से ही ज्ञात हो जाता था कि ये दोनों एक-दू मुग्ध हैं ।

अनसूया—सम्प्रति धर्म का आचरण करनेवाले (तपस्वी जन) सनाथ हो गये।

(शकुन्तला शृङ्गार की लज्जा का अभिनय करती है।)

दोनों सखियाँ—(दोनों के आकार को जानकर, हाथ से आड़ करके) सखी शकुन्तला, यदि यहाँ आज पिताजी उपस्थित होते·······।

शकुन्तला—(कोप-सा करके) तो क्या होता ?

दोनों सखियाँ—इस विशिष्ट अतिथि को अपने जीवन के सर्वस्व से (अर्थात् प्राणप्रिय वस्तु से) भी कृतार्थ करते।

शकुन्तला—तुम दोनों हटो। तुम लोग कुछ मन में रख कर (ऐसा) कह रही हो। तुम दोनों की बात नहीं सुनूँगी।

राजा—हम भी अब आप लोगों की सखी के विषय में कुछ पूछना चाहते हैं।

दोनों सखियाँ—महोदय (आपकी) यह प्रार्थना (हम लोगों पर) अनुग्रह के समान है।

राजा—कश्यप कुल में उत्पन्न पूज्य (कण्व) सार्वकालिक ब्रह्मचर्य में स्थित हैं (अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं)—यह प्रसिद्ध है, और यह आपकी सखी उनकी पुत्री हैं, यह कैसे ?

अनसूया—सुनें महानुभाव! 'कौशिक' इस गोत्रनाम के प्रभावशाली राजर्षि हैं।

जीवितसर्वस्वेन—कण्व शकुन्तला को प्राणों से भी बढ़ कर मानते थे। सखियों के कहने का भाव यह है कि यदि आज पिता जी होते तो वे इस अतिथि को पत्नी बनाने के लिये तुम्हें प्रदान करके इनका स्वागत करते।

व्युत्पत्ति :— आकारम्—आङ् + √कृ + घञ् + विभक्तिः।

संनिहित :—सम् + नि + √धा + क्त + विभक्तिकार्यम्॥

शब्दार्थ :—सखीगतम् = सखी के विषय में, सखी विषयक। अभ्यर्थना = प्रार्थना। शाश्वते = सार्वकालिक, नित्य, ब्रह्मणि = ब्रह्मचर्य में, प्रकाशः = प्रसिद्ध है। तदात्मजा = उनकी पुत्री। कौशिकः = विश्वामित्र, गोत्रनामधेयः = गोत्रपरक नामवाले॥

टीका—राजेति। सखीगतम्—सखीं गतः सखीगतः = शकुन्तलाश्रयः कोऽपि विषयस्तम्। अभ्यर्थना = अनुरोधः। भवादृशां प्रश्नोऽस्मास्वनुग्रह एवेति विश्रब्धं पृच्छतामिति भावः। शाश्वते = चिरन्तने = सार्वकालिके इति यावत्, ब्रह्मणि = वेदानुष्ठाने, ब्रह्मचर्यव्रते इति भावः, प्रकाशः = प्रसिद्धः। तदात्मजा—तस्य = नैष्ठिकब्रह्मचारिण कण्वस्येत्यर्थः आत्मजा = पुत्री। भगवान् कण्वः नैष्ठिकब्रह्मचारी वर्तते। नास्य दारपरिग्रहसम्भवः। तर्हि कथमियं तस्य पुत्रीति प्रश्नाशयः। कौशिकः—कुशिकस्य = तन्नाम्नो राजर्षेर्गोत्रापत्यं पुमान् कौशिकः = विश्वामित्रः, गोत्रनामधेयः—गोत्रनामधेयम् = गोत्रानुसारि नाम यस्य तादृशः॥

टिप्पणी—**शाश्वते ब्रह्मणि**—महातपा कण्व कश्यप गोत्र में उत्पन्न हुए थे। अतः

राजा—अस्ति, श्रूयते।

अनसूया—तमावयोः प्रियसख्याः प्रभवमवगच्छ। उज्झितायाः शरीरसंवर्धनादिभिस्तातकाश्यपोऽस्याः पिता। [तं पिअसहीए पहवं अवगच्छ। उज्झिआए सरीरसंवड्ढणादि तादकस्सवो से पिदा।]

राजा—उज्झितशब्देन जनितं मे कौतूहलम्। आमूलाच्छ्रोतुमिच्छामि।

अनसूया—शृणोत्वार्यः। गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशङ्कैर्देवैर्मेनका नामाप्सराः प्रेषिता नियमविघ्नकारिणी। [सुणादु अज्जो गोदमीतीरे पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्स किंवि जादशंकेहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा पेसिदा णिअमविग्घकारिणी।]

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्।

अनसूया—ततो वसन्तावतारसमये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य''' [तदो वसन्तोदारसमए से उम्मादइत्तअं रूवं पेक्खिअ''' (इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति)

उन्हें काश्यप भी कहा जाता है। यह उनका गोत्रपरक नाम है। विशिष्ट नाम कण्व है। उन्होंने विवाह नहीं किया था। सर्वदा ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। फिर शकु कैसे उनकी पुत्री हो सकती है। यही है राजा का शकुन्तला के विषय में प्रश्न।

कौशिक :—महाभारत आदिपर्व के अनुसार विश्वामित्र कुशिक के पौत्र कुशिक > गाधि > विश्वामित्र। कुशिक के गोत्र में जन्म लेने के कारण विश्वामित्र 'कौशिक' भी कहा जाता है। ये महान् तपस्वी थे। उग्र तपस्या करके ये राजर्षि ब्रह्मर्षि बन गये थे।

व्युत्पत्ति—भगवान्—भग + मतुप् + विभक्त्यादिकार्यम्। काश्यपः—क अण् + विभक्तिरादिवृद्धिश्च। शाश्वते—शश्वत् + अण् + विभक्त्यादिकार्यम्। प्र प्र + √काश + घञ् + विभक्तिः॥

शब्दार्थः—प्रभवम् = जन्मदाता, उत्पादक। उज्झितायाः = परित्यक्त की गई, शरीसंवर्धनादिभिः = शरीर के बढ़ाने आदि से, पालन-पोषण आदि जनितम् = उत्पन्न हो गया है, कौतूहलम् = जानने की उत्कण्ठा। आमूलात् = से। जातशङ्कैः = सशङ्कित, नियमविघ्नकारिणी = तपस्या में विघ्न डालने वाली

राजा—हाँ, ऐसा सुना जाता है।

उनको हमारी प्रियसखी का जन्मदाता (पिता) समझें। (माता-पिता के द्वारा) परित्यक्त इसके पालन-पोषण आदि के कारण पिता काश्यप इसके पिता हैं।

राजा—परित्यक्त शब्द से मुझे कौतूहल उत्पन्न हो गया है। मैं आरम्भ से (इस बात को) सुनना चाहता हूँ।

अनसूया— सुनें महानुभाव ! पहले (जब) वह राजर्षि गौतमी नदी के तट पर उग्र तपस्या में रत थे, (तब) सशङ्कित देवताओं ने (उनकी) तपस्या में विघ्न डालने वाली मेनका नामक अप्सरा को भेजा।

राजा—दूसरों की समाधि से भयभीत होना यह देवताओं में पाया ही जाता है।

अनसूया— उसके बाद वसन्त ऋतु के आगमन के कारण मनोहर समय में उसके उन्मादक रूप को देख कर ......(इस तरह आधा कहने पर ही लज्जा के कारण रुक जाती हैं)

टीका—अनसूयेति। प्रभवम्—प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः = कारणम्, जनक इत्यर्थः, तम्। उज्झितायाः = परित्यक्तायाः, मात्रा मेनकयेति शेषः, शरीरसंवर्धनादिभिः = पालनपोषणादिभिः। जनितम् = उत्पादितम्, कौतूहलम् = जिज्ञासापूर्णोत्कण्ठा। आमूलात् = आरम्भतः। जातशङ्कैः—जाता = उत्पन्ना शङ्का = भीतिर्येषु येषां वा तैः तादृशैः, भीतैरित्यर्थः, नियमविघ्नकारिणी—नियमस्य = संयमस्य, तपस इति यावत्, विघ्नकारिणी = विघातिका॥

टिप्पणी—काश्यपोऽस्याः पिता—महाभारत के अनुसार तीन प्रकार के व्यक्ति पिता कहलाने के अधिकारी हैं—(१) जन्मदाता, (२) प्राणदाता तथा (३) अन्नदाता—'शरीरकृत् प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते। क्रमेणैते त्रयोऽप्युक्ताः पितरो धर्मशासने॥'

व्युत्पत्तिः—प्रभवम्—प्र + √ भू + अप् + विभक्तिकार्यम्। पिता—√पा + तृच् + विभक्त्यादिकार्यम्॥

शब्दार्थः—अन्यसमाधिभीरुत्वम्=दूसरों की समाधि से भयभीत होना। वसन्तावतार-रमणीये = वसन्त ऋतु के आगमन के कारण मनोहर, समये = समय में, उन्मादयितृ = उन्मादक। परस्तात् = इसके आगे। अप्सरःसंभवा = अप्सरा से उत्पन्न, अप्सरा की पुत्री। उपपद्यते = ठीक है॥

टीका—राजेति। अन्यसमाधिभीरुत्वम्—अन्येषाम् = अपरेषाम् समाधेः = नियमात् भीरुत्वम् = भयशीलत्वम्। वसन्तावताररमणीये—वसन्तस्य अवतारेण = आविर्भावेण रमणीयः = मनोहरः तस्मिन्, समये = काले, उन्मादयितृ = सम्मोहनम्। परस्तात् = परम्, अतोऽग्रे। अप्सरःसंभवा—अप्सरा = देवस्त्री संभवः = उत्पत्तिस्थानम् यस्याः तादृशी। उपपद्यते = युज्यते॥

टिप्पणी—पेक्ष्य—अनसूया स्त्री है। स्त्री किसी परपुरुष से स्त्री-संभोग की

राजा—परस्ताज्ज्ञायत एव । सर्वथाऽप्सरःसंभवैषा ।

अनसूया—अथ किम् । [अह इं ।]

राजा—उपपद्यते ।

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥२६॥

(शकुन्तलाऽधोमुखी तिष्ठति)

राजा—(आत्मगतम्) लब्धावकाशो मे मनोरथः । कि
सख्याः परिहासोदाहृतां वरप्रार्थनां श्रुत्वा धृतद्वैधभावक
मे मनः ।

प्रियंवदा—(सस्मितं शकुन्तलां विलोक्य नायकाभि
भूत्वा) पुनरपि वक्तुकाम इवार्यः । [पुणो वि वत्तु
विअ अज्जो ।] (शकुन्तला सखीमङ्गुल्या तर्जयति ।)

चर्चा नहीं कर सकती है। अतः आधी बात ही कह कर रुक जाती है। श
कुछ हुआ वह अनसूया के विना कहे भी स्पष्ट हो जाता है।

सर्वथाप्सरःसंभवा—दुष्यन्त का भाव यह है कि—निश्चय ही शकुन्तला
की बेटी है। अन्यथा यह अलौकिक रूप तथा हाव-भाव आदि इसमें न होते॥

व्युत्पत्तिः—उन्मादयितृ—उद् + √मद् + णिच् + तृन् + क + विभक्त्यादि
प्रेक्ष्य—प्र + √ईक्ष् + ल्यप् ॥

अन्वयः—मानुपीषु, अस्य, रूपस्य, संभवः, कथं वा, स्यात्। प्रभा
ज्योतिः, वसुधातलात्, न, उदेति ॥ २६ ॥

शब्दार्थ :—मानुषीषु = मानव-स्त्रियों में, अस्य = इस, रूपस्य = सौन्दर्य
की, संभवः = उत्पत्ति, कथं वा = कैसे, स्यात् = हो सकती है? प्रभातरलम् =
दमकती हुई, ज्योतिः = तेज (विजली), वसुधातलात् = भूतल से, न = नहीं,
पैदा होता है ॥ २६ ॥

टीका—शकुन्तलाया लोकातिशायि सौन्दर्यं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयन्नाह—मानु
मानुषीषु—मनोरपत्यानि स्त्रियो मानुष्यस्तासु मानुषीषु = मनुष्यस्त्रीषु । 'मनोर्जा
षुक् च' (पा० ४।१।११५) इत्यञ्षुकौ । ततः 'टिड्ढाणञ्—' (पा० ४।१।१
ङीप् । अस्य = ईदृशस्य दिव्यस्य, रूपस्य = सौन्दर्यस्य, संभवः = उत्पत्तिः, क
प्रकारेण, वा = नु, वेति वितर्के, संभवति = संभवतां याति, नैव संभवतीत्यर्थः
हि प्रभातरलम्—प्रभया = कान्त्यातरलम् = देदीप्यमानम्, ज्योतिः = तेजः, विद्यु
ज्योतिश्चन्द्रादि इति राघवभट्टः। वसुधातलात् = भूतलात्, न उदेति = नोद

राजा—इसके आगे (का वृत्तान्त) विदित ही है। सब तरह से यह अप्सरा की पुत्री (प्रतीत होती) है।

अनसूया—और क्या ?

मानव-स्त्रियों में इस सौन्दर्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? कान्ति से दमकती हुई ज्योति (बिजली) भूतल से नहीं पैदा होती है ॥ २६ ॥

(शकुन्तला नीचे की ओर मुँह करके खड़ी रहती है)

राजा—(अपने आप) प्राप्त हो गया है अवसर जिसको (अब) ऐसा मेरा मनोरथ है (अर्थात् मेरे मनोरथ को अब अवसर मिल गया है)। किन्तु सखी के द्वारा हँसी में कही गई वर (पति) की प्रार्थना को सुनकर मेरा मन दुविधा के कारण खिन्न हो रहा है।

प्रियंवदा—(मुस्कराहट के साथ शकुन्तला को देखकर नायक की ओर मुँह करके) प्रतीत होता है (इव) आप पुनः कुछ कहना चाहते हैं।

(शकुन्तला सखी को अंगुली से धमकाती है)

विद्युत् भूतलात् न स्फुरति, ईदृशञ्च रूपं मानुषीषु न जायते। अत्र कविः स्वकीयं कृत्यमपि प्रशंसति। तद्यथा—मानुषीषु=मनुष्यसम्बन्धिनीषु प्रतिभासु, अस्य एतस्य मया लिख्यमानस्याभिज्ञानशाकुन्तलस्य, रूपस्य=रूपकस्य, संभवः=उत्पत्तिः, रचनेत्यर्थः, कथं वा स्यात् कथमपि न संभवतीत्यर्थः। उत्तरार्द्धस्तु यथा पूर्वं व्याख्यातस्तथैव। अत्र स्वस्य स्वरूपकस्य च प्रशंसा कृता कविना। अत्राप्रस्तुतप्रशंसा दृष्टान्तश्चालङ्कारौ। अनुष्टुप् छन्दः ॥ २६ ॥

टिप्पणी—**मानुषीषु**—यहाँ कवि ने प्रकारान्तर से अपने रचे जा रहे रूपक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की प्रशंसा की है। देखिए टीका।

ज्योति:—प्राचीन टीकाकारों ने ज्योति का अर्थ चन्द्र आदि नक्षत्र किया है। पर सूक्ष्म विचार करने पर ज्योति का अर्थ बिजली ही निश्चय रूप से प्रतीत होता है।

अधोमुखी—एक पुरुष के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर शकुन्तला लज्जा के कारण नीचे मुख करके खड़ी हो जाती है। इससे उसकी लज्जाशीलता प्रकट होती है।

इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा एवं दृष्टान्त अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है ॥ २६ ॥

व्युत्पत्ति:—**मानुषीषु**—मनु + अञ् + ङीप् + सप्तमीबहुवचने विभक्तिकार्यम्। **संभव**:—सम् + √भू + अप् + विभक्तिकार्यम् ॥

शब्दार्थः—लब्धावकाशः=प्राप्त हो गया है अवसर जिसको ऐसा, मे=मेरा, मनोरथः=मनोरथ है। परिहासोदाहृताम्=हँसी में कही गई, द्वैधीभावकातरम्=दुविधा के कारण खिन्न। वक्तुकामः=कुछ कहने की इच्छावाले। तर्जयति=धमकाती

राजा—सम्यगुपलक्षितं भवत्या : अस्ति नः सच्चरित श्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम् ।

प्रियंवदा—अलं विचार्य । अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम । [अलं विआरिअ । अणिअन्तणाणुओओ तवस्सिजणो णाम ।]

राजा—इति सखीं ते ज्ञातुमिच्छामि ।

वैखानसं किमनया व्रतमा प्रदानाद्
व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम् ।
अत्यन्तमेव सदृशेक्षणवल्लभाभि-
राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ॥२७॥

है । उपलक्षितम् = समझा, समझा गया । सच्चरितश्रवणलोभात् = सच्चरित सु... लोभ से । अनियन्त्रणानुयोगः = निःसङ्कोच पूछे जाने के योग्य ।

टीका—राजेति । लब्धावकाशः—लब्धः = प्राप्तः अवकाशः = अवसरः ये... लब्धावकाशः = प्राप्तावसरः, मे = मम, मनोरथः = शकुन्तलालाभप्रत्याशारूपः अ... इत्यर्थः। परिहासोदाहृताम्—परिहासे नर्मणि उदाहृताम् = कथिताम्, द्वैधीभावकातरम्... द्वैधीभावेन = द्विविधया कातरम् = खिन्नम् । वक्तुकामः—वक्तुम् = कथितुम्... इच्छा यस्य सः तादृशः, किञ्चित् कथितुमुद्युक्त इत्यर्थः । तर्जयति = तर्जनं... उपलक्षितम् = ज्ञातम्, अवबुद्धम् । सच्चरितश्रवणलोभात्—सच्चरितस्य = सा... यत् श्रवणम् = आकर्णनं तत्र यो लोभः = स्पृहा तस्मात् कारणात् । अनियन्त्रणानु... अनियन्त्रणः = निर्बाधः अनुयोगः = प्रश्नः यस्मिन् तथाभूतः, तपस्विजने प्रश्नः... न भवति, यः कश्चनापि शुभोऽशुभो वा प्रश्नः निर्बाधेन कर्तव्य इति भावः ।

टिप्पणी—लब्धावकाश :—दुष्यन्त के सोचने का भाव यह है—शकुन्तला... वाला है । मैं उससे प्रेम करने का, विवाह रचाने का अधिकारी हूँ । उसे पाने... अभिलाषा को अवसर मिल सकता है ।

सख्याः···वरप्रार्थनाम्—प्रियंवदा ने पीछे मजाक में कहा था—"यथा वन... नुरूपेण पादपेन संगता····" । किन्तु सखी के इस सामान्य कथन से यह कथमपि... नहीं होता कि शकुन्तला व्यक्तिविशेष में आसक्त है, वह उसे चाहती है । ... को द्विविधा में पड़ने की आवश्यकता नहीं है । अतः "किन्तु····मे. मनः... अधिक समीचीन तथा आवश्यक नहीं प्रतीत होता ।

व्युत्पत्तिः—श्रुत्वा—√श्रु + क्त्वा । विलोक्य—वि + √लोक् + ल्यप्

राजा—आपने ठीक समझा । सच्चरित सुनने के लोभ से मुझे कुछ और पूछना है।

प्रियंवदा—(तो) विचार करने की आवश्यकता नहीं है। तपस्वी लोग निःसङ्कोच (कोई भी बात) पूछे जाने के योग्य हैं (अर्थात् तपस्वियों से कोई भी बात निःसङ्कोच पूछी जा सकती है)।

राजा—आपकी सखी के विषय में यह जानना चाहता हूँ कि क्या इनके द्वारा, कामदेव के व्यापारों को रोकनेवाला तपस्वियों का व्रत (अर्थात् ब्रह्मचर्य) विवाह होने तक (ही) सेवित किया जायगा ? अथवा (विवाह न करके) समान नेत्र होने के कारण प्रिय हरिणियों के साथ जीवनपर्यन्त ही (यह) निवास करेंगी ॥ २७ ॥

कामः—वच् + तुमुन् + कामः, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुकाममनसोरपि' इति मकारलोपः।
उपलक्षितम्—उप + √लक्ष् + क्त + विभक्तिकार्यम्।

अन्वयः—किम्, अनया, मदनस्य, व्यापाररोधि, वैखानसम्, व्रतम्, आ प्रदानात्, निषेवितव्यम् ? आहो, सदृशेक्षणवल्लभाभिः, हरिणाङ्गनाभिः, समम्, अत्यन्तम्, एव, निवत्स्यति ? ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—किम् = क्या, अनया = इनके द्वारा, यह, मदनस्य = कामदेव के, व्यापार-रोधि = व्यापारों को रोकनेवाले, वैखानसम् = तपस्वियों के, व्रतम् = व्रत को, आ-प्रदानात् = विवाह होने तक, निषेवितव्यम् = सेवित किया जायगा ? आहो = अथवा, सदृशेक्षणवल्लभाभिः = समान नेत्र होने के कारण प्रिय, हरिणाङ्गनाभिः = हरिणियों के, समम् = साथ, अत्यन्तम् = जीवन-पर्यन्त, एव = ही, निवत्स्यति = निवास करेंगी ॥२७॥

टीका—वैखानसमिति । किमिति प्रश्ने, अनया = भवत्योः सख्या शकुन्तलया, मदनस्य = कामस्य, व्यापाररोधि—व्यापारम् = सुरतभोगादिकम् रोद्धुम् = निषेद्धुम् शीलं यस्य तत्, प्रसारनिरोधकमिति यावत्, वैखानसम्—वैखानसस्य = संन्यासिनः इदम् वैखानसम् = तपस्विजनोचितम्, व्रतम् = नियमः, ब्रह्मचर्यव्रतमित्यर्थः, आप्रदानात् = यावत् वराय दानं न भवेत् तावदेवेत्यर्थः,—निषेवितव्यम् = अनुष्ठातव्यम् ? आहो = अथवा, सदृशेक्षणवल्लभाभिः—सदृशाभ्याम् = समानाभ्याम् ईक्षणाभ्याम् = लोचनाभ्याम् वल्लभाभिः = प्रियाभिः, हरिणाङ्गनाभिः = मृगीभिः, समम् = साकम्, अत्यन्तम् = चिरम्, एवेति निश्चये, निवत्स्यति = स्थास्यति । अस्या ब्रह्मचर्य्यं परिणयावधिकं यावज्जीवं वेति प्रश्नः फलितः। राघवभट्टपादास्त्वेवं व्याख्यां कुर्वन्ति—आ प्रदानात् प्रकृष्टायोत्तमप्रकृतये राज्ञे दानं तस्मात्।...अयमाशयः—यदि राज्ञे देया तदा विवाह-पर्यन्तमेव तपोवने स्थितिः। तदनन्तरमविरोधी कामोपभोगः। यदि कस्मैचित्तपस्विने देया तदा मृगमिथुनवत् कामोपभोगरहिता वन एव स्थास्यतीति। अस्यैवोत्तरम्—अनुरूप-वरप्रदान इत्यादि । अत्र परिकरालङ्कारो वसन्ततिलका च छन्दः ॥ २७॥

टिप्पणी—**व्यापाररोधि मदनस्य**—तपस्या से इन्द्रियाँ बलहीन हो जाती हैं। मन चञ्चलता छोड़ देता है। शरीर निर्बल हो जाता है। अतः कामव्यापार की ओर

प्रियंवदा—आर्य, धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः। गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः। [अज्ज, धम्मचरणे वि परवसो अयं जणो। गुरुणो उण से अणुरूववरप्पदाणे संकल्पो।]

राजा—(आत्मगतम्) न दुरवापेयं खलु प्रार्थना।

भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्॥२८॥

शकुन्तला—(सरोषमिव) अनसूये, गमिष्याम्यहम्। [अणसूए, गमिस्सं अहं।]

व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं होती। यही है तापस-व्रत का काम के व्यापार में स... डालना। कामव्यापार स्निग्ध मन तथा चिकने शरीर का कार्य है।

अत्यन्तमेवेति—इस श्लोक के दो अर्थ किये जा सकते हैं—(१) क्या यह... राजा के साथ विवाह होने तक ही, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हुई, आश्रम में नि... करेगी अथवा किसी तपस्वी के साथ विवाह करके जीवन भर इसी आश्रम में हरि... के साथ रहेगी? (२) यह विवाह होने तक ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण करेगी अथवा... पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हुई मृगियों के साथ निवास करेगी?

पहला अर्थ राघवभट्ट का है। दूसरा अर्थ कतिपय टीकाकारों के साथ मु... अभिप्रेत है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि राजा सखियों से साधारण एवं स्वा... प्रश्न कर रहा है। अतः पहले अर्थ के लिये खींचा-तानी करना ठीक नहीं है।

यहाँ परिकर अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—'... वसन्ततिलका त-भ-जा ज-गौ गः' ॥ २७ ॥

व्युत्पत्तिः—व्रतम्—√वृ + क्त + विभक्तिकार्यम्। **निषेवितव्यम्**—√सेव् + तव्यत् + विभक्तिकार्यम्, सकारस्य स्थाने षकारः॥ २७॥

शब्दार्थः—धर्मचरणे = धर्माचरण में, परवशः = पराधीन। गुरोः = पिताजी... अनुरूपवरप्रदाने = योग्य वर को देने का, सङ्कल्पः = दृढ़ विचार। दुरवापा = ... प्रार्थना = अभिलाषा॥

टीका—प्रियंवदेति। धर्मचरणे—धर्मस्य चरणे = अनुष्ठाने, परवशः = प... पित्राज्ञावर्तीत्यर्थः। गुरोः = पितु कण्वस्येति यावत्, अनुरूपवरप्रदाने—अनुरूपाय = ... वराय प्रदानम् = समर्पणं तस्मिन्, सङ्कल्पः = अभिलाषः। त्वं योग्योऽसि। अतः... पितरं प्रार्थयास्यै। इयं तवैव भविष्यतीति ध्वनिः। दुःखेन अवाप्यते इति दुरवापा = ... प्रार्थना = अभिलाषः॥

प्रियंवदा—महानुभाव, धर्माचरण में भी यह (शकुन्तला रूपी) व्यक्ति पराधीन है। फिर भी पिताजी का इसे योग्य वर को देने का दृढ विचार है।

राजा—(अपने आप) निश्चय ही (शकुन्तला को पाने की) मेरी यह अभिलाषा दुर्लभ नहीं है।

हे (मेरे) हृदय, अभिलाषा युक्त होओ (अर्थात् अपनी अभिलाषा के पूरी होने की आशा करो)। अब सन्देह का निवारण हो गया। (तू) जिसको आग समझ रहा था, वही यह स्पर्श के योग्य रत्न (है) ॥२८॥

शकुन्तला—(कुपित-सी होकर) अनसूया, मैं चली जाऊँगी।

टिप्पणी—**परवशः**—भारत की कुमारियाँ विवाह के सन्दर्भ में बड़े-बूढ़ों पर ही आश्रित रहा करती थीं। प्रायः उन्हीं का निर्णय निर्णायक माना जाता था।

अनुरूपवरप्रदाने—पिताजी सुन्दरी शकुन्तला को सुन्दर वर देना चाहते हैं। तुम सुन्दर हो। अतः कण्व से इसे माँग सकते हो। वे इसे तुम्हें अवश्य दे देंगे। यही है प्रियंवदा का अभिप्राय।

व्युत्पत्तिः—**धर्मचरणे**—धर्म + √चर् + ल्युट् + विभक्त्यादिकार्ये रूपसिद्धिः। **सङ्कल्पः**—सम् + √क्लृप् + घञ् + विभक्तिः। **दुरवापा**—दुर् + अव + √आप् + खल् + टाप् ॥

अन्वयः—हृदय, साभिलाषम्, भव; सम्प्रति, सन्देहनिर्णयः, जातः, यत्, अग्निम्, आशङ्कसे, तत्, इदम्, स्पर्शक्षमम्, रत्नम्, (आस्ते) ॥२८॥

शब्दार्थः—हृदय = हे हृदय, साभिलाषम् = अभिलाषायुक्त, भव = होओ; सम्प्रति = अब, सन्देहनिर्णयः = सन्देह का निवारण, जातः = हो गया; यत् = जिसको, अग्निम् = आग, आशङ्कसे = समझ रहा था, तत् = वही, इदम् = यह, स्पर्शक्षमम् = स्पर्श के योग्य, रत्नम् = रत्न, (आस्ते = है) ॥२८॥

टीका—भवेति। हे हृदय = हे मे चेतः, साभिलाषम् = सस्पृहम्, शकुन्तलायामिति शेषः, भव; सम्प्रति = अधुना, सन्देहनिर्णयः—सन्देहस्य = मत्परिणययोग्येयं न वेत्याकारकस्य संशयस्य निर्णयः = निराकरणम्, अपगम इत्यर्थः, जातः = भूतः; तत्त्वतो निरूपणं जात इत्यर्थः। यत् = यद्वस्तु, अग्निम् = वह्निम्, अग्निवदस्पृश्यं दाहकत्वादित्यभिप्रायः, आशङ्कसे = मन्यसे, तत् = तदिदं शकुन्तलारूपं वस्त्वित्यर्थः, स्पर्शक्षमम्—स्पर्शं क्षमते = सहते इति स्पर्श-क्षमम् = सुखस्पर्शम्, रत्नम् = मणिः, आस्तेति शेषः। अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः। आर्या च छन्दः ॥२८॥

टिप्पणी—**सन्देहनिर्णयः**—दुष्यन्त ने सोचा था—कण्व ब्राह्मण हैं। शकुन्तला उन्हें पिताजी कहती है। तो क्या यह ब्राह्मण-कन्या है? किन्तु कण्व तो बालब्रह्मचारी हैं। फिर यह उनकी कन्या कैसे हो सकती है? क्या यह किसी क्षत्रिय की कन्या है? अब अनसूया के कथन से इन सब सन्देहों का निराकरण हो गया है।

अनसूया—किंनिमित्तम्। [किंणिमित्तं।]

शकुन्तला—इमामसंबद्धप्रलापिनीं प्रियंवदामार्यायै गौत
निवेदयिष्यामि। [इमं असंबद्धप्पलाविणिं पिअंवदं अज्ज
गोदमीए णिवेदइस्सं।]

अनसूया—सखि, न युक्तमकृतसत्कारमतिथिविशेषं विसृ
स्वच्छन्दतो गमनम्। [सहि, ण जुत्तं अकिदसक्कारं अदि
विसेसं विसज्जिअ सच्छन्ददो गमणं।]

(शकुन्तला न किंचिदुक्त्वा प्रस्थितैव।)

राजा—(ग्रहीतुमिच्छन् निगृह्यात्मानम्। आत्मगत
अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः। अहं हि—

अनुयास्यन् मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः॥२९

अग्निम्—एक व्यक्ति मार्ग में चला जा रहा था। उसने चमकते हुए एक
को देखा। सोचा दूर हट के चलूँ। कहीं मुझे जला न दे। फिर विचार आया। इ
जङ्गल में अङ्गार कहाँ से आ सकता है। तो यह क्या है? ध्यान से सोचा-वि
देखा यह तो चमकता हुआ हीरक है। मेरे गले में धारण करने के योग्य है। ऐसा
कर उसने उसे ले लिया। ठीक यही दशा दुष्यन्त की है। प्रारम्भ में उन्होंने सो
लड़की मजेदार है। यदि एकान्त में मिल जाय तो मजा आ जाय। किन्तु य
ब्राह्मण-कन्या होगी तब तो मेरा कुल ही भस्म हो जायगा। क्या यह क्षत्रिय-क
सकती है। अनसूया के कथन से स्पष्टीकरण हो जाने पर उन्होंने सोचा—
यह ग्रहण करने के योग्य है।' यहाँ अग्नि और रत्न के द्वारा शकुन्तला की स्वा
आभा को द्योतित किया गया है।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। छन्द के लक्षण के
देखिए दूसरा श्लोक॥२८॥

व्युत्पत्तिः—जातः—√जन्+क्त+विभक्तिः। स्पर्शक्षमम्—√स्पृश्+
√क्षम्+ण+समासादिकार्यम्॥२८॥

शब्दार्थः—किंनिमित्तम्=किसलिये? असम्बद्धप्रलापिनीम्=ऊटपटाँग
करनेवाली। न युक्तम्=उचित नहीं है, अकृतसत्कारम्=बिना सत्कार कि
अतिथिविशेषम्=विशिष्ट अतिथि को, स्वच्छन्दतः=मनमानी॥

टीका—शकुन्तलेति। किंनिमित्तम्=कस्मात् कारणात्? असम्बद्धप्रलापि

अनसूया—किसलिये ?

शकुन्तला—ऊटपटांग बकवास करने वाली इस प्रियंवदा की शिकायत आर्या गौतमी से (जाकर) करूँगी।

अनसूया—सखी, बिना सत्कार किये गये (इस) विशिष्ट अतिथि को छोड़ कर मनमानी चला जाना उचित नहीं है।

(शकुन्तला बिना कुछ कहे ही चल देती है)

राजा—(उसे पकड़ने की इच्छा करते हुए स्वयं को रोक कर, अपने आप) ओह, कामीजनों की मनोवृत्ति (उनकी) चेष्टाओं के अनुकूल ही हुआ करती है। क्योंकि मैं—

मुनिकन्या (शकुन्तला) का सहसा पीछा करने की इच्छा करता हुआ शिष्टतावश रुक गया। क्योंकि अपने स्थान से उठकर न चला हुआ भी जाकर फिर से मानो लौट आया (हूँ)॥ २९॥

असम्बद्धम् = असङ्गतम् प्रलपितुम् = वक्तुम् शीलं यस्याः सा ताम्, अयुक्तभाषिणीमित्यर्थः। न युक्तम् = नोचितम्, अकृतसत्कारम्—अकृतः = अविहितः सत्कारः = पूजा यस्य यस्मै वा तं तादृशम्, अतिथिविशेषम् = विशिष्टमतिथिम्, स्वच्छादम् = स्वेच्छयेत्यर्थः॥

टिप्पणी—**गौतम्यै**—गौतमी कण्व की छोटी बहन थी। कण्व के बाहर चले जाने पर आश्रम की व्यवस्था का भार संभवतः गौतमी के कन्धे पर था।

व्युत्पत्तिः—युक्तम्—√युज् + क्त + विभक्तिकार्यम्। विसृज्य—वि + √सृज् + ल्यप्। गमनम्—√गम् + ल्युट् + विभक्तिः॥

शब्दार्थः—ग्रहीतुम् = पकड़ने के लिये, पकड़ने की। निगृह्य = रोक कर, चेष्टाप्रतिरूपिका = चेष्टाओं के अनुकूल, कामिजनमनोवृत्तिः = कामिजनों की मनोवृत्ति॥

टीका—राजेति। ग्रहीतुम् = शकुन्तलां निरोद्धुम्, निगृह्य = निवार्य। चेष्टाप्रतिरूपिका—चेष्टायाः = देहव्यापारस्य प्रतिरूपिका = समानधर्मिणी, अनुरूपिणीति यावत्, कामिजनमनोवृत्तिः—कामिजनानाम् = सकामानाम् मनोवृत्तिः = मनसो व्यापारः। कामिजनानां मनो यद्यच्चिन्तयति शरीरं तत्तत् कर्तुं धावतीवेति भावः॥

टिप्पणी—**चेष्टाप्रतिरूपिका**—शकुन्तला जब जाने लगी तब दुष्यन्त की यह इच्छा हुई कि बढ़कर इसे रोक लूँ। वह मन में जो कुछ सोच रहा था, अनजाने भी उसके हाथ-पैर वैसा ही करने के लिये आगे बढ़ रहे थे।

व्युत्पत्तिः—ग्रहीतुम्—√ग्रह + तुमुन्। निगृह्य—नि + √ग्रह + ल्यप्॥

अन्वयः—मुनितनयाम् सहसा, अनुयास्यन्, (अहम्), विनयेन, वारितप्रसरः; हि, स्थानात्, अनुच्चलन्, अपि, गत्वा, पुनः, प्रतिनिवृत्तः, इव, (अस्मि)॥ २९॥

शब्दार्थः—मुनितनयाम् = मुनिकन्या का, सहसा = एकाएक, अनुयास्यन् = पीछा करता हुआ, पीछा करने की इच्छा करता हुआ, (अहम् = मैं), विनयेन = विनय के कारण, शिष्टता के कारण, वारितप्रसरः = रुक गया; हि = क्योंकि, स्थानात् = अपने स्थान से, अनुच्चलन् = उठकर न चला हुआ, अपि = भी, गत्वा = जाकर, पुनः = फिर से, प्रतिनिवृत्तः = लौट आया हुआ, इव = मानो, (अस्मि = हूँ)॥ २९॥

प्रियंवदा—(शकुन्तलां निरुध्य) हला, न ते युक्तं गन्तुम् [हला, ण दे जुत्तं गन्तुं ।]

शकुन्तला—(सभ्रूभङ्गम्) किंनिमित्तम् । [किंणिमित्तं

प्रियंवदा—वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे । एहि तावत् । आत्मा मोचयित्वा ततो गमिष्यसि । [रुक्खसेअणे दुवे धारेसि मे एहि दाव । अत्ताणं मोचिअ तदो गमिस्ससि ।]

(इति बलादेनां निवर्तयति।

राजा—भद्रे, वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये तथा ह्यस्याः—

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणाद्
अद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः।
बद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः ॥३०

टीका—अनुयास्यन्निति। मुनितनयाम्—मुनेः = ऋषेः कण्वस्य तनयाम् = पु शकुन्तलामित्यर्थः, सहसा = झटिति, अनुयास्यन् = अनुगमिष्यन्, 'लृटः सद्वा' इति (अहम् = दुष्यन्तः), विनयेन = शीलेन, वारितप्रसरः— वारितः = निषिद्धः प्रसरः = यस्य तथाभूतो जातः, हि = यतः, स्थानात् = स्वासनात्, अनुच्चलन् = अनुत्तिष्ठन्, अ च, गत्वा = किञ्चिद्दूरं चरणौ निक्षिप्य, चलित्वेत्यर्थः, पुनः = मुहुः, प्रतिनिवृ प्रत्यागतः, इव = यथा, अस्मीति शेषः। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। आर्या च छन्दः ॥ २९।

टिप्पणी—अनुयास्यन्—राजा शकुन्तला के सौन्दर्य पर मुग्ध है। अपने न्यौछावर कर चुका है। काम का वेग उसकी मानस तन्त्री को जर्जर कर रहा जाती हुई शकुन्तला का वस्त्र पकड़ कर वह बरबस रोक लेना चाहता है। वह अब की ही सोच रहा है। किन्तु तभी ध्यान हुआ। यह मुनि-कन्या है। इसके साथ का व्यवहार अपेक्षित है। अतः रुक गया। किन्तु उसे मालूम पड़ रहा है मानो वह दूर पीछा करके ही लौटा है।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। छन्द के लक्षण के देखिए पीछे श्लोक दो की टिप्पणी।

व्युत्पत्तिः—अनुयास्यन्—अनु + √या + लृट् तस्य स्थाने शतृ + प्रथमावि अनुच्चलन्—अन् + उद् + √चल् + शतृ + प्रथमाविभक्तिः। गत्वा—√गम् + क्त्वा। निवृत्तः—प्रति + नि + √वृ + क्त + विभक्तिः ॥ २९ ॥

प्रियंवदा—(शकुन्तला को रोक कर) सखी, तुम्हारा जाना ठीक नहीं है।

शकुन्तला—(भौहें टेढ़ी करके) क्यों ?

प्रियंवदा—वृक्ष सींचने के कार्य में तू दो की मेरी ऋणी है (अर्थात् तू मेरे दो वृक्षों को सींचने की ऋणी है)। सम्प्रति (तावत्) वापस होओ अपने आपको (ऋण से) मुक्त करा कर तब जाना। (ऐसा कह कर जबर्दस्ती उसको लौटाती है।)।

राजा—भली महिला, इन आदरणीया (शकुन्तला) को वृक्षों के सींचने से ही थकी हुई समझ रहा हूँ। जैसे कि इनके—

घड़ा उठाने से इनके हाथ झुके हुए कन्धे वाले तथा अत्यधिक लाल हथेली वाले (हो गये हैं)। स्वाभाविकता से अधिक लम्बा-लम्बा श्वास अब भी स्तनों में कम्पन पैदा कर रहा है। मुख पर, कानों के शिरीष के फूल को रोकनेवाला, पसीने की बूंदों का समूह व्याप्त है। बन्धन के शिथिल हो जाने से केश बिखरे हुए (अतः) एक हाथ से सँभाले जा रहे हैं ॥३०॥

शब्दार्थः—निरुध्य = रोक कर। युक्तम् = ठीक। किंनिमित्तम् = किसलिये, क्यों। वृक्षसेचने = वृक्ष सींचने के कार्य में, धारयसि = ऋणी हो। मोचयित्वा = छुड़ा कर। निवर्तयति = लौटाती है। भद्रे = भलीमानस, भली महिला, परिश्रान्ताम् = थकी हुई॥

टीका—प्रियंवदेति। निरुध्य = आत्मानं तदग्रे स्थाप्य गमनात् वारयित्वा। युक्तम् = समीचीनम्। किंनिमित्तम् = केन हेतुना। वृक्षसेचने = वृक्षाणां सेचनकर्मणीत्यर्थः, धारयसि = ऋणयुक्ताऽसीत्यर्थः। त्वत्कृतेऽहं द्वौ वृक्षौ सिक्तवती। अतस्त्वमपि मे द्वौ वृक्षकौ सेचय। अन्यथा तन्मूल्यं ते ऋणमस्ति। मोचयित्वा = ऋणमुक्तां विधायेत्यर्थः। निवर्तयति = परावर्तयति। भद्रे = भद्रतायुक्ते, परिश्रान्ताम् = खिन्नाम्॥

टिप्पणी—**वृक्षसेचने**—तीनों लड़कियाँ आश्रम के वृक्षों को सींचने का कार्य किया करती थीं। उन लोगों ने आपस में एक-एक तरफ के वृक्षों को सींचने के लिये बाँट लिया था। अभी-अभी प्रियंवदा ने शकुन्तला के हिस्से में पड़े दो वृक्षों को सिंचवाया था। अब शकुन्तला की ड्यूटी थी कि वह भी प्रियंवदा के दो वृक्षों को सिंचवाती। दो वृक्ष सिंचवाने का यही ऋण शकुन्तला पर है। यह तो हुई एक बात। वस्तुतः प्रियंवदा एक चालाक युवती है। उसे यह समझते देर न लगी कि शकुन्तला और दुष्यन्त एक-दूसरे पर आसक्त हो गये हैं। अतः बहाना बना कर वह शकुन्तला को राजा के समक्ष कुछ देर और समय के लिये रोकना चाहती है।

व्युत्पत्तिः—**निरुध्य**—नि + √ रुध् + ल्यप्। **युक्तम्**—√ युज् + क्त + विभक्तिकार्यम्। **गन्तुम्**—√गम् + तुमुन्॥

अन्वयः—घटोत्क्षेपणात्, अस्याः, बाहू, स्रस्तांसौ, अतिमात्रलोहिततलौ, (जातौ); प्रमाणाधिकः, श्वासः, अद्यापि, स्तनवेपथुम्, जनयति; वदने, कर्णशिरीषरोधि, घर्माम्भसाम्, जालकम्, बद्धम्; च, बन्धे, स्रंसिनि, मूर्धजाः, (अतः), पर्याकुलाः एकहस्तयमिताः, (सन्ति) ॥३०॥

तदहमेनामनृणां करोमि। (इत्यङ्गुलीयं दातुमिच्छति।)
(उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः)।
राजा—अलमस्मानन्यथा संभाव्य। राज्ञः परिग्र-
ऽयम्।

शब्दार्थः—घटोत्क्षेपणात् = घड़ा उठाने से, अस्याः = इनके, वाहू = हाथ,
स्रस्तांसौ = झुके हुए कन्धे वाले, अतिमात्रलोहिततलौ = अत्यधिक लाल हथेली वाले, (
= हो गये हैं); प्रमाणाधिकः = स्वाभाविकता से अधिक, लम्बा-लम्बा, श्वासः =
अद्यापि = अब भी, स्तनवेपथुम् = स्तनों में कम्पन को, जनयति = पैदा कर
वदने = मुखपर, कर्णशिरीषरोधि = कानों के शिरीष के फूल को रोकने वाला, घर्माम्भ
= घाम से होने वाले जलों का, पसीने की बूँदों का, जालकम् = समूह, बद्धम् =
हैं; च = और, वन्धे = बन्धन के, स्रंसिनि = शिथिल हो जाने से, ढीला हो
मूर्धजाः = केश, पर्याकुलाः = विखरे हुए, (अतः = इसलिये) एकहस्तयमिताः =
हाथ से सँभाले जा रहे, (सन्ति = हैं) ॥३०॥

टीका—स्रस्तांसाविति। घटोत्क्षेपणात्—घटस्य = सेचनकलशस्य उत्क्षेपण
उत्थापनात्, हेतौ पञ्चमी, अस्याः = पुरः स्थितायाः तव सख्याः, शकुन्तलाया इत्यर्थः
वाहू = भुजौ, स्रस्तांसौ—स्रस्तौ = शिथिलौ, पतिताविति यावत्, स्वभावतस्तु नता
स्त्वभिनतावित्यर्थः। 'स्रंसु अधः पतने'। तथा अतिमात्रलोहिततलौ—अतिमात्र
अत्यर्थम् लोहितम् = रक्तम् तलम् = करतलम् ययोस्तथाभूतौ, जाताविति
घटोत्क्षेपणादिति हेतुः सर्वत्र योज्यः। तस्याः हस्तौ स्वभावत एव लोहितौ। अधुना
मात्रं लोहिततलौ। 'तल' शब्दः एकदेशेन 'भीमो भीमसेनः' इतिवत् करतलमाह,
न्निध्यात्। प्रमाणाधिकः—प्रमाणात् = स्वमात्रायाः अधिकः=विशिष्टः, श्वासः = प्रा
निःश्वासवायुः, अद्यापि = इदानीमपि, व्यतीतेषु कतिपयेषु क्षणेष्वपीत्यर्थः, स्तनवेप
स्तनयोः = कुचयोः वेपथुम् = कम्पनम् जनयति = उत्पादयति। एनेन स्तनयोर्कि
सूचिता। वदने = आनने कर्णशिरीषरोधि—कर्णयोः = श्रोत्रयोः दत्तं शिरीषम् =
कुसुमम्, रोद्धुम् = स्थिरीकर्तुम् शीलं यस्य तत् तादृशम्, घर्माम्भसाम् = स्वेदज
जालकम्—जालमिव जालकम् = बिन्दुकदम्बकमित्यर्थः, बद्धम् = समुदितम्, वन्धे =
बन्धने, स्रंसिनि = शिथिले सति, मूर्धजाः = केशाः, पर्याकुलाः = विकीर्णाः
एकहस्तयमिताः—एकेन हस्तेन = करेण यमिताः = संयमिताः, सन्तीति क्रिया
'अद्यापीति च त्रिषु स्थानेष्वन्वेति। अद्यापि स्रस्तांसौ अद्याप्यतिमात्रलोहिततलौ,
प्रमाणाधिकः इति। तेनातिशयमृदुता ध्वन्यते।' इति राघवभट्टः। अत्र स्वभावोक्ति
काव्यलिङ्गं समुच्चयोऽनुमानं चालङ्काराः। छन्दस्तु शार्दूलविक्रीडितम् ॥३०॥

टिप्पणी—स्रस्तांसौ—पानी भरा घड़ा बार-बार ढोने के कारण थकान

तो मैं इन्हें उऋण कर देता हूँ। (ऐसा कह कर अँगूठी देने की इच्छा करता है।)
(दोनों नामांकित अँगूठी के अक्षरों को वाँच कर एक दूसरी को देखती हैं।)

राजा—हमें और कुछ (अर्थात् राजा) समझना व्यर्थ है। यह (मेरे लिये) राजा का उपहार है। अतः मुझे राजकर्मचारी समझें।

झुक ही जाते हैं। वैसे तो स्त्रियों का थोड़ा झुका हुआ कन्धा सौन्दर्य का वर्धक होता है। ऊँचे कन्धे का पुरुष आकर्षक होता है, न कि स्त्री।

लोहिततलौ—स्त्रियों की हथेलियाँ स्वभावतः लाल होती हैं। इस पर यदि वे पानी भरा घड़ा बार-बार उठावें तब तो वे इतनी लाल हो जाती हैं, मानो खून निकल रहा हो। हथेलियों का लाल होना सौन्दर्य की श्रीवृद्धि करता है।

स्तनवेपथुम्—बार-बार बोझा ढोने से श्रम होता है। श्रम से श्वास बढ़ता है। श्वास-बढ़ने से स्तनों में कम्पन होता है। किन्तु स्तनों का कम्पन तभी दूसरे को ज्ञात होता है, जब वे विशाल हों। स्तनों की विशालता स्त्री-सौन्दर्य में चार-चाँद लगा देती है।

कर्णशिरीषरोधि—प्राचीन काल में सुन्दरियाँ शिरीष के फूल को कानों में, झुमका बना कर, पहना करती थीं। झुमका हिलता रहता है। किन्तु शकुन्तला ने जो श्रम किया है, उससे मुख पर पसीने की बूँदें उभर आई हैं। अतः फूल उसी में चिपक जा रहा है। हिल-डुल नहीं रहा है।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति, दीपक, काव्यलिङ्ग, समुच्चय तथा अनुमान अलङ्कार हैं। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित। छन्द का लक्षण—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥३०॥

व्युत्पत्तिः—**बद्धम्**—√बन्ध् + क्त + विभक्तिकार्यम्। **जालकम्**—जाल + कन् + विभक्तिः ॥३०॥

शब्दार्थः—अनृणाम् = उऋण। अङ्गुलीयम् = अँगूठी, दातुम् = देने के लिये। नाममुद्राक्षराणि = नामाङ्कित अँगूठी के अक्षरों को, अनुवाच्य = वाँच कर॥

टीका—तदहमिति। अनृणाम्—अविद्यमानम् = विगतमित्यर्थः ऋणं यस्याः सा तथाविधाम्, ऋणमुक्ताम्। अङ्गुलीयम् = अङ्गुलिमुद्राम्। दातुम् = अर्पितुम्। नाममुद्राक्षराणि—नाम्नः मुद्रा नाममुद्रा तस्याः नाममुद्रायाः = तत्र मुद्रितस्य नाम्नः अक्षराणि = वर्णान्, अनुवाच्य = पठित्वा॥

टिप्पणी—**अङ्गुलीयम्**—आज की भाँति प्राचीन काल में भी सम्पन्न व्यक्ति सुवर्ण आदि की अँगूठी धारण किया करते थे। राज्य के अधिकारी वर्ग तथा विशिष्ट व्यक्ति अँगूठी पर अपना नाम भी लिखवाया करते थे। इससे वे मुहर का भी काम लेते थे। दुष्यन्त की अँगूठी ऐसी ही थी।

अवलोकयतः—दुष्यन्त का नाम पढ़कर वे जान गईं कि यह राजा दुष्यन्त ही हैं, न कि दुष्यन्त के धर्माधिकारी। जैसा कि उन्होंने स्वयं पीछे अपने परिचय में बतलाया है। अतः एक दूसरी को देखने लगती हैं।

व्युत्पत्तिः—**अङ्गुलीयम्**—अङ्गुलि + छः (तस्य स्थाने ईय) + विभक्तिकार्यम्।

प्रियंवदा—तेन हि नार्हत्येतदङ्गुलीयकमङ्गुलीवियोगम् आर्यस्य वचनेनानृणेदानीमेषा। (किंचिद् विहस्य) हला शकुन्तले, मोचिताऽस्यनुकम्पिनार्येण, अथवा महाराजेन गच्छेदानीम्। [तेण हि णारिहदि एदं अगुलीअअं अंगुलीविओअं। अज्जस्स वअणेण अणिरिणा दाणिं एस। हला सउन्दले, मोइदा सि अणुअम्पिणा अज्जेण, अहवा महाराएण गच्छ दाणिं।]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) यद्यात्मनः प्रभविष्यामि (प्रकाशम्) का त्वं विस्रष्टव्यस्य रोद्धव्यस्य वा। [जइ अत्तणो पहविस्सं। का तुमं विसज्जिदव्वस्स रुन्धिदव्वस्स वा।]

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य। आत्मगतम्) किन्नु खलु यथा वयमस्यामेवमियमप्यस्मान् प्रति स्यात्। अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना।

कुतः—

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥३१॥

दातुम्—√दा + तुमुन्। अनुवाच्य—अनु + √वच् + णिच + ल्यप् ॥

शब्दार्थः—अलम् = यह निषेधार्थक अव्यय है, अस्मान् = हमें, अन्यथा = दूसरे रूप में, और कुछ, संभाव्य = समझना। परिग्रहः = उपहार। अर्हति = योग्य। अनृणा = उऋण। मोचिता = मुक्त की गई, छुड़ाई गई, अनुकम्पिना = कृपालु ॥

टीका—राजेति। अलमिति निषेधेऽव्ययपदम्, अस्मान् = मां दुष्यन्तमित्यर्थः, अन्यथा = अन्यप्रकारेण, यथा मया परिचयो दत्तस्तद्विपरीतभावेनेत्यर्थः, सम्भाव्य = अनुमान्य। मम नृपत्वशङ्कयाऽलमिति भावः। परिग्रहः = उपहारे दत्तः। अर्हति = योग्या भवति, अनृणा = ऋणरहिता। मोचिता = ऋणविमुक्ता कृतेत्यर्थः, अनुकम्पिना = कृपालुना ॥

टिप्पणी—अन्यथा सम्भाव्य—राजा के कहने का भाव यह है कि अँगूठी पर दुष्यन्त का नाम खुदा देखकर मुझे राजा न समझें। यद्यपि यह अँगूठी राजा की ही है किन्तु प्रसन्न होकर उन्होंने इसे मुझे प्रदान कर दिया है।

राज्ञः परिग्रहोऽयम्—इस कथन से राजा अपने आपको छिपाना चाहता है।

प्रियंवदा––तो यह अँगूठी (आपको) अँगुली के वियोग के योग्य नहीं है। यह (शकुन्तला) अब आपके कहने से (ही) उऋण हो गई। (थोड़ा मुस्कराकर) सखी शकुन्तला, (तुम इन) कृपालु आर्य अथवा महाराज के द्वारा मुक्त (उऋण) की गई हो। अब जाओ।

शकुन्तला––(अपने आप) यदि अपने वश में होऊँगी (तब तो जाऊँगी) (प्रकट रूप में) तुम (मुझे) छोड़ने अथवा रोकने में कौन हो ?

राजा––(शकुन्तला को देखकर, अपने आप) क्या जिस प्रकार हम इस पर (अनुरक्त) हैं, उसी प्रकार यह भी हमारे प्रति (अनुरक्त) है ? अथवा मेरी अभिलाषा सावकाश है (अर्थात् मेरी अभिलाषा के पूरी होने के लक्षण दिखलाई पड़ रहे हैं)। क्योंकि—

यद्यपि (यह शकुन्तला) मेरी बातों से बात नहीं लड़ाती है, (किन्तु) मेरे बोलने पर मेरी ओर कान लगाये रहती है। यह सत्य है कि (यह) मेरे मुख की ओर मुख करके नहीं रहती है, (फिर भी) इसकी दृष्टि विशेषरूप से दूसरे विषयों की ओर नहीं (है) ॥ ३१ ॥

कथन के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) यह राजा दुष्यन्त के द्वारा प्रदत्त उपहार है। (२) यह तुम्हारे लिये राजा का उपहार है।

राजपुरुषम्––इसके भी दो अर्थ हो सकते हैं। (१) मुझे राजकर्मचारी समझें। (२) मुझे राजा समझें—राजा चासौ पुरुषः।

अथवा महाराजेन––प्रियंवदा को यह निश्चय हो गया है कि यह राजा दुष्यन्त ही हैं। अतः ऐसा कह रही है।

व्युत्पत्तिः—**संभाव्य**––सम् + √भू + णिच् + ल्यप्। **परिग्रहः**––परि + ग्रह + घञ् + विभक्तिः। **अनुकम्पिना**–अनु + √कम्प + णिनि + तृतीयैकवचने विभक्तिः।

शब्दार्थः—प्रभविष्यामि = वश में होऊँगी। काबू रख सकूँगी। विसर्जितव्यस्य = छोड़ने में, रोद्धव्यस्य = रोकने में। लब्धावकाशा = सावकाश, प्राप्त अवसरवाली, प्रार्थना = अभिलाषा।

टीका—शकुन्तलेति। प्रभविष्यामि = प्रभुर्भविष्यामि। विसर्जितव्यस्य = विस्रष्टव्यस्य। लब्धावकाशा—लब्धः = प्राप्तः अवकाशः = अवसरः, पूरणावसर इत्यर्थः, यया सा तादृशी, प्रार्थना = अभिलाषः।

टिप्पणीः—**यद्यात्मन**ः—शकुन्तला के सोचने का भाव यह है कि मैं यहाँ से चली तो जाती पर क्या करूँ मेरा अपने आप पर, इस समय, काबू ही नहीं है।

अन्वयः—यद्यपि, मद्वचोभिः, वाचम्, न, मिश्रयति; (किन्तु), मयि, भाषमाणे, अभिमुखम्, कर्णम्, ददाति; कामम्, मदाननसंमुखीना, न, तिष्ठति; (किन्तु), अस्याः, दृष्टिः, भूयिष्ठम्, अन्यविषया, न, (आस्ते) ॥ ३१ ॥

(नेपथ्ये)

भो भोस्तपस्विनः, सन्निहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः ।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणु-
विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु ।
पतति परिणतारुणप्रकाशः
शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु ॥३२॥

शब्दार्थः—यद्यपि = यद्यपि, यह बात सही है कि, मद्वचोभिः = मेरे व से, मेरी बातों से, वाचम् = वचन, बात, न = नहीं, मिश्रयति = लड़ाती है, मि है; (किन्तु = परन्तु), मयि = मेरे, भाषमाणे = बोलने पर, अभिमुखम् = मेरी कर्णम् = कान, ददाति = लगाये रखती है; कामम् = यह सत्य है कि, मदाननसम्मुखी मेरे मुख की ओर मुख करके, न = नहीं, तिष्ठति = रहती है, (किन्तु = फिर अस्याः = इसकी दृष्टिः = दृष्टि, भूयिष्ठम् = प्रायः, विशेष रूप से, अन्यविषया = विषयों की ओर, न = नहीं, (आस्ते = है) ॥ ३१ ॥

टीका—प्रार्थनाया लब्धावकाशत्वमेव साधयति—वाचमिति । यद्यपि, वचोभिः—मम वचोभिः = वचनैः, वाचम् = वाणीम्, न मिश्रयति = न योजयति, सह नालपतीत्यर्थः, (किन्तु = तथापि), मयि = मयि दुष्यन्त इत्यर्थः, भाषमाणे = यति सति, अभिमुखम् = मां प्रतीत्यर्थः, कर्णम् = श्रोत्रम्, ददाति = अर्पयति, मम शृणोतीत्यर्थः । काममिति स्वीकारेऽव्ययपदम्, मदाननसंमुखीना—मम आननस्य = सम्मुखीना = सम्मुखी, मन्मुखनिविष्टदृष्टिरिति भावः, न तिष्ठति = न वर्तते; (कि परन्तु), अस्याः = एतस्याः शकुन्तलायाः, दृष्टिः = नयनम्, भूयिष्ठम् = अत्यर्थम्, इत्यर्थः, अन्यविषया—अन्यः = मदितरः विषयः = लक्ष्यः यस्याः सा तथाभूता, न अत्र समुच्चयालङ्कारश्छन्दस्तु वसन्ततिलका ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—वाचं न—इस श्लोक में नायिका शकुन्तला की जो शारीरिक मानसिक अवस्था वर्णित की गई है, उससे उसका दुष्यन्त के प्रति अनुराग होता है ।

इस श्लोक में समुच्चय अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है । छन्द का लक्षण 'उक्ता वसन्ततिलका त-भ-जा ज-गौ गः ॥ ३१ ॥

व्युत्पत्तिः—भाषमाणे—√भाष् + शानच् + विभक्तिकार्यम् । भूयिष्ठम्— इष्ठन् + विभक्तिः । दृष्टि :—√दृश् + क्तिन् + विभक्तिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—संनिहिताः = समीप में स्थित, तपोवनसत्त्वरक्षायै = तपोवन के की रक्षा के लिये । प्रत्यासन्नः = पास में आ गया, समीपस्थ, मृगयाविहारी = शि लिये विचरण करनेवाला ।

(पर्दे के पीछे)

हे हे तपस्वियों, (आप लोग) तपोवन के जीवों की रक्षा के लिये (उनके) समीप में स्थित हो जाइये। शिकार के लिये विचरण करनेवाला राजा दुष्यन्त (आश्रम के) पास में ही आ गया है।

जैसे कि, घोड़ों के खुरों से ताडित (अतः उड़ी हुई), अस्त होते हुए सूर्य की कान्ति के तुल्य (लाल) कान्तिवाली धूल, टिड्डियों के समूह की तरह, डालियों पर डाले गये गीले वल्कलों वाले आश्रम के वृक्षों पर गिर रही है ॥ ३२ ॥

टीका—नेपथ्य इति। संनिहिताः = समीपस्थाः, तपोवनजीवानां समीपस्था इत्यर्थः, तपोवनसत्त्वरक्षायै—तपोवनस्य = तपोऽरण्यस्य सत्त्वानाम् = प्राणिनाम् रक्षायै = रक्षणाय। प्रत्यासन्नः = समीपस्थः, मृगयाविहारी = मृगयया = आखेटेन विहरति = परिभ्रमतीति मृगयाविहारी, आखेटयायीत्यर्थः।

टिप्पणी—**संनिहिताः**—इसका भाव यह है कि आश्रम के पालतू पशुओं के पास हो जाओ ताकि राजा इनका शिकार न कर पाये।

व्युत्पत्तिः— **संनिहिताः**—सम् + नि + √धा + क्त + विभक्तिः।

प्रत्यासन्नः—प्रति + आ + √सद् + क्त + विभक्तिकार्यम्।

अन्वयः—तथा हि, तुरगखुरहतः, परिणतारुणप्रकाशः, रेणुः, शलभसमूहः, इव, विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु, आश्रमद्रुमेषु, पतति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—तथा हि = जैसे कि, तुरगखुरहतः = घोड़ों के खुरों से ताडित, परिणतारुणप्रकाशः = अस्त होते हुए सूर्य की कान्ति के तुल्य (लाल) कान्तिवाली, रेणुः = धूल, शलभसमूहः = टिड्डियों के समूह की, इव = तरह, विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु = डालियों पर डाले गये गीले वल्कलोंवाले, आश्रमद्रुमेषु = आश्रम के वृक्षों पर, पतति = गिर रही है ॥ ३२ ॥

टीका—'प्रत्यासन्न' इति यदुक्तं, तत्र हेतुं श्लोकाभ्यां दर्शयति—तुरगेति। तथा हि = राज्ञः अत्यासन्नत्वाद्धि, तुरगखुरहतः—तुरगाणाम् = अश्वानाम् खुरैः = शफैः हतः = ताडितः, क्षुण्ण इत्यर्थः, परिणतारुणप्रकाशः—परिणतः = अस्तङ्गतः, अवसानोन्मुख इत्यर्थः, यः अरुणः = सूर्यः ('अरुणोऽस्फुटरागे च सूर्ये सूर्यस्य सारथौ' इति धरणिः) तस्य प्रकाशः = दीप्तिरिव प्रकाशो यस्य तथाभूतः, रेणुः = धूलिः, शलभसमूहः—शलभानाम् = पतङ्गानाम् समूहः = वृन्दम्, इव = यथा, विटपेत्यादिः—विटपेषु = शाखासु विषक्तानि = प्रसारितानि जलार्द्राणि = सलिलक्लिन्नानि, वल्कलानि = तरुत्वचः येषां तथाविधेषु, आश्रमद्रुमेषु = आश्रमवृक्षेषु, पतति = पतितो भवति। अनेन वृक्षेभ्यो वल्कलापसारणं क्रियतामिति व्यज्यते। 'तुरग' इत्यनेन सेनाया बाहुल्यं ध्वनितम्। अत्रोपमालङ्कारः। पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—**पतति**—घोड़ों के खुरों से धूल उड़ रही है। उड़ती धूल पर डूबते हुए

85

अपि च—

तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः
पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः ॥३३॥

(सर्वाः कर्णं दत्त्वा किंचिदिव संभ्रान्ताः)

राजा—(आत्मगतम्) अहो धिक्। पौरा अस्मदन्वेषिण-स्तपोवनमुपरुन्धन्ति। भवतु। प्रतिगमिष्यामस्तावत्।

सख्यौ—आर्य, अनेनारण्यकवृत्तान्तेन पर्याकुलाः स्मः। अनुजानीहि न उटजगमनाय। [अज्ज, इमिणा आरण्णअवुत्तन्तेण पज्जाउल म्ह। अणुजाणीहि णो उडअगमणस्स।]

सूर्य की किरणें पड़ रहीं हैं। अतः धूल किञ्चित् अरुण वर्ण की प्रतीत हो रही है।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा पुष्पिताग्रा छन्द है। छन्द का लक्षण:—'अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ॥' ३२ ॥

व्युत्पत्तिः—विषक्तानि—वि+√सञ्ज्+क्त+विभक्तिकार्यम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—स्यन्दनालोकभीतः, तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः, पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसञ्जातपाशः, भिन्नसारङ्गयूथः, गजः, नः, तपसः, मूर्तः, विघ्नः, इव, धर्मारण्यम्, प्रविशति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—स्यन्दनालोकभीतः = रथ को देखकर भयभीत, तीव्राघात-प्रतिहत-तरु-स्कन्ध-लग्नैकदन्तः = वेगपूर्ण टकराहट से भग्न हुई वृक्ष की डाली में फँसा हुआ एक दाँतवाला, पादाकृष्ट-व्रतति-वलयासङ्ग-सञ्जात-पाशः = पैर से खींचे गये लता-समूह के लिपटने से उत्पन्न पाशवाला, भिन्नसारङ्गयूथः = हरिणसमूह को छिन्न-भिन्न करनेवाला, गजः = हाथी, नः = हमारी, तपसः = तपस्या के, मूर्तः = शरीरधारी, विघ्न की, इव = तरह, धर्मारण्यम् = तपोवन में, प्रविशति = प्रवेश कर रहा है ॥

टीका—तीव्रेति। स्यन्दनालोकभीतः—स्यन्दनस्य = रथस्य आलोकात् = दर्शनात् भीतः = त्रस्तः; तीव्राघातेत्यादिः—तीव्रः = उत्कटः यः आघातः = पलायनविषये भाविकः संघट्टः तेन प्रतिहतः = भग्नः यः, तरुः = वृक्षः तस्य स्कन्धे = शाखायां लग्नः = सक्तः एकः दन्तः = रदः यस्य स तादृशः; पादाकृष्टेत्यादिः—पादाभ्याम् = चरणाभ्याम् आकृष्टं यद्व्रततिवलयम् = लताजालस्तस्यासङ्गेन = समन्तात् संलग्नेन संजातः = समुत्पन्नः पाशः = पदबन्धनरज्जुर्यस्य तथाविधः, भिन्नसारङ्गयूथः—भिन्नम्

और भी—

रथ को देखकर भयभीत, वेगपूर्ण टकराहट से टूटी हुई वृक्ष की डाली में फँसा हुआ एक दाँतवाला, पैर से खींचे गये लता-समूह के लिपटने से उत्पन्न पाशवाला, हरिण-समूह को छिन्न-भिन्न करनेवाला हाथी, हमारी तपस्या के शरीरधारी विघ्न की तरह, तपोवन में प्रवेश कर रहा है ॥३३॥

(सभी लड़कियाँ कान लगाकर सुनती हैं और कुछ घवड़ा-सी जाती हैं)

राजा—(अपने आप) ओह, धिक्कार है। नगरवासी हमें ढूंढ़ते हुए तपोवन को पीडित कर रहे हैं। अच्छा, अब (तावत्) लौटूँगा।

दोनों सखियाँ—आर्य, इस जङ्गली हाथी के वृत्तान्त से हम लोग घवड़ा गई हैं। (अतः) हम लोगों को कुटी पर जाने की आज्ञा दीजिये।

विद्रावितानि सारङ्गाणाम् = मृगाणाम् यूथानि = कुलानि येन स तादृशः, गजः = हस्ती, नः = अस्माकम्, तपसः = तपस्यायाः, मूर्तः = शरीरी, विघ्नः = अन्तरायः, इव = यथा, धर्मारण्यम् = तपोवनम्, प्रविशति = आगच्छति। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। मन्दाक्रान्ता च छन्दः ॥३३॥

टिप्पणीः—स्यन्दनालोकभीतः—हाथी तपोवन का था। उसने रथ आज पहली बार देखा है। फलतः भयभीत होकर भाग रहा है। भागते हुए वह एक वृक्ष से टकरा गया है। टकराहट से वृक्ष की एक डाल टूट कर उसके दाँत में फँस गई है। वह उसे लेते हुए भाग रहा है। भागते समय लताएँ उसके पैर में फँसती जाती थीं और वह उनको खींचता जाता था। परिणामस्वरूप पैर में लताओं की बेड़ी-सी पड़ गई है।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा मन्दाक्रान्ता छन्द है। छन्द के लक्षण के लिये देखिये १।१५ की टिप्पणी ॥३३॥

व्युत्पत्तिः—मूर्तः—मूर्च्छ् + क्त + विभक्तिकार्यम्। **विघ्नः**—वि + हन् + क + विभक्तिः ॥३३॥

शब्दार्थः—किञ्चिदिव = थोड़ा-सा, कुछ, सम्भ्राताः = घवड़ा गईं। पौराः = नगरवासी, उपरुन्धन्ति = पीडित कर रहे हैं। प्रतिगमिष्यामः = लौटूँगा। आरण्यकवृत्तान्तेन = जङ्गली हाथी के वृत्तान्त से, पर्याकुलाः = व्याकुल, घवड़ा गई। अनुजानीहि = आज्ञा दीजिये, उटजगमनाय = कुटी पर जाने के लिए ॥

टीका—सर्वा इति। किञ्चिदिव = स्वल्पमिव, सम्भ्रान्ताः = भीताः। पौराः = नागरिकाः, उपरुन्धन्ति = पीडयन्ति। प्रतिगमिष्यामः = प्रत्यावृत्ताः भविष्यामः। आरण्यकवृत्तान्तेन-आरण्यकस्य = वनगजस्य वृत्तान्तेन = वार्त्तया करणेन, पर्याकुलाः = सन्त्रस्ताः स्मः। अनुजानीहि = अनुमन्यस्व, उटजगमनाय—उटजे = पर्णशालायाम् गमनाय = गमनाय ॥

टिप्पणी—पौराः—नागरिक। यहाँ राजा इस शब्द से अपने सैनिकों का सङ्केत कर रहा है ॥

राजा--(ससंभ्रम्) गच्छन्तु भवत्यः। वयमप्याश्रम
यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे।

(सर्वं उत्तिष्ठन्ति

सख्यौ--आर्य, असंभावितातिथिसत्कारं भूयोऽपि प्रे
निमित्तं लज्जामह आर्यं विज्ञापयितुम्। [
असंभाविदादिहिसक्कारं भूओ वि पेक्खणणिमित्तं ल
अज्जं विण्णविदुं।]

राजा--मा मैवम्। दर्शनेनैव भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि

शकुन्तला--अनसूये, अभिनवकुशसूच्या परिक्षतं मे
कुरबकशाखापरिलग्नं च वल्कलम्। तावत् परिपालय
यावदेतन्मोचयामि। [अणसूये, अहिणअकुससूइए परि
मे चलणं कुरवअसाहापरिलग्गं अ वक्कलं। दाव परि
मं जाव णं मोआवेमि।]

(शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य
सखीभ्यां निष्क्रान्ता।)

राजा--मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति। यावदनु
कान् समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम्। न
शक्नोमि शकुन्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम्। मम

व्युत्पत्तिः—दत्त्वा—√दा + क्त्वा। किञ्चित्—किम् + चित्। (चित,
अपि जोड़कर प्रश्नार्थक पद को अप्रश्नार्थक बनाया जाता है।) सम्भ्रान्ता :—
भ्रम् + क्त + विभक्तिकार्यम्॥

शब्दार्थः—आश्रमपीडा = आश्रम को कष्ट, प्रयतिष्यामहे = प्रयास
असम्भावितातिथिसत्कारम् = बिना अतिथि-सत्कार किये गये, प्रेक्षणनिमित्तम्
देने के लिये, विज्ञापयितुम् = निवेदन करने में। पुरस्कृतः = सत्कृत, सम्
सव्याजम् = बहाने के साथ॥

टीका—राजेति। आश्रमपीडा—आश्रमस्य = तपोवनस्य पीडा = उपरोधः

राजा—(घबराहट के साथ) जाँय आप लोग। हम भी वैसा ही प्रयास करेंगे जिससे कि आश्रम को कष्ट न हो।

(सभी उठ खड़े होते हैं)

दोनों सखियाँ—आर्य, (सम्प्रति) विना अतिथि-सत्कार किये गये आपसे पुनः दर्शन देने के लिये निवेदन करने में हम लोग लज्जित हो रही हैं।

राजा—नहीं, ऐसा मत (कहिए)। आप लोगों के दर्शन से ही मैं सम्मानित हो गया हूँ।

शकुन्तला—अनसूया, नये कुश की नोक मेरे पैर में चुभ गई और मेरा वल्कल कुरवक की डाल में फँस गया है। जब तक मैं इसे छुड़ाती हूँ तब तक मेरी प्रतीक्षा करो।

(शकुन्तला राजा को देखती हुई बहाने के साथ कुछ रुककर सखियों के साथ निकल गई)

राजा—नगर की ओर वापस जाने के प्रति मैं क्षीण उत्सुकतावाला हो गया हूँ (अर्थात् नगर की ओर वापस जाने की मेरी उत्सुकता समाप्त हो गई है)। तो अपने अनुयायियों को, मिलकर, आश्रम से कुछ दूरी पर ठहराता हूँ। मैं अपने आपको शकुन्तला की ओर प्रवृत्ति से रोकने में समर्थ नहीं हो सकता हूँ। क्योंकि मेरा—

इति यावत्, प्रयतिष्यामहे = प्रयत्नवान् भविष्यामि। असम्भाविततातिथिसत्कारम्—असम्भावितः = अकृतः अतिथेः = अभ्यागतस्य सत्कारः = पूजा यस्य तादृशम्, प्रेक्षणनिमित्तम् = दर्शनार्थम्, विज्ञापयितुम् = अभ्यर्थयितुम्। पुरस्कृतः = सत्कृतः। सव्याजम्—व्याजेन = छलेन सह सव्याजम् = छल-पूर्वकम्।

टिप्पणी—**लज्जावहे**—सखियों के कहने का भाव यह है कि—आप बड़ी कृपा करके हमारे आश्रम में पधारे। हम आपका स्वल्प भी सत्कार न कर सकीं। ऐसी अवस्था में हमें यह कहने में बड़ा सङ्कोच हो रहा है कि आप फिर आकर दर्शन दीजियेगा।

सव्याजम्—सभी राजा के पास से उठकर चल दीं। शकुन्तला जाना न चाहती थी। अतः कभी पैर में कुश गड़ जाने का बहाना करती तो कभी झाड़ियों में वल्कल फँसा देती। यही था उसका बहाना।

व्युत्पत्तिः—**विज्ञापयितुम्**—वि + √ज्ञा + णिच् + तुमुन्। **पुरस्कृतः**—पुरस् + कृ + क्त + विभक्तिकार्यम्। **परिक्षतम्**—परि + क्षण् + क्त + विभक्तिः।

शब्दार्थः—मन्दौत्सुक्यः = क्षीण उत्सुकतावाला, अनुयात्रिकान् = अनुयायियों को, समेत्य = मिलकर। निवर्तयितुम् = रोकने में।

टीका—**राजेति**। मन्दौत्सुक्यः—मन्दम् = मृदु औत्सुक्यम् = उत्कण्ठा यस्य तथाविधः, अनुयात्रिकान् = अनुगामिनः, समेत्य = सम्प्राप्य। निर्वतयितुम् = निवारयितुम्।

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥३

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

प्रथमोऽङ्कः।

टिप्पणी—आत्मानं निवर्तयितुम्—राजा के कहने का भाव यह है कि शकु सौन्दर्य ने मुझे इतना अभिभूत कर लिया है कि अब उसे बिना प्राप्त किये घर जाने की बिलकुल अभिलाषा नहीं है।

अन्वयः—शरीरम्, पुरः, गच्छति; चेतः, प्रतिवातम्, नीयमानस्य, केतोः, चीनां इव, असंस्तुतम् (सत्), पश्चात्, धावति ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—शरीरम् = शरीर, पुरः = आगे की ओर, गच्छति = जा रहा है; चित्त, प्रतिवातम् = हवा के विपरीत, नीयमानस्य = ले जाये जाते हुए, केतोः = दण्ड के, चीनांशुकम् = चीनी-वस्त्र (चीन देश में निर्मित रेशमी वस्त्र) की, इव = असंस्तुतं (सत्) = अपरिचित-सा (होकर), पश्चात् = पीछे की ओर, धावति = है ॥ ३४ ॥

टीका—गच्छतीति। शरीरम् = वपुः, पुरः = अग्रे, गच्छति = व्रजति, किन्तु चित्तम्, प्रतिवातम् = वायोः प्रतिकूलम्, नीयमानस्य = उह्यमानस्य, चाल्य यावत्, केतोः = ध्वजस्य, ध्वजदण्डस्येत्यर्थः, चीनांशुकम् = चीनदेशनिर्मितं वस्त्र यथा, असंस्तुतम् = अपरिचितं सत्, पश्चात् = शकुन्तलाभिमुखमित्यर्थः, धावति = गच्छति। यथा ध्वजदण्डे प्रतिवातं नीयमाने तत्र संलग्नमतिसूक्ष्मं चीनदेशवस्त्रं वे देवोत्पतति तथैव मयि पुरो गच्छत्यपि मम चेतस्तु शकुन्तलाभिमुखमेव धावतीति अत्रानुप्रास उपमा चालङ्कारौ। आर्या च छन्दः ॥३४॥

इति निष्क्रान्ताः सर्वे। पात्राणां रङ्गमञ्चात् बहिर्गमनमङ्कसमाप्तिसूचक इति रमाशङ्करत्रिपाठिकृतायामभिज्ञानशाकुन्तलव्याख्यायां रमाख्यायां प्रथमो

टिप्पणी—गच्छति धावति—इससे यह भाव व्यक्त किया गया है कि शरी गति से आगे की ओर बढ़ रहा है और मन अति वेग से शकुन्तला की ओर जा रहा है।

शरीर आगे की ओर जा रहा है और चित्त, हवा के विपरीत ले जाए जाते हुए ध्वज-दण्ड के चीनी-वस्त्र (चीन देश में निर्मित रेशमी वस्त्र) की तरह, अपरिचित-सा (होकर) पीछे की ओर भाग रहा है ।। ३४ ।।

(इस प्रकार सभी निकल गये)

।। प्रथम अङ्क समाप्त ।।

*

असंस्तुतम्––मन मेरा है। पर लगता है यह मुझे बिलकुल नहीं जानता है। प्रतीत होता है यह शकुन्तला का ही अतिघनिष्ठ हो गया है। तभी तो उसकी ओर दौड़ रहा है।

चीनांशुकमिव––चीन देश में बने रेशमी वस्त्र की भाँति।

प्रतिवातं नीयमानस्य––कल्पना कीजिए पुरवा हवा बह रही है। उसी समय पताका लेकर पूरब की ओर चलिए। ऐसी दशा में उसका कपड़ा पश्चिम की ओर उड़ेगा। पताका का दण्ड पूरब की ओर जा रहा है और उसका कपड़ा पश्चिम की ओर। ठीक यही हालत दुष्यन्त के शरीर और मन की भी है।

इस श्लोक में अनुप्रास और उपमा अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण:––

"यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ।।" ३४ ।।

व्युत्पत्तिः––असंस्तुतम्––अ+सम्+स्तु + क्त + विभक्त्यादिकार्यम् । नीयमानस्य = √नी + शानच्+षष्ठ्येकवचने विभक्तिकार्यम् ।।३४।।

।। समाप्तः प्रथमोऽङ्कः ।।

●

(ततः प्रविशति विषण्णो विदूषकः)

विदूषकः—(निःश्वस्य) भो दिष्टम् । एत
मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि । अ
मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपा
पच्छायासु वनराजिष्वाहिण्डयतेऽटवीतोऽटवी । पत्रसंकर
षायाणि कटुष्णानि गिरिनदीजलानि पीयन्ते । अनियत
शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते । तुरगानुधावनकण्डि
संधे रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति । ततो महत
प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाह
प्रतिबोधितोऽस्मि । इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्राम
ततो गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः । ह्यः किलास्मास्ववही
तत्रभवतो मृगानुसारेणाश्रमपदं प्रविष्टस्य तापसकन्
शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता । साम्प्रतं नगरगमनाय
कथमपि न करोति । अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष
प्रभातमासीत् । का गतिः । यावत्तं कृताचारपरिक्रमं पश्या
(इति परिक्रम्यावलोक्य च) एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभि
पुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस
भवतु । अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि । यद्येव
नाम विश्रमं लभेय । (इति दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थितः
[भो दिट्ठं । एदस्स मअआसीलस्स रण्णो वअस्सभा

शब्दार्थः—मृगयाशीलस्य = शिकार के व्यसनी, वयस्यभावेन = मित्रता से,
ण्णः = ऊब गया हूँ, खिन्न हो गया हूँ । ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु = गर्मी के कारण
की विरल छायावाली, वनराजिसु = वन श्रेणियों में, जङ्गल की कतारों में, आहि
= घूमना पड़ता है, भटकना पड़ता है, अटवीतः = घोर जङ्गल से । पत्रसङ्करकषाय
पत्तों के मिलने से कसैला, कटूनि = कटु, कड़वा । अनियतवेलम् = अनियमित सम

द्वितीय अङ्क

(तदनन्तर खिन्न विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक—(लम्बी साँस लेकर) अरे भाग्य ! शिकार के व्यसनी इस राजा की मित्रता से ऊब गया हूँ। यह मृग है, यह सूअर है, यह शेर है—इस प्रकार (चिल्लाते हुए) दोपहरी में भी, गर्मी के कारण वृक्षों की विरल छायावाली वन-श्रेणियों में, एक घोर जङ्गल से दूसरे घोर जङ्गल में, भटकना पड़ता है। पत्तों के मिलने से कसैला कड़वा पहाड़ी नदियों का जल पीना पड़ता है। अनियमित समय पर प्रायः भुने हुए मांसवाला भोजन खाना पड़ता है। घोड़ा दौड़ाने से फट रही जोड़ों वाले (मेरा) रात में भी पर्याप्त शयन नहीं हो पाता। फिर (आज तो) अति भोर में ही दासी के बच्चे बहेलियों के द्वारा, जङ्गल घेरने के कोलाहल से, जगा दिया गया हूँ। इतने पर भी अभी पीड़ा शान्त नहीं हुई (अर्थात् इतने पर भी अभी अनर्थ-परम्परा समाप्त नहीं हुई)। यह और फोड़े के ऊपर फोड़ा हो गया है। कल हम लोगों के पीछे रह जाने पर पूज्य राजा मृग का पीछा करते-करते जब आश्रम में प्रवेश किये तब उन्हें हमारे दुर्भाग्य से एक तपस्वि-कन्या शकुन्तला दिखलाई पड़ी। अब (वे) नगर को वापस जाने की इच्छा भी नहीं कर रहे हैं। आज भी वे (रात भर) उसी (शकुन्तला) की चिन्ता करते रहे और जागते-जागते रात बीत गई। क्या उपाय है ? तो स्नान आदि दैनिक कृत्य से निवृत्त हुए उनसे (अभी) मिलूँगा। (घूम कर और देख कर) यह मेरे प्रिय मित्र (दुष्यन्त) धनुष धारण की हुई, जङ्गली फूलों की माला पहने हुई यवनियों (पारसी स्त्रियां) से घिरे हुए इधर ही आ रहे हैं। ठीक है, अङ्ग-भङ्ग से व्याकुल-सा होकर (यहीं) रुक जाता हूँ। शायद इसी तरह (मुझे) विश्राम मिल जाय। (ऐसा कह कर डंडे के सहारे खड़ा हो जाता है)।

शूल्यमांसभूयिष्ठः = प्रायः भुने हुए मांसवाला,। तुरगानुधावनकण्डितसंधेः = घोड़ा दौड़ाने से फट रही जोड़ोंवाले, निकामम् = पर्याप्त। प्रत्यूषे=भोर में, दास्याः पुत्रैः = दासी के बच्चे, यह एक प्रकार की गाली है, शकुनिलुब्धकैः = हेलियों के द्वारा, वनग्रहणकोलाहलेन = जङ्गल को घेरने के कोलाहल से, प्रतिबोधितः = जगा दिया गया हूँ। गण्डस्य = फोड़े के, पिण्डकः = फोड़ा। अवहीनेषु = पीछे रह जाने पर, अधन्यतया = दुर्भाग्य से। कृताचार-परिक्रमम् = स्नान आदि दैनिक कृत्य से निवृत्त ॥

टीका—तत इति। विदूषकलक्षणं तु सुधाकरे—'विकृताङ्गवचोवेषैर्हास्यकारी विदूषकः' इति। अस्य प्राकृतं पाठ्यम्। उक्तञ्च—'विदूषकविटादीनां पाठ्यं तु प्राकृतं भवेत्' इति। मृगयाशीलस्य = आखेटरतस्य, वयस्यभावेन = स्निग्धत्वेन, ('वयस्यः स्निग्धः सवयाः' इत्यमरः), निर्विण्णः = दुःखितः। ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु—विरला = अल्पा पादपानाम् = वृक्षाणाम् छाया = अनातपः यासु तथोक्तासु, वनराजिषु=कानन-श्रेणिषु, आहिण्डयते = परिभ्रम्यते, अटवीतः = विपिनतः ('अटव्यरण्यं विपिनं' इत्य-मरः)। पत्रसङ्करकषायाणि—पत्राणाम् = पर्णानाम् सम्मेलनेन कषायाणि= आरक्तानि

णिव्विण्णो म्हि । अअं मओ अअं वराहो अअं सद्दूलो । मज्झण्णे वि गिम्हविरलपाअवच्छाआसु वणराईसु आहिण्डीअदि अडवीदो अडवी । पत्तसंकरकसाआइं कदुण्हाइं गिरिणईजलाइं पीअन्ति । अणिअदवेलं सुल्लमंसभूइट्ठो आहारो अण्हीअदि । तुरगाणुधावणकण्डिदसन्धिणो रत्तिम्मि वि णिकामं सइदव्वं णत्थि । तदो महन्ते एव्व पच्चूसे दासीएपुत्तेहिं सउणिलुद्धएहिं वणग्गहण-कोहाहलेण पडिबोधिदो म्हि । एत्तएण दाणिं वि पीडा ण णिक्कमदि । तदो गण्डस्य उवरि पिण्डओ संवुत्तो । हिओ किल अह्मेसु ओहीणेसु तत्तहोदो मआणुसारेण अस्समपदं पविट्ठस्स तावसकण्णआ सउन्दला मम अधण्णदाए दंसिदा । संपदं णअरगमणस्स मणं वि ण करेदि । अज्ज वि से तं एव्व चिन्तअन्तस्स अच्छीसु पभादं आसि । का गदी । जाव णं किदाचारपरिक्खकमं पेक्खामि । एसो बाणासणहत्थाहिं जवणीहिं वणपुप्फमालाधारिणीहि पडिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो । होदु । अङ्गभङ्गविअलो भविअ चिट्ठिस्सं । जइ एव्वं वि णाम विस्समं लहेअं ।]

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारो राजा ।)

राजा—(आत्मगतम्)

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि ।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥१॥

('कषायो रसभेदे स्यात्' इत्युपक्रम्य 'सुरभौ लोहिते त्रिषु' इति मेदिनी), कटूनि = विरसानि । अनियतवेलम्—अनियता = अनिश्चिता वेला = समयः कर्मणि तत् यथा तथा, अनिश्चितसमयमित्यर्थः, शूल्यमांसभूयिष्ठः—शूल्यम् = यत् मांसम् = आमिषम् तेन भूयिष्ठः = बहुलः । लोहशलाकया मांसं संग्रथ्य तच्छूल्यमांसम्, ('शूलाकृतं भरित्रं स्याच्छूल्यम्, इत्यमरः), आहारः = भोजनम् । तुरगानुधावनकण्डितसन्धेः—तुरगेण = अश्वेन यत् अनुधावनम् = मृगानुसरणम् तेन कण्डिताः कुट्टिताः सन्धयः यस्य तथाविधस्य, निकामम् = पर्याप्तम् । प्रत्यूषे = ब्राह्ममुहूर्ते, पुत्रैः = दासीसुतैः, अलुक् समासोऽयम्, तस्योद्वेगदायित्वाद्गालिप्रदानम्, शकुनिलुब्धकैः पक्षिव्याधैः, वनग्रहणकोलाहलेन—वनस्य = अरण्यस्य ग्रहणम् = वेष्टनम् यः कोलाहलः = कलकलस्तेन, प्रतिबोधितः = जागरितः । गण्डस्य = स्फोटस्य

(तदनन्तर पूर्वनिर्दिष्ट परिवार के साथ राजा प्रवेश करता है।)

राजा—(अपने आप)—

यद्यपि प्रिया (शकुन्तला) प्राप्त नहीं हुई, तथापि (मेरा) मन उसकी (प्रेमभरी) चेष्टाओं को देखकर (सफलता के विषय में) आश्वस्त है। कामभाव के सफ़ल न होने पर भी दोनों (प्रेमी एवं प्रेमिका) की (परस्पर) अभिलाषा प्रेम को उत्पन्न करती (ही) है॥१॥

पिण्डकः = स्वल्पः स्फोटः। **अवहीनेषु** = पश्चात् स्थितेषु, **अधन्यतया** = दौर्भाग्येन। **कृताचारपरिक्रमम्**—कृतः = सम्पादितः आचारस्य = स्नानादिनियमस्य परितः क्रमः येन तम्, कृताचारपरिग्रहमिति पाठे—कृतः आचरस्य = मृगयाव्यापारानुष्ठानस्य परिग्रहः = वेशग्रहणम् येन तथोक्तम्॥

टिप्पणीः—विदूषकः—यह हास्यप्रिय पात्र होता है। इसके अङ्ग टेढ़े-मेढ़े होते हैं। इसकी वोली अटपटी हुआ करती है। यह राजा का मित्र होता है। देखिए टीका।

शूल्यमांस० = काँटे पर भुना हुआ मांस, कबाब लोहे के पतले छड़ में मांस के टुकड़ों को गोद-गोद कर लम्बी माला-सी तैयार कर लेते हैं और उसे फिर भट्ठी की आग पर भुनते हैं। यही है शूल्यमांस।

यवनीभिः—'यवनी' शब्द का प्रयोग फारस की लड़कियों के लिये हुआ है। ये सुन्दरी लड़कियाँ राजा के पास परिचारिका के रूप में रहा करती थीं। कालिदास ने फारस देश की स्त्रियों के लिए यवनी शब्द का प्रायः प्रयोग किया है—"पारसीकांस्ततो जेतुं·········यवनीमुखपद्मानाम्। (रघु० ४-६०, ६१)। किन्तु प्राचीन साहित्य में यूनान, फारसी तथा अरव आदि देशों की महिलाओं के लिये 'यवनी' शब्द का प्रयोग किया गया है॥

व्युत्पत्तिः—निर्विण्णः—खिन्न। निर् + √ विद् + क्त + विभक्त्यादिकार्यम्।

दास्याः पुत्रैः—नीचैः। 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' (६-३-२२) इत्यनेन षष्ठ्याः अलुक्।

अवहीनेषु—अव + √ हा + क्त + सप्तमी बहुवचने विभक्तिकार्यम्॥

अन्वयः—कामम्, प्रिया, न, सुलभा; तु, (मम), मनः, तद्भावदर्शनाश्वासि, (आस्ते); मनसिजे, अकृतार्थे, अपि, उभयप्रार्थना, रतिम्, कुरुते॥१॥

शब्दार्थः—कामम् = यद्यपि, प्रिया = प्रेयसी (शकुन्तला), न = नहीं, सुलभा = प्राप्त हुई; तु = तथापि, (मम = मेरा), मनः = मन, तद्भावदर्शनाश्वासि = उसकी चेष्टाओं को देखकर आश्वस्त, (आस्ते = है); मनसिजे = काम के, अकृतार्थे = सफल न होने पर, अपि = भी, उभयप्रार्थना = दोनों की अभिलाषा, रतिम् = प्रेम को, कुरुते = उत्पन्न करती है॥१॥

टीका—काममिति। कामम् = यद्यपि, स्वीकारेऽव्ययपदम्, प्रिया = प्रियतमा शकुन्तलेत्यर्थः, न सुलभा = न सुप्राप्या; तु = तथापि, ममेति शेषः, मनः = चेतः, तद्भावदर्शनाश्वासि—तस्याः = शकुन्तलायाः इत्यर्थः भावस्य = कामचेष्टायाः दर्शनेन = अवलोकनेन आश्वासि = आश्वस्तमास्ते। साऽपि मां वाञ्छति। तस्याः प्राप्तिर्न दुर्लभेति

(स्मितं कृत्वा) एवमात्माभिप्रायसंभावितेष्टजनचित्त-वृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते।

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत् किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति ॥२॥

मत्वाऽऽश्वस्तमास्ते इत्यभिप्रायः। मनसिजे = कामे, अकृतार्थे = अचरितार्थे, अपि-असङ्गमेऽपि इति भावः, उभयप्रार्थना—उभयोः=द्वयोः, प्रियायाः प्रियस्यचेत्यर्थः, प्रा-समागमलालसा, रतिम् = प्रीतिम्, कुरुते = जनयति। सामान्येन विशेषसमर्थनादर्था-न्यासः। आर्या च छन्दः॥ १॥

टिप्पणी—तद्भावदर्शनाश्वासि—यद्यपि शकुन्तला सम्प्रति मेरे लिये सुलभ न-फिर भी मैं यह जान कर आश्वस्त हूँ कि वह भी मुझे चाहती है। उसकी यह आ-मेरे प्रति प्रकट किये गये उसके हाव-भाव से ज्ञात होती है।

अकृतार्थे—काम तो तब कृतार्थ होता है, जब कि प्रेमी और प्रेमिका एक-मिलकर उसका आनन्द लेते हैं। इसके बिना वह अकृतार्थ ही रहता है।

उभयप्रार्थना—प्रेम एक तरफा नहीं, दोतरफा होता है। प्रेमी और प्रेमिका अ-दूसरे की कामना करते हैं तो प्रेम बढ़ता है।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण-

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥१॥

व्युत्पत्तिः—सुलभा—सु + √ लभ् + खल्(अ) + टाप् + विभक्तिकार्यम् ॥१॥

शब्दार्थः—स्मितम् = मुस्कराहट, आत्माभिप्राय-संभावितेष्टजन-चित्तवृत्तिः= भावों के अनुसार प्रिय व्यक्ति के मनोभावों की कल्पना करनेवाला, प्रार्थयिता= वाला व्यक्ति, कामी, प्रेमी, विडम्ब्यते = उपहास का पात्र होता है॥

टीका—स्मितं कृत्वेति। स्मितम् = ईषद्धास्यम्। आत्माभिप्रायेत्यादिः—आ-प्रायेण, स्वाभिप्रायेण, स्वचित्तवृत्त्यनुसारमित्यर्थः, संभाविता = संभावनया नीता, क-यावत्, इष्टजनस्य = प्रियव्यक्तेः, प्रार्थ्यजनस्येत्यर्थः, चित्तवृत्तिः = मनोऽभिप्रायः प्रार्थयिता = कामी, विडम्ब्यते = उपहासास्पदं भवतीत्यर्थः। कर्मकर्तरि प्रयोगः॥

टिप्पणी—विडम्यते—गङ्गाजी के तट पर या कॉलेज में एक युवक और यु-भेंट हुई। युवक उस युवती को तृष्णातुर दृष्टि से देख रहा था। युवती ने सो-

(मुस्करा कर) इसी प्रकार अपने भावों के अनुसार प्रिय व्यक्ति के मनोभावों की कल्पना करनेवाला कामी उपहास का पात्र होता है।

दूसरी ओर भी नेत्रों को प्रेरित करती हुई उसके द्वारा जो (मेरे ऊपर) प्रेमभरी निगाह डाली गई, नितम्बों की विशालता के कारण मानो लीलापूर्वक जो शनैः शनैः गमन किया गया, 'मत जाओ' ऐसा कह कर रोकी गई (उस प्रियतमा के द्वारा) वह सखी (प्रियंवदा) भी जो ईर्ष्यापूर्वक कही गई, वह सब कुछ, निश्चय ही, मेरे लिये था। ओह, कामी व्यक्ति अपनी ही बात (सर्वत्र) देखता है ॥ २ ॥

कोई परिचित व्यक्ति है क्या ? क्योंकि मुझे ध्यान से देख रहा है। अतः उसने भी पवित्र भाव से एक क्षण तक युवक को देखा। युवक प्रफुल्लित हो उठा। उसने सोचा यह भी मुझे चाहती है। अतः पीछे पड़ गया। फिर तो समाज में उसकी जो हँसी हुई उससे आज का प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। यही है भाव दुष्यन्त के कहने का।

अन्वयः—अन्यतः, अपि, नयने, प्रेरयन्त्या, तया, यत्, स्निग्धम्, वीक्षितम्; नितम्बयोः, गुरुतया, विलासात्, इव, यत्, मन्दम्, यातम्; मा गाः, इति, उपरुद्धया, (तया), सा, सखी, यत्, अपि, सासूयम्, उक्ता; तत्, सर्वम्, मत्परायणम्, किल, अहो, कामी, स्वताम्, पश्यति ॥ २ ॥

शब्दार्थः—अन्यतः=दूसरी ओर, अपि=भी, नयने=नेत्रों को, प्रेरयन्त्या=प्रेरित करती हुई, डालती हुई, तया=उसके दारा, यत्=जो, स्निग्धम्=प्रेमभरी, वीक्षितम्=निगाह डाली गई; नितम्बयोः=नितम्बों की, चूतड़ों की, गुरुतया=विशालता के कारण, विलासात्=लीलापूर्वक, इव=मानो, यत्=जो, मन्दम्=शनैः शनैः, यातम्=गमन किया गया; मा गाः=मत जाओ, इति=ऐसा कह कर, उपरुद्धया=रोकी गई, (तया=उस प्रियतमा के द्वारा), सा=वह, सखी=सखी, अपि=भी, यत्=जो, सासूयम्=ईर्ष्यापूर्वक, उक्ता=कही गई; तत्=वह, सर्वम्=सब कुछ, मत्परायणम्=मेरे लिए ही था, किल=निश्चय ही; अहो=ओह, कामी=कामी व्यक्ति, स्वताम्=अपनी ही बात, पश्यति=देखता है ॥ २ ॥

टीका—पूर्वोक्तमेव विशिष्य दर्शयति—स्निग्धमिति। अन्यतः=अन्यस्मिन् विषये, अपि=च, नयने=नेत्रे, प्रेरयन्त्या=निक्षिपन्त्या, तया=प्रेयस्या शकुन्तलया, यत्, स्निग्धम्=सानुरागमित्यर्थः, वीक्षितम्=अवलोकितम्। साभिलाषं व्याजावलोकनं कृतमिति भावः। नितम्बयोः=कटिपश्चाद्भागयोः, गुरुतया=स्थूलतया, विलासादिव=भावव्यञ्जकचेष्टयेव, विभ्रमच्छलादिवेत्यर्थः, यत्, मन्दम्=मृदु, यातम्=गमनं कृतम्। यद्विलम्बार्थं गमनं कृतमिति भावः। 'नितम्बयोः' इति द्विवचनेन मध्यनिम्नतागौरवाद्याधिक्यं यौवनोज्जृम्भणं च ध्वनितमिति राघवभट्टपादाः। 'मा गाः'=न गच्छ, इति=अनेन प्रकारेण, इत्युक्त्वा वा, उपरुद्धया=निवारितया, तया शकुन्तलया, सा=अतिप्रिया हृदयरूपा चेत्यर्थः, सखी=वयस्या प्रियंवदा, यत्, अपि, सासूयम्=सेर्ष्यम्, उक्ता=

विदूषकः—(तथास्थित एव) भो वयस्य, न हस्तपादं प्रसरति । तद् वाङ्मात्रेण जापयिष्यामि । जयतु भवान् । [भो वअस्स, ण मे हत्थपाआ पसरन्ति । वाआमेत्तएण जीआवइस्सं । जेदु जेदु भवं ।]

राजा—कुतोऽयं गात्रोपघातः ?

विदूषकः—कुतः किल स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि । [कुदो किल सअं अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि ।]

राजा—न खल्ववगच्छामि ।

विदूषकः—भो वयस्य, यद् वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति, तत् किमात्मनः प्रभावेण, ननु नदीवेगस्य ? [भो वअस्स, जं वेदसो कुज्जलीलं विडम्बेदि, तं किं अत्तणो पहावेण, णं णईवेअस्स ?]

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम् ।

विदूषकः—ममापि भवान् । [मम वि भवं ।]

राजा—कथमिव ।

कथिता । तत्र स्थित्यर्थमिति भावः । अपिः समुच्चयार्थे । तत्सर्वम्=स्निग्धवी-क्षणमन्दगमनसेर्ष्यवचनादि, मत्परायणम्=अहमेव परम्=केवलम् अयनम्=आश्रयो विषय इत्यर्थः, यस्य तथाभूतम्, मदर्थे कृतमित्यर्थः । अहो=आश्चर्यम्, कामी=कामो-पहतचित्तः, स्वताम्=आत्मीयताम्, स्वविषयतामित्यर्थः, पश्यति=अवलोकयति, विभाव-यतीति यावत् । किलेति प्रसिद्धौ ('वार्तायामरुचौ किल' इत्यमरः) । अत्र अर्थान्तरन्यासः सालङ्कारः शार्दूलविक्रीडितञ्च छन्दः ॥ २ ॥

टिप्पणी—(१) एक ओर से दृष्टि हटाकर दूसरी ओर ले जाती हुई भी शकुन्तला ने स्वभावतः जो मुझको देखा, (२) नितम्बों के भारी होने के कारण भी स्वभावतः वह धीरे-धीरे गई, तथा (३) प्रियम्वदा के रोकने पर भी ईर्ष्यापूर्वक जो कुछ उसने कहा, यह सब मेरे ही लिये हुआ है, ऐसा मैं समझता हूँ । यह है दुष्यन्त का कथन ।

स्वतां पश्यति—कामी व्यक्ति किसी सुन्दरी के पीछे पड़ा है । सुन्दरी ने स्वाभाविक ढङ्ग से एक-दो बार उसे भी देख लिया । बस, क्या है ? श्रीमान् जी ने

विदूषकः—(उसी प्रकार खड़ा होकर ही) हे मित्र, मेरे हाथ-पैर नहीं फैल रहे हैं। (अतः) वचनमात्र से (आपकी) जय कहता हूँ। विजयी बनें आप विजयी बनें।

राजा—(मुस्करा कर) यह अङ्ग-भङ्ग कैसे हुआ ?

विदूषक—क्यों, स्वयं आँख को खोंच कर (अर्थात् आँख में उंगली डालकर) आँसू का कारण पूछ रहे हो ?

राजा—नहीं समझ पाया (मैं)।

विदूषक—हे मित्र, वेंत जो टेढ़ा होने की लीला की नकल करता है, तो क्या (वह) अपने प्रभाव से (वैसा करता है) अथवा नदी के वेग के प्रभाव से ?

राजा—उसमें नदी का वेग कारण है।

विदूषक—(तो) मेरे भी आप (कारण हैं)।

राजा—कैसे ?

लगे कि वह तो मुझ पर मरती है। यही है 'कामी स्वतां पश्यति' का भाव ॥ २ ॥

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण:—

"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" ॥२॥

व्युत्पत्तिः—स्निग्धम्—√स्निह् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥२॥

शब्दार्थ :—हस्तपादम् =हाथ-पैर। वाङ्मात्रेण=वचनमात्र से, जापयिष्यामि = जय कहता हूँ। गात्रोपघातः = अङ्ग-भङ्ग। अक्षि = आँख को, आकुलीकृत्य=खोंच कर, व्याकुल कर, अश्रुकारणम् = आँसू का कारण। अवगच्छामि = समझ पाया।

टीका—विदूषक इति। हस्तपादम्—हस्तौ च पादौ च इति हस्तपादम् = करचरणम्। प्राण्यङ्गत्वात् एकवचनं नपुंसकता च। वचनमात्रेण = वचसा एव, जापयिष्यामि=जयशब्दमुच्चारयिष्यामि। गात्रोपघातः—गात्रस्य=शरीरस्य उपघातः = उपमर्दः, अङ्गवैकल्यमिति यावत्। अक्षि = नेत्रम्, आकुलीकृत्य = व्याकुलं विधाय, अश्रुकारणम्—अश्रुणः = नेत्रजलस्य कारणम् = हेतुम्। अवगच्छामि = जानामि ॥

टिप्पणी—प्रसरति—ब्राह्मण का कर्तव्य हैं कि वह राजा को देख कर आगे बढ़ कर तथा दाहिना हाथ उठा कर आशीर्वाद दे ॥

शब्दार्थः—वेतसः = बेंत, कुब्जलीलाम् = टेढ़ा होने की लीला की, विडम्बयति = नकल करता है, नदीवेगस्य = नदी के वेग के। तत्र = उसमें। कारणम् = हेतु है ॥

टीका—विदूषक इति। वेतसः = वृक्षविशेषः, वानीर इति यावत्, कुब्जलीलाम्—कुब्जस्य=वक्रस्य लीलाम्=चेष्टाम्, विडम्बयति=अनुकरोति, नदीवेगस्य=सरित्प्रवाहस्य, प्रभावेणेति शेषः। तत्र=कुब्जलीलायामित्यर्थः। कारणम् = हेतुः ॥

टिप्पणी—कुब्जलीलाम्—बेंत प्रायः नदियों के तटों पर उगते हैं। वे लम्बे तथा लचकदार होते हैं। पानी की लहरों से टकरा कर वे झुक जाते हैं। यही है उनकी कुब्जलीला ॥

विदूषकः—(तथास्थित एव) भो वयस्य, न मे हस्तपादं प्रसरति । तद् वाङ्मात्रेण जापयिष्यामि । जयतु जयतु भवान् । [भो वअस्स, ण मे हत्थपाआ पसरन्ति । ता वाआमेत्तएण जीआवइस्सं । जेदु जेदु भवं ।]

राजा—कुतोऽयं गात्रोपघातः ?

विदूषकः—कुतः किल स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि । [कुदो किल सअं अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि ।]

राजा—न खल्ववगच्छामि ।

विदूषकः—भो वयस्य, यद् वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति, तत् किमात्मनः प्रभावेण, ननु नदीवेगस्य । [भो वअस्स, जं वेदसो कुज्जलीलं विडम्बेदि, तं किं अत्तणो पहावेण, णं णईवेअस्स ?]

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम् ।

विदूषकः—ममापि भवान् । [मम वि भवं ।]

राजा—कथमिव ।

कथिता । तत्र स्थित्यर्थमिति भावः । अपिः समुच्चयार्थे । तत्सर्वम्=स्निग्धवीक्षणमन्दगमनसेर्ष्यवचनादि, मत्परायणम्=अहमेव परम्=केवलम् अयनम्=आश्रयो विषय इत्यर्थः, यस्य तथाभूतम्, मदर्थे कृतमित्यर्थः । अहो=आश्चर्यम्, कामी=कामोपहतचित्तः, स्वताम्=आत्मीयताम्, स्वविषयतामित्यर्थः, पश्यति=अवलोकयति, विचारयतीति यावत् । किलेति प्रसिद्धौ ('वार्तायामरुचौ किल' इत्यमरः) । अत्र अर्थान्तरन्यासालङ्कारः शार्दूलविक्रीडितञ्च छन्दः ॥ २ ॥

टिप्पणी—(१) एक ओर से दृष्टि हटाकर दूसरी ओर ले जाती हुई भी शकुन्तला ने स्वभावतः जो मुझको देखा, (२) नितम्बों के भारी होने के कारण भी स्वभावतः वह धीरे-धीरे गई, तथा (३) प्रियम्वदा के रोकने पर भी ईर्ष्यापूर्वक जो कुछ उसने कहा—यह सब मेरे ही लिये हुआ है, ऐसा मैं समझता हूँ । यह है दुष्यन्त का कथन ।

स्वतां पश्यति—कामी व्यक्ति किसी सुन्दरी के पीछे पड़ा है । सुन्दरी ने अपने स्वाभाविक ढङ्ग से एक-दो बार उसे भी देख लिया । बस, क्या है ? श्रीमान् जी समझ

विदूषकः—(उसी प्रकार खड़ा होकर ही) हे मित्र, मेरे हाथ-पैर नहीं फैल रहे हैं। (अतः) वचनमात्र से (आपकी) जय कहता हूँ। विजयी बनें आप विजयी बनें।

राजा—(मुस्करा कर) यह अङ्ग-भङ्ग कैसे हुआ ?

विदूषक—क्यों, स्वयं आँख को खोंच कर (अर्थात् आँख में उँगली डालकर) आँसू का कारण पूछ रहे हो ?

राजा—नहीं समझ पाया (मैं)।

विदूषक—हे मित्र, बेंत जो टेढ़ा होने की लीला की नकल करता है, तो क्या (वह) अपने प्रभाव से (वैसा करता है) अथवा नदी के वेग के प्रभाव से ?

राजा—उसमें नदी का वेग कारण है।

विदूषक—(तो) मेरे भी आप (कारण हैं)।

राजा—कैसे ?

लगे कि वह तो मुझ पर मरती है। यही है 'कामी स्वतां पश्यति' का भाव ॥ २ ॥

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षणः—

"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" ॥२॥

व्युत्पत्तिः—स्निग्धम्—√स्निह् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥२॥

शब्दार्थ :—हस्तपादम् =हाथ-पैर। वाङ्मात्रेण=वचनमात्र से, जापयिष्यामि = जय कहता हूँ। गात्रोपघातः = अङ्ग-भङ्ग। अक्षि = आँख को, आकुलीकृत्य=खोंच कर, व्याकुल कर, अश्रुकारणम् = आँसू का कारण। अवगच्छामि = समझ पाया।

टीका—विदूषक इति। हस्तपादम्—हस्तौ च पादौ च इति हस्तपादम् = करचरणम्। प्राण्यङ्गत्वात् एकवचनं नपुंसकता च। वचनमात्रेण = वचसा एव, जापयिष्यामि=जयशब्दमुच्चारयिष्यामि। गात्रोपघातः—गात्रस्य=शरीरस्य उपघातः = उपमर्दः, अङ्गवैकल्यमिति यावत्। अक्षि = नेत्रम्, आकुलीकृत्य = व्याकुलं विधाय, अश्रुकारणम्—अश्रुणः = नेत्रजलस्य कारणम् = हेतुम्। अवगच्छामि = जानामि ॥

टिप्पणी—प्रसरति—ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह राजा को देख कर आगे बढ़ कर तथा दाहिना हाथ उठा कर आशीर्वाद दे ॥

शब्दार्थः—वेतसः = बेंत, कुब्जलीलाम् = टेढ़ा होने की लीला की, विडम्बयति = नकल करता है, नदीवेगस्य = नदी के वेग के। तत्र = उसमें। कारणम् = हेतु है ॥

टीका—विदूषक इति। वेतसः = वृक्षविशेषः, वानीर इति यावत्, कुब्जलीलाम्—कुब्जस्य=वक्रस्य लीलाम्=चेष्टाम्, विडम्बयति = अनुकरोति, नदीवेगस्य =सरित्प्रवाहस्य, प्रभावेणेति शेषः। तत्र = कुब्जलीलायामित्यर्थः। कारणम् = हेतुः ॥

टिप्पणी—कुब्जलीलाम्—बेंत प्रायः नदियों के तटों पर उगते हैं। वे लम्बे तथा लचकदार होते हैं। पानी की लहरों से टकरा कर वे झुक जाते हैं। यही है उनकी कुब्जलीला ॥

विदूषकः—एवं राजकार्याण्युज्झित्वैतादृश आकुल प्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया भवितव्यम् । यत्सत्यं प्रत्यह श्वापदसमुत्सारणैः संक्षोभितसन्धिबन्धानां मम गात्राणाम नीशोऽस्मि संवृत्तः। तत् प्रसीद मे। एकाहमपि तावद् विश्रम्यताम् [एव्वं राअकज्जाणि उज्झिअ एआरिसे आउलप्पदे वणचरवुत्तिणा तुए होदव्वं। जं सच्चं पच्चहं साव समुच्छारणेहिं संखोहिअसंधिबन्धाणं मम गत्ताणं अणीसो म्हि संवुत्तो । ता पसीद मे । एक्काहं वि दाव विस्समीअदु ।]

राजा—(स्वगतम्) अयं चैवमाह । ममापि कण्व सुतामनुस्मृत्य मृगयाविक्लवं चेतः । कुतः—

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो
धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु ।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः
कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः ॥३॥

शब्दार्थः—राजकार्याणि = राजकार्यों को, उज्झित्वा = छोड़ कर, एतादृशे = ऐ आकुलप्रदेशे = बीहड़ स्थान में, वनचरवृत्तिना = जङ्गली लोगों के व्यवहार से जंगली लोगों की तरह आचरण करते हुए । प्रत्यहम् = प्रतिदिन, श्वापदसमुत्सारणैः जङ्गली जानवरों का हाँका करने से, संक्षोभितसन्धिबन्धानाम् = दुख रहे अङ्गों जोड़ वाले, गात्राणाम् = शरीरावयवों का, अनीशः = अप्रभु, स्वामी न होना, संवृत्तः रह गया हूँ, एकाहम् = एक दिन; विश्रम्यताम् = विश्राम कीजिये ॥

टीका—विदूषक इति । राजकार्याणि—राज्ञः = नृपतेः कार्याणि = कृत्या उज्झित्वा = त्यक्त्वा, एतादृशे = ईदृशे, भयावहे इत्यर्थः, आकुलप्रदेशे—शृङ्खला देशे श्वापदाकुलस्थाने वा वनचरवृत्तिना—वनेचरस्य = सततं वनविहरणशील व्याधादेः वृत्तिः = मृगयादिरूपः आजीवः इव = यथा वृत्तिः मृगयादिरूप आजी व्यापारो वा यस्य तथोक्तेन, त्वया = भवता । प्रत्यहम् = प्रतिदिनम्, श्वापदसमुत्सारणैः श्वापदानाम् = व्यालमृगाणाम् समुत्सारणैः = विद्रावणैः, संक्षोभितसन्धिबन्धानाम् संक्षोभिताः = सञ्चालिताः सन्धिबन्धाः = प्रत्यङ्गग्रन्थय इत्यर्थः येषां तादृशा गात्राणाम् = शरीरावयवानाम्, अनीशः = अप्रभुः, सञ्चालने असमर्थ इत्यर्थः, संवृत्तः सञ्जातः । एकाहम् = एकं दिनम्, विश्रम्यताम् = विश्रान्तिर्लभ्यताम्, भवता ॥

टिप्पणी—श्वापदसमुत्सारणैः—शिकारी जब जङ्गल में शिकार करने जाते हैं

विदूषक—इस प्रकार राजकार्यों को छोड़ कर ऐसे बीहड़ स्थान में जङ्गली लोगों की तरह आचरण करते हुए आपका रहना (क्या) उचित है ? यह सत्य है कि प्रतिदिन जङ्गली जानवरों का हाँका करने से दुख रहे अङ्गों के जोड़वाले (अपने) शरीरावयवों का (भी मैं) स्वामी नहीं रह गया हूँ (अर्थात् अब मेरे अङ्ग वश में नहीं हैं)। तो मेरे ऊपर कृपा कीजिये। भला एक दिन भी तो विश्राम कीजिए।

राजा—(अपने आप) यह (विदूषक) ऐसा कह रहा है। मेरा भी मन कण्वपुत्री (शकुन्तला) को याद करके शिकार से विरक्त (हो रहा) है। क्योंकि—

जिन्होंने (मेरी) प्रियतमा (शकुन्तला) के सहवास को प्राप्त करके मानो (उसे) मनोहर दृष्टिपात का उपदेश किया है (उन) हरिणों पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चावाले तथा चढ़े हुए बाणवाले इस धनुष को चलाने में नहीं समर्थ हूँ ॥ ३ ॥

उनके साथ का एक दल नगाड़ा आदि पीटते तथा चिल्लाते हुए एक ओर से दूसरी ओर बढ़ते हैं। उनके ऐसा करने से जानवर झाड़ियों आदि से निकल कर सामने की ओर भागते हैं। उसी समय शिकारी उन पर निशाना साधता है। इसे देशी बोली में हाँका कहते हैं

व्युत्पत्तिः—उज्झित्वा—√उज्झ्+क्त्वा। भवितव्यम्—√भू + णिच्+तव्यत्+विभक्तिः ॥

शब्दार्थः—एवम् = ऐसा, इस प्रकार। काश्यपसुताम् = कश्यप गोत्र में उत्पन्न ऋषि (कण्व) की पुत्री (शकुन्तला) को, अनुस्मृत्य = याद करके, मृगयाविक्लवम् = शिकार से विरक्त, चेतः = चित्त।

टीका—राजेति। एवम् = इत्थम्, विश्रमितुमित्यर्थः। काश्यपसुताम्—काश्यपस्य = कश्यपकुले जातस्य कण्वस्य सुताम् = पुत्रीं शकुन्तलाम्, अनुस्मृत्य = ध्यात्वा, मृगयाविक्लवम्—मृगयायाम् = आखेटे विक्लवम् = विह्वलम्, चेतः = हृदयम् ॥

व्युत्पत्तिः—अनुस्मृत्य—अनु+ √ स्मृ+ल्यप्+तुकि रूपसिद्धिः ॥

अन्वयः—यैः, प्रियायाः, सहवसतिम्, उपेत्य, मुग्धविलोकितोपदेशः, कृतः, इव, (तेषु), मृगेषु, अधिज्यम्, आहितसायकम्, इदम्, धनुः, नमयितुम्, न, शक्तः, अस्मि। ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—यैः = जिन्होंने, प्रियायाः = प्रियतमा (शकुन्तला) के, सहवसतिम् = सहवास को, उपेत्य = प्राप्त करके, मुग्धविलोकितोपदेशः = मनोहर दृष्टिपात का उपदेश, कृतः = किया है, इव = मानो, (तेषु=उन), मृगेषु=हरिणों पर, अधिज्यम् =चढ़ी हुई प्रत्यञ्चावाले, आहितसायकम् = चढ़े हुए बाण वाले, इदम् = इस, धनुः =धनुष को नमयितुम् = झुकाने में, चलाने में, न = नहीं, शक्तः = समर्थ, अस्मि = हूँ ॥ ३ ॥

टीका—न नमयितुमिति। यैः = यैर्मृगैरित्यर्थः, प्रियायाः = मम प्रेयस्याः, शकुन्तलाया इत्यर्थः, सहवसतिम् = सहवासम्, एकत्र निवसनमित्यर्थः, उपेत्य = प्राप्य, मुग्धविलोकितोपदेशः—मुग्धानि = मधुरसरलानि यानि विलोकितानि अवलोकितानि, (नपुंसके

विदूषकः—(राज्ञो मुखं विलोक्य) अत्रभवान् किं हृदये कृत्वा मन्त्रयते। अरण्ये मया रुदितमासीत्। [अत्त: किं वि हिअए करिअ मन्तेदि। अरण्णे मए रुदिअं आसि।]

राजा—(सस्मितम्) किमन्यत्। अनतिक्रमणीयं सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि।

विदूषकः—चिरं जीव। [चिरं जीअ।]

(इति गन्तुमिच्छति)

राजा—वयस्य, तिष्ठ। सावशेषं मे वचः।

विदूषकः—आज्ञापयतु भवान्। [आणवेदु भवं।]

राजा—विश्रान्तेन भवता ममाप्येकस्मिन्ननायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्।

विदूषकः—किं मोदकखादिकायाम्। तेन ह्ययं सुगृहीतक्षणः। [किं मोदअखज्जिआए। तेण हि अअं सुगहीदक्खणो।]

राजा—यत्र वक्ष्यामि। कः कोऽत्र भोः।

भावे क्तः), तेषु उपदेशः = शिक्षा, 'लोचनकान्तिसंविभागः' इति पाठे तु—लोचनयोः = नयनयोः कान्तेः = शोभायाः संविभागः = सम्यक् विभजनम्, इति व्याख्या, कृतः = विहितः इव। अतः (तेषु = तादृशेषु), मृगेषु = हरिणेषु, अधिज्यम्—अधिगता = ज्या = मौर्वी येन तादृशम्, आहितसायकम्—आहितः = स्थापितः, संयोजितः सायकः = बाणः यस्मिन् तत् तादृशम्, इदम् = एतत्, हस्तस्थितमित्यर्थः, धनुः = कर्म नमयितुम् = ज्याकर्षणेन वक्रीकर्तुम्, न शक्तः = न समर्थः, अस्मि = वर्ते। अत्र काव्यलिङ्गं चालङ्कारौ। पुष्पिताग्रा च छन्दः ॥३॥

टिप्पणी—नमयितुम् = नम्र करने में, झुकाने में। धनुष पर बाण रखकर डोरी खींची जाती है तब वह मण्डलाकर बन जाता है। यही धनुष का नम्र करना

मुग्धविलोकितोपदेशः—मृगों ने शकुन्तला को मनोहर ढङ्ग से देखने का फेंकने का उपदेश दिया है। तभी तो उसका दृष्टिपात हरिणों के दृष्टिपात की मनोहर है। अतः अब दुष्यन्त अपनी प्रेयसी के गुरुओं हरिणों पर बाण चलाने को तैयार नहीं है। शकुन्तला की आँखों के सौन्दर्य को बतलाने का यह एक प्रकार है।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा और काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। यहाँ प्रयुक्त छन्द

विदूषक—(राजा के मुख को देख कर) आदरणीय आप कुछ मन में रख कर विचार कर रहे हैं। (लगता है) मैंने अरण्यरोदन (ही) किया।

राजा—(मुस्कराहट के साथ) दूसरा क्या (विचार करूँगा)। मित्र का वचन मेरे लिये अनुल्लंघनीय हैं। इसीलिये रुक गया हूँ।

विदूषक—आप चिरञ्जीवी हों। (ऐसा कह कर जाना चाहता है)

राजा—मित्र, रुको। मेरा वचन (अभी) अधूरा (ही) है।

विदूषक—आप आज्ञा दें।

राजा—विश्राम करके आपको मेरे भी एक सरल कार्य में सहायक होना है।

विदूषक—क्या लड्डू खाने में ? तो यह निमन्त्रण शिरोधार्य है।

राजा—जिस कार्य में कहूँगा (उसमें सहायता अपेक्षित है)। अरे कौन, कौन यहाँ है?

है—पुष्पिताग्रा। छन्द का लक्षण—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' ॥३॥

व्युत्पत्तिः—नमयितुम्—√नम् + णिच् + तुमुन्। उपेत्य—उप + √इण् + ल्यप्। कृतः—√कृ + क्त + विभक्त्यादिकार्यम् ॥३॥

शब्दार्थः—अत्रभवान् = आदरणीय आप, अरण्ये = जङ्गल में, रुदितम् = रोना। अनतिक्रमणीयम् = अनुल्लंघनीय, सुहृद्वाक्यम् = मित्र का वचन, स्थितः = रुक गया हूँ। सावशेष = अधूरा। अनायासे = विना परिश्रमवाले, सरल ॥

टीका—विदूषक इति—अत्रभवान् = आदरणीयस्त्वम्। अरण्ये = विपिने, रुदितम् = रोदनं कृतम्। त्वयि मद्विज्ञापनमरण्यरुदितवद्व्यर्थमित्यर्थः। अनतिक्रमणीम् = अनुल्लंघनीयम्, सुहृद्वाक्यम्, = मित्रवचनम्, स्थितः = गतिनिवृत्तः। सावशेषम्—अवशिष्यते इति अवशेषः = अवशिष्टं वस्तु तेन सह सावशेषम् = असमाप्तम्। अनायासेन = अविद्यमानः आयासः = श्रमः यस्मिन् तथाविधे सुकरे इत्यर्थः ॥

टिप्पणी—अत्रभवान्—सामने उपस्थित आदरणीय व्यक्ति को 'अत्रभवान्' तथा परोक्ष में स्थित आदरणीय व्यक्ति को 'तत्रभवान्' कहा जाता है।

अरण्ये रुदितम्—यह एक मुहावरा हैं। इसका शाब्दिक अर्थ हैं—जंगल में रोना, ऐसा रोना जिसे सुननेवाला न हो। इसका भाव है—निष्फल कथन।

व्युत्पत्तिः—रुदितम्—√ रुद् + क्त + विभक्तिकार्यम्। स्थितः—√ स्था + क्त + विभक्तिः भवितव्यम्—√भू + तव्यत् + विभक्तिः ॥

शब्दार्थः—मोदकखादिकायाम् = लड्डू खाने में। सुगृहीतः = शिरोधार्य है, क्षणः = अवसर, निमन्त्रण। आज्ञावचनोत्कण्ठः = आज्ञापूर्ण वचन कहने के लिये उत्कण्ठित, आज्ञा देने के लिये उत्कण्ठित, भर्ता=स्वामी, दत्तादृष्टिः = आँख लगाए हुए ॥

टीका—विषदूक इति। मोदकखादिकायाम्—मोदकम् = मिष्टपदार्थविशेषः तस्य खादिकायाम् = खादने, भक्षणे इत्यर्थः। सुगृहीतः = शिरसा गृहीतः, क्षणः = अवसरः,

(प्रविश्य)

दौवारिकः—(प्रणम्य) आज्ञापयतु भर्ता। [आ
भट्टा।

राजा—रैवतक, सेनापतिस्तावदाहूयताम्।

दौवारिकः—तथा। (इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह
प्रविश्य) एष आज्ञावचनोत्कण्ठो भर्तेतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठ
उपसर्पत्वार्यः। [तह। एसो अण्णावअणुक्कण्ठो भट्टा
दिण्णदिट्ठी एव्व चिट्ठदि। उवसप्पदु अज्जो।]

सेनापतिः—(राजानमवलोक्य) दृष्टदोषापि स्वा
मृगया केवलं गुण एव संवृत्ता। तथा हि देवः—

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं
रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥

निमन्त्रणमिति यावत्। आज्ञावचनोत्कण्ठः—आज्ञायाः = आदेशस्य वचनम् =
रणम् तस्मिन् उत्कण्ठः = उत्सुकः, उद्ग्रीवः वा, भर्ता = स्वामी, दत्तदृ
दत्ता = अर्पिता दृष्टिः = नेत्रम् येन स तादृशः॥

शब्दार्थः—दृष्टदोषा = देखा गया है दोष जिसमें ऐसी, सदोष, मृगया =
गुणः = लाभकारी, संवृत्ता = हो गई॥

टीका—सेनापति—दृष्टदोषा—दृष्टः = अवलोकितः दोषः = प्राणिहिंसा
यस्यां तादृशी, सदोषेति यावत्, मृगया = आखेटः, गुणः = गुणकारिणीत्यर्थः, सं
संजाता॥

अन्वयः—देवः, गिरिचरः, नागः, इव, अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वम्, रवि
सहिष्णु, स्वेदलेशैः, अभिन्नम्, अपचितम्, अपि, व्यायतत्वात्, अलक्ष्यम्, प्रा
गात्रम्, बिभर्ति॥४॥

शब्दार्थः—देवः = महाराज, गिरिचरः = जंगली, नागः = हाथी की,
तरह, अनवरत-धनु-ज्या-स्फालन-क्रूर-पूर्वम् = निरन्तर धनुष की प्रत्यंचा के
से कठोर अग्रभागवाले, रविकिरणसहिष्णु = सूर्य के ताप को सहन कर सक
स्वेदलेशैः = पसीने की बूँदों से, अभिन्नम् = सहित, अपचितम् = कृश, अपि =
व्यायतत्वात् = पुष्टता के कारण, अलक्ष्यम् = (कृश) न मालूम पड़नेवाले।

(प्रवेश करके)

द्वारपाल—(प्रणाम करके) स्वामी आज्ञा दें।

राजा—रैवतक, सम्प्रति सेनापति को बुलाओ।

द्वारपाल—महाराज की जैसी आज्ञा। (ऐसा कहकर, बाहर निकल कर सेनापति के साथ पुनः प्रवेश करके) यह महाराज इधर ही आँखें लगाये हुए कुछ आज्ञा देने के लिये उत्कण्ठित बैठे हैं। आप आगे बढ़ें।

सेनापति—(राजा को देखकर) देखा गया है दोष जिसमें ऐसी मृगया भी महाराज के लिये केवल गुणकारक ही हो गई है। क्योंकि—

महाराज जङ्गली हाथी की तरह, निरन्तर धनुष की प्रत्यञ्चा के खींचने से कठोर अग्रभागवाले, सूर्य के ताप को सहन कर सकनेवाले, पसीने की बूँदों से रहित, कृश होते हुए भी, पुष्टता के कारण (कृश) न मालूम पड़नेवाले अत्यन्त सबल शरीर को धारण करते हैं॥ ४॥

सारम् = अत्यन्त सबल, गात्रम् = शरीर को, बिभर्ति = धारण करते हैं॥ ४॥

टीका—मृगयाया गुणत्वमेव प्रतिपादयन्नाह—अनवरतेति। देवः = महाराजः, 'देवः स्वामीति नृपतिर्भृत्यैः' इत्युक्तेर्देवेत्युक्तिः, गिरिचरः—गिरिषु=पर्वतेषु चरतीति= विचरतीति गिरिचरः= अरण्यचारी, नागः = हस्ती, इव = यथा, अनवरतेत्यादिः— अनवरतम् = सततम् धनुषः = कोदण्डस्य ज्यायाः = मौर्व्याः आस्फालनेन = कर्षणेन क्रूरः = कठिनः ('क्रूरं भयंकरं ज्ञेयं क्रूरौ कठिननिर्दयौ' इति धरणिः) पूर्वः= पूर्वभागः यस्य तत् तादृशम्। 'अनेन दनुजास्त्रप्रहारक्षमं बलं ध्वन्यते' इति राघवभट्टः। रविकिरणसहिष्णु—रवेः = सूर्यस्य किरणान् = करान् सहते इति तथोक्तम्। आतपेऽप्यक्लान्तमित्यर्थः। अनेन दुःखसहिष्णुत्वम्। स्वेदलेशैः = घर्मवारिभिः, अभिन्नम् = असम्पृक्तम्। स्वेदैस्तु न मिश्रं तल्लेशैरपि न संबद्धमित्यर्थः। अनेन श्रमजयित्वम्। अपचितम् = दुर्बलम्, कृशमित्यर्थः, अपि = च, व्यायतत्वात् = परिपुष्टत्वात्, प्रकाण्डत्वादित्यर्थः, अलक्ष्यम् = कृशत्वेन अप्रतीयमानम् इत्यर्थः, प्राणसारम् = प्राणः = बलम् सारो यस्य तथाभूतम्, बलवत्तरमित्यर्थः गात्रम् = शरीरम्, बिभर्ति=धारयति। हस्तिगात्रपक्षेऽपि राघवभट्टानुसारमित्थं व्याख्यायते—'हस्तिगात्रपक्षेऽपि विशेषणानि योज्यानि। अनवरतं धनुर्ज्यायां प्रियालद्रुमभूमौ यदास्फालनमर्थात्प्रियालद्रुमाणामेव तेन कठिनपूर्वभागम्। 'धनुःसंज्ञा प्रियालद्रौ राशिभेदे 'शरासने' इति विश्वः। 'ज्या मौर्वी च वसुन्धरा' इति धरणिः। अन्यानि विशेषणानि विस्पष्टानि।' अत्र परिकरः, श्लेष उपमा चालंकाराः। मालिनि छन्दः॥ ४॥

टिप्पणी—अनवरत०—इस श्लोक के दो अर्थ हैं—(१) राजा के शरीर के पक्ष में और (२) हाथी के शरीर के पक्ष में। (१) राजा के शरीर के पक्ष में—धनुष की डोरी की अनवरत रगड़ से शरीर का अग्रभाग कठोर हो गया है। (२) हाथी के पक्ष में—सर्वदा प्रियालवृक्ष के मूल भाग में रगड़ने से शरीर का अग्रभाग कठोर हो गया है।

(उपेत्य) जयतु जयतु स्वामी । गृहीतश्वापदमरण्यम्
किमन्यत्रावस्थीयते ।

राजा—मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माधव्येन
सेनापतिः—(जनान्तिकम्) सखे, स्थिरप्रतिबन्धो भव
अहं तावत् स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनुवर्तिष्ये । (प्रकाशम्)
प्रलपत्वेष वैधेयः । ननु प्रभुरेव निदर्शनम् ।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः ॥५

धनुष शब्द के भी दो अर्थ हैं धनुष तथा प्रियाल वृक्ष । ज्या के भी दो अर्थ हैं
धनुष की डोरी और भूमि ।

रविकिरणः—सूर्य की किरणों को सहन करनेवाला । इससे राजा की
सहिष्णुता सूचित होती है ।

स्वेदलेशैः—राजा को कठोर श्रम करने पर भी, जंगली हाथी की भाँति, पसीना
नहीं आता था । इससे उसका श्रम-जयित्व सूचित होता है ।

इस श्लोक में परिकर, श्लेष तथा उपमा अलङ्कार हैं । इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम
है—मालिनी । छन्द का लक्षण—'न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः' ॥ ४ ॥

व्युत्पत्तिः—अभिन्नम्—अ + √भिद् + क्त + विभक्त्यादिकार्यम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—उपेत्य = पास में पहुँच कर । गृहीतश्वापदम् = घेर लिये गये हैं
जानवर जिसमें ऐसा, अरण्यम् = जङ्गल (है) । मन्दोत्साहः = निरुत्साह
मृगयापवादिना = आखेट की निन्दा करनेवाले । स्थिरप्रतिबन्धः = दृढ़ आग्रह वाला
वैधेयः = मूर्ख । निदर्शनम् = उदाहरण ।

टीका—उपेत्येति । उपेत्य = समीपं गत्वा । गृहीतश्वापदम्—गृहीताः = निरूपिताः
ज्ञाता इति यावत्, श्वापदाः = वन्यपशवः यस्मिन् तथाविधम्, अरण्यम् = वनम् । मन्दो-
त्साहः—मन्दः = शिथिलः उत्साहः = मृगयां प्रति हार्दिकः अभिलाषः आग्रहो वा
तथाविधः, मृगयापवादिना—मृगयाम् = आखेटम् अपवदति = निन्दति तथाविधेन
आखेटनिन्दकेनेत्यर्थः । स्थिरप्रतिबन्धः—स्थिरः = अचलः प्रतिबन्धः बाधा आग्रहो
यस्य तादृशः । वैधेयः = मूर्खः ('अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयबालिशाः' इत्यमरः)
निदर्शनम् = उदाहरणम् ॥

टिप्पणी—माधव्येन—विदूषक का नाम है—माधव्य ।

स्थिरप्रतिबन्धः—सेनापति भी चाहता है कि दो-एक दिन विश्राम किया

(पास में जाकर) विजयी वनें, विजयी वनें महाराज ! जङ्गल को घेर कर हिंसक पशुओं को रोक रक्खा गया है। (तो) आप अब यहाँ क्यों बैठे हैं ?

राजा—मृगया की निन्दा करनेवाले माधव्य के द्वारा (मृगया के प्रति) मेरा उत्साह मन्द कर दिया गया है।

सेनापति—(हाथ से ओट करके) मित्र, तुम अपनी आपत्ति पर दृढ़ रहना। मैं थोड़ा महाराज की चित्तवृत्ति का अनुसरण करूँगा। (प्रकट रूप से) यह मूर्ख बका करे। अरे स्वामी ही इस विषय में प्रमाण हैं।

(मृगया से) शरीर, चर्बी के कम होने से कृश उदर वाला, फुर्तीला, और कार्यक्षम हो जाता है। जीवों के भय एवं क्रोध की दशा में क्षुब्ध चित्त भी पहचाना जाता है। और जो चञ्चल लक्ष्य पर वाण सफल होते हैं, वह धनुर्धारियों का उत्कर्ष (है)। (लोग) आखेट को व्यर्थ में ही बुरी लत कहते हैं। ऐसा मनोरञ्जन अन्यत्र कहाँ है ? ॥५॥

वह भी श्रान्त हैं। अतः विदूषक से ऐसी बात कह रहा है॥

व्युत्पत्तिः—कृतः—√कृ + क्त + विभक्तिः। **वैधेयः**—विधेयं विधानं तस्यायमधिकारी। विधेय + अण् + विभक्तिकार्यम्॥

अन्वयः—वपुः, मेदश्छेदकृशोदरम्, लघु, उत्थानयोग्यम् भवति। सत्त्वानाम्, भयक्रोधयोः, विकृतिमत्, चित्तम्, अपि, लक्ष्यते। च, यत्, चले, लक्ष्ये, इषवः, सिध्यन्ति, सः, धन्विनाम्, उत्कर्षः, (अस्ति)। मृगयाम्, मिथ्या, एव, व्यसनम्, वदन्ति, ईदृक्, विनोदः, कुतः॥ ५॥

शब्दार्थः—वपुः = शरीर, मेदश्छेदकृशोदरम् = चर्बी के कम होने से कृश उदर वाला, लघु = हलका, फुर्तीला, उत्थानयोग्यम् = उद्योग के योग्य, कार्यक्षम, भवति = हो जाता है। सत्त्वानाम् = जीवों के, भयक्रोधयोः = भय एवं क्रोध की दशा में, विकृतिमत् = क्षुब्ध, चित्तम् = चित्त, अपि = भी, लक्ष्यते = पहचाना जाता है। च = और, यत् = जो कि, चले = चञ्चल, लक्ष्ये = लक्ष्य पर, शिकार पर, इषवः = बाण, सिध्यन्ति = सफल होते हैं, सः = वह, धन्विनाम् = धनुर्धारियों का, उत्कर्षः = उत्कर्ष, (अस्ति = है)। मृगयाम् = आखेट को, मिथ्या = व्यर्थ में, एव = ही, व्यसनम् = व्यसन, बुरी लत, वदन्ति = कहते हैं; ईदृक् = ऐसा, विनोदः = मनोरञ्जन, कुतः = अन्यत्र कहाँ ? ॥ ५॥

टीका—मृगयागुणवत्त्वे 'अनवरत'—इति पूर्वमुक्तेस्तमेवार्थमप्रस्तुतप्रशंसया समर्थयते—मेद इति। मृगययेत्यध्याहार्यम्, वपुः=शरीरम्, मेदच्छेदकृशोदरम्—मेदसः=वसायाः छेदेन=अल्पीभावेन कृशम्=दुर्बलम् उदरम्=जठरः यस्य तत् तादृशम्, अतो

विदूषकः—(सरोषम्) अपेहि रे उत्साहहेतुक अत्रभवान् प्रकृतिमापन्नः । त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णऋक्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि । [अवेहि रे उच्छाहहेतुअ । अत्तभवं पकिदिं आपण्णो । तुमं दाव अडवीदो अडवीं आहिण्डन्तो णरणासिआलोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स वि मुहे पडिस्ससि ।]

राजा—भद्र सेनापते, आश्रमसंनिकृष्टे स्थिताः स्मः अतस्ते वचो नाभिनन्दामि । अद्य तावत्—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विश्रब्धं क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥६॥

लघु=लाघवयुक्तम् भारवत्तया हीनमित्यर्थः, उत्थानयोग्यम्—उत्थानस्य=उद्योगस्य ('उद्योगे च तथोत्थानमिति' धरणिः) योग्यम्=क्षमम्, भवति=जायते । सत्त्वानाम्=प्राणिनाम्, भयक्रोधयोः=भये क्रोधे च, विकृतिमत्=विकारयुक्तम्, चित्तम्=मनः, अपि पूर्ववाक्यसमुच्चये, लक्ष्यते=परिज्ञायते । च=तथा, यत्, चले=चञ्चले, लक्ष्ये=शरव्ये इषवः=वाणाः, सिध्यन्ति=सफलतां व्रजन्ति, सः, धन्विनाम् =धनुर्धारिणाम्, उत्कर्षः=नैपुण्यम्, अस्तीति क्रियाशेषः । मृगयाम्=आखेटम्, मिथ्या=व्यर्थमेव, व्यसनम्=दोषम्, वदन्ति=कथयन्ति मन्वादिपण्डिताः । ईदृक् =एवंविधः, विनोदः=मनोरञ्जनम् कुतः=क इत्यर्थः । सार्वविभक्तिकस्तसिल् । मृगयाया व्यसनत्वाभावे पूर्ववाक्यं हेतुत्वेनोपात्तमिति काव्यलिङ्गम् । वृत्त्यनुप्रासश्च । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥५॥

टिप्पणी—लक्ष्ये चले—दौड़ते जानवर पर सफलतापूर्वक निशाना लगाना निशानेबाजों के लिये गौरव की बात मानी जाती है ।

विनोदः कुतः—कालिदास ने मृगया के इन गुणों का वर्णन रघुवंश (९।४९) में भी इसी प्रकार किया है—"परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम् । श्रमजयात् प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिववैर्ययौ ॥"

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग तथा समुच्चय अलङ्कार हैं । इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—'शार्दूलविक्रीडित' । छन्द का लक्षण—

'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥५॥

व्युत्पत्तिः—उत्कर्षः—उत् + √कृष् + घञ् + विभक्तिः ।

विदूषक—(क्रोधपूर्वक) अरे व्यर्थ उत्साह दिलाने वाले दूर हटो। आदरणीय महाराज (अपनी) स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गये हैं। तू तो एक घोर जङ्गल से दूसरे घोर जङ्गल में इधर-उधर घूमता हुआ मनुष्य की नाक के लालची किसी बूढ़े रीछ के मुख में पड़ेगा।

राजाः—भले सेनापति, हम लोग आश्रम के समीप रुके हुए हैं। अतः तुम्हारे वचन को स्वीकार नहीं कर रहा हूँ। आज तो—

भैंसे सींगों से बार-बार उछाले गए गड्ढों के जल में स्नान करें। छाया में झुण्ड बनाकर स्थित मृग-समूह जुगाली का अभ्यास करे। सूअरों की कतारें निःशङ्क होकर जङ्गली गड्ढों में नागरमोथा का उत्खनन करें। यह हमारा धनुष भी शिथिल प्रत्यञ्चा वाला होकर विश्राम करे ॥ ६ ॥

धन्विनाम्—धन्वमस्यास्तीति, धन्व+इनि, (इन्)=धन्विन्+षष्ठीबहुवचने विभक्तिकार्यम् ॥५॥

शब्दार्थः—अपेहि=दूर हटो, उत्साहहेतुक=व्यर्थ उत्साह दिलाने वाले। प्रकृतिम्=स्वाभाविक अवस्था को, शान्त अवस्था को, आपन्नः=प्राप्त हो गये हैं। अटवीतः=घोर जङ्गल से, आहिण्डमानः=इधर-उधर घूमता हुआ, नरनासिकालोलुपस्य=मनुष्य की नाक के लालची, जीर्णऋक्षस्य=बूढ़े रीछ के। आश्रमसन्निकृष्टे=आश्रम के समीप में, वचः=वचन को, अभिनन्दामि=स्वीकार करता हूँ, समर्थित करता हूँ ॥

टीका—विदूषक इति। अपेहि = अपगच्छ, दूरीभवेत्यर्थः। उत्साहहेतुक—उत्साहस्य = उद्योगस्य हेतुः = कारणम्, एव उत्साहहेतुकस्तत्सम्बुद्धौ। अत्र कुत्सिते कन्। प्रकृतिम् = स्वभावम्, आपन्नः= प्राप्तः। अटवीतः= घोरवनात्, आहिण्डमानः= गाहमानः, इतस्ततः परिभ्रमन्, नरनासिकालोलुपस्य—नराणाम्=मानवानाम् नासिकायाः = घ्राणस्य लोलुपः = सस्पृहस्तस्य, जीर्णऋक्षस्य=वृद्धभल्लूकस्य। आश्रमसन्निकृष्टे—आश्रमस्य= तपोवनस्य सन्निकृष्टे =पार्श्वे, वचः = कथनम्, अभिनन्दामि = समर्थयामि ॥

टिप्पणी—**उत्साहहेतुक**—यहाँ कुत्सा के अर्थ में कन् हुआ है। अतः इसका अर्थ है—व्यर्थ या झूठा उत्साह दिलाने वाले।

आश्रमसन्नि कृष्टे—राजा का यह कथन एक बहानामात्र है। वह जानवरों का शिकार क्या करेगा? स्वयं शकुन्तला का शिकार बन चुका है ॥

व्युत्पत्तिः—**आपन्नः**—आ+ √ पद्+क्त+विभक्तिः ॥

अन्वयः—महिषाः, शृङ्गैः; मुहुः, ताडितम् निपानसलिलम्, गाहन्ताम्। छायाबद्धकदम्बकम्, मृगकुलम् रोमन्थम्, अभ्यस्यतु। वराहततिभिः, विश्रब्धम्, पल्वले, मुस्ताक्षतिः, क्रियताम्। इदम् अस्मद्धनुः, च, शिथिलज्याबन्धं (सत्), विश्रामम्, लभताम् ॥ ६ ॥

सेनापतिः—यत् प्रभविष्णवे रोचते।

राजा—तेन हि निवर्तय पूर्वगतान् वनग्राहिणः। यथा न सैनिकास्तपोवनमुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्याः। पश्य—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु
गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ता-
स्तदन्यतेजोऽभिभवाद् वमन्ति ॥७॥

शब्दार्थः—महिषाः = भैंसे, शृङ्गैः = सींगों से, मुहुः = वार-वार, ताडितम् = उछाले गए, आलोडित, निपानसलिलम् = गड्ढों के जल में, गाहन्ताम् = प्रवेश करें स्नान करें। छायावद्धकदम्वकम् = छाया में झुण्ड वना कर स्थित, मृगकुलम् = मृग-समूह; रोमन्थम् = जुगाली का, पगुरी का, अभ्यस्यतु = अभ्यास करे। वराहततिभिः = सूअरों की कतारें, विश्रव्धम् = निःशङ्क होकर, पल्वले = जङ्गली गड्ढे में मुस्ताक्षतिः = नागरमोथा का उत्खनन, क्रियताम् = करें। इदम् = यह, अस्मद् = हमारा धनुष, च = भी, शिथिलज्यावन्धं (सत्) = शिथिल प्रत्यञ्चावाला होकर विश्रामम् = विश्रामको, लभताम् = प्राप्त करे ॥ ६ ॥

टीका—आद्य तावदिति श्लोकशेषः। गाहन्तामिति। महिषाः = लुलायाः शृङ्गैः = विषाणैः, मुहुः = वारंवारम्, ताडितम् = उत्फालितम्, निपानसलिलम् = क्षुद्रजलाशयजलम्, गाहन्ताम् = प्रविशन्तु, आलोडयन्त्वित्यर्थः। छायावद्धकदम्बकम् = छायायाम् = अनातपे बद्धम् = रचितम् कदम्बकम् = समूहः येन तत्, मृगकुलम् = मृगाणाम् = हरिणानाम् कुलम् = वृन्दम्, रोमन्थम् = चर्वितचर्वणम्, अभ्यस्यतु = पुनः करोतु। वराहततिभिः—वराहाणाम् = वन्यशूक राणाम् ततिभिः = पंक्तिभिः विश्रव्धम् = निःशङ्कं यथा स्यात्तथा, पल्वले = स्वल्प जलाशये, ('वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरः' इत्यमरः), मुस्ताक्षतिः = मुस्तोत्खननम्, क्रियताम् = विधीयताम्। अत्र शौण्डाः परिणतिभीरवो महिषाः, स्वभावभीताः मृगाः, वराहास्तु परावृत्तिचतुराः प्रहार कोविदाश्चेति श्रेष्ठत्वमिति राघवभट्टमहाशयाः। इदम् = एतत्, अस्मद्धनुः = कार्मुकम्, च = अपि, शिथिलज्या बन्धम्—शिथिलः = अवरोपितः ज्यायाः = प्रत्यञ्चायाः वन्धः = वन्धनम् यस्मिन् तत् तादृशं सत्, विश्रामम् = विश्रान्तिम्, लभताम् = प्राप्नोतु। अत्र स्वभावोक्तिः समुच्चयोऽतिशयोक्तिश्चालङ्काराः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ ६ ॥

टिप्पणी—निपान०—निपान का अर्थ है—हौज, कुएँ के पास स्नान आदि के लिये बनाया हुआ टैंक। किन्तु यहाँ पर इसका प्रयोग गड्ढे के अर्थ में है। महिष कीचड़युक्त गड्ढे में स्नान करने में आनन्द का अनुभव करते हैं।

शृङ्गैः—महिष स्नान करते समय अपनी सींगों से बार-बार जल उछालते हैं, यह उनकी आदत है।

सेनापति—जो महाराज को अच्छा लगे (वही होगा)।

राजा—तो आगे गये हुए वन घेरनेवालों को लौटा लो। जिस प्रकार मेरे सैनिक तपोवन में विघ्न न पैदा करें वैसा उन्हें रोक दो (अर्थात् सैनिकों को चेतावनी दे दो कि वे तपोवन में कोई विघ्न न पैदा करें)। देखो—

शान्तिप्रधान तपस्वियों में भस्म कर देनेवाला गुप्त तेज रहता है। क्योंकि स्पर्श करने लायक सूर्यकान्त मणियों के समान, (वे) दूसरे तेज से तिरस्कृत होने पर उस (तेज) को प्रकट करते हैं ॥७॥

रोमन्थम्—पशु एक बार चारा आदि खाकर जब आराम से बैठते हैं, तब वे उसे पेट से खींच-खींच कर मुँह में लाते हैं तथा उसे ठीक से चबाते हैं। उनकी इस क्रिया को रोमन्थ या चर्वित-चर्वण कहते हैं ॥

विश्रामम्—पाणिनिव्याकरण के अनुसार शुद्ध शब्द विश्रम है। वि + √श्रम + (अ)। यहाँ **नोदात्तोपदेशस्य०** (७।३।३४) से वृद्धि नहीं होती है। विश्राम को रूढ शब्द मानकर शुद्ध माना जा सकता है। अथवा विश्रमः एव विश्रामः। प्रज्ञादिभ्यश्च (५।४।३८) से स्वार्थ में अण्।

शिथिल०—तैयारी की अवस्था में धनुष की डोरी चढ़ी रहती है तथा विश्राम की अवस्था में उसे ढीली कर देते हैं। इससे बाँस का लचीलापन तथा कड़ापन—दोनों ही सुरक्षित रहता है।

यहाँ क्रियाओं के संग्रह से समुच्चय, कार्यकारण की एक साथ उक्ति से अतिशयोक्ति तथा स्वभावोक्ति अलङ्कार हैं। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित। लक्षण के लिए देखिए पीछे श्लोक की टिप्पणी ॥ ६ ॥

व्युत्पत्तिः—**विश्रब्धम्**—वि + √श्रम्भ + क्त + विभक्तिकार्यम्। **रोमन्थम्**—रोगं मथ्नाति—√मन्थ् + अण् + विभक्तिः, पृषो० गलोपः ॥६॥

शब्दार्थः—प्रभविष्णवे = महाराज को। पूर्वगतान् = पहले गये हुए, आगे गये हुए, वनग्राहिणः = वन घेरनेवालों को। उपरुन्धन्ति = विघ्न करें ॥

टीका—सेनापतिरिति। प्रभविष्णवे = प्रभवितुं शीलमस्येति प्रभविष्णुस्तस्मै प्रभविष्णवे = समर्थाय राज्ञे। पूर्वगतान् = अग्रे गतान्, वनग्राहिणः = वनवेष्टकान्। उपरुन्धन्ति = पीडयन्ति ॥

व्युत्पत्तिः—**प्रभविष्णवे**—प्र + √भू + इष्णुच् (इष्णु) + चतुर्थ्येकवचने विभक्तिकार्यम्। **वनग्राहिणः**—वन + √ग्रह + णिनि कर्तरि ताच्छील्ये + द्वितीयाबहुवचने विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—शमप्रधानेषु, तपोधनेषु, दाहात्मकम्, गूढम्, तेजः, अस्ति। हि, स्पर्शानुकूलाः, सूर्यकान्ताः, इव, (ते), अन्यतेजोऽभिभवात्, तत्, वमन्ति ॥७॥

शब्दार्थः—शमप्रधानेषु = शान्तिप्रधान, तपोधनेषु = तपस्वियों में, दाहात्मकम् =

सेनापतिः—यदाज्ञापयति स्वामी।

विदूषकः—ध्वंसतां त उत्साहवृत्तान्तः। [धंसदु दे उच्छाह-वुत्तन्तो।] (निष्क्रान्तः सेनापतिः।)

राजा—(परिजनं विलोक्य) अपनयन्तु भवत्यो मृगया-वेशम्। रैवतक, त्वमपि स्वनियोगमशून्यं कुरु।

परिजनः—यद् देव आज्ञापयति। [जं देवो आणवेदि।]

(इति निष्क्रान्तः।)

विदूषकः—कृतं भवता निर्मक्षिकम्। साम्प्रतमेत-स्मिन् पादपच्छायाविरचितवितानसनाथे शिलातले निषीदतु भवान्, यावदहमपि सुखासीनो भवामि। [किदं भवदा णिम्म-च्छिअं। संपदं एदस्सिं पादवच्छाआविरइदविदाणसणाधे सिलाअले णिसीददु भवं, जाव अहं वि सुहासीणो होमि।]

भस्म कर देनेवाला, गूढम् =गुप्त, तेजः =तेज, अस्ति=रहता है, हि=क्योंकि, स्पर्शा-नुकूलाः = स्पर्श करने लायक, सूर्यकान्ताः=सूर्यकान्त मणियों के, इव=समान. (ते=वे) अन्यतेजोऽभिभवात् = दूसरे तेज से तिरस्कृत होने पर, तत् =उस (तेज) को वमन्ति =प्रकट करते हैं ॥७॥

टीका—शमेति। शमप्रधानेषु—शमः=शान्तिरेव प्रधानं येषां तेषु, अत एव तपोधनेषु—तपः=तपस्या एव धनम्=सम्पत्तिर्येषां तेषु, दाहत्मकम्—दाहः आत्म-स्वभावः यस्य तत्, दाहजनकमित्यर्थः, लक्षणया दाहस्वभावं शीघ्रकार्यकारित्वफलमिति राघवभट्टाः। गूढम्=गुप्तम्, अन्यजनादृश्यमित्यर्थः, तेजः=ज्योतिः, अग्निरित्यर्थः, अस्ति =वर्तते। हि=यस्मात्, स्पर्शानुकूलाः—स्पर्शः=आमर्शः अनुकूलः=क्षमः येषां ते तथा, सूर्यकान्ताः=सूर्यकान्तमणयः, इव=यथा, सूर्यवत्कान्ता मनोहरास्ते तपस्विनः अन्यतेजोऽभिभवात्—अन्यस्य=अपरस्य राजादेः तेजसा=प्रभया अभिभवात्=पराभवात् तत्=स्वीयं तेजः, वमन्ति=प्रकटयन्ति। अत्र श्लेष उपमाऽनुमानं चालङ्काराः। उपजाति वृत्तम् ॥७॥

टिप्पणी—शमप्रधानेषु=शान्ति जिनमें प्रधान रूप से है। शम का अर्थ है संयम, इन्द्रियों को वश में करना।

गूढम्—राजा के कहने का भाव यह है कि यद्यपि मुनिजन शान्त होते हैं। किन्तु यदि उन्हें बार-बार छेड़ा जाय तो उनके कुपित हो जाने का भी भय बना रहता है।

सेनापति—जो आज्ञा दे रहे हैं महाराज (वही होगा)।

विदूषक—तुम्हारी उत्साह की बात विनष्ट हो। (सेनापति निकल गया)

राजा—(सेवकों की ओर देख कर) आप लोग मृगया के वेष को उतार दें। रैवतक, तुम भी अपने काम को सम्पन्न करो।

परिजन—जैसी महाराज की आज्ञा। (ऐसा कह कर सब निकल गये)

विदूषक—आपने पूर्ण एकान्त बना दिया। अब आप वृक्ष की छाया से निर्मित चाँदनी (शामियाना) से युक्त इस प्रस्तर खण्ड पर बैठें, जिससे मैं भी सुखपूर्वक बैठ आऊँ।

सूर्यकान्ताः—सूर्यकान्त एक मणि है। सामान्य अवस्था में इसे छुआ जा सकता है। किन्तु यदि इस पर सूर्य की किरणें पड़ें तो इसमें से आग निकलने लगती है। छूना असम्भव हो जाता है।

इस श्लोक में श्लेष, उपमा तथा अनुमान अलङ्कार हैं। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—उपजाति। छन्द का लक्षण—[स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।।] अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।।७।।

व्युत्पत्तिः—गूढ्—√गूहट्ट + क्त + विभक्त्यादिकार्यम् ।।७।।

शब्दार्थः—ध्वंसताम्=विनष्ट हो, उत्साहवृत्तान्तः=उत्साह की बात। मृगवेशम्=मृगया के वेष को, शिकारी के वेष को, स्वनियोगम्=अपने काम को, अपनी ड्यूटी को, अशून्यम्=सम्पन्न, चरितार्थ ।।

टीका—विदूषक इति। ध्वंसताम्=विनाशं लभताम्, उत्साहवृत्तान्तः—उत्साहस्य =राज्ञः प्रोत्साहनस्य वृत्तान्तः=वार्त्ता, नातः परमेनं प्रोत्साहयेत्यर्थः। मृगयावेशम्—मृगयायाः=आखेटस्य वेशः=वेषः सज्जा वा तम्, स्वनियोगम्—स्वस्य=आत्मनः नियोगम्=अधिकारं कर्तव्यं वा, अशून्यम्=चरितार्थम् स्वोपस्थित्या पूर्णमित्यर्थः ।।

टिप्पणीः—**रैवतक**—रैवतक दुष्यन्त के द्वारपाल का नाम है।

व्युत्पत्तिः—निष्क्रान्तः—निस् + √क्रम् + क्त + विभक्त्यादिकार्यम् ।।

शब्दार्थः—निर्मक्षिकम्=मक्खियों से रहित, पूर्ण एकान्त। पादपच्छायाविरचित-वितानसनाथे=वृक्ष की छाया से निर्मित चाँदनी (शामियाना) से युक्त, शिलातले=प्रस्तरखण्ड पर। सुखासीनः=सुखपूर्वकस्थित ।।

टीका—राजेति। निर्मक्षिकम्—मक्षिकाणाम् अभावः निर्मक्षिकम्=जनशून्यमिति भावः। पादपच्छायेत्यादिः—पादपच्छायया=अनातपेन विरचितेन=निर्मितेन वितानेन =उल्लोचेन ('रिक्ते वितानमुल्लोचे' इति त्रिकाण्डशेषः) सनाथे=युक्ते शिलातले=पाषाणपृष्ठे। सुखासीनः सुखेन=आनन्देन आसीनः=स्थितः ।।

राजा—गच्छाग्रतः ।

विदूषकः—एतु भवान् । [एदु भवं ।]

(इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ ।)

राजा—माधव्य, अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि । येन त्व
दर्शनीयं न दृष्टम् ।

विदूषकः—ननु भवानग्रतो मे वर्तते । [णं भवं अग्गदो
मे वट्टदि ।]

राजा—सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यति । अहं तु ताम
आश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि ।

विदूषकः—(स्वगतम्) भवतु । अस्यावसरं न दास्ये
(प्रकाशम्) भो वयस्य, ते तापसकन्यकाऽभ्यर्थनीया दृश्यते
[होदु । से अवसरं ण दाइस्सं । भो वअस्स, ते तावसकण्णआ
अब्भत्थणीआ दीसदि ।]

राजा—सखे, न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः
प्रवर्तते ।

सुरयुवतिसंभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम् ।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥८

शब्दार्थः—अनवाप्तचक्षुःफलः=नेत्र होने के फल से वंचित, आँख होने के फल से रहित । दर्शनीयम्=देखने योग्य वस्तु । कान्तम्=मनोहर, आत्मीयम्=अपने को । आश्रमललामभूताम्=आश्रम को अलङ्कारभूत । तापसकन्यका=तपस्वी की कन्या । अभ्यर्थनीया=प्रार्थनीय, चाही गई । परिहार्ये= त्याज्य ॥

टीका—राजेति—अनवाप्तचक्षुःफलः— अनवाप्तम्=न प्राप्तम् चक्षुषः=नेत्रस्य फलं येन तथाभूतः । दर्शनीयम्=द्रष्टव्यं वस्तु । कान्तम्=मनोहरम्, आत्मीयम्=स्वकीयम् । आश्रमललामभूताम्—आश्रमस्य=तपोवनस्य ललामभूताम्=रत्नभूताम् । तापसकन्यका— तापसस्य=तपस्विनः कण्वस्य कन्यका=सुता, अभ्यर्थनीया=प्रार्थनीया । परिहार्ये— परित्याज्ये, अवैधे विषये इत्यर्थः, मनो न प्रवर्तते ।

टिप्पणी—अनवाप्तचक्षुःफलः—नेत्र होने का फल है सुन्दरतम वस्तुओं को देखना

राजा—आगे चलो।

विदूषक—आप आइए।

(इस प्रकार दोनों घूम कर बैठ गये)

राजा—माधव्य, तुम नेत्र होने के फल से वंचित हो (अर्थात् तुम्हारी आँखें सफल नहीं हुई हैं); क्योंकि तूने देखने योग्य वस्तु नहीं देखी है।

विदूषक—अजी, आप तो मेरे सामने हैं (ही)।

राजा—सभी लोग अपने व्यक्ति को मनोहर समझते हैं। मैं तो (उस) आश्रम की अलङ्कारभूत शकुन्तला को लक्ष्य करके कह रहा हूँ।

विदूषक—(अपने आप) अच्छा, इन्हें अवसर न दूँगा। (प्रकट रूप में) हे मित्र, तुम तो तपस्वी की कन्या को चाहते हुए प्रतीत हो रहे हो।

राजा—मित्र, त्याज्य वस्तु के विषय में पुरुवंशियों का मन प्रवृत्त नहीं होता है।

शिथिल (अतः) आक (मदार) के ऊपर गिरे हुए नेवारी के फूल की तरह वह मुनि की सन्तान (शकुन्तला) निश्चय ही अप्सरा (मेनका) की सन्तति है तथा (माँ के द्वारा) छोड़ी जाने पर (मुनि कण्व को) प्राप्त हुई है॥ ८॥

शकुन्तला सर्वाधिक सुन्दरी है। विदूषक ने उसे अभी तक देखा नहीं है। अतः आँखों का सच्चा फल उसे नहीं मिला है।

भवानग्रतो—विदूषक का कहना है कि मेरे नेत्र सफल हैं, क्योंकि सर्वाधिक सुन्दर व्यक्ति आप मेरे सामने ही हैं। अतः मुझे नेत्रों के होने का फल उपलब्ध है। मेरे नेत्र सार्थक हैं।

आत्मीयम्—संसार की यह आदत है कि वह अपनों को सुन्दर ही देखता है। अपना कुरूप व्यक्ति भी सुरूप ही प्रतीत होता है।

तापसकन्यका—विदूषक के कहने का भाव है कि आप क्षत्रिय हैं। अतः ब्राह्मण-कन्या पर अनुरक्त होना आपके लिए शोभाजनक नहीं है। मर्यादा की रक्षा आपका धर्म है, उसका तोड़ना नहीं।

व्युत्पत्तिः—**दर्शनीयम्**—√दृश् + अनीयर् + विभक्तिः। **दृष्टम्**— √दृश् + क्त + विभक्तिकार्यम्। **परिहार्ये**—परि + √हृ + घञ् + विभक्तिः।

अन्वयः—शिथिलम्, (अतः), अर्कस्य, उपरि, च्युतम्, नवमालिकाकुसुमम् इव, तत्, मुनेः, अपत्यम्, किल, सुरयुवतिसंभवम्, उज्झिताधिगतम्॥ ८॥

शब्दार्थः—शिथिलम् = शिथिल, ढीला, (अतः=इसलिए), अर्कस्य = आक (मदार) के, उपरि=ऊपर, च्युतम्=गिरे हुए, नवमालिकाकुसुमम्=नेवारी के फूल की, इव= तरह, तत्=वह, मुनेः=मुनि की, अपत्यम्=सन्तान, किल=निश्चय ही, सुरयुवति-संभवम्=अप्सरा की सन्तति (है), उज्झिताधिगतम्=छोड़ी जाने पर प्राप्त हुई है॥८॥

टीका—**सुरेति**—शिथिलम्=वृन्तात् प्रच्युतम्, अतः, अर्कस्य=मन्दारस्य, उपरि= ऊर्ध्वम्, च्युतम्=पतितम्, नवमालिकायाः=पुष्पलतायाः कुसुमम्=प्रसूनम्, इव=यथा,

विदूषकः—(विहस्य) यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभोगिणो भवत इयमभ्यर्थना। [जह कस्स वि पिण्डखज्जूरेहि उव्वेजिदस्स तिन्तिणीए अहिलासो भवे, तह इत्थिआरअणपरिभोइणो भवदो इअं अब्भत्थणा।]

राजा—न तावदेनां पश्यसि येनैवमवादीः।

विदूषकः—तत् खलु रमणीयं यद् भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति। [तं खु रमणिज्जं जं भवदो वि विम्हअं उप्पादेदि]

राजा—वयस्य, किं बहुना—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥९॥

तत्=सा, मुनेः=ऋषेः कण्वस्य, अपत्यम्=सन्ततिः, शकुन्तलेत्यर्थः, किलेति प्रसिद्धौ निश्चये वा, सुरयुवतिसंभवम्—सुरयुवतिः=मेनका, संभवः=उत्पत्तिस्थानम् यस्य तत् तथा, उज्झिताधिगतम्—पूर्वम् उज्झितम्=मात्रा परित्यक्तम् ततः मुनिना अधिगतम्=प्राप्तम्, अस्तीति शेषः। अत्राख्यानं नाम नाट्यालङ्कारः। आर्या जातिः॥ ८॥

टिप्पणी—अर्कस्य—यहाँ कण्व मुनि मदार की तरह तथा शकुन्तला नेवारी-पुष्प के समान है। मेनका चमेली की लता की तरह है॥ ८॥

व्युत्पत्तिः—अपत्यम्—न पतन्ति पितरः येन जातेन। न+√पत्+यत्+विभक्ति ॥ ८॥

इस श्लोक में पूर्व वृत्त का वर्णन होने से नाट्य अलङ्कार है। इसका लक्षण है 'आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः, (सा० दर्पण ६-२११)। यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या जाति॥ ८॥

शब्दार्थः—पिण्डखर्जूरैः = पिण्ड-खजूर से, उद्वेजितस्य=ऊबे हुए व्यक्ति की, तिन्तिण्याम्=इमली के लिये, स्त्रीरत्नपरिभोगिणः=स्त्री रत्नों का, उपभोग करने वाले, अभ्यर्थना=प्रार्थना, इच्छा। विस्मयम्=आश्चर्य को।

टीका—विदूषक इति। पिण्डखर्जूरैः—पिण्डखर्जूराः=खर्जूरविशेषास्तैः, उद्वेजितस्य=जातारुचेः जनस्य, तिन्तिण्याम्=चिञ्चायाम्, स्त्रीरत्नपरिभोगिणः—स्त्रीरत्नानि

विदूषक—(जोर से हँस कर) जिस प्रकार पिण्ड-खजूर से ऊबे हुए व्यक्ति की इमली (खाने) के लिए इच्छा होती है, उसी प्रकार स्त्री-रत्नों का उपभोग करनेवाले आपकी यह इच्छा है।

राजा—अभी (तावत्) तुमने इसे देखा नहीं है, जिससे ऐसा कह रहे हो।

विदूषक—निश्चय ही वह (वस्तु) मनोहर होगी, जो आपको भी आश्चर्ययुक्त कर रही है।

राजा—मित्र, अधिक क्या (कहूँ)—

विधाता का (सृष्टि) सामर्थ्य और उस (शकुन्तला) के शरीर को विचार करके मुझे वह विधाता के द्वारा चित्र में बना कर (उस में) जीवन डाल कर मानो मन से ही सौन्दर्य-समूह से रची गई विलक्षण स्त्री-रत्न की रचना प्रतीत होती है ॥ ९ ॥

वरस्त्रीः परिभोक्तुम्=सम्भोक्तुम् शीलं यस्य तादृशस्य, अभ्यर्थना=प्रार्थना, अभिलाष इत्यर्थः। पुनः पुनरुच्यमानराजवचनेन यथार्थप्रतीत्याह—तत्खलु निश्चितं रमणीयं यद्भवतोऽपि विस्मयम्=आश्चर्यम्, उत्पादयति।

टिप्पणी—**पिण्डखर्जूरैः**—उत्तम कोटि के खजूर को पिण्डखजूर कहते हैं। जिस प्रकार अतिमधुर सरस तथा आनन्ददायक खजूर को खाते-खाते किसी व्यक्ति को दाँत खट्टा करनेवाली इमली खाने की इच्छा होती है, उसी प्रकार विश्व-सुन्दरियों का आनन्द लेते-लेते अब आपकी इच्छा अति रूखी-सूखी जङ्गली तापसकन्या के सम्भोग की हो रही है। अर्थात् यह उपहासास्पद बात है।

व्युत्पत्तिः—**उद्वेजितस्य**—उत्+√ विज्+णिच्+क्त+विभक्तिः ॥

अन्वयः—धातुः, विभुत्वम्, च, तस्याः, वपुः, अनुचिन्त्य, मे, सा, विधिना, चित्रे, निवेश्य, परिकल्पितसत्त्वयोगा, मनसा, नु, रूपोच्चयेन, कृता, अपरा, स्त्रीरत्नसृष्टिः, प्रतिभाति ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—धातुः=विधाता का, विभुत्वम्=सामर्थ्य, च=और, तस्याः=उसके, वपुः=शरीर को, अनुचिन्त्य=विचार करके, मे=मुझे, सा=वह, विधिना=विधाता के द्वारा, चित्रे=चित्र में, निवेश्य=बनाकर, लिख कर, परिकल्पितसत्त्वयोगा=(उसमें) जीवन डाल कर, मनसा=मनसे, नु=मानो, रूपोच्चयेन=सौन्दर्य-समूह से, कृता=रची गई, अपरा=विलक्षण, स्त्री-रत्नसृष्टिः=स्त्री-रत्न की रचना, प्रतिभाति=प्रतीत होती है ॥ ९ ॥

टीका—चित्र इति। धातुः=स्रष्टुः, विभुत्वम्=सृष्टिसामर्थ्यम्, च=तथा, तस्याः=पूर्वदृष्टायाः सम्प्रति चर्चाविषयभूतायाः शकुन्तलायाः, वपुः=शरीरम्. अनुपमं सौन्दर्यमिति भावः, अनुचिन्त्य=विचिन्त्य, मे=मम, सा=शकुन्तला, विधिना=विधात्रा, चित्रे=रेखालेखने, विवेश्य=आलिख्य, परिकल्पितसत्त्वयोगा—परिकल्पितः=साधितः सत्त्वेन=प्राणवायुना ('द्रव्यासुव्यवसायेषु' इत्यमरः) योगः=संयोगः यस्याः तादृशी,

विदूषकः—यद्येवं, प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम्। [ज
एव्वं, पच्चादेसो दाणिं रूववदीणं।]

राजा—इदं च मे मनसि वर्तते।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥१०

कृतप्राणयोगा इत्यर्थः, मनसा = चेतसा, न तु करेण, करेण तूलिकादिभिर्वा का
स्यादङ्गेषु इति भयात् वाह्यं करणं विहायान्तःकरणेनेति भावः, न्विति वितर्के, रूपोच्चये
रूपाणाम् = त्रिलोकसौन्दर्याणाम् उच्चयः = समुदायस्तेनोपादानकारणेन, कृता, = र
अपरा = अन्यविलक्षण, स्त्रीरत्नसृष्टिः = वनितावनरत्नम्, प्रतिभाति = प्रती
क्वचित् 'रूपोच्चयेन घटिता मनसा कृता नु' इति पाठः स्वीकृतः। तत्र मनसा
ध्याता। रूपोच्चयेन घटिता योजिता नु इति योजनीयम्। मनसि ध्यातायां रूपनिर्व
श्लक्ष्णत्वं तादृशकान्तिमत्त्वादि व्यज्यते। सा स्त्रीरत्न सृष्टि रुत्कृष्टा स्त्रीसृष्टिः।
संदेहोऽतिशयोक्तिः काव्यलिङ्गं चालङ्काराः। वसन्ततिलका छन्दः ॥ ९ ॥

टिप्पणी—चित्रे निवेश्य—ब्रह्मा ने मानो विश्व सुन्दरी का एक चित्र ब
उसमें उन्होंने अनुपम सौन्दर्य भर कर उसे सवाँरा। सवाँरने का यह कार्य उन्होंने
से न करके मन से ही किया। हाथ इसलिए नहीं लगाया कि इसमें कठोरता न आ
फिर उसमें प्राणसञ्चार किया। यही कारण है कि शकुन्तला का लावण्य अनुप
पड़ा है। अन्य सुन्दरियों की सृष्टि ब्रह्मा ने अपने हाथ से ही की है मन से नहीं।

धातुः......तस्याः—सृष्टि के प्रसङ्ग में सौन्दर्य आदि के निर्माण में ब्रह्मा की
की एक सीमा है। उस सीमा से आगे बढ़ कर वे किसी वस्तु का निर्माण नहीं
सकते हैं। किन्तु शकुन्तला का सौन्दर्य ब्रह्मा की शक्ति-सीमा से बाहर का है।
प्रतीत होता है कि इसे उन्होंने हाथ से न बनाकर मन से ही बनाया है। यह
मानसिक सृष्टि है। तभी तो उसमें यह अनुपम सौन्दर्य भरा है।

यहाँ 'मनसा नु' के द्वारा सन्देह अलङ्कार है। चतुर्थ पद पहले के तीन पदों
कारण है, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है
तिलका। छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ ९ ॥

व्युत्पत्तिः—चित्रेः—√चित्र् + अच् + √चि + ष्ट्रन् वा + विभक्तिः। निवे

विदूषक—यदि ऐसा है तो अब सभी सुन्दरी स्त्रियाँ (इसके समक्ष) तिरस्कृत हो गईं।

राजा—और हमारे मन में तो यह बात (बार-बार उठती) है कि—

निष्कलङ्क उसका रूप (किसी के भी द्वारा) न सूँघा गया फूल है नाखूनों से न कटा हुआ कोंपल है, न विंधा हुआ रत्न है, नहीं चखा गया है रस जिसका ऐसा नया शहद है तथा पुण्यों के अक्षत फल की तरह (है)। विधाता उसके लिये किस निष्पाप भोक्ता को उपस्थित करेगा—यह नहीं जानता ॥१०॥

नि + √विश् + ल्यप्। कृता—√कृ + क्त + टाप् + विभक्त्यादिकार्यम्। विभुत्वम्—वि + √भू + त्व + विभक्तिः। अनुचिन्त्य—अनु + चिंत् + ल्यप् ॥९॥

शब्दार्थः—एवम् = ऐसा है, प्रत्यादेशः = निराकृति, तिरस्कार, इदानीम् = अब, सम्प्रति, रूपवतीनाम् = सुन्दरी स्त्रियों का ॥

टीका—विदूषक इति। एवम् = इत्थम्, यथा त्वं कथयसि तथेत्यर्थः, प्रत्यादेशः = निराकृतिः, विजेत्रीत्यर्थः, ('प्रत्यादेशो निराकृतिः, इत्यमरः), इदानीम् = सम्प्रति रूपवतीनाम् = सुन्दरीणाम् ॥

अन्वयः—अनघम्, तद्रूपम्, अनाघ्रातम्, पुष्पम्; कररुहैः, अलूनम्, किसलयम्, अनाविद्धम्, रत्नम्; अनास्वादितरसम्, नवम्, मधु; च, पुण्यानाम्. अखण्डम्, फलम्, इव, (आस्ते), विधिः, इह, कम्, अनघम्, भोक्तारम्, समुपस्थास्यति, इति, न, जाने ॥१०॥

शब्दार्थः—अनघम् = निष्कलङ्क, तद्रूपम् = उसका रूप, अनाघ्रातम् = न सूँघा गया, पुष्पम् = फूल (है); कररुहैः = नाखूनों से, अलूनम् = न कटा हुआ, किसलयम् = कोंपल, नवीन पत्ता (है); अनाविद्धम् = न विंधा हुआ, रत्नम् = रत्न (है); अनास्वादितरसम् = नहीं चखा गया है रस जिसका ऐसा, नवम् = नया, मधु = शहद (है); च = तथा, पुण्यानाम् = पुण्यों के, अखण्डम् = अक्षत, समग्र, फलम् = फल की, इव = तरह, (आस्ते = है); विधिः = विधाता, इह = उसके विषय में, उसके लिए, कम् = किस, अनघम् = निष्पाप, भोक्तारम् = भोक्ता को, समुपस्थास्यति = उपस्थित करेगा, बनाएगा, इति = यह, न = नहीं, जाने = जानता ॥१०॥

टीका—अनाघ्रातमिति। अनघम् = अपापम् अदोषमित्यर्थः, तद्रूपम्—तस्याः = शकुन्तलायाः रूपम् = सौन्दर्यमित्यर्थः, अनाघ्रातम्—न आघ्रातम् = न घ्राणविषयीकृतम् अनाघ्रातम् = अगृहीतसौरभमित्यर्थः, पुष्पम् = प्रसूनम्; कररुहैः = नखैः, अलूनम् = अच्छिन्नम्, किसलयम् = नवपल्लवम्, अनाविद्धम् = अच्छिद्रम्, भूषणत्वेन अनुपभुक्तम्, रत्नम् = मणिः; अनास्वादितरसम्—न आस्वादितः अनास्वादितः = अभुक्तः रसः = स्वादः यस्य तादृशम्, नवम् नूतनम् मधु = क्षौद्रम्; ('मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि' इत्यमरः), च = तथा, पुण्यानाम् = सुकृतानाम्, अखण्डम् = सम्पूर्णमित्यर्थः फलम् = परिणामः, इव = यथा, आस्ते इति क्रियाशेषः, विधिः = ब्रह्मा, इह = जगति, तद्रूपभोगविषये वा, कम् =

विदूषकः—तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्। कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्य
[तेण हि लहु परित्ताअदु णं भवं। मा कस्स वि तवस्सि इंगुदीतेल्लचिक्कणसीसस्स हत्थे पडिस्सदि।]

राजा—परवती खलु तत्रभवती। न च संनिहितो गुरुजनः।

विदूषकः—अथ भवन्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या दृष्टिरा
[अध भवन्तं अन्तरेण कीदिसो से दिट्ठिराओ।]

राजा—निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः। तथापि तु—

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं
हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया
न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥११॥

कीदृशम्, अनघम्=निष्पापम्,भोक्तारम्=भोगभाजम्, समुपस्थास्यति=उपसंक्रमि इति=एतत्, न जाने=न वेद्मि, अत्रोपमालङ्कारः शिखरिणी च छन्दः ॥१०॥

टिप्पणी:—अनाघ्रातम्—पुष्पों में किसी के द्वारा न सूंघा गया पुष्प, हाथ छुआ गया नवनिर्गत पत्ता, न विंधा हुआ रत्न, न चखा गया मधु तथा कणमात्र भोगा गया पुण्यसमूह अपनी जातियों में बेजोड़ होते हैं, सर्वदा तथा सर्वथा प्र होते हैं। अतः शकुन्तला के सौन्दर्य की इनके साथ तुलना की जा रही है।

नजाने—राजा के वितर्क का भाव इतना भर ही है कि—पता नहीं विधात पुण्यशाली को इसके बेजोड़ सौन्दर्य का उपभोक्ता बनाएगा।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा शिखरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' ॥१०॥

व्युत्पत्तिः—अनाघ्रातम्—न + आ + √घ्रा + क्त + विभक्तिः। अलूनम्—न क्त + विभक्तिः। अनाविद्धम्—न + आ + √व्यध् + क्त + विभक्तिः ॥१०॥

शब्दार्थः—लघु = अतिशीघ्र। इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य = इङ्गुदी के चिकने शिरवाले। परवती = परवश, सन्निहितः=उपस्थित। दृष्टिरागः = चक्षु आँख का प्यार, प्रेमभरी दृष्टि। निसर्गात् = स्वभाव से, अप्रगल्भः = भोली-भाली

टीका—विदूषक इति। लघु=शीघ्रम्। इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य—इङ्गु तापसतरुस्तस्य तैलेन=स्नेहेन चिक्कणम्=स्निग्धम् शीर्षम्=शिरः यस्य

विदूषक—तो आप इसे अति शीघ्र बचाइए, (जिससे यह) इङ्गुदी के तेल से चिकने शिरवाले किसी भी तपस्वी के हाथ में न पड़ जाय।

राजा—निश्चय ही वह परवश है और उसके पिता (कण्व) यहाँ आश्रम में विद्यमान नहीं हैं।

विदूषक—अच्छा, आपके प्रति उसका दृष्टि-राग कैसा था ?

राजा—तपस्वि-कन्याएँ स्वभाव से ही भोली-भाली होती हैं। लेकिन तो भी—

मेरे सामने पड़ने पर आँखें हटा ली जाती थीं, दूसरे कारणों से बात चलने पर हँस दिया जाता था, अतः उसके द्वारा शील के कारण रोके गये व्यापारवाला काम-भाव न प्रकट किया गया और न छिपाया ही गया ॥ ११ ॥

परवती=पराधीना, सन्निहितः=उपस्थितः। दृष्टिरागः=नेत्रप्रीतिः। निसर्गात्=स्वभावात्, अप्रगल्भः=अचपलः, अप्रौढ इति यावत्।

टिप्पणी—इङ्गुदी०—इसे लोक-भाषा में 'ऐंगुआ' या 'इंगुदी' कहते हैं। इसकी फली को पत्थर पर तोड़कर संन्यासी लोग तेल निकाल कर शरीर पर लगाते थे। तपोवन में इंगुदी के तेल को बालों में लगाकर छैल-छबीला बना हुआ व्यक्ति ही वहाँ की युवतियों के आकर्षण का केन्द्र होता था।

दृष्टिरागः—आँखें ऐसा साधन हैं जो किसी के प्रति हृदय में स्थित प्रेम अथवा घृणा को व्यक्त करती हैं। अतः विदूषक पूछ रहा है कि उसकी आँखों में आपके प्रति प्रेम छल-छला रहा था अथवा नहीं।

अन्वयः—मयि, अभिमुखे, ईक्षितम्, संहृतम्, अन्यनिमित्तकथोदयम्, हसितम्, अतः, तया, विनयवारितवृत्तिः, मदनः, न, निववृतः, च, न, संवृतः ॥ ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—मयि=मेरे, अभिमुखे=सामने पड़ने पर, ईक्षितम्=आँखें, संहृतम्=हटा ली जाती थीं, नीची कर ली जाती थीं; अन्यनिमित्तकथोदयम्=दूसरे कारणों से बात चलने पर हँस दिया जाता था; अतः=इसलिये, तया=उसके द्वारा, विनयवारितवृत्तिः=शील के कारण रोके गये व्यापारवाला, मदनः =कामभाव, न विवृतः =न प्रकट किया गया, च=और, न संवृतः=न छिपाया ही गया॥ ११ ॥

टीका—अभिमुख इति। मयि=दुष्यन्ते इत्यर्थः, अभिमुखे=सम्मुखवर्तिनि सति, ईक्षितम्=लोचनम्, संहृतम्=परिवर्तितम्, अन्यतः कृतम्; अनेन शृङ्गारलज्जा ध्वन्यते। अन्यनिमित्तकथोदयम्—अन्येन=अपरेण निमित्तेन=हेतुना कथायाः=वार्ताया उदयः=उत्पत्तिर्यत्र तत् तादृशम्, हसितम्=हासः कृतः। तथेति शेषः। अतः=अस्माद्धेतोः, तया=शकुन्तलया, विनयवारितवृत्तिः—विनयेन=शीलेन वारिता=निषिद्धा वृत्तिः=वर्तनम्, प्रकाश इति यावत् यत्र तथाभूतः मदनः=कामः, न विवृतः=न प्रकटितः, च=तथा, न संवृतः=न गोपितः। अत्र विरोधाभासोऽलङ्कारः। द्रुतविलम्बितं छन्द॥११॥

विदूषकः—न खलु दृष्टमात्रस्य तवाङ्कं समारोहति
[ण क्खु दिट्ठमेत्तस्स तुह अंकं समारोहदि।]

राजा—मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयाऽपि काम
विष्कृतो भावस्तत्रभवत्या। तथा हि—

> दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
> तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
> आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
> शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥१

विदूषकः—तेन हि गृहीतपाथेयो भव। कृतं त्वयो
तपोवनमिति पश्यामि। [तेण हि गहीदपाहेओ होहि।
तुए उववणं तवोवणं त्ति पेक्खामि।]

टिप्पणी—अभिमुखे—सामने जब आँखों में आँखें मिलती थीं, तब वह
आँखों को लज्जा के मारे नीची कर लेती थी अथवा दूसरी ओर कर लेती थी।

इस श्लोक में विरोधाभास अलङ्कार तथा द्रुतविलम्बित छन्द है। छन्द का लक्
'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' ॥११॥

व्युत्पत्तिः—संहृतम्—सम्+ √हृ+क्त+विभक्तिः। हसितम्—√हस्+
विभक्तिः ॥११॥

शब्दार्थः—न खलु=तो क्या, दृष्टमात्रस्य=देखते ही, सामने पड़ते ही, अ
गोद में, समारोहति=चढ़ जाती, आकर बैठ जाती। मिथः=साथ में, प्रस्थाने=
समय, शालीनतया=लज्जाशीलता के साथ, कामम्=यथेच्छ, भली-भाँति, आविष्
प्रकट किया गया, भावः=प्रेम-भाव ॥

टीका—विदूषक इति। न खल्विति=जिज्ञासायां प्रश्ने वा, दृष्टमात्रस्य—
दृष्टमात्रं तस्य दृष्टमात्रस्य=अवलोकनमात्रस्य, अङ्कम्=क्रोडम्, समारोहति=अधि
आरूढा भवतीत्यर्थः। मिथः=साकम्, प्रस्थाने=गमनकाले, शालीनतया=
शीलतया, कामम्=यथेच्छम्, पर्याप्तमिति यावत्, आविष्कृतः=प्रकटितः, भावः=
इत्यर्थः ॥

टिप्पणी—तवाङ्कम्—विदूषक के कहने का भाव यह है कि उसका इ
हाव-भाव तुम्हारे प्रति अनुराग का सूचक है। प्रथम मिलन में ही वह तुम्हारी
थोड़े ही आकर चढ़ बैठेगी।

अन्वयः—(सा) तन्वी, कतिचित्, एव, पदानि, गत्वा, अकाण्डे, दर्भाङ्कुरेण
क्षतः, इति, स्थिता; च, द्रुमाणाम्, शाखासु, असक्तम्, अपि, वल्कलम् विमोचयन्ती
वदना, आसीत् ॥ १२ ॥

विदूषक—तो क्या देखते ही तुम्हारी गोद में आकर बैठ जाती।

राजा—(सखियों के) साथ जाने के समय स्पृहणीया शकुन्तला के द्वारा लज्जा-शीलता के साथ ही भली-भाँति (मेरे प्रति) प्रेम-भाव प्रकट किया गया। जैसे कि—

(वह) तन्वङ्गी कुछ ही पग चलकर सहसा 'कुश के अङ्कुर से पैर घायल हो गया है'—ऐसा कह कर रुक गई और वृक्षों की टहनियों में न फँसे हुए भी वल्कल को छुड़ाती हुई मेरी ओर मुँह करके स्थित थी॥ १२॥

विदूषक—तब तो पाथेययुक्त बनिए। मैं देख रहा हूँ कि आपने तपोवन को क्रीडा-वाटिका बना दिया है।

शब्दार्थः—(सा=वह), तन्वी=तन्वङ्गी, कतिचित्=कुछ, एव=ही, पदानि=पग, गत्वा=चलकर, अकाण्डे=अनवसर में, सहसा, दर्भाङ्कुरेण=कुश की नोक से, कुश के अङ्कुर से, चरणः=पैर, क्षतः=घायल हो गया है, इति=ऐसा कह कर, स्थिता=रुक गई, च=और, द्रुमाणाम्=वृक्षों की, शाखासु=टहनियों में, असक्तम्=न फँसे हुए, अपि=भी, वल्कलम्=वल्कल वस्त्र को, विमोचयन्ती=छुड़ाती हुई, विवृत्तवदना=मुँह लौटाई हुई, मेरी ओर मुँह करके स्थित, आसीत्=थी॥ १२॥

टीका—तस्याः कामभावाविष्करणस्य प्रकारमाह—

दर्भाङ्कुरेणेति—सेति शेषः, तन्वी=कृशाङ्गी,=कतिचित्=स्वल्पानीत्यर्थः न तु बहूनि, एवेति निर्धारणे, पदानि गत्वा=यात्वा, अकाण्डे=अनवसरे ('काण्डश्चावसरे बाणे, इति धरणिः), दर्भाङ्कुरेण—दर्भस्य=कुशस्य अङ्कुरेण=सूच्या, न तु दर्भेण, तस्य सत्त्वे व्याजो न स्यात्। अङ्कुरस्यादृश्यमानतया, व्याजसंभवात्। अतः अङ्कुरपदे व्याजेन विलम्बितमिति ध्वनितम्। चरणः=पादः, क्षतः=विद्धः, इति=इत्युक्त्वा स्थिता=गतिनिवृत्ता जाताः, च=तथा, द्रुमाणाम्=वृक्षाणाम्, शाखासु=स्कन्धेषु, अस-क्तम्=असंलग्नम्, अपि=च, वल्कलम्=वल्कलवस्त्रम्, विमोचयन्ती=शाखामुक्तं कुर्वती, विवृत्तवदना—विवृत्तम्=पराङ्मुखम्, मम दिशि प्रवर्तितमित्यर्थः. वदनम्=आननम् यस्याः सा यया सा वेति तथाविधा। आसीत्=जाता। अत्र विरोधाभासो हेतुश्चा-लङ्कारौ। वसन्ततिलका च छन्दः॥ १२॥

टिप्पणी—**दर्भाङ्कुरेण**—शकुन्तला की इच्छा दुष्यन्त को छोड़कर जाने की न थी। वह दुष्यन्त को देखकर अघाती न थी। किन्तु विवश होकर उसे सखियों के साथ जाना ही पड़ रहा था। फिर भी वह यथासंभव कुछ विलम्ब करना ही चाहती थी। अतः दो-चार पग जाने पर उसने झूठ-मूठ बहाना बनाकर सखियों से कहा—रुको-रुको पैर में कुश का अङ्कुर गड़ गया है। फिर थोड़ा आगे बढ़ने पर कहा—रुको-रुको मेरा वल्कल झाड़ी में फँस गया है। वह वल्कल को छुड़ाती (वस्तुतः फँसाती) हुई दुष्यन्त को देखती जा रही थी।

इस श्लोक में विरोधाभास तथा हेतु अलङ्कार हैं। प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका—लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः'॥ १२॥

शब्दार्थः—गृहीतपाथेयः=ग्रहण किया है पाथेय (मार्गभोजन) जिसने ऐसा, पाथेय-

राजा—सखे, तपस्विभिः कैश्चित् परिज्ञातोऽस्मि। चिन्तय तावत् केनापदेशेन पुनराश्रमपदं गच्छामः।

विदूषकः—कोऽपरोऽपदेशो युष्माकं राज्ञाम्। नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति। [को अवरो अवदेसो तुम्हाणं राआणं। णीवारच्छट्ठभाअं अम्हाणं उवहरन्तु त्ति।]

राजा—मूर्ख, अन्यमेव भागधेयमेते तपस्विनो निर्वपन्ति यो रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यते। पश्य—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद् धनम्।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥१३॥

(नेपथ्ये)

हन्त, सिद्धार्थौ स्वः।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये, धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्विभिर्भवितव्यम्।

युक्त। उपवनम्=क्रीडा-वाटिका। परिज्ञातः=पहचान लिया गया। अपदेशेन=बहाने से। नीवारषष्ठभागम्=तिन्नी का छठा भाग। निर्वपन्ति=कर के रूप में देते हैं।

टीका—विदूषक इति। गृहीतपाथेयः—गृहीतम्=सञ्चितम् पथि साधु पाथेयम् गन्तुः पथि साधु वस्तु, सम्बलमित्यर्थः, येन तादृशः। अनेनोद्योगस्यावश्यकर्तव्यता ध्वनित उपवनम्=प्रमोदवनम्। परिज्ञातः=राजाहमिति विदितः। अपदेशेन=व्याजेन। नीवार षष्ठभागम्—नीवाराणाम्=धान्यविशेषाणाम् षष्ठभागम्=षष्ठांशम्। निर्वपन्ति=ददति

टिप्पणी—गृहीतपाथेयः—जब व्यक्ति दूर यात्रा पर जाने लगता है, उस समय उसके स्नेही व्यक्ति मार्ग में खाने के लिये जो वस्तु देते हैं, उसे पाथेय कहा जाता है। दुष्यन्त शकुन्तला के प्रेम-पथ का पथिक होने जा रहा है। उस समय शकुन्तला ने उसके साथ जो हाव-भाव व्यक्त किया वही राजा के लिए पाथेय है। पाथेय से व्यक्ति को आश्वासन मिलता है। इसका भाव यह है कि शकुन्तला ने प्रेम-यान चलाने के लिए तुम्हें हरी झंडी दिखला दी है। अब खुलकर तुम प्रेम-व्यापार उसके साथ कर सकते हो।

०षष्ठभागम्—राजा प्रजा की रक्षा करता है। इसके बदले में प्रजा राजा को उपार्जित धन का छठा भाग कर के रूप में देती है।

व्युत्पत्तिः—पाथेय—पथिन्+ढञ् (एय)+विभक्तिः। परिज्ञातः—परि+√ज्ञा+क्त+विभक्तिः॥

राजा—मित्र कुछ तपस्वियों के द्वारा पहचान लिया गया हूँ। तो सोचो जरा कि किस बहाने से फिर आश्रम में चला जाय।

विदूषक—आप राजाओं के लिये दूसरा क्या बहाना चाहिए। (आप जाकर कहें कि तपस्वी लोग हमें) नीवार का छठा भाग लाकर दें।

राजा—मूर्ख, ये तपस्वी लोग दूसरी ही वस्तु कर के रूप में देते हैं, जो रत्नों की राशि छोड़कर भी सहर्ष ग्रहण की जाती है। देखो—

राजाओं को चारों वर्णों से जो धन प्राप्त होता है, वह नश्वर (है)। (किन्तु) तपस्वी लोग हमें निश्चय ही अनश्वर, तपस्या का षष्ठांश देते हैं ॥१३॥

(पर्दे के पीछे)

वाह, हम दोनों कृतार्थ हो गये।

राजा—(कान लगाकर) अरे, गंभीर और शान्त स्वरवाले तपस्वियों को होना चाहिए (अर्थात् गंभीर और शान्त स्वर से प्रतीत होता है कि ये तपस्वी हैं)।

अन्वयः—नृपाणाम्, वर्णेभ्यः, यत्, धनम्, उत्तिष्ठति, तत्, क्षयि, (आस्ते)। आरण्यकाः, नः, हि, अक्षय्यम्, तपःषड्भागम्, ददाति ॥१३॥

शब्दार्थः—नृपाणाम् = राजाओं को, वर्णेभ्यः = चारों वर्णों से, यत् = जो, धनम् = धन, उत्तिष्ठति = प्राप्त होता है, तत् = वह, क्षयि = नश्वर, (आस्ते = है)। आरण्यकाः तपस्वी लोग, नः = हमें, हि = निश्चय ही, अक्षय्यम् = अनश्वर, अविनाशी, तपःषड्भागम् = तपस्या का षष्ठांश, ददाति = देते हैं ॥१३॥

टीका—यदुत्तिष्ठतीति। नृपाणाम् = राज्ञाम्, वर्णेभ्यः = ब्राह्मणादिभ्यः, यत् = यादृशम्, धनम् = द्रविणम्, उत्तिष्ठति = लब्धं भवति, तत् = तादृशं धनम्, क्षयि = विनाशशीलम्, आस्ते इति शेषः। आरण्यकाः = तपस्विनः, नः = अस्मभ्यम्, हीति निश्चये, अक्षय्यम् = अनश्वरम्, तपःषड्भागम्—तपसः = तपस्यायाः षड्भागम् = षष्ठांशम्, ददति = समर्पयन्ति। अत्र व्यतिरेकालङ्कारः अनुष्टुप् छन्दः ॥१३॥

टिप्पणी—तपःषड्भागम्—तपोवन की रक्षा के बदले में राजा को मुनिजनों की तपस्या का छठा भाग कर के रूप में प्राप्त होता है। तपस्वियों के द्वारा प्राप्त तपस्या का यह षष्ठांश अनश्वर कहा गया है।

इस श्लोक में व्यतिरेक अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है। छन्द का लक्षण—

'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' ॥१३॥

व्युत्पत्तिः—अक्षय्यम्—अ + √क्षण् + ल्यप्। आरण्यकाः—अरण्य + वुञ् + विभक्त्यादिकार्यम् ॥१३॥

शब्दार्थः—हन्त = यह प्रसन्नता को द्योतित करनेवाला अव्यय है, सिद्धार्थौ =

(प्रविश्य)

दौवारिकः—जयतु जयतु भर्ता । एतौ द्वौ ऋषिकुमा[रौ] प्रतीहारभूमिमुपस्थितौ । [जेदु जेदु भट्टा । एते दुवे इसिकुमा[रा] पडिहारभूमिं उवट्ठिदा ।]

राजा—तेन ह्यविलम्बितं प्रवेशय तौ ।

दौवारिकः—एष प्रवेशयामि । (इति निष्क्रम्य, ऋ[षि]कुमाराभ्यां सह प्रविश्य) इत इतो भवन्तौ । [एसो पवेसे[मि] इदो इदो भवन्ता ।]

(उभौ राजानं विलोकयतः)

प्रथमः—अहो, दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयताऽस्य वपु[षः] अथवोपपन्नमेतदस्मिन् ऋषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि । कुतः—

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति ।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ॥[१४]

कृतार्थ । धीरप्रशान्तस्वरैः = गंभीर और शान्त स्वर वाले । प्रतिहारभूमि[म्]= ... पर, दीप्तिमतः = कान्तिमान्, वपुषः = शरीर की । उपपन्नम् = ठीक है, उचित है ॥

टीका—नेपथ्य इति । हन्तेति हर्षद्योतकमव्ययपदम्, सिद्धार्थौ—सिद्धः = ... अर्थः = प्रयोजनम् ययोस्तथाविधौ, कृतार्थौ इत्यर्थः, धीरप्रशान्तस्वरैः—धीराः = ... प्रशान्ताः = स्थिराश्च ये स्वराः = कण्ठध्वनयस्तैरुपलक्षितैः । प्रतिहारभूमिम्—प्रति[हारस्य] = द्वारपालस्य भूमिम् = प्रदेशम्, द्वारप्रदेशमित्यर्थः । दीप्तिमतः = कान्तिमतः, ... शरीरस्य । उपपन्नम् = युक्तमेव ॥

अन्वयः—अमुना, अपि, सर्वभोग्ये, आश्रमे, वसतिः अध्याक्रान्ता; रक्षायोगा[त्] अपि, प्रत्यहम्, तपः, सञ्चिनोति; वशिनः, अस्य, अपि, केवलम्, राजपूर्वः, पुण्यः ... इति; शब्दः, चारणद्वन्द्वगीतः (सन्), मुहुः, द्याम्, स्पृशति ॥१४॥

शब्दार्थः १—राजा के पक्ष में—अमुना = इसके द्वारा, अपि = भी, सर्व[भोग्ये] = सबके आश्रय योग्य सबके भोग, योग्य, आश्रमे = आश्रम में, वसतिः = वास, अध्याक्रान्ता = स्वीकार किया गया है, किया जाता है; रक्षायोगात् = प्रजा की ... करने से, अथवा रक्षारूपी योग से, अयम् = यह, अपि = भी, प्रत्यहम् = प्रति दिन, ...

(प्रवेश करके)

द्वारपाल—स्वामी की जय हो, जय हो। ये दो ऋषिकुमार द्वार पर उपस्थित हैं।

राजा—तो विना देर किये उन्हें अन्दर लिवा आओ।

द्वारपाल—अभी लिवा आता हूँ। (ऐसा कहकर निकल कर, ऋषिकुमारों के साथ प्रवेश करके) इधर से, इधर से आप लोग (आवें)।

(दोनों राजा को देखते हैं)

पहला—अहा, इसका कान्तिमान शरीर भी विश्वास उत्पन्न करता है। अथवा ऋषियों के तुल्य इस राजा के विषय में यह उचित हैं। क्योंकि—

१—राजा के पक्ष में—इसके द्वारा भी सब के आश्रमयोग्य (गृहस्थ) आश्रम में निवास स्वीकार किया गया है। प्रजा की रक्षा करने से अथवा रक्षा रूपी योग से यह भी प्रतिदिन तपस्या का सञ्चय करता है। इन्द्रियों को वश में रखने वाले इसका भी केवल राजपूर्वक पावन ऋषि (राजर्षि) यह शब्द चारण-युगल के द्वारा गाया जाता हुआ वार-वार स्वर्ग को छूता रहता है॥ १४॥

२—मुनि के पक्ष में—इस मुनि के द्वारा भी सभी (विद्यार्थियों) के द्वारा आश्रय के योग्य आश्रम में निवास स्वीकार किया गया है। शरीर-रक्षा अथवा धर्म-रक्षा के लिये स्वीकृत अष्टाङ्ग योग से यह (मुनि) भी प्रतिदिन तपस्या को सञ्चित करता है। जितेन्द्रिय इसका भी केवल राजयुक्त पावन ऋषि (ऋषिराज) यह शब्द चारण-युगल द्वारा गाया जाता हुआ बारम्बार स्वर्ग को छूता रहता है॥ १४॥

तपस्या को, सञ्चिनोति=संगृहीत करता है, वशिनः=जितेन्द्रिय, इन्द्रियों को वश में रखने वाले, अस्य=इसका, अपि=भी, केवलम्=केवल, राजपूर्वः=राजपूर्वक, जिसके पहले राज-शब्द लगा हुआ है ऐसा, पुण्यः=पावन, मुनिः=मुनि, ऋषि, इति=यह, शब्दः=शब्द, चारणद्वन्द्वगीतः (सन्)=चारण-युगल के द्वारा गाया जाता हुआ, मुहुः=बारम्बार, द्याम्=स्वर्ग को, स्पृशति= छू रहा है अथवा छूता रहता है॥१४॥

२—मुनि के पक्ष में—अमुना=इस मुनि के द्वारा, अपि=भी, सर्वभोग्ये=सभी (विद्यार्थियों के द्वारा आश्रय के योग्य, आश्रमे=आश्रम में, संन्यास आश्रम में, वसतिः= निवास, अध्याक्रान्ता=स्वीकार किया गया है; रक्षायोगात्=शरीर रक्षा के लिये अथवा धर्म रक्षा के लिये अष्टाङ्गयोग से, अयम्=यह (मुनि), अपि=भी, प्रत्यहम्=प्रतिदिन, तपः=तपस्या को, सञ्चिनोति=सञ्चित करता है; वशिनः=जितेन्द्रिय, अस्य= इसका, अपि=भी, केवलम्=केवल, राजपूर्वः=राज सहित, युक्त, पुण्यः=पावन, मुनिः=ऋषि, इति=यह, शब्दः=शब्द, चारणद्वन्द्वगीतः (सन्)=चारण-युगल के द्वारा गाया जाता हुआ, मुहुः=बारम्बार, द्याम्=स्वर्ग को, स्पृशति=छूता रहता है॥१४॥

टीका—राज्ञो राजर्षित्वं प्रतिपादयति—अध्याक्रान्तेति। अमुना=एतेन, अपि=च, 'अपि' शब्दात् सर्वत्र मुनिः, सर्वभोग्ये—सर्वैः=निखिलैर्ब्रह्मचारिप्रमुखैः भोग्यः= आश्रयणीयः सर्वभोग्यस्तस्मिन्, आश्रमे=गृहस्थाश्रमे, मुनिपक्षे तु—सर्वैः=बहुभिर्वटुभि-

द्वितीयः—गौतम, अयं स बलभित्सखो दुष्यन्तः ?

प्रथमः—अथ किम् ।

द्वितीयः—तेन हि—

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति ।
आशंसन्ते समितिषु सुरा बद्धवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥१५॥

भोग्यः = पठार्थयाश्रयणीयस्तस्मिन्, आश्रमे = मठे, ('आश्रमो व्रतिनां मठे' इति हैमः) वसतिः = वासः, अभ्याक्रान्ता = अङ्गीकृता; उक्तं च पद्मपुराणे—'यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः । तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते चतुराश्रमाः ॥' रक्षायोगात्-रक्षायाः = प्रजापरिपालनस्य योगात् = संयोगात्, करणात् प्रजापालनादिति यावत् अयम् = एषः, अपि = च, प्रत्यहम् = प्रतिदिनम्, तपः = लोकोत्तरं धर्मम्, सञ्चिनोति = एकत्रीकरोति, मुनिपक्षे तु—रक्षायोगात्—रक्षार्थम् = शरीरयात्रानिर्वाहार्थम्, योगः = अष्टाङ्गस्तस्मात् तपः = चान्द्रायणादि, सञ्चिनोति = करोति; वशिनः = जितेन्द्रियस्य अस्यापि = एतस्यापि, केवलम् = एकम्, राजपूर्वः—राजन् इति शब्दः पूर्वो यस्मात् तादृशः, पुण्यः = पावनः, मुनिः = ऋषिः, इति = एतादृशः, शब्दः = अक्षरावलिः, चारणद्वन्द्वगीतः—चारणानाम् = कुशीलवानाम् द्वन्द्वम् = स्त्रीपुरुषयुगलम् तेन गीतः = कीर्तितः सन्, चारणलक्षणं रत्नाकरे—'किंकिणीवाद्यवेदी च वृतो विकटनर्तकैः । मर्मज्ञः सर्वशास्त्रे चतुरश्चारणो मतः ॥' मुहुः = वारम्वारम्, द्याम् = स्वर्गम्, स्पृशति = छुपति, गच्छतीति यावत् । अत्र श्लेषो व्यतिरेकश्चालङ्कारौ । मन्दाक्रान्ता छन्दः ॥ १४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में राजा और मुनि की समानता बतलायी गयी है। राजा गृहस्थ आश्रम में हैं। यह आश्रम अन्य शेष आश्रमों का आश्रय हैं। यदि गृहस्थ आश्रम अपना कार्य न करे तो अन्य आश्रम के व्यक्ति भोजन आदि के बिना जीवित ही नहीं रह सकेंगे। मुनि भी अपने आश्रम (कुटी) में रह कर वहुत विद्यार्थियों को पढ़ाता है उन्हें भोजन-वस्त्र देता हैं। इस प्रकार वह भी वहुतों का आश्रयस्थल है।

प्रजा की रक्षा करने के कारण राजा प्रतिदिन तपस्या का, पुण्य का, संग्रह करता है मुनि भी शरीर-रक्षा के लिये अष्टाङ्ग योग का सहारा लेता है। इस प्रकार वह योगाभ्यास द्वारा तप का संचय करता है।

यदि राजा मुनि-वृत्ति से रहते हुए निःस्पृह भाव से प्रजा की रक्षा करता है तो उसे 'राजर्षि' कहा जाता था।

इस श्लोक में श्लिष्ट अर्थ के कारण श्लेष है। उपमान ऋषि से उपमेय राजर्षि

दूसरा—गौतम, यह वही इन्द्र-मित्र दुष्यन्त हैं ?

पहला—और क्या।

दूसरा—इसीलिये तो—

जो कि नगर-द्वार की अर्गला की तरह विशाल बाहुवाला यह (राजा) अकेला सागररूप श्याम सीमावाली सम्पूर्ण पृथिवी का भोग करता है—यह आश्चर्यजनक नहीं है। क्योंकि राक्षसों के साथ वैर बाँधे हुए देवता युद्ध में इसके प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुष पर और इन्द्र के वज्र पर विजय की आशा करते हैं ॥१५॥

महत्व बतलाने से व्यतिरेक अलङ्कार भी है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—मन्दाक्रान्ता। छन्द का लक्षण—

'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' ॥१४॥

व्युत्पत्तिः—अध्याक्रान्ता—अधि+आ+√क्रम्+क्त+स्त्रियां टाप्+विभक्त्यादि-कार्यम्।

वसतिः—√वस्+अति+विभक्त्यादिकार्यम्

सर्वभोग्ये—सर्व+√भुज्+ण्यत्+कुत्वम्+विभक्त्यादिकार्ये रूपसिद्धिः ॥१४॥

शब्दार्थः—अयम्=यह, सः=वही, जगद्विदित, बलभित्सखः=इन्द्र के मित्र। अथ किम्=और क्या ? ॥

टीका—द्वितीय इति—अयम्=एषः, पुरोवर्तीत्यर्थः, सः जगद्विदित इत्यर्थः, बल-भित्सखः—बलभिदः=इन्द्रस्य सखा=मित्रम् इति बलभित्सखः, समासान्तष्टच् ॥

अन्वयः—यत्, नगरपरिघप्रांशुबाहुः, अयम्, एकः, उदधिश्यामसीमाम्, कृत्स्नाम्, धरित्रीम् भुनक्ति, एतत्, चित्रम्, न, हि, दैत्यैः, बद्धवैराः, सुराः, समितिषु, अस्य, अधिज्ये, धनुषि, च, पौरुहूते, वज्रे, विजयम्, आशंसन्ते ॥१५॥

शब्दार्थः—यत्=जो कि, नगरपरिघप्रांशुबाहुः=नगर-द्वार की अर्गला की तरह विशाल बाहुवाला, अयम्=यह, एकः=अकेला, उदधिश्यामसीमाम्=सागर ही है श्याम सीमा जिसकी ऐसी, कृत्स्नाम्=सम्पूर्ण, धरित्रीम्=पृथिवी को (का), भुनक्ति=भोग करता है; एतत्=यह, चित्रम्=आश्चर्यजनक, न=नहीं (है); हि=क्योंकि, दैत्यैः=राक्षसों के साथ, बद्धवैराः=वैर बाँधे हुए, सुराः=देवता, समितिषु=युद्ध में, अस्य=इसके अधिज्ये=प्रत्यञ्चा चढ़े हुए, धनुषि=धनुष पर, च=और, पौरुहूते=इन्द्र के, वज्रे=वज्र पर, विजयम्=विजय की, आशंसन्ते=आशा करते हैं ॥१५॥

टीका—नैतच्चित्रमिति। यत्, नगरपरिघप्रांशुबाहुः—नगरस्य=राजधान्याः प्रावा-रकस्येत्यर्थः परिघौ=अर्गलौ इव प्रांशू=दीर्घौ बाहू=भुजौ यस्य तादृशः, नगरपदेना-त्यन्तदैर्घ्यं ध्वनितम्, अयम्=एषः, एकः=केवलः, उदधिश्यामसीमाम्—उदधिः=समुद्र एव श्यामः=श्यामवर्णः सीमा=मर्यादा यस्याः सा ताम्, कृत्स्नाम्=समग्राम्, धरित्रीम्=पृथिवीम्, भुनक्ति=शास्ति; एतत्=इदम्, चित्रम्=आश्चर्यम्, न=नास्ते। हि=यतः, दैत्यैः=राक्षसैः, बद्धवैराः—बद्धम्=लग्नम् वैरम्=शत्रुत्वं येषां तथाभूताः,

उभौ—(उपगम्य) विजयस्व राजन् ।

राजा—(आसनादुत्थाय) अभिवादये भवन्तौ ।

उभौ—स्वस्ति भवते । (इति फलान्युपहरतः ।)

राजा—(सप्रणामं परिगृह्य) आज्ञापयितुमिच्छामि ।

उभौ—विदितो भवानाश्रमसदामिहस्थः । तेन भवन्तं प्रार्थयन्त ।

राजा—किमाज्ञापयन्ति ?

उभौ—तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसांनिध्याद् रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति । तत् कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति ।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि ।

विदूषकः—(अपवार्य) एषेदानीमनुकूला तेऽभ्यर्थना ।

[एसा दाणिं अणुऊला ते अब्भत्थणा ।]

राजा—(स्मितं कृत्वा) रैवतक, मद्वचनादुच्यतां सारथिः सबाणासनं रथमुपस्थापयेति ।

सुराः = देवाः, समितिषु = संग्रामेषु, अस्य = एतस्य, अधिज्ये—ज्याम् = प्रत्यञ्चाम् अधिगतम् = प्राप्तमित्यधिज्यम् = समौर्वीकम् तस्मिन्, धनुषि = कोदण्डे, च = तथा पौरुहूते—पुरुहूतस्य = इन्द्रस्येदम् पौरुहूतम् = ऐन्द्रम् तस्मिन्, वज्रे = कुलिशे, विजयम् = जयम्, आशंसन्ते = आकाङ्क्षन्ति । अत्र पर्यायोक्तं काव्यलिङ्गं लुप्तोपमा दीपकं चालङ्काराः । मन्दाक्रान्ता छन्दः ॥१५॥

टिप्पणी—नगरपरिघ०—प्राचीन काल में राजधानी के चारों ओर एक ऊँची दीवार बनायी जाती थी । उसमें प्रवेशद्वार पर विशाल किवाड़ लगायी जाती थी। उस किवाड़ में, पीछे लगायी जानेवाली, महान् अर्गला रहती थी । इसे ही परिघ तथा अर्गला कहते हैं ।

इस श्लोक में उपमा तथा काव्य लिङ्ग की संसृष्टि है । इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—मन्दाक्रान्ता । छन्द का लक्षण—

"मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम् ॥ १५ ॥

व्युत्पत्तिः—समितिषु—सम्+√इ+क्तिन्+विभक्तिः ॥

पौरुहूते—पुरुभिः = बहुभिः हूयते यज्ञेषु आहूयत इति पुरुहूतः । पुरुहूतस्येदं पौरुहूतं तस्मिन् । पुरुहूत्+अण्+विभक्तिकार्यम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—उपगम्य = पास में जाकर । अभिवादये = प्रणाम कर रहा हूँ । उपहरतः

दोनों—(पास में जाकर) राजन्, आप विजयी बनें।

राजा—(आसन से उठ कर) आप दोनों को प्रणाम कर रहा हूँ।

दोनों—आपका कल्याण हो। (ऐसा कह कर फलों को देते हैं)

राजा—(प्रणामपूर्वक स्वीकार करके) आप लोगों से आज्ञा पाने की इच्छा करता हूँ। (अर्थात् आज्ञा दें, क्या कार्य है)।

दोनों—आप यहाँ हैं, यह आश्रमवासियों को मालूम हो गया है। अतः वे आपसे प्रार्थना करते हैं।

राजा—(वे) क्या आज्ञा दे रहे हैं?

दोनों—पूज्य महर्षि कण्व की अनुपस्थिति के कारण राक्षस हमारे यज्ञ में बाधा डाल रहे हैं। इसलिये कुछ दिन आप, सारथि के साथ, रह कर आश्रम को सनाथ कीजिये।

राजा—मैं (बहुत) अनुगृहीत हूँ।

विदूषक—(दूसरी ओर मुँह करके) सम्प्रति यह प्रार्थना (तो) आपके अनुकूल (ही) है।

राजा—(मुस्कराकर) रैवतक, मेरी ओर से सारथि से (जाकर) कहो—'धनुष के साथ (मेरा) रथ उपस्थित करो।'

प्रदान करते हैं। परिगृह्य = लेकर। आश्रमसदाम् = आश्रमवासियों को, इहस्थः = यहाँ पर स्थित।

टीका—उभाविति। उपगम्य = पार्श्वे गत्वा। अभिवादये = प्रणमामि। उपहरतः = प्रदानं कुरुतः। परिगृह्य = आदाय। आश्रमसदाम् = आश्रमवासिनाम्, इहस्थः—इह = आश्रमे तिष्ठतीतीहस्थः = अत्र वर्तमानः।

शब्दार्थः—तत्रभवतः = पूज्य, असान्निध्यात् = अनुपस्थिति के कारण, रक्षांसि = राक्षस, इष्टिविघ्नम् = यज्ञ में बाधा, उत्पादयन्ति = डाल रहे हैं। कतिपयरात्रम् = कुछ रात्रियाँ, कुछ दिन। अनुगृहीतः = अनुकम्पित। स्मितं कृत्वा = मुस्कराकर। सबाणासनम् = धनुष के साथ।

टीका—उभाविति। तत्रभवतः = पूज्यस्य तस्य, असान्निध्यात् = उपस्थितेरभावात्, रक्षांसि = निशाचराः, इष्टिविघ्नम्—इष्टेः = यज्ञस्य विघ्नम् = व्याघातम्, उत्पादयन्ति = कुर्वन्ति। कतिपयरात्रम्—कतिपयाः = का अपि अनिर्दिष्टसंख्याः, कतिपयशब्दोऽयम-निर्दिष्टसंख्यार्थेऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम्, रात्रीः = निशाः, अच् समासान्तः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। अनुगृहीतः = अनुकम्पितः। स्मितं कृत्वा = ईषद्विहस्येति भावः। सबाणासनम्—बाणस्य = शरस्य आसनेन = आधारेण सहेति सबाणासनम् = धनुःसहितम्।

टिप्पणी—अपवार्य—बहुत पात्रों के रहते जहाँ किसी एक पात्र के द्वारा मुँह दूसरी ओर करके दूसरे पात्र से गोपनीय बात कही जाती है, वह अपवारित संवाद कहलाता है।

अनुकूला—दुष्यन्त और शकुन्तला के बीच चल रहा प्रेम-व्यवहार विदूषक को विदित है। इसीलिये तो कुछ मजाक के स्वर में वह कह रहा है कि यह प्रार्थना तो आपके अनुकूल ही है, क्योंकि आप आश्रम में रुकने का बहाना चाहते ही थे।

दौवारिकः—यद् देव आज्ञापयति। [जं दे आणवेदि ।] (इति निष्क्रान्तः)

उभौ—(सहर्षम्)

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि ।
आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः ॥१६॥

राजा—(सप्रणामम्) गच्छतां पुरो भवन्तौ, अहमप्यनुपदमागत एव ।

उभौ—विजयस्व । (इति निष्क्रान्तौ ।)

राजा—माधव्य, अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम् ।

विदूषकः—प्रथमं सपरिवाहमासीत् । इदानीं राक्ष[स]वृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः । [पढमं सपरिवाहं आसि । दा[णिं] रक्खसवुत्तन्तेण बिन्दुवि णावसेसिदो ।]

राजा—मा भैषीः । ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे ।

विदूषकः—एष राक्षसाद् रक्षितोऽस्मि । [एस रक्खसा[दो] रक्खिदो म्हि ।]

(प्रविश्य)

दौवारिकः—सज्जो रथो भर्तुर्विजयप्रस्थानमपेक्षते । एष पुनर्नगराद् देवीनामाज्ञप्तिहरः करभक आगतः । [सज्जो रधो भट्टिणो विजअप्पत्थाणं अवेक्खदि । एस [पुण] णअरादो देवीणं आणत्तिहरओ करभओ आअदो ।]

स्मितं कृत्वा—राजा को विदूषक के मजाकपूर्ण कथन पर हँसी आ गई और मुस्करा उठा ।

अन्वयः—पूर्वेषाम्, अनुकारिणि, त्वयि, इदम्, युक्तरूपम्; खलु, पौरवाः, आपन्नाभय-सत्रेषु, दीक्षिताः ॥१६॥

शब्दार्थः—पूर्वेषाम् = पूर्वजों के, अनुकारिणि = अनुकरणकर्त्ता, त्वयि = आपके विषय में, आपके लिये, इदम् = यह, ऋषियों की आज्ञा शिरोधार्य करना, युक्तरूपम् = अत्यन्त उचित है; खलु = निश्चय ही, पौरवाः = पुरुवंशी राजा, आपन्नाभयसत्रेषु = विपद्ग्रस्त व्यक्तियों के लिये, अभयदान-रूपी यज्ञ में, दीक्षिताः = दीक्षा लेकर बैठे हैं, यजमान बने हुए हैं ॥१६॥

टीका—अनु कारिणि इति । पूर्वेषाम् = पूर्वजानाम् अनुकारिणि = अनुवर्तिनि,

द्वारपाल—जो महाराज आज्ञा दे रहे हैं (वही करूँगा)। (ऐसा कहकर निकल गया)।

दोनों (प्रसन्नतापूर्वक)—

पूर्वजों के अनुकरणकर्त्ता आपके लिए यह (ऋषियों की आज्ञा मानना) अत्यन्त उचित ही है। निश्चय ही, पुरुवंशी राजा विपद्ग्रस्त व्यक्तियों के लिए अभयदान-रूपी यज्ञ में दीक्षा लेकर बैठे हुए हैं ॥१६॥

राजा—(प्रणामपूर्वक) आप दोनों आगे-आगे चलें। मैं भी पीछे-पीछे आ ही गया।

दोनों—विजयी बनें। (ऐसा कह कर दोनों निकल गये)।

राजा—माधव्य, क्या शकुन्तला को देखने की (तुम्हें) उत्सुकता है?

विदूषक—पहले तो (शकुन्तला को देखने की उत्सुकता) उमड़ रही थी पर अब राक्षसों के समाचार से बूँद भर भी अवशिष्ट नहीं है।

राजा—डरो मत। तुम मेरे ही पास रहोगे।

(प्रवेश करके)

द्वारपाल—तैयार रथ महाराज के विजय-प्रस्थान की प्रतीक्षा कर रहा है। किन्तु नगर से राजमाता का सन्देश लेकर करभक आया है।

भवति, इदम् = एतत्, तापसवचनपालनमित्यर्थः, युक्तरूपम्—अतिशयेन युक्तं युक्तरूपम् = अतिसमीचीनम्, अत्र प्रशंसायां रूपप् प्रत्ययः, अस्तीति क्रियाशेषः। कुत इत्याह—खल्विति दार्ढ्ये, पौरवाः = पुरुवंशोद्भवा राजानः, आपन्नाभयसत्रेषु—आपन्नाः = आपद्युक्ताः ('आपन्न आपत्प्राप्तः स्यात्' इत्यमरः) = तेषां यदभयम् = अभयदानमित्यर्थः तदेव सत्रम् = यज्ञविशेषः तत्र दीक्षिताः = धृतव्रताः सन्तीति क्रियाशिष्टिः। अनेनावश्यकर्तव्यत्वं भयापसरणस्य ध्वन्यते। अत्र काव्यलिङ्गमर्थान्तरन्यासश्चालङ्कारौ। अनुष्टुप् छन्दः ॥१६॥

टिप्पणी—अनुकारिणि पूर्वेषाम्—आज से कुछ वर्षों पूर्व पूर्वजों का अनुकरण करना, उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलना गौरव तथा प्रतिष्ठा की बात मानी जाती थी। अतः तापस दुष्यन्त को पूर्वजों का अनुकरणकर्त्ता कह रहा है।

दीक्षिताः—जब यजमान दीक्षा लेकर, मन्त्र लेकर किसी यज्ञ में बैठता है तो वह उस यज्ञ के लिए प्रतिपादित विधि से यज्ञ-दान आदि करता है। पुरुवंशी राजा दुःखियों के दुःख को छुड़ाने रूपी यज्ञ में मानो दीक्षा लेकर बैठे हैं। अतः वे सर्वदा दुःखियों के दुःख को दूर करते रहते हैं। कहने का भाव यह है कि पुरुवंशी राजा असहायों के सहायक हुआ करते हैं।

इस श्लोक में उत्तरार्ध पूर्वार्ध का कारण है, अतः काव्यलिङ्ग तथा उत्तरार्ध में विशेष के द्वारा सामान्य अर्थ के समर्थन के कारण अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥१६॥

राजा—(सादरम्) किमम्बाभिः प्रेषितः ?

दौवारिकः—अथ किम्। [अह इं।]

राजा—ननु प्रवेश्यताम्।

दौवारिकः—तथा। (इति निष्क्रम्य करभकेण स
प्रविश्य) एष भर्ता। उपसर्प। [तह। एसो भट्टा। उवसप्प।]

करभकः—जयतु जयतु भर्ता। देव्याज्ञापयति। आगामि
चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति। त
दीर्घायुषाऽवश्यं संभावनीयेति। [जेदु जेदु भट्टा। दे
आणवेदि। आआमिणि चउत्थदिअहे पउत्तपारणो मे उववा
भविस्सदि। तहिं दीहाउणा अवस्सं संभाविदव्वा त्ति।]

राजा—इतस्तपस्विकार्यम्। इतो गुरुजनाज्ञा। द्व
मप्यनतिक्रमणीयम्। किमत्र प्रतिविधेयम्।

विदूषकः—त्रिशङ्कुरिवान्तरा तिष्ठ। [तिसङ्कू वि
अन्तरा चिट्ठ।]

व्युत्पत्तिः—अनुकारिणि—अनु + √कृ + णिनि + विभक्तिकार्यम्। युक्तरूप
युक्त + रूपप् + विभक्तिः, पौरवाः—पुरु + अण् + आदिवृद्धिर्विभक्तिकार्यञ्च ॥

शब्दार्थः—पुरः = आगे-आगे। अनुपदम् = पीछे-पीछे। आगतः = आ गया। कुतू
= उत्सुकता। सपरिवाहम् = उमड़नेवाला, उमड़ता हुआ, बहुत अधिक। देवीनाम्
राजमाता का, आज्ञप्तिहरः = सन्देश लेकर आया हुआ, सन्देशवाहक ॥

टीका—राजेति। पुरः = अग्रे। पूर्वमाश्रमे प्रतिनिवर्ततामित्यर्थः। अनुपद
भवत्पादन्यासं लक्ष्यीकृत्य, अनन्तरमेवेत्यर्थः, आगतः = आयातः। कुतूहलम् = उत्सु
सपरिवाहम्—परिवाहेन = परितो निर्गमनेन सहेति—सपरिवाहम् = उच्छलदि
मदीये शरीरे कुतूहलं पूर्वं न माति स्म, किन्तु परितः प्रसृतमेवासीत्। देवीनाम् =
मातॄणाम्, आज्ञप्तिहरः—आज्ञप्तिम् = आज्ञाम् सन्देशमित्यर्थः, हरति = आह
आज्ञप्तिहरः = सन्देशवाहकः ॥

टिप्पणी—सपरिवाहम्—परिवाह या परीवाह, निकासी के लिए निर्मित, ज
की नालियों को कहते हैं। यदि इस तरह की नालियाँ न बनी हों तो जलाश

राजा—(सम्मानपूर्वक) क्या माँ के द्वारा (करभक) भेजा गया है ?

द्वारपाल—और क्या।

राजा—तो (उसे) अन्दर बुला लाओ।

द्वारपाल—जैसी आज्ञा। (ऐसा कह कर निकलकर फिर करभक के साथ प्रवेश करके) यह हैं स्वामी। पास जाओ।

करभक—विजयी बनें, विजयी बनें स्वामी! महारानी आदेश दे रही हैं (अर्थात् महारानी ने सन्देश दिया है) कि—"आगामी चौथे दिन मेरे व्रत की पारणा (व्रत के अन्त में होनेवाला भोजन) होगी। उस अवसर पर चिरञ्जीवी (आपके) द्वारा (मैं) अवश्य सम्मानित करने के योग्य हूँ। (अर्थात् उस अवसर पर आप अवश्य उपस्थित होकर मुझे सम्मानित करें)॥

राजा—इधर तपस्वियों का कार्य है और इधर गुरुजनों का आदेश। दोनों ही अनुल्लङ्घनीय हैं। इस विषय में क्या प्रतिकर्तव्य है (अर्थात् इस विषय में क्या उपाय किया जा सकता है) ?

विदूषक—त्रिशङ्कु की तरह बीच में लटके रहिए।

निर्मित सीमाओं के टूटने का भय रहता है। ये नालियाँ इस बात की सूचक होती हैं कि जलाशय में जल खूब भरा हुआ है॥

शब्दार्थः—अम्बाभिः = माँ के द्वारा, प्रेषित = भेजा गया है। देवी = महारानी, राजमाता। प्रवृत्तपारणः = व्रत की पारणा (व्रत के अन्त में होनेवाला भोजन)। दीर्घायुषा = चिरञ्जीवी, सम्भावनीया = सम्मानित करने के योग्य। अनतिक्रमणीयम् = अनुल्लङ्घनीय। प्रतिविधेयम् = प्रतिकर्तव्य॥

टीका—राजेति। अम्बाभिः = जननीभिः, अत्र गौरवे बहुवचनम्, प्रेषितः = प्रहितः। देवी = महाराज्ञी, प्रवृत्तपारणः—प्रवृत्ता = आरब्धा पारणा = व्रतान्तभोजनम् यस्य सः। दीर्घायुषा = चिरञ्जीविना, सम्भावनीया = सत्करणीया। अनतिक्रमणीयम् अनुल्लङ्घनीयम्। प्रतिविधेयम् = प्रतिकर्तव्यम्, प्रतिविधानम्॥

टिप्पणी—प्रवृत्तपारणः—जिसका व्रतान्त भोजन चौथे दिन होगा। संभवतः यहाँ जीवित्पुत्रिका (जीउतिया) व्रत की ओर सङ्केत किया गया है। कहीं-कहीं "पुत्रपिण्डपालनो नाम" यह पाठभेद मिलता है। इसका अर्थ है—पुत्र को सन्तान प्राप्त कराने वाला व्रत॥

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि ।

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः ।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा ॥१७॥

(विचिन्त्य) सखे, त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीतः अतो भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मामा... तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति ।

विदूषकः—न खलु मां रक्षोभीरुकं गणयसि । [ण क्खु ... रक्खोभीरुअं गणेसि ।]

त्रिशङ्कुः—सूर्यवंश में अत्यन्त प्रसिद्ध राजा थे—हरिश्चन्द्र । हरिश्चन्द्र के पि... नाम था—त्रिशङ्कु । त्रिशङ्कु पापी राजा था । फिर भी उसकी कामना सशरीर... जाने की थी । अतः उसने अपनी कामना की पूर्ति के लिए वशिष्ठ से यज्ञ करा... प्रार्थना की । वशिष्ठ ने उसकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी । तव उसने वशिष्ठ के... से उस यज्ञ को कराने की विनती की । उन लोगों ने उसे शाप दिया—"चाण्डा... जाओ ।" इसके वाद त्रिशङ्कु ने वशिष्ठ के शत्रु विश्वामित्र से प्रार्थना की । वि... मित्र ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए अपने तपोवल से उसे सशरीर स्व... दिया । स्वर्ग में वह पहुँच ही रहा था कि इन्द्र आदि देवताओं ने उसे नीचे... दिया । विश्वामित्र ने अपने तपोवल से उसे पृथिवी पर न आने दिया । इस... वह आकाश में ही नीचे की ओर मुँह करके लटका रहा । अव भी वह तारे के... आकाश में चमकता रहता है । उसी के टपके हुए लार से कर्मनाशा नदी का... र्भाव हुआ है ।

अन्वयः—कृत्ययोः, भिन्नदेशत्वात्, मे, मनः, पुरः, शैले, प्रतिहतम्, स्रो... स्रोतः, यथा, द्वैधीभवति ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—कृत्ययोः = दोनों कार्यों के, भिन्नदेशत्वात् = अलग-अलग स्थान... से, मे = मेरा, मनः = मन, पुरः = सामने, शैले = पर्वत में, प्रतिहतम् = टकरा... स्रोतोवहः = नदी के, स्रोतः = प्रवाह की, यथा = तरह, द्वैधीभवति = दुविधा... गया है, दो तरफ बँट गया है ॥ १७ ॥

राजा—सचमुच आकुल हो गया हूँ मैं। दोनों कार्यों के अलग-अलग स्थान में होने से मेरा मन सामने (स्थित) पर्वत में टकरानेवाले नदी-प्रवाह की तरह दो तरफ बँट गया है। (दुविधा में पड़ गया है) ॥ १७ ॥

(सोच कर) मित्र, तुम माताजी के द्वारा पुत्रवत् स्वीकार किये गये हो (अर्थात् मेरी माँ तुम्हें भी पुत्र की तरह मानती हैं)। अतः आप यहाँ से लौटकर मुझे तपस्वियों के कार्य में व्यस्त चित्तवाला बतलाकर पूज्य माँ के पुत्र-कार्य को सम्पन्न करना।

विदूषक—अरे मुझे राक्षसों से भयभीत तो नहीं समझ रहे हो (जिससे कि वापस भेज रहे हो)।

टीका—कृत्ययोरिति। कृत्ययोः = कार्ययोः, यज्ञविघ्ननिवारणमातृसम्भावनरूपयोः, भिन्नदेशत्वात्—भिन्नौ = पृथक् देशौ = स्थानौ ययोः तत्त्वात्, भिन्नस्थाने कर्त्तव्यत्वात्, हेतौ पञ्चमी, मे = मम, मनः = चेतः, पुरः = समक्षम्, शैले = पर्वते, प्रतिहतम् = प्राप्ताघातम्, स्रोतोवहः—स्रोतः = प्रवाहम् वहति या सा स्रोतोवट् = नदी तस्याः स्रोतोवहः = नद्याः, स्रोतः = प्रवाहः, यथा = इव, द्वैधीभवति = द्विधा भूत्वा द्वयोरेव चलति। अत्रोपमालङ्कारः। अनुष्टुप् छन्दः ॥ १७ ॥

टिप्पणी—प्रतिहतं····स्रोतः—विशाल नदी बह रही थी। सामने महान् पर्वत आ पड़ा। नदी की धारा दो भागों में फट कर अलग-अलग बहने लगी। ठीक यही अवस्था दुष्यन्त के मन की है। एक ओर है ऋषियों के यज्ञ की रक्षा का भार। उसके साथ लगी है शकुन्तला के दर्शन आदि की महती अभिलाषा। दूसरी ओर माँ का आदेश है राजधानी में उपस्थित होने के लिए। राजा का मन घड़ी के पेण्डुलम की भाँति इधर-उधर चक्कर लगा रहा है। कुछ निश्चय नहीं हो पा रहा है।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है। लक्षण के लिए देखिए—१—२,३॥१७॥

व्युत्पत्तिः—कृत्ययोः—√कृ + क्यप् + तुक् + विभक्त्यादिकार्यम्। प्रतिहतम्—प्रति + √हन् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥१७॥

शब्दार्थः—प्रतिगृहीतः = स्वीकार किये गये हो, माने गये हो। प्रतिनिवृत्य = लौट कर, तपस्वि-कार्य-व्यग्र-मानसम् = तपस्वियों के कार्य में व्यस्त चित्त वाला। अनुष्ठातुम् =

राजा—(सस्मितम्) कथमेतद् भवति संभाव्यते ?

विदूषकः—यथा राजानुजेन गन्तव्यं तथा गच्छामि [जह राआणुएण गन्तव्वं तह गच्छामि ।]

राजा—ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति सर्वान् यात्रिकांस्त्वयैव सह प्रस्थापयामि ।

विदूषकः—(सगर्वम्) तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संवृत्तः [तेण हि जुवराओ म्हि दाणिं संवुत्तो ।]

राजा—(स्वगतम्) चपलोऽयं वटुः । कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत् । भवतु । एनमेवं वक्ष्ये । (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा । प्रकाशम्) वयस्य, ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि । न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः । पश्य—

सम्पन्न करने के लिए । रक्षोभीरुकम् = राक्षसों से भयभीत । गणयसि = समझ[ते] राजानुजेन = राजा के लघु भ्राता के द्वारा ॥

टीका—विचिन्त्येति । प्रतिगृहीतः = स्वीकृतः, अङ्गीकृतः । प्रतिनिवृत्य = प्रत्यागत्य, नगरं गत्वेत्यर्थः, तपस्विकार्यव्यग्रमानसम्—तपस्विनाम् = तपोधनानाम् कार्ये = कर्मणि व्यग्रम् = व्यासक्तम्, मनः = चेतः यस्य स तथाविधस्तम्, अनुष्ठातुम् = कर्तुम् । रक्षोभीरुकम्—रक्षोभ्यः = राक्षसेभ्यः भीरुः = भयशीलो रक्षोभीरुः, स एव रक्षोभीरुकस्तं तथाविधम्, गणयसि = सम्भावयसि । राजानुजेन—राज्ञः = भूपालस्यः तवेत्यर्थः अनुजः = लघुभ्राता तेन ॥

टिप्पणी—तपस्विकार्यव्यग्रमानसम्—राजा विदूषक से कह रहा है कि माता से जाकर कह दो कि—आपका आदेश पाते ही दुष्यन्त अवश्य सेवा में उपस्थित होते । किन्तु इस समय तपस्वियों के कार्य में वे इस तरह व्यस्त हैं कि आ न सके ॥

व्युत्पत्तिः—विचिन्त्य—वि + √चिन्त् + ल्यप् ।

प्रतिगृहीतः—प्रति + √ग्रह् + क्त + विभक्तिः ।

प्रतिनिवृत्य—प्रति + √नि + वृत् + ल्यप् ।

आवेद्य—आ + √विद् + ल्यप् ।

अनुष्ठातुम्—अनु + √स्था + तुमुन् ।

गन्तव्यम्—√ गम् + तव्यत् + विभक्तिः ॥

शब्दार्थः—तपोवनोपरोधः = तपोवन का विघ्न, तपोवन में बाधा, परिहरणीयः

राजा—(मुस्करा कर) आपके विषय में यह कैसे सम्भव हो सकता है?

विदूषक—(तो) जिस प्रकार राजा के छोटे भाई को जाना चाहिए, उस प्रकार जाऊँगा।

राजा—तपोवन की वाधा वचानी चाहिए (अर्थात् तपोवन में विघ्न न हो), इसलिए सभी अनुयायियों को तुम्हारे साथ ही भेज रहा हूँ।

विदूषक—(गर्व के साथ) तो अब मैं युवराज हो गया हूँ।

राजा—(अपने आप) यह ब्राह्मण-बालक चञ्चल है। शायद (शकुन्तला विषयक) हमारी इच्छा को अन्तःपुर की स्त्रियों से कह दे। अच्छा, इससे इस प्रकार कहता हूँ। (विदूषक का हाथ पकड़ कर। प्रकट रूप से) मित्र, ऋषियों के महत्त्व के कारण आश्रम में जा रहा हूँ। वस्तुतः तापस-कन्या (शकुन्तला) पर मेरी आसक्ति नहीं है। देखो—

वचाना चाहिए, अनुयात्रिकान् = अनुयायियों को। संवृत्तः = हो गया हूँ। वटुः = ब्राह्मण-बालक। अस्मत्प्रार्थनाम् (शकुन्तलाविषयक) हमारी इच्छा को, अन्तःपुरेभ्यः = अन्तःपुर की स्त्रियों से। ऋषिगौरवात् = ऋषियों के महत्व के कारण, ऋषियों के प्रति सम्मान के कारण॥

टीका—राजेति। तपोवनोपरोधः—तपोवनस्य = आश्रमस्य उपरोधः = बाधा, परिहरणीयः = विवर्जनीयः, यथा न भवति तथा करणीय इत्यर्थः, अनुयात्रिकान् = अनुचरान्, अनुयायिनः। संवृत्तः = जातः। बटुः = ब्राह्मणकुमारः। अस्मत्प्रार्थनाम् = मम अभिलाषम्, मम शकुन्तलानुरागमित्यर्थः, अन्तःपुरेभ्यः = अन्तःपुरवासिनीभ्यः देवीभ्यः। ऋषिगौरवात्—ऋषीणाम् = मुनीनाम् गौरवात् = महत्त्ववशात्॥

टिप्पणी—ऋषिगौरवात्—राजा शकुन्तला के प्रति अपने अनुराग की बात विदूषक से कह चुका है। अब वह सोच रहा है कि—मैंने इस चञ्चल ब्राह्मण-वटु के सामने अपना भेद खोलकर बड़ा अनुचित किया है। हो सकता है यह यहाँ से लौट कर लड्डू आदि से सम्मान होने पर मेरा सारा भेद रानियों से बतला दे। तब तो यहाँ से लौटने पर मेरी अच्छी न्योछावर होगी। अतः, इसे अब मैं बहकाता हूँ।

व्युत्पत्तिः—परिहरणीयः—परि + √हृ + ल्युट् + अनीयर् + विभक्त्यादिः।

अनुयात्रिकान्—अनुयात्रा + ठन् + विभक्त्यादिकार्यम्।

संवृत्तः—सम् + √वृत् + क्त + विभक्तिकार्यम्।

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो
मृगशावैः सममेधितो जनः ।
परिहासविजल्पितं सखे
परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥१८॥

विदूषकः—अथ किम् । [अह इं ।]
(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

अन्वयः—सखे, वयम्, क्व; मृगशावैः, समम्, एधितः, परोक्षमन्मथः, जनः, क्व (अतः), परिहासविजल्पितम्, वचः, परमार्थेन, न, गृह्यताम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—सखे = मित्र, वयम् = (भोग-विलास में आसक्त) हम लोग, क्व = कहाँ; मृगशावैः = मृग-शावकों के, समम् = साथ, एधितः = बढ़ा हुआ, पला हुआ, परोक्षमन्मथः = काम-वासना से परे, जनः = (शकुन्तलारूपी) व्यक्ति, क्व = कहाँ; (अतः = इसलिए), परिहासविजल्पितम् = हँसी में कही गई, वचः = बात को, परमार्थेन = वास्तविक रूप में, सत्य, न = मत, गृह्यताम् = ग्रहण कर लेना, समझ लेना ॥ १८ ॥

टीका:—विदूषकं प्रत्याययितुं तापसकन्यकायामित्युक्तिः—क्व वयमिति । सखे = मित्र, वयम् = पुरः उपस्थितोऽहमिति भावः, वयमित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यम्, तेनात्र राजोपचारयुक्तत्वं नानावैदग्धीकुशलत्वं कामित्वञ्च सूचितम्, क्व = कुत्र, मृगशावैः = मृगाणाम् = हरिणानाम् शावैः = बालकैः, समम् = साकम्, एधितः = वृद्धिं प्राप्तः, परोक्षमन्मथः—परोक्षः = अतीन्द्रियः, अपरिज्ञात इत्यर्थः, मन्मथः = कामः यस्य स तादृशः, कामकलानभिज्ञ इत्यर्थः, जनः = शकुन्तलारूपा व्यक्तिः, क्व = कुत्र । कामिनो निष्कामेन च समागमोऽसम्भव इति भावः । अत इति शेषः, परिहासविजल्पितम्—परिहासेन = नर्म-प्रसङ्गेन विजल्पितम् = कथितम्, वचः = वचनम्, शकुन्तलासम्बद्धं वचनमित्यर्थः, परमार्थेन = सत्येन, न गृह्यताम् = न निर्णीयताम् । अत्र विषमं काव्यलिङ्गञ्चालङ्कारौ । वियोगिनी छन्दः ॥ १८ ॥

इति रमाशङ्करत्रिपाठिकृतायामभिज्ञानशाकुन्तलव्याख्यायां रमाख्यायां द्वितीयोऽङ्कः ॥

टिप्पणी—मृगशावैः = हरिण-शिशुओं के साथ । इस कथन से राजा शकुन्तला के अत्यन्त भोलेपन को सूचित करना चाहता है।

परिहासविजल्पितम्—राजा ने विदूषक के साथ पीछे शकुन्तला के विषय में

मित्र, (भोग-विलास में आसक्त) हम लोग कहाँ और मृग-शावकों के साथ पला हुआ, काम-वासना से परे (शकुन्तलारूपी) व्यक्ति कहाँ ? (इसलिए) हँसी में कही गई बात को सही रूप में मत ग्रहण कर लेना (अर्थात् सही मत समझ लेना) ॥१८॥

विदूषक—और क्या (अर्थात् ठीक है) ।

(इस प्रकार सभी निकल गये)

॥ द्वितीय अङ्क समाप्त ॥ २ ॥

साहित्यिक बात की है। शकुन्तला के लिए अपनी व्यग्रता प्रकट की है। उसे ये अब हँसी-हँसी में कही गई बात बतला रहे हैं। यह बात इसी अङ्क में "इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ" से आरम्भ होकर तेरहवें श्लोक तक चलती है।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग और विषम अलङ्कार तथा वियोगिनी छन्द है। छन्द का लक्षण :—

विषमे ससजा गुरुः समे ।
सभरालोऽथ गुर्रुवियोगिनी ॥ १८ ॥

व्युत्पत्तिः—एधितः—√एध् + क्त + विभक्त्यादिकार्यम् ॥ १८ ॥

॥ समाप्तो द्वितीयोऽङ्कः ॥

———

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति कुशानादाय यजमानशिष्यः ।)

शिष्यः—अहो, महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः यत्प्रविष्टमात्र एवाश्रमं तत्रभवति निरुपद्रवाणि नः कर्माणि संवृत्तानि ।

का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरतः ।
हुंकारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ॥१॥

यावदिमान् वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्भ्य उपहरामि (परिक्रम्यावलोक्य च । आकाशे) प्रियंवदे, कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते । (श्रुतिमभिनीय) किं ब्रवीषि । आतपलङ्घनाद् बलवदस्वस्था शकुन्तला तस्याः शरीरनिर्वापणायेति । तर्हि यत्नादुपचर्यताम् । सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम् । अहमपि तावद् वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि ।

(इति निष्क्रान्तः ।)

। इति विष्कम्भकः ।

शब्दार्थः—अहो = वाह, महानुभावः = अत्यन्त प्रभावशाली, पार्थिवः = राजा, निरुपद्रवाणि = निर्विघ्न, संवृत्तानि = हो गये हैं ॥

टीका—शिष्य इति । अहो इत्याश्चर्ये प्रशंसायां वाऽव्ययम्, महानुभावः—महान् अनुभावः = प्रभावः यस्य स तादृशः, ('अनुभावः प्रभावेऽपि' इत्यमरः), पार्थिवः = राजा, निरुपद्रवाणि = निरुपप्लवानि, संवृत्तानि = जातानि ॥

टिप्पणी—प्रविष्टमात्रे—शिष्य के कहने का भाव यह है कि—राजा अत्यन्त प्रभावशाली हैं । आश्रम में इनके प्रवेश करते ही राक्षसों ने भयवश यज्ञ में विघ्न करना छोड़ दिया है ।

व्युत्पत्तिः—पार्थिवः—पृथिवी + अण् + विभक्तिकार्यम् ।

संवृत्तानि—सम् + √वृत् + क्त + प्रथमावहुवचने विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—वाणसन्धाने, का, कथा, हि, सः, दूरतः, धनुषः, हुङ्कारेण, इव, ज्याशब्देन, एव, विघ्नान्, अपोहति ॥१॥

तृतीय अङ्क

(तदनन्तर कुशों को लिए हुए यजमान का शिष्य प्रवेश करता है)

शिष्य—वाह ! राजा दुष्यन्त अत्यन्त प्रभावशाली हैं, जो कि उन महानुभाव के आश्रम में प्रवेश करते ही हमारे (सभी धार्मिक) कर्म निर्विघ्न हो गये हैं।

वाण चढ़ाने पर क्या कहना ? (अर्थात् बाण चढ़ाने की वात तो दूर रही), क्योंकि वह (राजा दुष्यन्त) दूर से ही, धनुष के हुङ्कार की तरह, प्रत्यञ्चा के शब्द से ही विघ्नों को दूर कर देते हैं ॥१॥

जब तक इन कुशों को वेदी पर विछाने के लिये ऋत्विजों (यज्ञ के पुरोहितों) को जाकर देता हूँ। (घूमकर और देखकर, आकाश की ओर आँखें लगाकर) प्रियंवदा, खस का यह लेप और कमलनाल सहित कमलिनी-पत्र किसके लिए ले जाये जा रहे हैं ? (सुनने का अभिनय करके) क्या कह रही हो ? लू लगने से शकुन्तला बहुत अधिक अस्वस्थ हो गई है। उसके शरीर की ताप-शान्ति के लिए (यह ले जा रही हूँ)—यह कह रही हो ? (इति)। तो अत्यन्त सावधानी से (उसका) उपचार करना। वह पूज्य कुलपति कण्व का, वस्तुतः, प्राण है। मैं भी अभी-अभी इस (शकुन्तला) के लिए यज्ञीय शान्ति-जल गौतमी के हाथों भेज रहा हूँ।

(ऐसा कह कर निकल गया)

॥ विष्कम्भक समाप्त ॥

शब्दार्थः—वाणसन्धाने = बाण चढ़ाने पर, का = क्या, कथा = कहना, हि = क्योंकि, सः = वह, दूरतः = दूर से ही, धनुषः = धनुष के, हुङ्कारेण = हुङ्कार की, इव = तरह, ज्याशब्देन = प्रत्यञ्चा के शब्द से, एव = ही, विघ्नान् = विघ्नों को, अपोहति = दूर कर देते हैं ॥१॥

टीका—का कथेति। बाणसन्धाने—बाणस्य = शरस्य, सन्धाने = धनुषि संयोगे, का कथा = का वार्त्ता, शरसन्धानं नापेक्षते इत्यर्थः; हि = यतः, सः = असौ जगद्विदितो राजा, दूरतः = दूरात्, धनुषः = चापस्य, हुङ्कारेण = हुंशब्देन, इव = यथा, ज्याशब्देन—ज्यायाः = प्रत्यञ्चायाः शब्दः = ध्वनिस्तेन, एवेति शरप्रयोगव्यवच्छेदार्थम्, विघ्नान् = यज्ञविघातकान्, अपोहति = निराकरोति। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। अनुष्टुप् छन्दः ॥१॥

टिप्पणी—हुङ्कारेण—व्यक्ति जब क्रोध में रहता है तब वह हुङ्कार करके दुष्टों को दूर भगा देता है। शिष्य यहाँ उत्प्रेक्षा कर रहा है कि धनुष की टङ्कार टङ्कार नहीं अपितु उसकी हुङ्कार है ॥१॥

इस श्लोक से उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है। छन्द का लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥१॥

शब्दार्थः—मृडालवन्ति = कमलनालसहित, नलिनीपत्राणि = कमलिनी-पत्र।

(ततः प्रविशति काममानावस्थो राजा ।)

राजा—(निःश्वस्य)

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम् ।
अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥२॥

आतपलङ्घनात् = लू लगने से, शरीरनिर्वापणाय = शरीर की तापशान्ति के लि उच्छ्वसितम् = प्राण । वैतानिकम् = यज्ञीय, शान्त्युदकम् = शान्ति-जल । विष्कम्भकः प्रवेशक ॥

टीका—यावदिमानिति । मृणालवन्ति = मृणालसहितानि, नलिनीपत्राणि कमलिनीदलानि । आतपलङ्घनात्—आतपेन = सूर्येण ग्रीष्मेण वा लङ्घनात् अभिभवात्, शरीरनिर्वापणाय—शरीरस्य = देहस्य निर्वापणाय = तापशान्तये । उच्छ्व सितम् = जीवनम् । वैतानिकम्—वितानस्य = यज्ञस्य इदं वैतानिकम् = यज्ञीय शान्त्युदकम् = दुःखशान्त्युदकम् । विष्कम्भकः प्रवेशकः ॥

टिप्पणी—आकाशे—इसे आकाशभाषित कहते हैं । जहाँ कोई एक ही पात्र कि दूसरे पात्र के बिना ही आकाश की ओर देखते हुए बात करता है तथा कि के विना कुछ कहे भी मानो सुन कर हीं "क्या कह रहे हो ?"—इस प्र कथोपकथन करता है, वह आकाशभाषित कहा जाता है । इसका लक्षण दशरूपक इस प्रकार है—

"किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम्" ॥ १।६७ ॥

विष्कम्भक—यह व्यतीत हो चुके तथा आगे होने वाले कथा के अंशों का सू संक्षिप्त अर्थवाला तथा मध्यम दर्जे के पात्रों द्वारा प्रयुक्त होता है । एक अथवा (मध्यम पात्रों) के द्वारा सम्पादित (विष्कम्भक) शुद्ध कहलाता है तथा नीच मध्यम श्रेणी के पात्रों के द्वारा मिलकर प्रयुक्त विष्कम्भक सङ्कीर्ण कहलाता है । दश में ही इसका लक्षण इस प्रकार है—

"वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥
एकानेककृतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः ॥१।५९-६०॥

व्युत्पत्तिः—आदाय—आ + √दा + ल्यप् । पार्थिवः—पृथिवी + अण् + विभक्ति कार्यम् । अभिनीय—अभि √नी + ल्यप् । वैतानिकम्—वितान + ठक्, तत्स्थाने इक विभक्तिकार्यम् ॥

शब्दार्थः—ततः = तदनन्तर, प्रविशति = प्रवेश करता है, काममानावस्थः = पिडित अवस्थावाला, राजा = राजा दुष्यन्त । निःश्वस्य = लम्बी साँस लेकर ।

(तदनन्तर कामियों की सी अवस्थावाला राजा प्रवेश करता है)

राजा—(लम्बी साँस लेकर)

(मैं) तपस्या की शक्ति को जानता हूँ। वह किशोरी (शकुन्तला) पराधीन (है)—यह बात (भी) मुझे विदित है। तो भी हृदय को उससे लौटाने में (मैं) समर्थ नहीं हूँ ॥ २ ॥

टीका—तत इति । ततः = तदनन्तर, प्रविशति = रङ्गमञ्चे समायाति, कामयमानावस्थः—कामयमानः = विरही तस्य अवस्था = दशा इव अवस्था यस्य स तथाविधः, राजा = पार्थिवो दुष्यन्तः । निःश्वस्य = दीर्घं श्वासं मुञ्चन् ॥

अन्वयः—तपसः, वीर्यम्, जाने, सा, वाला, परवती, (अस्ति), इति, मे, विदितम्; तथापि, इदम्, हृदयम्, ततः, निवर्तितुम्, अलम्, न, अस्मि ॥ २ ॥

शब्दार्थः—तपसः=तपस्या की, वीर्यम् = शक्ति को, जाने = जानता हूँ; सा = वह, वाला = कन्या, किशोरी, परवती = पराधीन, (अस्ति = है), इति = यह वात, मे = मुझे, विदितम् = ज्ञात है; तथापि = तो भी, हृदयम् = हृदय को, मन को, ततः = उससे, निर्वर्तितुम् = लौटाने में, अलम् = समर्थ, न = नहीं, अस्मि = हूँ ॥ २ ॥

टीका—जान इति । तपसः = तपस्यायाः, वीर्यम् = वलम्, जाने = वेद्मि ; सा वाला = पूर्वं साक्षात्कृता किशोरी शकुन्तला, परवती = परवशा, गुरोरधीना इति यावत्, अस्तीति क्रियाशेषः; इति = एतत्, मे = मया, मे इति मयेत्यर्थे निपातः, विदितम् = ज्ञातम्; तथापि, इदम् = एतत्, हृदयम् = मदीयं मनः, ततः = तस्मात्, शकुन्तलायाः सकाशादित्यर्थः, निर्वर्तितुम् = निवारयितुम्, अलम् = समर्थः, न अस्मि = न भवामि । अत्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥ २ ॥

टिप्पणी—**तपसःवीर्यम्**—राजा के कहने का भाव यह है कि—यदि मैं शकुन्तला को जवर्दस्ती यहाँ से उठा ले जाऊँ, तो सुनने पर महर्षि कण्व क्रुद्ध होकर हमारे कुल को शाप देकर भस्म कर डालेंगे। अतः मैं ऐसा नहीं कर सकता।

परवतीति—यद्यपि शकुन्तला मुझे चाहती है। वह मुझे स्वीकार कर सकती है। फिर भी वह हमारे साथ जा नहीं सकती। वह पिता कण्व के अधीन है। वे जिसे चाहेंगे वही उसे स्वीकार कर सकता है।

अलमस्मीति—कुछ संस्करणों में श्लोक का उत्तरार्द्ध इस प्रकार है—

'न च निम्नादिव सलिलं निवर्त्तते मे ततो हृदयम् ।' मेरा मन उसकी ओर से उसी प्रकार नहीं लौट रहा है, जैसे जल नीचे की ओर से ऊपर की ओर नहीं लौट पाता है।

इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार तथा आर्या छन्द है ॥ २ ॥

व्युत्पत्तिः—विदितम्—√ विद् + क्त + विभक्तिः ।

(मदनबाधां निरूप्य) भगवन् कुसुमायुध, त्व चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामतिसंधीयते कामिजनसार्थः। कुतः—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
द्वंयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥३॥

निवर्तयितुम्—नि + √वृत् + तुमुनादिकम् ॥ २ ॥

विशेषः—इसके अतिरिक्त इन संस्करणों में इस श्लोक के वाद निम्नलिखित और हैं—

भगवन् मन्मथ, कुतस्ते कुसुमायुधस्य सतस्तैक्ष्ण्यम् एतत् ? (स्मृत्वा) आं ज्ञात
अद्यापि नूनं हरकोपवह्निस्त्वयि ज्वलत्यौर्व इवाम्बुराशौ।
त्वमन्यथा मन्मथ मद्विधानां भस्मावशेषः कथमेवमुष्णः ॥

भगवन् कामदेव, आपके धनुष-बाण तो फूलों से बने हैं, फिर इस प्रकार तीक्ष्णता आप में कहाँ से (आ गई)? (विचार कर) अच्छा समझ गया आज भी तुम्हारे भीतर, निश्चय ही, शिव की क्रोधाग्नि, उसी तरह जल रही जिस तरह सागर में वड़वाग्नि। नहीं तो हे कामदेव, जल कर खाक हुए तुम जैसे लोगों के लिए कैसे इस प्रकार सन्तापदायक होते?

शब्दार्थः—मदनबाधाम् = कामव्यथा का, निरूप्य = अभिनय करके। कुसुमायुध कामदेव, अतिसन्धीयते = ठगा जाता है, कामिजनसार्थः = कामिजनों का समूह।

टीका—मदनबाधामिति। मदनबाधाम्—मदनस्य = कामस्य बाधाम् = व्यथा निरूप्य = अभिनीय। कुसुमायुध—कुसुमानि = पुष्पाणि एव आयुधम् = प्रहरणम् यस्य तत्सम्बुद्धौ हे कुसुमायुध = हे पुष्पबाण कामदेव, अतिसन्धीयते = प्रतार्यते, कामि सार्थः—कामिजनानाम् = विरहिणाम् सार्थः = समूहः ॥

टिप्पणी—मदनबाधाम्—शिर की लड़खड़ाहट से, हाथों की अस्थिरता से सूनी-सूनी दृष्टि से कामव्यथा की सूचना दी जाती है।

विश्वसनीयाभ्याम्—सारा संसार समझता है कि कामदेव के धनुष-बाण कोमल फूलों के हैं। अतः उनके लगने से कुछ खास पीडा न होगी। किन्तु लोगों यह भ्रम है। कामदेव के बाण, वज्र की भाँति प्राणों को लेने वाले हैं। इसी लोग सोचते हैं—चन्द्रमा की किरणें शीतल हैं, कोमल हैं तथा सन्ताप हरनेवाली

(कामव्यथा का अभिनय करके) भगवन् कामदेव, अत्यन्त विश्वसनीय आप और चन्द्रमा के द्वारा कामिजनों का समूह ठगा जाता है। क्योंकि—

तुम्हारा पुष्प-बाण होना तथा चन्द्रमा का शीतल-किरण होना—ये दोनों बातें मेरे जैसे (कामव्यथितों) के लिए विपरीत दिखलाई पड़ती हैं। (क्योंकि) चन्द्रमा (अपनी) शीतल किरणों से अग्नि उगल रहा है और तुम भी (अपने) पुष्प-सायकों को वज्र की भाँति कठोर बना रहे हो ॥३॥

पर यह धारणा भी मिथ्या है। विरहियों के शरीर पर तो चन्द्रमा की किरणें, आग की लपटों की तरह प्रतीत होती हैं। यही है, अत्यन्त विश्वसनीय काम और चन्द्र के द्वारा लोगों का ठगा जाना।

अन्वयः—तव, कुसुमशरत्वम्, इन्दोः, शीतरश्मित्वम्, इदम्, द्वयम्, मद्विधेषु, अयथार्थम्, दृश्यते; (हि), इन्दुः, हिमगर्भैः, मयूखैः, अग्निम्, विसृजति; त्वम्, अपि, कुसुमबाणान्, वज्रसारीकरोषि ॥३॥

शब्दार्थः—तव = तुम्हारा, कुसुमशरत्वम् = पुष्प-बाण होना, इन्दोः = चन्द्रमा का, शीतरश्मित्वम् = शीतल किरण होना, इदम् यह, द्वयम् = दोनों बातें, मद्विधेषु = मेरे जैसे (कामव्यथितों) के लिए, अयथार्थम् = विपरीत, दृश्यते = दिखलाई पड़ती हैं; (हि = क्योंकि), इन्दुः = चन्द्रमा, हिमगर्भैः = हिम है गर्भ में जिनके ऐसी, शीतल, मयूखैः = किरणों से, अग्निम् = आग, विसृजति = उगल रहा है; त्वम् = तुम, अपि = भी, कुसुमबाणान् = (अपने) पुष्प-सायकों को, वज्रसारीकरोषि = वज्र की तरह कठोर बना रहे हो ॥३॥

टीका—कामिजनवञ्चनप्रकारमाह—तवेति। तव = भवतः, कुसुमशरत्वम्—कुसुमानि = पुष्पाणि शराः = बाणाः यस्य सः, तस्य भावः तत्त्वम्, अत्र कुसुमशब्देनात्यन्तपेलवत्वं ध्वनितम्, इन्दोः = चन्द्रस्य, शीतरश्मित्वम्—शीताः = हिमाः रश्मयः किरणाः यस्य तस्य भावः तत्त्वम्, 'अत्रचूर्णिकायां 'चन्द्रमसा च' इत्युक्तवेतिवत् सर्वनामपरामर्शो न्याय्यो न 'इन्दु' पदोपादानम् तेन 'त्वमस्य द्वयम्' इति पठनीयम्।' इति राघवभट्टः। इदम् = एतत्, द्वयम् = युगलम्, मद्विधेषु—मम = दुष्यन्तस्येत्यर्थः इव विधा = प्रकारः येषां तेषु, मादृशेषु विरहिजनेष्वित्यर्थः, अयथार्थम्—अर्थस्य = अभिधेयस्य अनुरूपं यथार्थम्, न यथार्थम् अयथार्थम् = अननुरूपम्, दृश्यते = अवलोक्यते। अयथार्थत्वे हेतुमाह—विसृजतीति। (हि = यतः), इन्दुः = चन्द्रः, हिमगर्भैः—हिमं गर्भे = अन्तराले येषां तैः, अतिशीतलैरित्यर्थः, अनेनकालत्रयेऽप्युष्णत्व-शङ्कामात्रमपि नास्तीति व्यज्यते; मयूखैः = किरणैः, अग्निम् = वह्निम्, विसृजति = किरति; त्वम् = काम इत्यर्थः, अपि = च, कुसुमबाणान् = पुष्पशरान्, वज्रसारी करोषि—अवज्रसारान् वज्रसारान् करोषीति वज्रसारीकरोषि = वज्रवत्कठोरान् करोषि। यद्वा वज्रवत्सारीकरोषि = दृढीकरोषि। अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। मालिनी छन्दः ॥३॥

(सखेदं परिक्रम्य) क्व नु खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यै-रनुज्ञातः खिन्नमात्मानं विनोदयामि । (निःश्वस्य) किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत् । यावदेनामन्विष्यामि । (सूर्यमवलोक्य) इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति । तत्रैव तावद् गच्छामि । (परिक्रम्य संस्पर्शं रूपयित्वा) अहो प्रवातसुभगोऽयमुद्देशः ।

शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम् ।
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः ॥४॥

टिप्पणी—अग्निमिन्दुर्मयूखैः—कामोद्दीपक होने के कारण चन्द्रमा की किरणें विरहियों के लिए अत्यधिक सन्तापदायक होती हैं।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा मालिनी छन्द है। छन्द का लक्षण—'न-न-म-म-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः' ॥३॥

व्युत्पत्तिः—वज्रसारी०—यहाँ अभूततद्भाव अर्थ में च्वि प्रत्यय हुआ है ॥३॥

विशेष—कुछ संस्करणों में इसके बाद निम्नलिखित पाठ अधिक मिलता है—

अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो मे ।
यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति ॥

भगवन्! एवमुपालब्धस्य ते न मां प्रत्यनुक्रोशः ।

वृथैव सङ्कल्पशतैरजस्रमनङ्ग नीतोऽसि मयातिवृद्धिम् ।
आकृष्य चापं श्रवणोपकण्ठे मय्येव युक्तस्तव बाणमोक्षः ॥

दिन-रात मेरे मन में पीडा पैदा करता हुआ भी कामदेव मुझे प्रिय है, [यदि] वह मादक नेत्रों वाली शकुन्तला को लक्ष्य में रखकर मुझ पर (वाणों से) [प्रहार] करता है॥

भगवन्, इस प्रकार उलाहना दिये जाते हुए आपको मुझ पर दया नहीं [आती]। हे कामदेव, तुम मेरे द्वारा सैकड़ों संकल्पों से व्यर्थ ही निरन्तर बढ़ाये गये [हो] खींच कर मेरे ऊपर क्या तुम्हारा वाण छोड़ना उचित है? ॥३॥

शब्दार्थः—संस्थिते=समाप्त होने पर, अनुज्ञातः=आज्ञा प्राप्त कर, खिन्नम्=व्याकुल। उग्रातपवेलाम्=तीव्र धूप वाली वेला को। प्रवातसुभगः=सुखद वायु के कारण मनोहर, उद्देशः=प्रदेश, स्थान॥

टीका—सखेदं परिक्रम्येति । संस्थिते=निष्पन्ने सति, अनुज्ञातः=अनु... खिन्नम्=प्राप्तखेदम्, प्रियादर्शनाभावाद्व्याकुलं वा । उग्रातपवेलाम्—उग्रः...

(थकान के साथ चारों ओर घूमकर) यज्ञ-कर्म के समाप्त होने पर ऋषियों के द्वारा आज्ञा प्राप्त कर मैं अपने खिन्न हृदय को कहाँ बहलाऊँ। (लम्बी श्वाँस लेकर) प्रियतमा (शकुन्तला) के दर्शन के अतिरिक्त मेरे लिए दूसरा क्या सहारा है? तो जब तक उसी को ढूँढ़ता हूँ। (सूर्य को देखकर) इस तीव्र धूपवाली वेला को शकुन्तला सखियों के साथ लता-कुञ्जों से युक्त मालिनी नदी के तट पर प्रायः व्यतीत करती है। तो इस समय वहीं चलता हूँ। (चारों ओर घूम कर तथा स्पर्श का अभिनय करके) वाह! सुखद वायु के कारण यह प्रदेश अत्यन्त रमणीय है।

काम-सन्तप्त अङ्गों से कमलों की सुगन्ध से भरपूर मालिनी (नदी) की तरङ्गों के कणों से मिश्रित वायु निरन्तर आलिङ्गन करने के योग्य है ॥ ४ ॥

आतपः = घर्मः यस्यां तथाविधां वेलाम् = समयम्। प्रवातसुभगः—प्रवातेन = सुखदवायुना सुभगः = मनोहरः, उद्देशः = प्रदेशः ॥

टिप्पणी—मालिनीतीरेषु—राजा शकुन्तला के पीछे हाथ धोकर पड़ा है। वह किसी न किसी बहाने शकुन्तला की समस्त गतिविधि को देखता रहता है। किस क्षण शकुन्तला कहाँ होगी, यह सब उसे परिज्ञात है। आखिर कामीजनों का दूसरा लक्षण ही क्या है?

व्युत्पत्तिः—संस्थिते—सम् + √स्था + क्त + विभक्तिकार्यम्। **सदस्यैः**—सदसि साधुः, सदस् + यत् + विभक्तिः। **खिन्नम्**—व्याकुल, √खिद् + क्त + विभक्तिः ॥

कुछ संस्करणों में **'तत्रैव तावद् गच्छामि'** के बाद निम्नलिखित पाठ अधिक मिलता है—

(परिक्रम्यावलोक्य च) अनया बालपादपवीथ्या सुतनुरचिरं गतेति तर्कयामि। कुतः—

> संमीलन्ति न तावद् बन्धनकोषास्तयाऽवचितपुष्पाः।
> क्षीरस्निग्धाश्चामी दृश्यन्ते किसलयच्छेदाः ॥

(चारों ओर घूम कर और देखकर) इन बाल-वृक्षों के पास के मार्ग से वह सुन्दरी शकुन्तला अभी गई है—ऐसा मैं समझता हूँ। क्योंकि—

उसके द्वारा फूल तोड़ने के कारण उन (फूलों) के वृन्त अभी तक मुकुलित नहीं हुए हैं तथा कोपलों के टूटने के स्थान दूध से गीले दिखलाई पड़ रहे हैं ॥

अन्वयः—अनङ्गतप्तैः, अङ्गैः, अरविन्दसुरभिः, मालिनीतरङ्गाणाम् कणवाही, पवनः, अविरलम्, आलिङ्गितुम्, शक्यः ॥४॥

शब्दार्थः—अनङ्गतप्तैः = काम-सन्तप्त, अङ्गैः = अङ्गों से. अरविन्दसुरभिः = कमलों की सुगन्ध से भरपूर,. मालिनीतरङ्गाणाम् = मालिनी (नदी) की तरङ्गों के, कणवाही = कणों को बहाने वाले, कणों से मिश्रित, पवनः = वायु, अविरलम् = निरन्तर, कसकर, आलिङ्गितुम् = आलिङ्गन करने के, शक्यः = लायक है, योग्य है ॥ ४ ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अस्मिन् वेतसपरिक्षिप्ते लता-मण्डपे संनिहितया शकुन्तलया भवितव्यम् । तथा हि—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात् पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥५॥

यावद् विटपान्तरेणावलोकयामि । (परिक्रम्य, तथा कृत्वा, सहर्षम्) अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम् । एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते । भवतु । श्रोष्याम्यासां विश्रम्भकथितानि ।

(इति विलोकयन् स्थितः ।)

टीका—शक्य इति । अनङ्गतप्तैः—अनङ्गेन = कामेन तप्तैः = पीडितैः, अङ्गैः = अवयवैः, अरविन्दसुरभिः—अरविन्दैः = कमलैः सुरभिः = सौगन्ध्ययुक्तः, मालिनीत-रङ्गणाम्—मालिन्याः = मालिनीसरितः तरङ्गणाम् = लहरीणाम्, कणवाही = शीकरवाही पवनः = वायुः, अविरलम् = गाढं यथा स्यात्तथा, आलिङ्गितुम् = आश्लेष्टुम् सेवितुमिति भावः, शक्यः = योग्य इत्यर्थः । 'ननु 'शकिसहोश्च' (पा० ३।१।९९) इति कर्म-यकि कृते सह्यं शक्यमिति रूपम् । तेन सह पवनस्य भिन्नलिङ्गस्य सामानाधिकरण्यं कुतः ? इति चेन्न,—महाभाष्यवचनात्सिद्धम् 'शक्यं च श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्' इति । तथा च वामनसूत्रम् (काव्य० सू० ५।२।२३)—'शक्यमिति रूपं विलिङ्गवचन-स्यापि कर्माभिधायां सामान्योपक्रमात्' इति ।' इति राघवभट्टटीकायां शक्यमिति पाठे समाधानम् । अत्र समासोक्त्यलङ्कारः । आर्या च छन्दः ॥ ४ ॥

टिप्पणी—शक्यम्—काले और निर्णयसागर के ग्रन्थों में 'शक्यम्' यह पाठ स्वीकार किया गया है । किन्तु 'पवनः' के विशेषण के रूप में 'शक्यः' यह पाठ मानना उचित होगा । व्याकरण की दृष्टि से यहाँ 'शक्यम्' यह पाठ भी सही है । 'शकिसहोश्च' (पा० ३-१-९९) से यत् (य), शक्+यत् । 'शक्यम्' प्रयोग कर्म की अविवक्षा के कारण नपुंसकलिङ्ग एकवचन है । महाभाष्य में भी इस प्रकार के प्रयोग प्राप्त होते हैं—'शक्यं चानेन क्षुत्प्रतिहन्तुम्' (आह्निक-१) ।

इस श्लोक में समासोक्ति अलङ्कार तथा आर्या छन्द है । लक्षण के लिए देखें श्लोक १।२—३ की टिप्पणी ।

व्युत्पत्तिः—शक्यः—√शक् + यत् + विभक्तिः ॥

शब्दार्थः—वेतसपरिक्षिप्ते = बेंत से घिरे हुए, लतामण्डपे = लतामण्डप में, संनि-हितया = उपस्थित, भवितव्यम् = होना चाहिए ॥

(चारों ओर घूम कर और देखकर) बेंत से घिरे हुए इस लतामण्डप में शकुन्तला को उपस्थित होना चाहिए। जैसे कि—

पीली रेतवाले इस (लतामण्डप) के दरवाजे पर आगे की ओर उठा हुआ तथा चूतड़ (कटिभाग) के भार के कारण पीछे की ओर धँसा हुआ नूतन पद-चिह्न दिखलाई पड़ रहा है॥ ५॥

तो जब तक शाखाओं के अन्तराल से (इन्हें) देखता हूँ। (चारों ओर घूम कर, उसी प्रकार देख कर, प्रसन्नतापूर्वक) अहा! नेत्रों का परमानन्द प्राप्त हो गया। यह मेरी अभिलषित प्रियतमा पुष्प बिछे हुए शिलापट्ट पर लेटी हुई है (तथा) दो सखियाँ उसकी सेवा कर रही हैं। ठीक हैं, उनकी गुप्त बातचीत को सुनता हूँ।

(ऐसा कहकर उनको देखता हुआ खड़ा रहता है)

टीका—परिक्रम्येति। वेतसपरिक्षिप्ते—वेतसैः = वञ्जुलैः परिक्षिप्ते = परिवेष्टिते, लतामण्डपे = लतागृहे, संनिहितया = भवितव्यम् = भाव्यम्॥

व्युत्पत्तिः—संनिहितया—सम् + नि + √धा + क्त + टाप् + तृतीयैकवचने विभक्तिकार्यम्।

भवितव्यम्—√ भू + तव्यत् + विभक्तिकार्यम्॥

अन्वयः—पाण्डुसिकते, अस्य, द्वारे, पुरस्तात्, अभ्युन्नता, जघनगौरवात्, पश्चात्, अवगाढा, अभिनवा, पदपङ्क्तिः, दृश्यते॥ ५॥

शब्दार्थः—पाण्डुसिकते = पीली रेत वाले, अस्य = इस (लतामण्डप) के, द्वारे = दरवाजे पर, पुरस्तात् = आगे की ओर, अभ्युन्नता = उठा हुआ, जघनगौरवात् = चूतड़ के भार के कारण, पश्चात् = पीछे की ओर, अवगाढा = गहरा, धँसा हुआ, अभिनवा = नूतन, अभी-अभी का पड़ा हुआ, पदपङ्क्तिः = पद-चिह्न, दृश्यते = दिखलाई पड़ रहा है॥ ५॥

व्याख्याः—पाण्डुसिकते = पाण्डवः = पाण्डुरवर्णाः सिकताः = वालुकाः यस्मिन् तादृशे, अस्य = एतस्य, लतामण्डपस्येति यावत्, द्वारे = द्वारि, पुरस्तात् = पुरोभागे, अभ्युन्नता = अभ्युद्गता, जघनगौरवात्—जघनस्य = नितम्बस्य गौरवात् = गुरुत्वात्, पश्चात् = पृष्ठभागे, गुल्फयोरित्यर्थः, अवगाढा = गम्भीरा, अभिनवा = सद्यः कृता, पदपङ्क्तिः—पदानाम् = पदविक्षेपाणाम् पङ्क्तिः = श्रेणी, दृश्यते = अवलोक्यते। अत्रोपमानमनुमानं पर्यायोक्तं स्वभावोक्तिश्चालङ्काराः। आर्या छन्दः॥ ५॥

टिप्पणी—जघनगौरवात्—स्त्रियों के जघन (चूतड़) की आनुपातिक विशालता उनके सौन्दर्य में चार चाँद लगा देती है। शकुन्तला का जघन विशाल है। उसका भार एँड़ियों के ऊपर पड़ता है। यही कारण है कि एँड़ियाँ बालू में अपेक्षाकृत अधिक धँसी हैं तथा पंजे का हिस्सा अति स्वल्प उभरा है।

इस श्लोक में उपमान अनुमान पर्यायोक्ति तथा स्वभावोक्ति अलङ्कार तथा आर्या छन्द है॥ ५॥

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला।)

सख्यौ—(उपवीज्य सस्नेहम्) हला शकुन्तले, अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवातः । [हला सउन्दले, अवि सुहअदि णलिणीपत्तवादो ।]

शकुन्तला—किं वीजयतौ मां सख्यौ । [किं वीअअन्ति सहीओ ।] (सख्यौ विषादं नाटयित्वा परस्परमवलोकयतः।)

राजा—बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते (सवितर्कम्) तत्किमयमातपदोषः स्यात्, उत यथा मनसि वर्तते । (साभिलाषं निर्वर्ण्य) अथवा कृतं सन्देहेन

स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम् ।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु ॥६॥

व्युत्पत्तिः—अभ्युन्नता—अभि + उद् + √ नम् + क्त + टाप् ।

पुरस्तात्—पूर्व + अस्ताति, पुर् आदेशे रूपसिद्धिः ।

अवगाढा— अव + √ गाह् + क्त + टाप् + विभक्त्यादिकार्यम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—विटपान्तरेण = शाखाओं के अन्तराल से । नेत्रनिर्वाणम् = नेत्रों परमानन्द, मनोरथप्रियतमा = अभिलषित प्रियतमा, सकुसुमास्तरणम् = पुष्प बिछे अन्वास्यते = सेवा की जा रही है, सेवित हो रही है । विश्रम्भकथितानि = बातचीत को ॥

टीका—यावदिति । विटपान्तरेण—विटपानाम् = शाखानाम् अन्तरेण = काशेन, नेत्रनिर्वाणम्—नेत्रयोः = सन्तप्तयोः लोचनयोः निर्वाणम् = परमानन्द लोकने सुखकरं वस्त्वित्यर्थः, मनोरथप्रियतमा —मनोरथानाम् = अभिलाषाणाम् तमा—प्रेयसी, मनोरथप्रियतमेति रतेरनिर्वाहात् । सकुसुमास्तरणम्—कुसुमानां पुष्पाणाम् आस्तरणम् = प्रच्छदः तेन सहितम्, अन्वास्यते = सेव्यते । विश्रम्भ तानि = विश्वासभणितानि ('समौ विश्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः) ॥

शब्दार्थः—यथोक्तव्यापारा = पूर्वोक्तव्यापारवाली, पूर्वोक्त अवस्थावाली । वीज्य = हवा हाँक कर, पंखा झलकर । बलवत् = अत्यन्त । आतपदोषः = दोष है, निर्वर्ण्य = देख कर ॥

(तदनन्तर पूर्वोक्त अवस्थावाली शकुन्तला दोनों सखियों के साथ प्रवेश करती है)

दोनों सखियाँ—(पंखा झल कर, स्नेहपूर्वक) सखि शकुन्तला, क्या कमलिनी-पत्र की हवा तुम्हें (कुछ) सुख दे रही है ?

शकुन्तला—क्या सखियाँ मुझे हवा झल रही हैं ?

(दोनों सखियाँ विषाद का अभिनय करके एक-दूसरी को देखती हैं)

राजा—शकुन्तला अत्यन्त अस्वस्थ शरीरवाली दिखलाई पड़ रही है। (सोच-विचार के साथ) तो क्या यह लू का दोष है अथवा जैसा मेरे मन में है ? (लालसापूर्वक ध्यान से देख कर) अथवा सन्देह करना व्यर्थ है।

प्रियतमा का, स्तनों पर रक्खे गये खस से युक्त तथा ढीले कमल-नाल के एक कंकणवाला एवं पीडित, (भी) यह शरीर विलक्षण मनोहर (है)। यद्यपि कामदेव तथा लू के सञ्चार का सन्ताप समान होता है, किन्तु युवतियों पर लू का दुष्प्रभाव ऐसा मनोहर नहीं (होता है) ॥६॥

टीका—ततः प्रविशतीति। यथोक्तव्यापारा—यथोक्तः=पूर्वं कथितः व्यापारः=अवस्थेति यावत् यस्याः सा तादृशी। उपवीज्य=समीपे वीजयित्वा। बलवत्=अत्यर्थम्। आतपदोषः—आतपस्य=घर्मस्य दोषः=प्रभाव इति यावत्, निर्वर्ण्य=ध्यानेन दृष्ट्वा ॥

टिप्पणी—किं वीजयतो मां सख्यौ—यदि कोई व्यक्ति काम से व्यथित होकर बेचैनी का अनुभव करता है तो उसे कमलिनी के पत्रों की शय्या पर लिटा कर उन्हीं पत्रों से हवा हाँकी जाती है। किन्तु शकुन्तला की बेचैनी बेहद है। अतः उसे इन उपचारों से भी शान्ति नहीं मिल पा रही है। इनका उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। अतः वह पूछ रही है—क्या सखियाँ हमें हवा झल रही हैं ?

विषादम्—शकुन्तला की अवस्था को अत्यन्त बिगड़ी देख कर वे विषाद का अनुभव कर रही हैं।

आतपदोषः—कामज्वर या कामव्यथा तथा लू का लक्षण एक जैसा होता है। अतः राजा को सन्देह हो रहा है।

मे मनसि वर्तते—दुष्यन्त ने सोचा है कि जैसे मैं काम से व्यथित हूँ वैसे ही यह भी होगी। अथवा उसके कहने का भाव यह भी हो सकता है कि 'जैसे मेरे में कामव्यथा है वैसी ही इसके भी मन में हो सकती है'।

व्युत्पत्तिः—निर्वर्ण्य—निर् + √ वर्ण् + ल्यप्। कृतम्—√कृ + क्त + विभक्त्या-दिकार्यम् ॥

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अनसूये, तस्य राजः प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला । किं खल्वस्यास्तन्निमित्तोऽयमातङ्को भवेत् । [अणसूए, तस्स राएसि पढमदंसणादो आरहिअ पज्जुस्सुआ विअ सउन्दला । किं णु से तण्णिमित्तो अअं आतंको भवे ।]

अनसूया—सखि, ममापीदृश्याशङ्का हृदयस्य । भवतु प्रक्ष्यामि तावदेनाम् । (प्रकाशम्) सखि, प्रष्टव्यासि किमपि बलवान् खलु ते सन्तापः । [सहि, ममवि ईदिसी आसंका हिअअस्स । होदु । पुच्छिस्सं दाव णं । सहि, पुच्छिदव्वासि किम्पि । बलवं खु दे संदावो ।]

शकुन्तला—(पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय) हला, किं वक्तुकामासि । [हला, किं वत्तुकामासि ।]

अन्वयः—प्रियायाः, स्तनन्यस्तोशीरम्, प्रशिथिलमृणालैकवलयम्, साबाधम्, इदम्, वपुः, किमपि, कमनीयम्, (आस्ते); कामम्, मनसिजनिदाघप्रसरयोः, तापः, समः, युवतिषु, ग्रीष्मस्य, अपराद्धम्, एवम्, सुभगम्, न, (भवति) ॥६॥

शब्दार्थ :—प्रियायाः = प्रियतमा का, स्तनन्यस्तोशीरम् = स्तनों पर रक्खे खस से युक्त, प्रशिथिलमृणालैकवलयम् = ढीले कमल-नाल के एक कंकण से, साबाधम् = पीडित, अस्वस्थ, इदम् = यह, वपुः = शरीर, किमपि = अनिर्वचनीय रूप से विलक्षण, कमनीयम् = मनोहर, (आस्ते = है); कामम् = यद्यपि, मनसिजनिदाघप्रसरयोः = कामदेव तथा लू के सञ्चार का, तापः = सन्ताप, समः = समान होता है, किन्तु, युवतिषु = युवतियों पर, ग्रीष्मस्य = लू का, गर्मी का, अपराद्धम् = दोष, दुष्प्रभाव एवम् = ऐसा, सुभगम् = मनोहर, सुन्दर, न = नहीं, (भवति = होता है) ॥६॥

टीका—स्तनेति । प्रियायाः = प्रियतमायाः शकुन्तलायाः, स्तनन्यस्तोशीरम्—स्तनयोः = पयोधरयोः न्यस्तम् = स्थापितम्, उशीरम् = वीरणम्, वीरणानुलेपो वा यत्र प्रशिथिलेत्यादिः—प्रशिथिलम् = अतिश्लथम्, मृणालस्य = कमलनालस्य एकम् = केवलम् वलयम् = कङ्कणम् यत्र तत् तादृशम्, सन्तापाच्छुष्कत्वेन शैथिल्यम्, 'एकम्' इति वलयान्तरासहत्वं ध्वन्यते, साबाधम् आसमन्तादबाधया = पीडया सह वर्तमानम्,

प्रियंवदा—(मुख के पार्श्व में हाथ से आड़ करके एक ओर) अनसूया, उस राजर्षि के प्रथम मिलन से ही उत्कण्ठित-सी रहती है शकुन्तला। क्या इसका यह सन्ताप उस (राजा) के ही कारण है?

अनसूया—सखी, मेरे भी मन का ऐसा ही सन्देह है। तो इस (शकुन्तला) से पूछती हूँ। (प्रकट रूप में) सखी, तुमसे कुछ पूछना है। तुम्हारा सन्ताप अत्यन्त प्रवल है।

शकुन्तला—(ऊपर का आधा भाग विस्तर से उठाकर) सखी, क्या कहना चाहती हो?

वाधा व्यथा, इत्यमरः), आङा पीडायाः सर्वाङ्गगतत्वं व्यज्यते, इदम्=एतत्, पुरो वर्तमानम्, वपुः=शरीरम्, किमपि=लोकोत्तरचमत्कारि, अनिर्वचनीयमित्यर्थः, कमनीयम्=मनोहारि, आस्ते इति क्रियाशेषः, एतादृशसन्तापेऽपि सत्यतिशयशोभायुक्तिमिति भावः। 'कामम्' इत्यनुमतौ, ('निकामानुमतौ कामम्' इत्यमरः), मनसिजनिदाघप्रसरयोः—काम-ग्रीष्मवेगयोः, तापः=सन्तापः, समः=तुल्यः, तु=किन्तु, युवतिषु=आरूढयौवनासु, ग्रीष्मस्य=निदाघस्य, अपराद्धम्=अपराधः, सन्ताप इति यावत्, एवम्=इत्थम्, सुभगम्=सुन्दरम्, मनोहारीत्यर्थः, न भवति=न जायते। अत्र व्यतिरेकोऽप्रस्तुतप्रशंसा विभावना विशेषोक्तिश्चालङ्काराः। शिखरिणी छन्दः॥६॥

टिप्पणी—**समस्तापः**—लू लगने पर तथा कामज्वाला से तपने पर शरीर की दशा तथा उसके लक्षण समान होते हैं। परन्तु लू लगने पर शरीर की कमनीयता समाप्त हो जाती है और काम ज्वाला से झुलसने पर भी शारीरिक कान्ति न केवल पूर्ववत् बनी रहती है, अपितु बढ़ भी जाती है।

इस श्लोक में लू के प्रभाव से काम-प्रभाव को अधिक बतलाने से व्यतिरेक, शकुन्तला कहने की जगह 'युवतिषु' कहने से अप्रस्तुत प्रशंसा, स्वास्थ्य की अनुपस्थिति में भी कमनीयतार्थ होने से विभावना तथा सन्ताप कारण के होने पर भी सौन्दर्य के नाश न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार हैं। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शिखरिणी। छन्द का लक्षण—"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसमला गः शिखरिणी" ॥६॥

व्युत्पत्तिः—**अपराद्धम्**—अपराध+क्तः नपुंसके भावे+विभक्तिकार्यम्॥६॥

शब्दार्थः—जनान्तिकम्=मुख के पार्श्व में हाथ से आड़ करके एक ओर। पर्युत्सुका=उत्कण्ठित। आतङ्कः=रोग, सन्ताप। आशङ्का=सन्देह। बलवान्=प्रबल॥

टीका—प्रियंवदेति। जनान्तिकम्=शकुन्तलायाः दिशो मुखं परावृत्येत्यर्थः। पर्युत्सुका=उत्कण्ठिता। आतङ्कः=रोगः, सन्तापः। आशङ्का=सन्देहः। बलवान्=प्रबलः दुःसाध्य इति यावत्॥

अनसूया—हला शकुन्तले, अनभ्यन्तरे खल्वावां मदन-गतस्य वृत्तान्तस्य। किन्तु यादृशीतिहासनिबन्धेषु कामयमाना-नामवस्था श्रूयते तादृशीं तव पश्यामि। कथय किंनिमित्तं ते सन्तापः। विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य। [हला सउन्दले, अणब्भन्तरा क्खु अम्हे मदणगदस्स वुत्तन्तस्स। किं दुं जादिसी इदिहासणिबन्धेसु कामअमाणाणं अवत्था सुणी-अदि तादिसीं दे पेक्खामि। कहेहि किंणिमित्तं दे संदावो। विआरं क्खु परमत्थदो अजाणिअ अणारम्भो पडिआरस्स।]

राजा—अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः। नहि स्वाभि-प्रायेण मे दर्शनम्।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) बलवान् खलु मेऽभिनि-वेशः। इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम्। [बलवं क्खु मे अहिणिवेसो। दाणिं वि सहसा एदाणं ण सक्कणोमि णिवेदिदुं।]

प्रियंवदा—सखि शकुन्तले, सुष्ठु एषा भणति। किमात्मन आतङ्कमुपेक्षसे। अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः। केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति। [सहि सउन्दले, सुट्ठु एषा भणादि। किं अत्तणो आतंकं उवेक्खसि। अणु-दिअहं क्खु परिहीअसि अंगेहि। केवलं लावण्णमई छाया तुमं ण मुंचदि।]

शब्दार्थः—अनभ्यन्तरे = अनभिज्ञ, मदनगतस्य = कामसम्बन्धी। कामयमानानाम् = कामपीडितों की, विरहियों की। विकारम् = रोग को, परमार्थतः = सही रूप से, यथार्थ रूप से, अनारम्भः = प्रारम्भ न होना, प्रतीकारस्य = दूर करने के उपाय का, चिकित्सा का। दर्शनम् = विचार। अभिनिवेशः = आग्रह, आसक्ति।।

टीका—अनसूयेति। अनभ्यन्तरे = अनभिज्ञे, मदनगतस्य = कामसम्बन्धिनः। काम-यमानानाम् = विरहिणाम्। विकारम् = रोगम्, परमार्थतः = यथार्थतः, अनारम्भः

अनसूया—सखी शकुन्तला हम दोनों काम सम्बन्धी समाचारों से वस्तुतः अनभिज्ञ हैं। किन्तु इतिहास आदि ग्रन्थों में कामपीडितों की जैसी अवस्था सुनी जाती है, वैसी (अवस्था) तुम्हारी देख रही हूँ। बतलाओ, किस कारण से तुम्हारा यह सन्ताप है ? (क्योंकि) रोग को सही रूप से बिना जाने उसकी चिकित्सा आरम्भ नहीं की जाती है।

राजा—मेरा सन्देह अनसूया को भी हुआ है। मेरा विचार व्यक्तिगत अभिप्राय से नहीं था।

शकुन्तला—(अपने आप) (अपनी व्यथा छिपाने का अथवा दुष्यन्त को प्राप्त करने का) मेरा आग्रह अत्यन्त प्रबल है। (पर) अब भी एकाएक इन दोनों को बतलाने में समर्थ नहीं हूँ।

प्रियंवदा—सखी शकुन्तला, यह (अनसूया) ठीक कह रही है। क्यों अपने रोग की उपेक्षा कर रही हो ? अङ्गों से प्रतिदिन तू दुर्बल होती जा रही हो (अर्थात् तुम्हारे अङ्ग प्रतिदिन दुर्बल होते जा रहे हैं)। केवल अति सुन्दर कान्ति तुम्हें नहीं छोड़ रही है।

अप्रयोगः, प्रतीकारस्य = उपायस्य, शामकस्येति यावत्। दर्शनम् = विचारश्चिन्तनं वा। अभिनिवेशः = आग्रहः। अकथन इत्यार्थम्॥

टिप्पणी—अभिनिवेशः = दृढ़ आग्रह। शकुन्तला के कहने का भाव यह है कि मेरा अभिनिवेश अति ऊँचा है। उसे प्राप्त करना कठिन है। क्योंकि मैं एक जङ्गली लड़की होकर भारत-सम्राट् को अपना पति बनाना चाहती हूँ। अथवा—दुष्यन्त के प्रति मेरा जो आकर्षण है, वह प्रशस्त कार्य नहीं है। अतः सखियों से इसके बारे में न कहने का मेरा आग्रह अति दृढ़ है।

व्युत्पत्तिः—प्रतीकारस्य—प्रति + √कृ + घञ् + षष्ठ्येकवचने विभक्तिकार्यम्। निवेदयितुम्—नि + √विद् + तुमुन्॥

शब्दार्थ:—सुष्ठु = ठीक, बढ़िया। आतङ्कम् = रोग, परेशानी। परिहीयसे = दुर्बल होती जा रही हो। लावण्यमयी = सलोनी, अति सुन्दर, छाया = कान्ति। अवितथम् = सत्य, यथार्थ॥

टीका—प्रियंवदेति। सुष्ठु = शोभनम्। आतङ्कम् = व्याधिम्। परिहीयसे = हीना भवसि, दुर्बला भवसि। लावण्यमयी—लालित्यपूर्णा, छाया = कान्तिः, अवितथम् = सत्यम्।

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा। तथा हि—

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पत्त्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी॥

शकुन्तला—सखि, कस्य वाऽन्यस्य कथयिष्यामि किन्त्वायासयित्रीदानीं वां भविष्यामि। [सहि, कस्स अण्णस्स कहइस्सं। किन्दु आआसइत्तिआ दाणिं भविस्सं।]

उभे—अत एव खलु निर्बन्धः। स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति। [अदो एव्व क्खु णिब्बन्धो। सिणिद्धजणसंविभत्तं हि दुक्खं सज्झवेदणं होदि।]

अन्वयः—आननम्, क्षामक्षामकपोलम्; उरः, काठिन्यमुक्तस्तनम्; मध्यः, क्लान्ततरः; अंसौ, प्रकामविनतौ; छविः, पाण्डुरा। मदनक्लिष्टा, इयम्, पत्त्राणाम्, शोषणेन, मरुता, स्पृष्टा, माधवी, लता, इव, शोच्या, च, प्रियदर्शना, च, आलक्ष्यते॥ ७॥

शब्दार्थः—आननम् = मुंह, क्षामक्षामकपोलम् = अत्यन्त दुर्बल कपोलवाला हो गया है; उरः = वक्षःस्थल, काठिन्यमुक्तस्तनम् = कठोरता (ठोसपन) से रहित स्तनवाला हो गया है; मध्यः = कटिप्रदेश, क्लान्ततरः = अत्यन्त मुरझा गया है, दुर्बलतर हो गया है; अंसौ = दोनों कन्धे, प्रकामविनतौ = अत्यधिक झुक गये हैं; छबिः = कान्ति, पाण्डुरा = पीली पड़ गई है; मदनक्लिष्टा = काम-पीडित, इयम् = यह, पत्त्राणाम् = पत्तों को, शोषणेन = सुखानेवाले, मरुता = वायु से, स्पृष्टा = छुई गई, माधवी = वासन्ती, लता = लता, इव = तरह, शोच्या = शोचनीय, च = और, प्रियदर्शना = देखने में प्रिय लगनेवाली भी, आलक्ष्यते = दिखलाई पड़ रही है॥ ७॥

टीका—राजा प्रियंवदायाः कथनमनुमोदयन्नाह—क्षामक्षामेति। अस्या इत्यध्याहार्यम्। आननम् = मुखम्, क्षामक्षामकपोलम्—क्षामक्षामौ = कृशतरौ पूर्वं कृशावधुना कृशतरौ कपोलौ = गण्डस्थलौ यत्र तत् तादृशम्, आस्ते इति अग्रेऽपि क्रियान्वयः; उरः = वक्षःस्थलम्, काठिन्यमुक्तस्तनम्—काठिन्येन = कठोरतया मुक्तौ = परित्यक्तौ स्तनौ = कुचौ यत्र तत् तादृशम्; मध्यः = कटिप्रदेशः, क्लान्ततरः—कृशतरः, पूर्वं क्लान्तः = कृशः, अधुना क्लान्ततरो मध्यः, अंसौ = स्कन्धौ, प्रकामविनतौ—पूर्वमेव विनतौ, अधुना प्रकामम् = अत्यर्थम् विनतौ = नम्रीभूतौ, छविः = कान्तिः, पाण्डुरा = पीता, विरहकार्श्यदिव। मदनक्लिष्टा—मदनेन = कामेन क्लिष्टा = पीडिता, इयम् = एषा, शकुन्तलेत्यर्थः, पत्त्र...

राजा—सत्य कहा प्रियंवदा ने। क्योंकि

(इसका) मुँह अत्यन्त दुर्बल कपोल (गाल) वाला हो गया है (अर्थात् इसके मुँह पर के गाल अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं) वक्षःस्थल कठोरता से रहित स्तनवाला हो गया है (अर्थात् इसके स्तन ढीले पड़ गये हैं), कटिप्रदेश दुर्बलतर हो गया है, दोनों कन्धे अत्यधिक झुक गये हैं, कान्ति पीली पड़ गई है। काम-पीड़ित यह (शकुन्तला), पत्तों को सुखानेवाले वायु से छुई गई माधवी लता की तरह, शोचनीय और देखने में प्रिय लगनेवाली भी दिखलाई पड़ रही है॥ ७॥

शकुन्तला—सखी, भला और किसे बतलाऊँगी? किन्तु (कह कर मैं) तुम दोनों के लिए कष्ट देनेवाली (ही) होऊँगी।

दोनों—इसीलिए तो आग्रह है। क्योंकि स्नेही जनों में बाँटा गया दुःख सहन करने के योग्य बन जाता है।

पर्णानाम्, शोषणेन = शोषणकारिणा, शोष्यतेऽनेनेति शोषणः, 'करणाधिकरणयोश्च' इति ल्युट्, मरुता = वायुना, स्पृष्टा = आमृष्टा, माधवी = वासन्ती, 'माधवी' शब्देन प्रियदर्शनत्वमुक्तम्, लता = वल्लरी, इव = यथा, शोच्या = शोचनीया, च = तथा, प्रियदर्शना—प्रियम् = आनन्ददायकम् दर्शनम् = दृष्टिपथविषयीभवनम् यस्याः सा तादृशी, च = अपि, आलक्ष्यते = अवलोक्यते। उपमानुप्रासावलङ्कारौ शार्दूलविक्रीडितं छन्दः॥७॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा एवं अनुप्रास अलङ्कार हैं। यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित। छन्द का लक्षण—

'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्'॥ ७॥

व्युत्पत्तिः—क्षामक्षाम०—क्षामं क्षामं, यहाँ 'प्रकारे गुणवचनस्य' (८-१-१२) से द्वित्व, 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' (८-१-११) से कर्मधारय की तरह कार्य होने से बीच की विभक्ति का लोप हो गया है। प्रकार अर्थ में द्वित्व होने से यहाँ कुछ कृश (ईषत्क्षाम) अर्थ होना चाहिए, किन्तु द्वित्व अधिकता बतलाने के अभिप्राय से है। अतः अतिकृश अर्थ किया गया है।

स्पृष्टा—√स्पृश् + क्त + टाप् + विभक्त्यादिकार्यम्॥७॥

शब्दार्थः—आयासयित्री = कष्ट देने वाली, वाम् = तुम दोनों के लिए। निर्बन्धः = आग्रह। स्निग्धजनसंविभक्तम् = स्नेही जनों में बाँटा गया, सह्यवेदनम् = पीडा सहन करने लायक, सह्य।

टीका—शकुन्तलेति। आयासयित्री = क्लेशदायिनी, युवयोरिदानीं भविष्यामि, अतो न कथयामीत्यर्थः, वाम् = युवयोः,। निर्बन्धः = आग्रहातिशयः। स्निग्धजनसंविभक्तम्—स्निग्धेषु = स्नेहयुक्तेषु जनेषु = मानवेषु संविभक्तम् = कृतविभागम् कथितमिति भावः, सह्यवेदनम्—सह्या = सोढुं योग्या वेदना = पीडा यस्य = तथाविधं भवति हि॥

व्युत्पत्तिः—स्निग्धः—√ष्णिह् + क्त + विभक्त्यादिकार्यम्। संविभक्तम्—सम् + वि + √भज् + क्त + विभक्त्यादिः॥

राजा—पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम् ।
दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्ण-
मत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥८॥

शकुन्तला—सखि, यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः—(इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयति) [सहि, जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो सो तवोवणरक्खिदा राएसी—]

उभे—कथयतु प्रियसखी। [कहेदु पिअसही ।]

शकुन्तला—तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थाऽस्मि संवृत्ता। [तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्था संवुत्ता ।]

राजा—(सहर्षम्) श्रुतं श्रोतव्यम् ।
स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः ।
दिवस इवाभ्रश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥९॥

अन्वयः—समदुःखसुखेन, जनेन, पृष्टा, इयम्, बाला, मनोगतम्, आधिहेतुम्, वक्ष्यति, न; अनया, बहुशः, विवृत्य, सतृष्णम्, दृष्टः, अपि, अत्रान्तरे, श्रवणकातरताम्, गतः, अस्मि ॥८॥

शब्दार्थः—समदुःखसुखेन = दुःख-सुख में समान रहनेवाले, दुःख-सुख के साथी, जनेन = व्यक्तियों से, पृष्टा = पूछी गई, इयम् = यह, बाला = किशोरी, मनोगतम् = मानसिक, आधिहेतुम् = सन्ताप के कारण को, न = नहीं, वक्ष्यति = बतलायेगी, न = यह बात नहीं है; अनया = इसके द्वारा, बहुशः = बहुत बार, विवृत्य = मुड़ कर, सतृष्णम् = ललक के साथ, तृष्णापूर्वक, दृष्टः = देखा गया, अपि = भी, अत्रान्तरे = इस बीच, श्रवणकातरताम् = सुनने के लिए अधीरता को, गतः = प्राप्त हुआ, अस्मि = हूँ ॥८॥

टीका—पृष्टेति । समदुःखसुखेन—दुःखञ्च सुखञ्चेति दुःखसुखे दुःखसुखम् "विप्रतिषिद्धञ्चानधिकरणवाचि" इति विभाषा द्वन्द्वैकवद्भावः, समे समं वा दुःखसुखे दुःखसुखं वा यस्य ते समदुःखसुखेन = तुल्यवेदनेन, जनेन = सखीजनेन, पृष्टा = अनुयुक्ता सती, इयम् = एषा, पुरोदृश्यमानेत्यर्थः, बाला = किशोरी, शकुन्तला, मनोगतम्—मनसि निगूहितम्, आधिहेतुम् = मनःपीडाकारणम्, न वक्ष्यति = न

राजा—सुख-दुःख के साथी व्यक्तियों के द्वारा पूछी गई यह किशोरी (अपने) मानसिक सन्ताप के कारण को नहीं बतलायेगी—ऐसी बात नहीं है (अर्थात् अवश्य बतलायेगी)। इसके द्वारा बहुत बार मुड़-मुड़ कर ललक के साथ (तृष्णापूर्वक) देखा गया भी (मैं) इस समय (इसका उत्तर) सुनने के लिए अधीरता को प्राप्त हुआ हूँ (अर्थात् अधीर हो उठा हूँ) ॥८॥

शकुन्तला—सखी, जब से तपोवन के रक्षक वह राजर्षि (मेरी) आँखों के सामने आये हैं—(यह आधी बात कहकर लज्जा का अभिनय करती है)

दोनों—कहें प्रियसखी!

शकुन्तला—तब से लेकर उनमें लगी अभिलाषा के कारण (मेरी) यह अवस्था हो गई है।

राजा—(प्रसन्नतापूर्वक) सुन लिया जो सुनना था, ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर प्राणि-वर्ग के लिए बादलों से श्याम दिवस की तरह, मेरे सन्ताप का कारण वही कामदेव (इस समय) शीतलता प्रदान करने वाला हो गया है ॥९॥

यिष्यति इति न = इति नास्ति, अपि तु वक्ष्यत्येवेति भावः। सत्यवचने हेतुगर्भं विशेषणमाह—अनया = एतया शकुन्तलया, बहुशः = वारंवारम्, विवृत्य = परावृत्य सतृष्णम् = साभिलाषम्, दृष्टः = अवलोकितः, अपि = च, अत्रान्तरे—अत्र = अस्मिन् अन्तरे = अवकाशे, श्रवणकातरताम्—श्रवणे = उत्तराकर्णने कातरताम् = व्याकुलताम्, गतः = प्राप्तः, अस्मि = वर्ते। काव्यलिङ्गमलङ्कारः। वसन्ततिलका छन्दः ॥८॥

टिप्पणी—श्रवणकातरताम्—राजा सोच रहा है कि—यद्यपि इसने बार-बार मुड़ कर मुझे देखा है। मेरे प्रति काम-भाव अभिव्यक्त किया है। पर पता नहीं यह अपने दुःख का कारण मुझे बतलाती है अथवा किसी और को।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥८॥'

व्युत्पत्तिः—पृष्टा—√प्रच्छ्+क्त+टाप्+विभक्त्यादिकार्यम्। दृष्टः—√दृश्+क्त+विभक्तिः ॥८॥

शब्दार्थः—यतः प्रभृति = जब से, जिस समय से; दर्शनपथम् = दृष्टिपथ, आँखों के सामने। तत आरम्य = तब से, तब से लेकर; तद्गतेन = उनमें लगी, उनकी ओर गयी, अभिलाषेण = अभिलाषा से ॥

टीका—शकुन्तलेति। यतःप्रभृति = यतः कालादारभ्य, दर्शनपथम् = दृष्टिविषयम्। तत आरभ्य = तस्मादेव कालादित्यर्थः, तद्गतेन—तम् = राजर्षिम् गतेन = यातेन; अभिलाषेण = प्रासीच्छया ॥

अन्वयः—तपात्यये, जीवलोकस्य, अभ्रश्यामः, दिवसः, इव; मे, तापहेतुः, सः; एव, स्मरः, (सम्प्रति); निर्वापयिता, जातः ॥ ९ ॥

शकुन्तला—तद्यदि वामनुमतं, तथा वर्तेथां यथा ... राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि । अन्यथाऽवश्यं सिञ्चतं ... तिलोदकम् । [तं जइ वो अणुमदं, तह वट्टह जह ... राएसिणो अणुकम्पणिज्जा होमि । अण्णहा अवस्सं सि... मे तिलोदअं ।]

राजा—संशयच्छेदि वचनम् ।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अनसूये, दूरगतमन्म... ऽक्षमेयं कालहरणस्य । यस्मिन् बद्धभावैषा, स ललामभू... पौरवाणाम् । तद् युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम् [अणसूए, दूरगअमम्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स । ज... बद्धभावा एसा, स ललामभूदो पोरवाणं। ता जुत्तं से अहिला... अहिणन्दिदुं ।]

शब्दार्थः—तपात्यये = ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर, जीवलोकस्य = प्राणि... लिए, अभ्रश्यामः = बादलों से श्याम, दिवसः = दिन की, इव = तरह, मे = मेरे, ... हेतुः = सन्ताप का कारण, सः = वह, एव = ही, स्मरः = कामदेव, (सम्प्रति = ... समय), निर्वापयिता = शीतलता प्रदान करने वाला, जातः = हो गया है ॥९॥

टीका—स्मर इति । तपात्यये—तपस्य = ग्रीष्मस्य अत्यये = समाप्तौ, प्रावृ... इत्यर्थः, जीवलोकस्य = प्राणिवर्गस्य, अभ्रश्यामः—अभ्रैः = मेघैः, श्यामः = ... दिवसः = दिनम्, इव = यथा, मे = मम, तापहेतुः—तापस्य = सन्तापस्य हेतुः = का... सः = इतः पूर्वमधिकं दुःखप्रदः इत्यर्थः, एव = च, स्मरः = कामः, सम्प्रतीति शेषः, ... पयिता = शमयिता, तापस्येति शेषः, जातः = सम्पन्नः । स्वयौवनकाले भर्जको ... यथा परिसमाप्तौ दिवसे मेघाच्छन्ने जाते सुखप्रदो जायते तथैवेतः पूर्वं सन्ताप... कामः सम्प्रति प्रियावचनश्रवणानन्तरं सुखकारकश्च सञ्जातः । अत्रोपमालङ्... आर्या छन्दः ॥९॥

टिप्पणी—तपात्यये—भीषण गर्मी के अवसान पर जब किसी दिन आकाश ... च्छन्न होता है, तो विलक्षण सुख की अनुभूति होती है । वही ग्रीष्म उस दिन ... शामक हो जाता है । ठीक उसी प्रकार जो काम अब तक जला कर मुझे मार र... अब प्रियतमा के वचनों को सुनने के अनन्तर सुखकारक हो गया है ।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा आर्या छन्द है । लक्षण के लिए देखिए ... की टिप्पणी ॥६॥

शकुन्तला—तो यदि तुम लोगों को अभीष्ट हो तो वैसा कार्य करो जिससे मैं उस राजर्षि (दुष्यन्त) की कृपापात्र हो जाऊँ। नहीं तो अवश्य ही मेरे लिए तिलमिश्रित जलाञ्जलि देना (अर्थात् अन्यथा मैं प्राण त्याग दूँगी और तुम लोग मेरे लिए तिलमिश्रित जल से तर्पण करना)।

राजा—(इसका यह) वचन सन्देह को दूर करनेवाला है।

प्रियंवदा—(हाथ से आड़ करके एक ओर) अनसूया, बहुत बढ़ गया है कामभाव जिसका ऐसी यह (शकुन्तला) कालयापन करने में असमर्थ है। जिस पर यह आसक्त है, वह पुरुवंशियों में रत्न हैं। अतः इसकी अभिलाषा का समर्थन करना उचित है।

व्युत्पत्तिः—जातः—√जन्+क्त+प्रथमैकवचने विभक्तिकार्यम्। अत्ययः—अति+√इ+अच्+सप्तम्यैकवचने विभक्तिकार्यम्॥९॥

शब्दार्थः—अनुमतम्=अभीष्ट हो, अनुमत हो, अनुकम्पनीया=दयापात्र। तिलोदकम्=तिलमिश्रित जलाञ्जलि, तर्पण। संशयच्छेदि=सन्देह को दूर करनेवाला। दूरगतमन्मथा=बहुत बढ़ गया है काम-भाव जिसका ऐसी, अत्यन्त कामपीडित, अक्षमा=असमर्थ, कालहरणस्य=काल—यापन को; विलम्ब को। बद्धभावा=मन लगाई हुई, आसक्त, ललामभूतः=रत्न, सर्वश्रेष्ठ। युक्तम्=उचित है।

टीका—शकुन्तलेति। अनुमतम्=अभीष्टम्, अनुकम्पनीया=अङ्गीकारेण अनुग्राह्या। तिलोदकम्=प्रेतकर्मणि प्रदीयमानं तिलमिश्रितं जलमित्यर्थः। संशयच्छेदि—संशयम्=सन्देहम्, इयं मामभिलषते न वेतिरूपं संशयमित्यर्थः छिनत्ति=विनाशयतीति संशयच्छेदि=सन्देहविमर्दकम्। दूरगतमन्मथा—दूरम्=विप्रकृष्टम् गतः=प्राप्तः मन्मथः=कामः यस्यास्तथाविधा, इयम् अक्षमा=असमर्था, कालहरणस्य—कालस्य=समयस्य हरणम्=यापनम् तस्य, बद्धभावा—बद्धः=संयोजितः भावः=अनुरागः यया सा तादृशी, दत्तहृदयेत्यर्थः, ललामभूतः=प्रधानः, रत्नभूतः। युक्तम्=उचितम्।

टिप्पणी—सिञ्चतं तिलोदकम्—जब कोई व्यक्ति मर जाता है, तब उसके बन्धु-बान्धव प्रेतात्मा की तृप्ति के लिए तिलमिश्रित जल से तर्पण करते हैं। शकुन्तला के कहने का भाव यह है कि यदि वह राजर्षि हमें काम-शान्ति के लिए नहीं मिला तो मैं प्राणत्याग कर दूँगी।

संशयच्छेदि—यदि शकुन्तला यह कहती कि किसी युवक को देख कर मैं काम-पीडित हो गई हूँ, तो राजा का सन्देह बना रहता कि यह युवक कौन है—मैं या और कोई। किन्तु शकुन्तला की स्पष्ट स्वीकारोक्ति से राजा का सन्देह समाप्त हो चुका है। वह अब सुनिश्चित जान रहा है कि शकुन्तला की इस दुर्दशा का कारण मैं ही हूँ।

दूरगतमन्मथा—कामपीडित की दश अवस्थाएँ होती हैं—(१) नयनप्रेम (२) चित्त का लगना (३) पाने का संकल्प (४) नींद का न आना (५) दुर्बलता (६) भोजन-पान आदि से निवृत्ति (७) लज्जा का नाश (८) उन्माद (९) मूर्च्छा तथा (१०) मरण—"नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽर्थसंकल्पः। निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः॥ उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः।" अभिलाषा

अनसूया—तथा यथा भणसि। [तह जह भणासि।]

प्रियंवदा—(प्रकाशम्) सखि, दिष्ट्याऽनुरूपस्ते निवेशः। सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति। इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहे [सहि, दिट्ठिआ अणुरूवो दे अहिणिवेसो। साअरं उज्झि कहिं वा महाणई ओदरइ। को दाणिं सहआरं अन्त अदिमुत्तलदं पल्लविदं सहेदि।]

राजा—किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखाऽनुवर्त

अनसूया—कः पुनरुपायो भवेद् येनाविलम्बितं नि च सख्या मनोरथं संपादयावः। [को उण उवाओ भवे अविलम्बिअं णिहुअं अ सहीए मणोरहं संपादेम्ह।]

प्रियंवदा—निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत्। शीघ्रं सुकरम्। [णिहुअं त्ति चिन्तणिज्जं भवे। सिग्घं सुअरं।]

अनसूया—कथमिव। [कहं विअ।]

प्रियंवदा—ननु स राजर्षिरस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचि भिलाष एतान् दिवसान् प्रजागरकृशो लक्ष्यते। [णं सो रा इमस्सिं सिणिद्धदिट्ठीए सूइदाहिलासो इमाइं दिअ पजाअरकिसो लक्खीअदि।]

के कहने से शकुन्तला की लज्जा विनष्ट हो चुकी है। अतः वह सात सीढ़ी प चुकी है। यही है उसका 'दूरगतमन्मथत्व'।

व्युत्पत्तिः—अनुमतम्—अनु+√मन्+क्त+विभक्तिकार्यम्।

अनुकम्पनीया—अनुकम्पा+अनीयर्+टाप्+विभक्तिकार्यम्।

शब्दार्थः—दिष्टचा=प्रसन्नता की बात है, अनुरूपः=योग्य, अनुकूल निवेशः=आग्रह। उज्झित्वा=छोड़कर। चित्रम्=आश्चर्य।

टीका—प्रियंवदेति। दिष्टचा=दैवेन, अनुरूपः=योग्यः, अनुकूलः अभिनिवे आग्रहः। उज्झित्वा=त्यक्त्वा। चित्रम्=आश्चर्यम्।

अनसूया—ठीक है, जैसा तुम कह रही हो (वैसा किया जायगा)।

प्रियंवदा—(स्पष्ट रूप से) सखी, प्रसन्नता की बात है कि तुम्हारा आग्रह अनुरूप ही है (जो कि तुम राजा को चाहती हो)। अथवा महानदी सागर को छोड़कर भला कहाँ मिलती हैं? आम्रवृक्ष को छोड़कर और कौन (वृक्ष) पल्लवित अतिमुक्ता (माधवी) लता को सहरा दे सकता है?

राजा—इसमें आश्चर्य क्या है, यदि दोनों विशाखा ताराएँ चन्द्रकला का अनुसरण करती हैं।

अनसूया—कौन (ऐसा) उपाय हो सकता है, जिससे शीघ्र गुप्तरूप से सखी (शकुन्तला) के मनोरथ को (हम लोग) पूरा कर सकें।

प्रियंवदा—(कैसे) 'गुप्तरूप से' (कार्य होगा) यह तो सोचने की बात है। 'शीघ्र' (कार्य करना) यह तो आसान है।

अनसूया—किस तरह!

प्रियंवदा—अरे वह राजर्षि इस (शकुन्तला) के प्रति प्यार भरी दृष्टि से (अपनी) अभिलाषा को सूचित कर चुका है और आज-कल रात्रि-जागरण के कारण दुर्बल दिखलाई पड़ता है।

टिप्पणी—सागरमुज्झित्वा—गङ्गा, ब्रह्मपुत्र आदि बड़ी नदियां सागर में ही गिरती हैं। इसी प्रकार महान् सुन्दरियाँ महापुरुषों का ही वरण करती हैं। अतः अपने जमाने की बेजोड़ सुन्दरी शकुन्तला का तत्कालीन नर-श्रेष्ठ दुष्यन्त की ओर झुकना उचित ही है।

सहकारमन्तरेण—माधवीलता को आश्रय देने की उचित शक्ति आम्रवृक्ष में ही है। इसी प्रकार अनुपम सुन्दरियों को कोई राजा-महाराजा ही रख सकता है, साधारण व्यक्ति नहीं।

विशाखे—विशाखा में दो नक्षत्र हैं। राजा के कहने का भाव यह है कि—जिस प्रकार दोनों विशाखा नक्षत्र चन्द्रमा की कला का अनुसरण करते हैं उसी प्रकार दोनों सखियाँ—अनुसूया और प्रियंवदा—शकुन्तला का अनुसरण कर रही हैं। 'विशाखे यह पद स्त्रीलिङ्ग द्विवचन है। चन्द्रलेखा स्त्रीलिङ्ग एक वचन। इसी प्रकार अनसूया और प्रियंवदा स्त्रीलिङ्ग हैं तथा शकुन्तला भी स्त्रीलिङ्ग है।

व्युत्पत्तिः—अभिनिवेशः—अभि+नि+√विश्+घञ्+विभक्तिकार्यम्। चित्रम्—चित्र+अच्, √चि+ष्ट्रन वा+विभक्तिकार्यम्॥

शब्दार्थः—निभृतम्=चुपचाप, गुप्तरूप से, मनोरथम्=अभिलाष को, इच्छा को। स्निग्धदृष्ट्या=प्यारभरी दृष्टि से, सूचिताभिलाषः=अभिलाषा को सूचित कर चुका है, प्रजागरकृशः=रात्रि-जागरण के कारण दुर्बल। इत्थंभूतः=ऐसा ही हो गया हुआ॥

टीका—प्रियंवदेति। निभृतम्=गुप्तम्, मनोरथम्=अभिलाषम्। स्निग्धदृष्ट्या=सस्नेहावलोकनेन, सूचिताभिलाषः—सूचितः=निर्दिष्टः अभिलाषः=मनोरथः येन तादृशः। प्रजागरकृशः—प्रजागरेण=निद्राच्छेदेन कृशः=क्षीणः। अत्र प्रियतमानुचिन्तनेन निद्राराहित्यमिति बोध्यम्। इत्थंभूतः=एतादृशः, कृश इति यावत्॥

राजा—सत्यमित्थंभूत एवास्मि। तथाहि—

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद् विवर्णमणीकृतं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात्
कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते॥१०॥

प्रियंवदा—(विचिन्त्य) हला, मदनलेखोऽस्य क्रियताम्

सूचिताभिलाषः—ये आँखें बड़ी बेहया हैं। व्यक्ति के भीतरी भावों को दूसरों से कह देती हैं, व्यक्त कर देती हैं। बेचारे दुष्यन्त ने ललकभरी निगाह से शकुन्तला को देखते हुए सोचा था—'यदि भाग्य से यह युवती मिल जाती तो जीवन कृतार्थ हो जाता।' ऐसा सोचने के समय दुष्यन्त ने यह भी सोचा था कि मेरी मनोभावना को कोई नहीं जानता है। पर निगाहों ने प्रियंवदा आदि को राजा के भावों को स्पष्ट नोट करा दिया था।

प्रजागरकृशः—जब किसी का किसी से लग जाता है, तो रात्रि में लाख प्रयत्न करने पर भी नींद नहीं आती है। नींद के अभाव में भूख नहीं लगती है और शरीर दुर्वल हो जाता है।

व्युत्पत्तिः—निभृतम्—नि+√भृ+क्त+विभक्तिः।

चिन्तनीयम्—√चिन्त्+अनीयर्+विभक्तिः।

सुकरम्—सु+√कृ+अप्+विभक्तिकार्यम्॥

अन्वयः—निशि निशि, भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिः, अन्तस्तापात्, अशिशिरैः, अश्रुभिः, विवर्णमणीकृतम्, मणिबन्धनात्, स्रस्तं स्रस्तम्, इदम्, कनकवलयम्, मया, अनभिलुलितज्याघाताङ्कम्, मुहुः, प्रतिसार्यते॥१०॥

शब्दार्थः—निशि निशि=प्रत्येक रात्रि में, भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिः=(दाहिनी) भुजा पर रक्खे गये नेत्र के कोण से बहनेवाले, अन्तस्तापात्=हार्दिक सन्ताप के कारण, अशिशिरैः=उष्ण, अश्रुभिः=आँसुओं से, विवर्णमणीकृतम्=धूमिल मणियों वाला, मणिबन्धात्=कलाई से, स्रस्तं स्रस्तम्=बार-बार सरका हुआ, इदम्=यह, कनकवलयम् =सुवर्ण का कङ्कण, मया=मेरे द्वारा, अनभिलुलितज्याघाताङ्कम्=प्रत्यञ्चा के आघात के चिह्नों को रगड़ से बचाते हुए, मुहुः=बार-बार, प्रतिसार्यते=यथास्थान पहुँचाया जाता है॥१०॥

टीका—इदमिति। निशि निशि=प्रतिरात्रम्, अनेनदर्शनात् प्रभृत्यद्य यावदेतत्

राजा—सचमुच ऐसा ही हो गया हूँ। जैसें कि—

प्रत्येक रात्रि में (बाईं) भुजा पर रक्खे गये नेत्र के कोण से बहनेवाले, हार्दिक सन्ताप के कारण उष्ण आँसुओं से धूमिल मणियोंवाला, कलाई से बार-बार सरका हुआ यह सुवर्ण का कङ्कण मेरे द्वारा, प्रत्यञ्चा के आघात के चिह्नों को रगड़ से बचाते हुए, बार-बार यथास्थान पहुँचाया जाता है ॥१०॥

प्रियंवदा—(सोचकर) सखी, इस (राजा) के लिये काम-पत्र (प्रेम-पत्र) लिखवाओ।

द्योतिता, भुजन्यस्तेति—भुजे = उपधानीकृते बाहौ, वामबाहौ इत्यर्थः, न्यस्तः = स्थापितः यः अपाङ्गः = नेत्रान्तस्तस्मात् = प्रसतुं शीलं येषां तैः प्रसारिभिः = प्रवर्तिभिः, निर्गलद्भिरिति यावत्, अन्तस्तापात् = मनसिजकृतात् मनस्तापात्, अशिशिरैः = उष्णैः, अश्रुभिः = नेत्रजलैः, विवर्णमणीकृतम्— विवर्णाः = निष्प्रभाः मणयः = रत्नानि यस्मिन् तत्, अथवा अविवर्णमणि विवर्णमणि संपादितं विवर्णमणीकृतम्, अनेनापि दीर्घकालमियमवस्था व्यज्यते, मणिबन्धनात्—मणेर्बन्धनमत्र मणिबन्धनम् = भुजस्य पाणेश्च सन्धिः तस्मात्, करमूलादिति यावत्, स्रस्तं स्रस्तम् = गलितं गलितम्, कार्श्यात् पाणिमूलमागतमिति यावत्, इदम् = एतत्, कनकवलयम् = सुवर्णकङ्कणम्, मया = दुष्यन्तेनेत्यर्थः, अनभिलुलितेत्यादि—अनभिलुलितः = अस्पृष्टः ज्यायाः = प्रत्यञ्चायाः आघातस्य = घर्षणस्य अङ्कः = चिह्नम् यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथा, मुहुः = वारं वारम्, प्रतिसार्यते = स्वस्थानं प्राप्यते ऊर्ध्वं नीयते वा। अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः। हरिणी च छन्दः ॥१०॥

टिप्पणी—इस श्लोक की अन्तिम दो पंक्तियों के अर्थ पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोगों का मत है कि राजा को रात्रि में नींद न आती थी। अतः वह उठ कर बैठ जाता था, तथा हथेली पर मुँह रख कर चिन्तामग्न हो जाता था। उसकी दुर्बलता इतनी बढ़ गई थी कि कलाई में पहना हुआ सुवर्ण-कंकण सरक कर कोहनी के पास तक आ जाता था। राजा फिर उसे यथास्थान स्थापित करता था। कलाई और कोहनी के बीच में प्रत्यञ्चा के घाव के चिह्न थे, दुर्बलता इतनी अधिक हो गई थी कि कंकण प्रत्यञ्चा के घाव को बिना छुये ऊपर-नीचे हो सकता था। हाथ पर मुंह रख कर राजा बैठा है। अतः हाथ ऊपर की ओर उठा हुआ है। किन्तु समग्र श्लोक को ध्यान में रखते हुए यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। विरही पुरुष रात्रि में नींद न आने पर करवटें बदलता है। ऊपर की दो लाइनें इसी भाव की ओर निर्देश करती हैं। कंकण तो चलते-फिरते भी नीचे की ओर आ जाता था। राजा फिर उसे यथास्थान करता था। यही मत शाकुन्तल के प्रसिद्ध टीकाकार राघव भट्ट का भी है। तर्कसंगत तथा प्राचीन विद्वानों को मान्य होने से ही यह अर्थ यहाँ अपनाया गया है।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार तथा हरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मताः' ॥१०॥

व्युत्पत्तिः—स्रस्तम्—√स्रंस् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥१०॥

तं सुमनोगोपितं कृत्वा देवप्रसादस्यापदेशेन तस्य हस्तं प्रापयि-ष्यामि। [हला, मअणलेहो से करीअदु। तं सुमणोगोवि-करिअ देवप्पसादस्सावदेसेण से हत्थअं पावइस्सं।]

अनसूया—रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः। किं शकुन्तला भणति। [रोअइ मे सुउमारो पओओ। किं सउन्दला भणादि।]

शकुन्तला—किं नियोगो वां विकल्प्यते। [किं णिओ-वो विकप्पीअदि।]

प्रियंवदा—तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय ताव-किमपि ललितपदबन्धनम्। [तेण हि अत्तणो उवण्णासपु-चिन्तेहि दाव किम्पि ललिअपदबन्धणं।]

शकुन्तला—हला, चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणाभी-पुनर्वेपते मे हृदयम्। [हला, चिन्तेमि अहं। अवहीरणाभी-पुणो वेवइ मे हिअअं।]

राजा—(सहर्षम्)

अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम्।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्॥११॥

शब्दार्थः—मदनलेखः = काम-पत्र, प्रेम-पत्र। सुमनोगोपितम् = फूलों से छिपा, पुष्पाच्छादित, देवप्रसादस्य = देवता के प्रसाद के, अपदेशेन = बहाने से। सुकुमार-कोमल, प्रयोगः = उपाय। नियोगः = आदेश। उपन्यासपूर्वम् = उल्लेखपूर्वक, ललित-बन्धनम् = मनोहर पद्य। अवधीरणाभीरुकम् = तिरस्कार से भयभीत॥

टीका—प्रियंवदेति। मदनलेखः = कामपत्रम्, सुमनोगोपितम्—सुमनोभिः गोपितम् = निगूहितम्, पुष्पैराच्छाद्येत्यर्थः, देवप्रसादस्य—देवस्य = विबुधस्य विबुध-प्रसादस्य, अपदेशेन = व्याजेन। सुकुमारः = सुकोमलः, प्रयोगः = उपायः। वि-

उसे फूलों से छिपा कर देवता के प्रसाद के वहाने से उस (राजा) के पास पहुँचा दूंगी।

अनसूया—मुझे यह कोमल उपाय पसन्द है। किन्तु शकुन्तला क्या कहती है (इसे पूछ लो)।

शकुन्तला—क्या तुम लोगों का आदेश टाला जा सकता है? (अर्थात् नहीं)।

प्रियंवदा—तो अपना उल्लेख करते हुए कोई सुन्दर पद्य सोचो।

शकुन्तला—सखी, मैं सोचती हूँ। किन्तु तिरस्कार से भयभीत (अर्थात् तिरस्कार के भयसे) मेरा हृदय काँप रहा है।

राजा—(प्रसन्नतापूर्वक)

हे डरपोक, जिससे (तुम) तिरस्कार की आशङ्का करती हो वही यह (व्यक्ति) तुम्हारे सङ्गम के लिये उत्कण्ठित खड़ा है। प्रार्थना करने वाला व्यक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करे अथवा न प्राप्त करे (किन्तु) लक्ष्मी के द्वारा चाहा गया व्यक्ति (लक्ष्मी के लिये) कैसे दुर्लभ हो सकता है? ॥११॥

आदेशः। उपन्यासपूर्वम् = उल्लेखपूर्वकम्, ललितपदवन्धम्—ललितः = सुन्दरः पदानाम् = पदावलीनाम्, सुप्तिङन्तानामित्यर्थः, वन्धम् = रचनाम्। अवधीरणाभीरुकम्—अवधीरणया = अवज्ञया, भीरुकम् = भीतम् ॥

अन्वयः—भीरु, यतः, अवधीरणाम्, विशङ्कसे, सः, अयम्, ते, सङ्गमोत्सुकः, तिष्ठति; प्रार्थयिता, श्रियम्, लभेत, वा, न, (लभेत, किन्तु), श्रिया, ईप्सितः, कथम्, दुरापः, भवेत् ॥११॥

शब्दार्थः—भीरु = हे डरपोक, यतः = जिससे, अवधीरणाम् = तिरस्कार की, विशङ्कसे = आशङ्का करती हो, सः = वही, अयम् = यह (व्यक्ति), ते = तुम्हारे, सङ्गमोत्सुकः = सङ्गम के लिये उत्कण्ठित, तिष्ठति = खड़ा है; प्रार्थयिता = प्रार्थना करने वाला व्यक्ति, श्रियम् = लक्ष्मी को, लभेत = प्राप्त करे, वा = अथवा, न = नहीं, (लभेत = प्राप्त करे, किन्तु = परन्तु), श्रिया = लक्ष्मी के द्वारा, ईप्सितः = चाहागया व्यक्ति, कथम् = कैसे, दुरापः = दुर्लभ, भवेत् = हो सकता है? ॥११॥

टीका—अयमिति। हे भीरु = हे भयशीले, यतः = यस्मान्मल्लक्षणाज्जनात्, अवधीरणाम् = तिरस्कारम्, विशङ्कसे = आशङ्कसे, सः अयम् = एषः, सोऽयमिति प्रत्यक्षेण निर्दिशति, ते = तव, सङ्गमोत्सुकः—सङ्गमे = समागमे उत्सुकः = उत्कण्ठितः सन्, तिष्ठति = स्थितो वर्तते। त्वत्प्रार्थितः कथं दुर्लभो भविष्यामीत्याशयः। प्रार्थयिता = याचकः पुरुषः, श्रियम् = लक्ष्मीम्, सम्पदमिति भावः, लभेत = प्राप्नुयात्, वेति विकल्पे, न = न लभेतेति भावः। कदाचित् कम्पदभिलाषिणः तल्लाभः स्यात् कदाचित् वा न स्यादिति भावः। किन्तु श्रिया = लक्ष्म्या, ईप्सितः = प्रार्थितः, कथम् = केन प्रकारेण, दुरापः = दुर्लभः, भवेत् = स्यात्। अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। वंशस्थं च छन्दः ॥११॥

टिप्पणी—प्रार्थयिता—लक्ष्मी को चाहनेवाला व्यक्ति उन्हें पा सकता और नहीं भी पा सकता है। ये दोनों ही बातें संभव हैं। किन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि लक्ष्मी जिस पर कृपा करके मिलना चाहें वह उन्हें न मिले, क्योंकि लक्ष्मी को पाने की अभिलाषा सभी रखते हैं।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार तथा वंशस्थ छन्द है। छन्द का लक्षण—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' ॥११॥

सख्यौ—अयि आत्मगुणावमानिनि, क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति [अयि अत्तगुणावमाणिणि, को दाणिं सरीरणिव्वावइत्तिं सारदिअं जोसिणिं पडन्तेण वारेदि।]

शकुन्तला—(सस्मितम्) नियोजितेदानीमस्मि [णिओइआ दाणिं म्हि।] (इत्युपविष्टा चिन्तयति।)

राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि। यतः—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥१२॥

व्युत्पत्तिः—दुरापः—दुर्+√आप्+खल्+विभक्तिः। ईप्सितः—√आप्+सन्+ +विभक्तिकार्यम् ॥११॥

शब्दार्थ :—आत्मगुणावमानिनि = अपने गुणों का अपमान (अवमूल्यन) करनेवाली शरीरनिर्वापयित्रीम् = शरीर के ताप का उपशमन करनेवाली, शारदीम् = शरत्काल की ज्योत्स्नाम् = चाँदनी को। नियोजिता = प्रेरित्त, लगाई गई। स्थाने = उचित अवसर पर, विस्मृतनिमेषेण = निर्निमेष ॥

टीका—आत्मगुणावमानिनि—आत्मनः स्वस्य गुणान् = शीलसौन्दर्यादीन् अवमन्यते = तिरस्करोतीति तत्सम्बोधने, त्वद्गुणैरेव स क्रीतः, अवधीरणाशङ्काऽपि क्वेति भावः। शरीरनिर्वापयित्रीम् = शरीरसुखदायिनीम्, शारदीम् = शरत्समयलालिताम्, ज्योत्स्नाम् = कौमुदीम्। नियोजिता = प्रेरिता, स्थाने = उचितेऽवसरे, विस्मृतनिमेषेण = निर्निमेषेण

टिप्पणी–आत्मगुणावमानिनि—शकुन्तला का हृदय दुष्यन्त के लिये कामपत्र लिखने में इसलिये भयभीत है कि कहीं उसे दुष्यन्त ठुकरा न दें। इस पर सखियाँ कह रही हैं—अरी तू पगली है। यह कह कर तूँ अपने गुणों का तिरस्कार कर रही है। वह तो तुम्हारे सौन्दर्य पर, शील पर तथा युवतिजनोचित हाव-भाव पर रीझ रहा है।

पटान्तेन वारयति—जिस प्रकार शारदी चाँदनी को वस्त्राञ्चल से रोकना पागलपन का द्योतक है, उसी प्रकार तुम्हारे प्रणय का तिरस्कार भी पागलपन ही होगा। जैसे प्रत्येक व्यक्ति शारदी चाँदनी के सेवन के लिये लालायित रहता है, उसी प्रकार भूमण्डल का प्रत्येक युवा व्यक्ति तुम्हारे सौन्दर्य भरे मतवाले यौवन के उपभोग के लिये उत्सुक रहा है ॥

दोनों सखियाँ—अरी अपने गुणों का अवमूल्यन करने वाली, भला सम्प्रति कौन व्यक्ति शरीर के ताप का उपशमन करने वाली शरत्कालीन चाँदनी को (अपने वस्त्र के) अञ्चल से रोकता है ? (अर्थात् कोई नहीं) ।

शकुन्तला—(मुस्कराकर) अब (तुम दोनों के द्वारा) नियुक्त होकर (काम में) लगती हूँ। (ऐसा कह कर बैठ कर सोचती है)

राजा—उचित अवसर पर निर्निमेष दृष्टि से प्रियतमा को देख रहा हूँ। क्योंकि—

(कविता के) पदों को रचती हुई इसका, उठाई गई एक भ्रूलता से युक्त, मुख रोमाञ्चित कपोल से मेरे प्रति अनुराग प्रकट कर रहा है ॥१२॥

व्युत्पत्तिः—नियोजिता—नि+√युज् + क्त+ टाप् + विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—पदानि, रचयन्त्याः, अस्याः, उन्नमितैकभ्रूलतम्, आननम्, कण्टकितेन, कपोलेन, मयि, अनुरागम्, प्रथयति ॥१२॥

शब्दार्थः—पदानि = पदों को, रचयन्त्याः = बनाती हुई, रचती हुई, अस्याः = इसका, उन्नमितैकभ्रूलतम् = उठाई गई एक भ्रूलता से युक्त, आननम् = मुख, कण्टकितेन = रोमाञ्चित, कपोलेन = कपोल से, मयि = मेरे प्रति, अनुरागम् = अनुराग को, प्रेम को, प्रथयति = प्रकट कर रहा है ॥१२॥

टीका—उन्नमितेति । पदानि = सुप्तिङन्तानि, रचयन्त्याः = विचिन्त्य योजयन्त्याः, अस्याः = एतस्याः युवत्याः, उन्नमितैकभ्रूलतम्—उन्नमिता = उत्क्षिप्ता एका = केवला भ्रूलता = भ्रुकुटिवल्ली यस्मिन् तादृशम्, आननम् = मुखम्, कण्टकितेन = रोमाञ्चितेन, कपोलेन = गण्डेन, जातावेकवचनम्, मयि = दुष्यन्ते, मयीति स्वस्याधिकरणत्वेन धन्यतां सुभगंमन्यतां च ध्वनयति, अनुरागम् = प्रीतिम्, प्रथयति = शंसति । आर्या छन्दः ॥१२॥

टिप्पणी—उन्नमितैक०—जब व्यक्ति किसी पद को या गणित के किसी समाधान को पूरी शक्ति से सोचने लगता है, उस समय उसकी एक भौंह ऊपर उठ जाती है। माथा सिकुड़ जाता है। देखने में यह एक सुन्दर अवस्था है ।

कण्टकितेन—जब कोई युवती अपने प्रियतम से सम्बद्ध किसी बात को सोचने लगती हैं, तब उसके कपोलों पर के नन्हें रोवें खड़े हो जाते हैं। इससे उस व्यक्ति का स्मरण किये जा रहे व्यक्ति के प्रति हार्दिक अनुराग सूचित होता है।

अनुरागम्—रति की छः अवस्थाएँ होती हैं। उनमें अनुराग का स्थान छठा है—"अङ्कुर-पल्लव-कालिका-प्रसून-फल-भोगभागियं क्रमशः । प्रेमा मानः प्रणयः स्नेहो रागोऽनुराग इत्युक्तः" ॥ (सुधाकर) ॥ सुधाकर में ही अनुराग का लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है—"राग एव स्वसंवेद्यदशाप्राप्त्या प्रकाशितः । यावदाश्रयवृत्तिश्चेदनुराग इतीरितः ॥"

शकुन्तला—हला, चिन्तितं मया गीतवस्तु । असंनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि । [हला, चिन्तिदं मए गीदवत्थु असण्णिहिदाणि उण लेहणसाहणाणि ।]

प्रियंवदा—एतस्मिन् शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु । [इमस्सिं सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णहेहिं णिक्खित्तवण्णं करेहि ।]

शकुन्तला—(यथोक्तं रूपयित्वा) हला, शृणुतमिदानीं संगतार्थं न वेति । [हला, सुणुद दाणिं सगदत्थं ण वेति]

उभे—अवहिते स्वः । [अवहिदे म्ह ।]

शकुन्तला—(वाचयति)

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रावपि ।
निर्घृण, तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथाया अङ्गानि ॥१३॥
[तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि
णिग्घिण तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइं अंगाइं ॥]

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या ॥१२॥

व्युत्पत्तिः—कण्टकितेन—कण्टक + इतच् + तृतीयैकवचने विभक्त्यादिकार्यम्।
अनुरागम्—अनु + √रञ्ज् + घञ् + विभक्त्यादिः ॥१२॥

शब्दार्थः—चिन्तितम् = सोच लिया गया, गीतवस्तु = गीत का भाव है। असन्निहितानि = अनुपस्थित हैं । शुकोदरसुकुमारे = शुक के उदर-भाग की सुकोमल, नलिनीपत्रे = कमललता के पत्र पर । अवहिते = सावधान ॥

टीका—शकुन्तलेति । चिन्तितम् = विचारितम्, गीतवस्तु-गीतस्य वस्तु = उपा... असन्निहितानि = अनुपस्थितानि । शुकोदरसुकुमारे—शुकस्य = कीरस्य उदरम् = ... भागः इव सुकुमारम् = सुकोमलम् तत्र, नलिनीपत्रे = कमलिनीदले । अवहिते = दत्तावधाने...

अन्वयः—निर्घृण, तव, हृदयम्, न, जाने; (किन्तु) त्वयि, वृत्तमनोरथायाः पुनः, अङ्गानि, मदनः, दिवा, अपि, रात्रौ, अपि, बलीयः, तपति ॥१३॥

शब्दार्थ :—निर्घृण = हे निर्दय, तव = तुम्हारे, हृदयम् = हृदय को, न = ... जाने = जानती, (कन्तु = किन्तु), त्वयि = तुम्हारे उपर, वृत्तमनोरथायाः = उत्पन्न...

शकुन्तला—सखी, मेरे द्वारा गीत का भाव आदि सोच लिया गया है। किन्तु लेखन की सामग्री यहाँ उपस्थित नहीं है।

प्रियंवदा—शुक के उदर-भाग की तरह सुकोमल कमललता के इस पत्र पर नखों से अक्षरों को अङ्कित कर दो।

शकुन्तला—(पूर्वकथन के अनुसार लिखने का अभिनय करके) सखियों सुनो, अब यह उचित अर्थवाली वनी है अथवा नहीं।

दोनों—हम (सुनने के लिये) सावधान हैं।

शकुन्तला—(बाँचती है)

हे निर्दय (मैं) तुम्हारे हृदय को नहीं जानती, किन्तु तुम्हारे ऊपर उत्पन्न अभिलाषा वाली मेरे तो अङ्गों को कामदेव दिन-रात प्रवल रूप से तपा रहा है ॥१३॥

लाषा वाली, मम = मेरे, पुनः = तो, अङ्गानि = अङ्गों को, मदनः = कामदेव, दिवा = दिन में, अपि = भी, रात्रौ = रात में, अपि = भी, वलीयः = प्रवलरूप से, तपति = तपा रहा है ॥१३॥

टीका—तवेति। हे निर्घृण—निर्गता = दूरीभूता घृणा = कृपा यस्मात् सः तत्सम्बुद्धौ, हे निष्कृप ! तव = भवतः, हृदयम् = चेतः, न जाने = न वेद्मि, (किन्तु = परन्तु), त्वयि = भवति, वृत्तमनोरथायाः—वृत्ताः = जाताः मनोरथाः = अभिलाषाः यस्याः सा, मम = शकुन्तलायाः, पुनः = तु, अङ्गानि = अवयवान्, मदनः = कामः, दिवा = दिने, अपि = च, रात्रौ = निशि, अपि = च, वलीयः = अत्यर्थम्, तपति = तापेन योजयति। अत्रार्थापत्तिः श्लेषश्चालङ्कारौ। उद्गाथा छन्दः ॥ १३ ॥

राघवभट्टास्त्वस्य श्लोकस्येमां व्याख्यां कुर्वन्ति—तुज्झेति। तव न जाने हृदयम्, मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि। निर्घृण निष्कृप ! तापयत्यधिकम्। त्वयि वृत्तमनोरथानीति हेतुत्वेन योज्यम्। अङ्गानीति बहुवचनेन मार्दवातिशयो ध्वन्यते। तव हृदयमिति विशेषोपादानात्स्वस्योत्कण्ठातिशयस्तस्य तदभावो ध्वन्यते। अथ च रक्तं तापयति तदा न जाने किमयं यद्यप्येतादृशतापेऽपि न द्रवति। एतदनुसंधायैव निष्कृपेति संबुद्धिः। सा चेत्स्याद्द्रुतमेव स्यात्तत्स्वभावत्वात्तस्या इति दुःखात्परुषोक्तिः। अर्थापत्त्यलंकारः। अथ च 'हृदयं मानसोरसोः' इति विश्वः। तेन तव हृदयं गोपुरकपाटायमानं रिपुदनुजनिवहशरशतैरप्यभेद्यमेवंभूतमहं न जाने, अपि तु जाने; आप्तजनवचनात्। अत एव मेऽङ्गानि सर्वाणि दिवापि रात्रावपि तापयति कामः तव तु वक्षोमात्रमपि न तापयितुं शक्तः। यदि तापयेत्तदा निर्घृण निर्जुगुप्स ! निदाघसमयशीतलतरमत्कुचपरिरम्भणायागच्छेः। 'घृणा जुगुप्साकृपयोः' इति विश्वः। तादृशं तव वक्ष आलिङ्गितुमिच्छामीत्यभिलाषोक्तिः। अनुमानालंकारः। अयं मल्लक्षणो जनस्तव हृद्धृदयरूपः। रूपकम्। कामः पुनर्ममाङ्गानि यत्तापयति तन्न जान इति प्रश्नकाकुः, वृथैव तापयतीत्यर्थः। ते स्प्रष्टुमप्यशक्येति भावः। समासोक्तिः। त्वं त्वेतादृशो निष्कृपो यद्धृदयरूपामपि मां न परित्रायसे। अथ चायं जनस्तव हृत्कामः

राजा—(सहसोपसृत्य)

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमद्वतीं दिवसः॥१३॥

सख्यौ—(विलोक्य सहर्षमुत्थाय) स्वागतमविलम्बि मनोरथस्य। [साअदं अविलम्बिणो मणोरहस्स।]

(शकुन्तलाऽभ्युत्थातुमिच्छति।)

पुनर्ममाङ्गानि यत्तापयति तदहं न जाने, अपि तु जाने, त्वत्कान्तिजित इत्यर्थः। तेन ... कठोरत्वात्तापयितुं शक्तो न। अतस्तद्रूपाया ममाङ्गानि तापयतीति भाव इति ... प्रत्यनीकालंकारः। 'प्रतिपक्षप्रतीकाराशक्तौ तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकम्' इति तल्लक्षणं। त्वं त्वेतादृशो निर्घृणो यस्त्वदर्थे पीडचमानामपि मां न रक्षसीति। अथ च त्वयि ... वृत्ता जाता मनोरथा येषां तानि। आलिङ्गनं भुजयोर्मनोरथः, त्वत्कान्तिझरप्रवाह... चक्षुषोः, त्वद्वचनामृतसरसीनिमज्जनं च श्रवणयोः, त्वन्मुखसरोजश्वासाघ्राणं ... शशाङ्ककोमलत्वादङ्कारोहणं नितम्बस्य, त्वत्करतलमेलनं कुचयोरित्यादि। एवंभूत... थानि ममाङ्गानि कामोऽधिकं तापयति। त्वं त्वेवं निष्कृपो यत्स्वभक्तान्येवं परेण ... नान्यपि सहसे तत्तव हृदयं न जाने क्षत्रहृदयमिति न जाने। परैः पीडचमानं ... प्रत्रिायते, स्वभक्तं तु सुतरामित्युपालम्भः। कामो ममाङ्गान्यत्यर्थमधिकं तापयति ... पुनर्हृदयमत्यर्थं न तापयतीत्यहं जाने। यतस्त्वं दिवसे निष्कृपो लोकादिभयात्। एवं ... वपि निष्कृपोऽसि यदभिसरणं नाकार्षीरिति चोपालम्भः। अथ च त्वं तु केनापि ... व्यवहरसीति तव हृदयं लक्षणया हृदयाभिप्रायं न जाने। कामः पुनर्मम ... सुहृदिति भावः। यत्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि तापयति किमिति तस्मिन्नीदृशे ... रक्तासीति तापं दुःखं दत्त्वा शिक्षयतीति वोपालम्भः। एवमकृतार्थरति ... पालम्भदानादुन्मादावस्थाप्युक्ता। अथ च निश्चयेन कृपा यस्य तस्य संबोधनं कृपालो! यस्त्वमङ्गुलीयकं दत्त्वा सख्याः सकाशान्मां मोचितवानसि तस्य तव हृदयं न जाने। अपि तु जानेऽत्यन्तं दयाशीलमिति। 'निर्निश्चयनिषेधयोः' इत्यमरः। पुनर्मदीयं हृदयं न जाने। तत्तु त्वयि वर्तते। तदभावाद्धृदयशून्याहं वर्त इति ... केवलं तदेव त्वयि गतमिति न; अपि त्वङ्गान्यपि त्वयि जातमनोरथानि। केवलम... वेति न; अपि तु कामोऽभिलाषोऽपि त्वयि विषये दिने रात्रावधिकं तपति वर्धते ... 'कामः स्मरेऽभिलाषे च' इति विश्वः। इत्यनुनयोक्तिः। तेन मदीयं बाह्यमा... किंचिदपि मत्संबद्धमिति शीघ्रमागच्छेति भावः। श्लेषानुप्रासौ। क्वचित्। 'रत्ति ... पाठः। तदा रात्रिमपीत्यर्थः। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा. २।३।५) इति ... 'णिग्घिण' इत्यनेन वज्राङ्गमुपक्षितम्—'विरूक्षवचनं यत्तु वज्रमित्यभिधीयते' ... भरतोक्तेः। लेखनामकं संध्यङ्गमुपक्षिप्तम्। तल्लक्षणं तु—'विवक्षितार्थकलिता ... लेख उच्यते' इति॥ १३॥

राजा—(अचानक पास में जाकर)

हे कृशाङ्गी, कामदेव रात-दिन तुम्हें तपा रहा है, (किन्तु) मुझे तो भस्म ही कर रहा है। दिन जिस प्रकार चन्द्रमा को प्रभा-हीन करता है, उस प्रकार कुमुदिनी को, निश्चय ही नहीं (प्रभाहीन करता) ॥ १४ ॥

दोनों सखियाँ—(देखकर प्रसन्नतापूर्वक उठकर) विलम्ब न करनेवाले मनोरथ (रूप आप)का स्वागत है।

(शकुन्तला उठकर खड़ी होना चाहती है)

टिप्पणी—इस श्लोक में अर्थापत्ति तथा श्लेष अलङ्कार तथा उद्गाथा छन्द हैं। छन्द का लक्षण—यह आर्या छन्द का ही एक भेद है। अतः आर्या का ही लक्षण देखें ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे तनुगात्रि, मदनः, अनिशम्, त्वाम्, तपति, (किन्तु), माम्, पुनः, दहति, एव; दिवसः, यथा, शशाङ्कम्, ग्लपयति, तथा, कुमुद्वतीम्, हि, न ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—हे तनुगात्रि = हे कृशाङ्गी, मदनः = कामदेव, अनिशम् = रात-दिन, त्वाम् = तुम्हें, तपति = तपा रहा है; (किन्तु = परन्तु), माम् = मुझे, पुनः = तो, दहति = भस्म कर रहा है; एव = ही, दिवसः = दिन, यथा = जिस प्रकार, शशाङ्कम् = चन्द्रमा को, ग्लपयति = क्षीण बनाता है, प्रभाहीन करता है, तथा = उस प्रकार, कुमुद्वतीम् = कुमुदिनी को, हि = निश्चय ही, न = नहीं (प्रभाहीन करता) ॥ १४ ॥

टीका—तपतीति। हे तनुगात्रि = हे कृशाङ्गि, मदनः = कामः, अनिशम् = रात्रिन्दिवम्, त्वाम् = भवतीं, शकुन्तलामित्यर्थः, तपति = तापमात्रेण पीडयति, (किन्तु = परन्तु), माम् = त्वदनुरागावलम्बनं त्वद्गतहृदयं दुष्यन्तमित्यर्थः, पुनः = तु, दहति = भस्मीकरोत्येवेति दार्ढ्यं; अत्रोदाहरति—दिवसः = दिनम्, यथा = येन प्रकारेण, शशाङ्कम् = चन्द्रमसम्, ग्लपयति = तेजोहीनं करोति, तथा = तेन प्रकारेण, कुमुद्वतीम् = कुमुदिनीम्, हीति निश्चये, न = न ग्लपयतीति भावः। अत्र वाक्ययोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावात् दृष्टान्तालङ्कारः। आर्याजातिस्तु छन्दः ॥ १४ ॥

टिप्पणी—**तपति**—यहाँ तपति और दहति इन दोनों शब्दों का प्रयोग साभिप्राय है। दोनों के अर्थ में महान् भेद है। दुष्यन्त के कहने का भाव यह है कि—कामदेव तो तुझे मेरे लिये तपा भर रहा है किन्तु मुझे तो तेरे लिये जलाकर विनष्ट ही कर रहा है। अर्थात् तुम्हारे बिना अब मैं बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता।

ग्लपयति—कुमुदिनी और चन्द्रमा में प्रगाढ़ प्रेम होता है। कुमुदिनी चन्द्रमा के बिना प्रसन्न रह ही नहीं सकती। दिन कुमुदिनी को कुम्हला भर देता है, पर चन्द्रमा का तो अस्तित्व ही समाप्त कर देता है। यहाँ राजा चन्द्रमा, शकुन्तला कुमुदिनी तथा काम दिन के सदृश बतलाया गया है।

यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार तथा आर्याजाति छन्द है ॥ १४ ॥

राजा—अलमलमायासेन।

सन्दष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि।
गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति॥१५॥

अनसूया—इतः शिलातलैकदेशमलंकरोतु वयस्यः [इदो सिलातलेक्कदेसं अलंकरेदु वअस्सो।]

(राजोपविशति। शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति।)

प्रियंवदा—द्वयोरपि युवयोरन्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः सखीस्नेहः पुनर्मां पुनरुक्तवादिनीं करोति। [दुवेणं वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो। सहीसिणेहो उण पुणरुत्तवादिणिं करेदि।]

राजा—भद्रे, नैतत् परिहार्यम्। विवक्षितं ह्यनु- मनुतापं जनयति।

व्युत्पत्तिः—कुमुद्वतीम्—कुमुद + मतुप् + विभक्त्यादिकार्यम्॥१४॥

शब्दार्थः—विलोक्य = देखकर, अविलम्बिनः = विलम्ब न करनेवाले, करनेवाले, मनोरथस्य = अभिलाष का॥

टीका—सख्याविति। विलोक्य = दृष्ट्वा, अविलम्बिनः = विलम्बम् चिन्ताकाल एवोपस्थितस्येति यावत्, मनोरथस्य = अभिलाषस्य॥

अन्वयः—सन्दष्टकुसुमशयनानि, आशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि, गुरुपरितापानि, गात्राणि, उपचारम्, न, अर्हन्ति॥१५॥

शब्दार्थः—सन्दष्टकुसुमशयनानि = पुष्प-शय्या को चिपकाये हुए, आशु विसभङ्गसुरभीणि = तत्काल मुरझाए हुए कमलनाल के टूटने से सुगन्धित परितापानि = अत्यन्त सन्तप्त, ते = तुम्हारे, गात्राणि = अङ्ग, उपचारम् = व्यवहार के, शिष्टाचार के, न = नहीं, अर्हन्ति = योग्य हैं॥१५॥

टीका—संदष्टेति—सन्दष्टेत्यादिः—सम्यक् दष्टम् = लग्नम् कुसुमानाम् = णाम् शयनीयम् = शय्या येषु तानि तादृशानि, आशुक्लान्तेति—आशु = क्लान्तः = म्लानः बिसभङ्गः = कमलनालविच्छेदः तद्वत्तेन वा सुरभीणि = सु- अत्र शीघ्रत्वं च भङ्गापेक्षया, तेन तात्कालिकक्लान्तत्वमुक्तम्, गुरुपरितापानि— महान् परितः = सर्वतः तापः = सन्तापः येषु तानि, ते = तव, भवत्याः, गात्राणि अवयवाः, ('गात्रमङ्गं कलेवरे' इति विश्वः) उपचारम् = अभ्युत्थानादिशिष्टा- चरणम्, न अर्हन्ति = कर्तुं न शक्नुवन्ति। "भङ्गः क्रिया तस्याः कथं क्लान्ति

राजा—कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है—

पुष्प-शय्या को चिपकाये हुए, तत्काल मुरझाए हुए कमलनाल के टूटने से सुगन्धित, अत्यन्त सन्तप्त तुम्हारे अङ्ग शिष्टाचार के योग्य नहीं हैं ॥ १५ ॥

अनसूया—इस ओर शिलातल के एक भाग को सुशोभित करें प्रियमित्र (आप)।

(राजा बैठ जाता है। शकुन्तला लजाई हुई बैठी रहती है।)

प्रियंवदा—आप दोनों का परस्पर प्रेम प्रत्यक्ष ही है। फिर भी सखी के प्रति स्नेह मुझे प्रकट बात को फिर से कहने के लिये प्रेरित कर रहा है।

राजा—भलीमानस, इसे रोकना नहीं चाहिए। क्योंकि जिस बात को हम कहना चाहते हैं वह यदि न कही जाय तो पश्चात्ताप को पैदा करती है।

ना शङ्कनीयम्। क्रियया तद्वान् पदार्थो लक्ष्यते।" इति राघवभट्टकृता व्याख्या। अत्र काव्यलिङ्ग परिकरश्चालङ्कारौ। आर्या छन्दः ॥ १५ ॥

टिप्पणी—संदष्ट—संदष्ट—का अर्थ है—लगी हुई, सटी हुई। शकुन्तला का समग्र शरीर कामाग्नि से जल रहा है। वह फूलों की सेज पर लेटी हुई है। शरीर की गर्मी से मुरझाकर पुष्पशय्या के फूल उसके पूरे शरीर में सट गये हैं।

सुरभीणि—कमलनाल भी शय्या पर बिछा है। वह भी शीघ्र ही मुरझाकर टूट रहा था। उसके रस से शकुन्तला के सभी अङ्ग सुगन्धित हो गये हैं।

उपचारम्—किसी के आने पर उठ कर अगवानी करना, सम्मान के लिये खड़े रहना, स्वागत में लगना आदि शिष्ट व्यक्ति के व्यवहार उपचार कहे जाते हैं।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग तथा परिकर अलङ्कार तथा आर्या छन्द है ॥ १५ ॥

व्युत्पत्तिः—सन्दष्टम्—सम् + √ दंश + क्त + विभक्तिकार्यम्। उपचारम्—उप √ चर् + घञ् + विभक्तिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—इतः = इस ओर, अलङ्करोतु = सुशोभित करें, वयस्यः = प्रिय मित्र। अन्योन्यानुरागः = परस्पर का प्रेम, आपसी अनुराग, प्रत्यक्षः = सामने है। उक्तवादिनीम् = कही हुई बात को कहने वाली, प्रकट बात को फिर से कहने के लिये प्रेरित। परिहार्यम् = रोकने योग्य, रोकना चाहिए। विवक्षितम् = कहने के लिये अभीष्ट, जिस बात को हम कहना चाहते हैं वह, अनुक्तम् = न कही जाय, अनुतापम् = पश्चात्ताप को ॥

टीका—अनसूयेति—इतः = अस्यां दिशि, अलङ्करोतु = सुशोभितं करोतु, वयस्यः = प्रियमित्रः वयस्यायामनुरागभावनाभावादत्र वयस्यत्वं बोध्यम्। अन्योन्यानुरागः = अन्यस्य अन्यस्य अन्यस्मिन् अन्यस्मिन् वा अनुरागः = स्नेहः इति अन्योन्यानुरागः = परस्परस्नेहः, प्रत्यक्षः = स्पष्टः। उक्तवादिनीम् = कथितस्य कथने तत्पराम्, पिष्टपेषणकर्त्रीमित्यर्थः। परिहार्यम् = वर्जनीयम्। विवक्षितम् = वक्तुमिष्टं वस्तु, अनुक्तम् = अकथितम्, अनुतापम् = पश्चात्तापम् ॥

टिप्पणी—वयस्यः—दुष्यन्त और शकुन्तला एक-दूसरे पर अनुरक्त हैं। शकुन्तला

प्रियंवदा—आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिह राज्ञा भवितव्यमित्येष वो धर्मः । [आवण्णस्स वि णिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वं त्ति एसो धम्मो ।]

राजा—नास्मात् परम् ।

प्रियंवदा—तेन हीयमावयोः प्रियसखी त्वामुद्दि दमवस्थान्तरं भगवता मदनेनारोपिता । तदर्हस्यभ्युप जीवितमस्या अवलम्बितुम् । [तेण हि इअं णो पिअसही उद्दिसिअ इमं अवत्थन्तरं भअवता मअणेण आरोविदा। अरुहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलम्बिदुं ।]

राजा—भद्रे, साधारणोऽयं प्रणयः । सर्वथ गृहीतोऽस्मि ।

शकुन्तला—(प्रियंवदामवलोक्य) हला, किमन्त विरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन । [हला, किं अन्त विरहपज्जुस्सुअस्स राएसिणो उवरोहेण ।]

राजा—

इदमनन्यपरायणमन्यथा

हृदयसन्निहिते हृदयं मम ।

यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे

मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥१६॥

अनसूया और प्रियंवदा सखियाँ हैं । लोक में सखी (वयस्या) का प्रेमी अथवा वयस्य कहा जाता है । यही कारण है कि अनसूया राजा को वयस्य कह रही है।

व्युत्पत्तिः—अनुरागः—अनु+√रञ्ज्+घञ्+विभक्तिः ।

उक्तवादिनीम्—उक्त+√वद्+णिनि+विभक्तिकार्यम् ।

विवक्षितम्—√ब्रू+सन्+क्त+विभक्तिकार्यम् ॥

शब्दार्थः—आपन्नस्य=आपत्तिग्रस्त, दुःखी, विषयनिवासिनः=राज्य में करनेवाले, आर्तिहरेण=दुःख को दूर करनेवाला, वः=आप लोगों का; राजा परम्=श्रेष्ठ । मदनेन=कामदेव के द्वारा, आरोपिता=प्राप्त कराई गई है। अर्ह योग्य हो, अभ्युपपत्त्या=अनुग्रह के द्वारा ।

प्रियंवदा—राजा को राज्य में निवास करनेवाले आपत्तिग्रस्त व्यक्ति के दुःख को दूर करनेवाला होना चाहिए—यह आप राजाओं का कर्तव्य है।

राजा—इससे बड़ा और कुछ (राजा का कर्तव्य) नहीं है।

प्रियंवदा—तो निश्चय ही हम लोगों की यह प्रिय सखी आपको ही उद्देश्य करके इस शोचनीय अवस्था को भगवान् कामदेव के द्वारा प्राप्त कराई गई है। तो अनुग्रह करके इसके जीवन को सहारा देने के लिये आप योग्य हो (अर्थात् आप अनुग्रह करके इसके जीवन की रक्षा करें)।

राजा—भलीमानन, यह प्रेम (दोनों ही ओर से) समान है। मैं सर्वथा (आप लोगों का) अनुगृहीत हूँ।

शकुन्तला—(प्रियंवदा की ओर देखकर) सखी, अन्तःपुर की स्त्रियों के विरह से उत्कण्ठित राजर्षि को रोकने से क्या लाभ ? (अर्थात् उनको क्यों रोकती हो ?)

राजा—हे मादक नेत्रोंवाली, हे मेरे हृदय में विराजमान (प्रिये), एकमात्र तुम्हारे में ही आसक्त इस मेरे हृदय को यदि (तुम) कुछ दूसरा ही समझती हो (तो) कामदेव के बाणों से मारा हुआ (मैं) फिर मार डाला गया हूँ (अर्थात् मार डाला जाऊँगा)॥ १६॥

टीका—प्रियंवदेति। आपन्नस्य=आपत्प्राप्तस्य, विवद्गतस्येत्यर्थः, विषयनिवासिनः—विषयस्य=स्वाधिकारे, स्वराज्य इति यावत्, निवसति=वसति यस्तस्य, जनस्य=लोकस्य, आर्तिहरेण=पीडाहरेण, विपद्विनाशिना, वः=युष्माकं राज्ञामित्यर्थः। परम्=श्रेष्ठम्। मदनेन=कामेन, आरोपिता=गमिता, प्रापितेत्यर्थः। अर्हसि=योग्योऽसि, अभ्युपत्त्या=अनुग्रहेण।

व्युत्पत्तिः—**आपन्नस्य**—आ+√पद्+क्त+विभक्त्यादिकार्यम्।

अभ्युपपत्त्या—अभि+उप+√पद्+क्तिन्+विभक्तिः।

शब्दार्थः—साधारणः=समान, प्रणयः=प्रेम। अनुगृहीतः=अनुकम्पित। अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य=अन्तःपुर की स्त्रियों के विरह से उत्कण्ठित, उपरोधेन=रोकने से।

टीका—राजेति। साधारणः=सामान्यः, अयं प्रणयः=प्रार्थना। आवयोः प्रणयः समान इति भावः। अन्तःपुरविरहेत्यादिः—अन्तःपुरैः=लक्षणया तत्स्थितैः कलत्रैः यो विरहः=वियोगः तेन पर्युत्सुकस्य=उत्कण्ठाकातरस्य, उपरोधेन=अनुरुद्धेन। शकुन्तलयाऽनेनात्मनोऽतिशयितं सौभाग्यं ध्वनितम्।

टिप्पणी—**राजर्षेरुपरोधेन**—'राजा हमारी ओर आकृष्ट है'—इस बात को जानकर ही शकुन्तला का यह कथन है। इससे वह अपने सौभाग्य की सूचना दे रही है और साथ ही साथ वह राजा की मनोभावना भी जानना चाहती है।

व्युत्पत्तिः—**अनुगृहीतः**—अनु+√ग्रह्+क्त+विभक्त्यादिः।

उपरोधेन—उप+रुध्+घञ्+तृतीयैकवचने विभक्तिकार्यम्।

अन्वयः—हे मदिरेक्षणे, हे हृदयसन्निहिते, अनन्यपरायणम्, इदम्, मम, हृदयम्, यदि, अन्यथा, समर्थयसे, (तर्हि), मदनबाणहतः, (अहम्), पुनः, हतः, अस्मि॥ १६॥

शब्दार्थः—हे मदिरेक्षणे=हे मादक नेत्रों वाली, हे हृदयसन्निहिते=हे मेरे हृदय में

अनसूया—वयस्य, बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वाहय। [वअस्स, बहुवल्लहा राआणो सुणीअन्ति। जह णो पिअसही बन्धुअणसोअणिज्जा ण होइ तह णिव्वाहेहि।]

राजा—भद्रे, किं बहुना।

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥१७॥

विराजमान, अनन्यपरायणम्=एकमात्र तुम्हारे में ही आसक्त, इदम्=इस, मम=मेरे हृदयम्=हृदय को, यदि,=अन्यथा=उलटा, कुछ दूसरा, समर्थयसे=समझती हो (तर्हि=तो), मदनबाणहतः=कामदेव के बाणों से मारा हुआ, (अहम्=मैं), पुनः फिर, हतः=मार डाला गया, अस्मि=हूँ॥ ॥ १६ ॥

टीका—इदमिति। हे मदिरेक्षणे—मदिरे=मादके ईक्षणे=लोचने यस्याः तत्सम्बुद्धौ, हे मत्तखञ्जननेत्रे वा, हे चारुचञ्चलोचने वा, हे हृदयसन्निहिते—हृदये चेतसि सन्निहिता=उपस्थिता तत्सम्बुद्धौ, हे मन्मनोवर्तिनि, अनन्यपरायणम्—अन्यत्=इतरत् त्वत्त इति भावः परम् अयनम्=आश्रयः यस्य तथाभूतम्, त्वदेकपरायणमित्यर्थः, इदम्=एतत्, मम=मदीयम्, हृदयम्=चेतः, यदि=चेत्, अन्यथा=भिन्नम्, त्वदन्यपरायणमितिभावः, समर्थयसे=सम्भावयसि, तर्हीति शेषः, मदनबाणहतः—मदनस्य कामस्य बाणेन=शरेण हतः=विद्धः, अहमिति शेषः, पुनः=भूयः, हतः=मृतः, अस्मि=वर्ते। अत्र काव्यलिङ्गं परिकरो लाटानुप्रासश्चालङ्काराः। द्रुतविलम्बितं वृत्तम्॥ १६ ॥

टिप्पणी—मदिरेक्षणे—मदिरा शब्द के कई अर्थ होते हैं—१—मदिरा=शराब, अतः इसका लाक्षणिक है—मादक, देखनेवालों को आकृष्ट करनेवाली। २—मदिरा शब्द का पारिभाषिक अर्थ है—पतली, लम्बी, विकसित अपाङ्गवाली चञ्चल दृष्टि। नाट्यशास्त्र में कहा भी गया है—'आघूर्णमानमध्या या, क्षामा चाञ्चिततारका। विकसितापाङ्गा मदिरा तरुणे मदे॥' हेमाद्रि ने रघुवंश ८।६८ की अपनी टीका में संगीतकलिका का श्लोक मदिरा के लक्षण के रूप में इस प्रकार उद्धृत किया है—'... नापरित्यक्ता स्मेरापाङ्गमनोहरा। वेपमानान्तरा दृष्टिर्मदिरा परिकीर्तिता॥' ३—मदिरा मतवाले खञ्जन का नाम है। ('मदिरा मत्तखञ्जनः' इति शब्द रत्नावली)। अतः मदिरा का अर्थ हुआ—मत्त खञ्जन के समान नेत्रवाली।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग, परिकर और लाटानुप्रास अलङ्कार है। यहाँ छन्द का नाम है—द्रुतविलम्बित। छन्द का लक्षण—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ'।

अनसूया—मित्र, राजा लोग वहुत सी प्रेयसियों से युक्त सुने जाते हैं। तो हम लोगों की (यह) प्रिय सखी, जिस प्रकार भाई-बन्धुओं के लिये शोक का कारण न बने वैसा निर्वाह करना।

राजा—भलीमानस, अधिक कहने से क्या (लाभ) ?

स्त्रियों के अधिक होने पर भी मेरे कुल के दो प्रतिष्ठा के कारण हैं—सागररूप मेखलावाली पृथिवी तथा आप दोनों की यह सखी ॥ १७ ॥

व्युत्पत्तिः—मदिरा—√मद्+किरच् (इर)+टाप्=मदिरा।

हतः—√हन्+क्त+विभक्त्यादिकार्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—वहुवल्लभाः = वहुत सी प्रेयसियों से युक्त, नौ = हम लोगों की; बन्धुजनशोचनीया = भाई—वन्धुओं के लिये शोक का कारण, निर्वाह्य = निभाना ॥

टीका—अनसूयेति। वहुवल्लभाः—बह्व्यः = अनेकाः वल्लभाः = प्रेयस्यः येषां ते तादृशाः, नौ = आवयोः, बन्धुजनशोचनीया—बन्धुजनैः = पित्रादिभिः शोचनीया = शोच्या, पित्रादीनां शोकस्य कारणभूतेत्यर्थः, निर्वाह्य = निर्वर्त्य।

टिप्पणी—बन्धुजनशोचनीया—प्रत्येक लड़की के माता-पिता यही चाहते हैं कि मेरी प्यारी बेटी अपने पति के हृदय की स्वामिनी बने। यह तभी सम्भव हो सकता है जब उसके पति की और कोई प्रेयसियाँ न हों। यदि ऐसा नहीं है तो लड़की और उसके माता-पिता आदि को अपार कष्ट होता है। सुना जाता है प्राचीनकाल में राजाओं की वहुत सी रानियाँ होती थीं। ऐसी स्थिति में वे किसी एक को अपना हृदय न दे पाते थे। इसी वात की ओर अनसूया निर्देश कर रही है।

अन्वय :—परिग्रहबहुत्वे, अपि, मे, कुलस्य, द्वे, प्रतिष्ठे, (स्तः); समुद्ररसना, उर्वी, च, युवयोः, इयम्, सखी, च ॥१७॥

शब्दार्थः—परिग्रहबहुत्वे = स्त्रियों के अधिक होने पर, अपि = भी, मे = मेरे, कुलस्य = कुल के, द्वे = दो, प्रतिष्ठे = प्रतिष्ठा (के कारण), (स्तः = हैं); समुद्ररसना = सागररूप मेखलावाली, उर्वी = पृथिवी, च = तथा, युवयोः = आप दोनों की, इयम् = यह, सखी = सखी, च = भी ॥ १७ ॥

टीका—परिग्रहेति। परिग्रहबहुत्वे—परिग्रहाणाम् = पत्नीनाम् बहुत्वे = बाहुल्ये, ('परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयोः' इति विश्वः), अपि = च, मे = मम, राज्ञो दुष्यन्तस्येत्यर्थः, कुलस्य = वंशस्य, द्वे प्रतिष्ठे = प्रतिष्ठाहेतू, स्त इति शेषः। "तत्रोर्वी-प्रतिष्ठाहेतुर्गौरवहेतुश्चतुरुदधिमेखलायास्तस्या आचन्द्रार्कं तद्वंशेन पालनीयत्वात्। सखी प्रतिष्ठाहेतुः स्थितिहेतुरस्यां महाचक्रवर्तिवंशोत्पादकपुत्रोत्पादादिति द्वे अपि प्रतिष्ठे अतिशयोक्त्यैकत्वेनाध्यवसिते इत्यवधेयम्।" इति राघवभट्टकृतार्थद्योतनिकाव्याख्या। ("प्रतिष्ठा गौरवे स्थितौ" इतिहैमः)। के द्वे इत्यत आह—समुद्ररसना—समुद्रः = सागरः एव रसना = मेखला यस्याः सा तादृशी, सागरपरिवृतेति भावः, समुद्रवसनेति पाठे तु—समुद्र

उभे—निर्वृते स्वः। [णिव्वुदे ह्म]

प्रियंवदा—(सदृष्टिक्षेपम्) अनसूये, यथैष इतो दत्त-दृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति। एहि, संयोजयाव एनम्। [अणसूए, जह एसो इदो दिण्णदिट्ठी उत्सुओ मिअ-पोदओ मादरं अण्णेसदि। एहि, संजोएम णं।] (इत्युभे प्रस्थिते)

शकुन्तला—हला, अशरणाऽस्मि। अन्यतरा युवयो-रागच्छतु। [हला, असरणा म्हि। अण्णदरा वो आअच्छदु।]

उभे—पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते। [पुहवीए जो सरणं सो तुह समीवे वट्टइ।] (इति निष्क्रान्ते)

शकुन्तला—कथं गते एव। [कहं गदाओ एव्व]

राजा—अलमावेगेन। नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते।

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्
संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः।
अङ्के निधाय करभोरु यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ॥१८॥

वसनम् = आच्छादनम् अवधित्वेन यस्याः सा, उर्वी = पृथिवी, च = तथा, युव-भवत्योः, मुद्रया सहिता समुद्रा रसना = जिह्वा यस्याः सा तादृशी, मौनमास्थितेत्यर्थः। अथवा मुद्राभिः = रत्नैः सहिता समुद्रा = रत्नखचिता रसना = का-यस्याः सा तादृशी, इयम् = एषा, सखी = वयस्या, च = अपि। अत्रातिशयोक्तिस्तुल्य-श्लेषः समासोक्तिश्चालङ्काराः। अनुष्टुप् छन्दः ॥ १७ ॥

टिप्पणी—समुद्ररसना—कालिदास के अन्य ग्रन्थों में तथा अन्य कवियों के ग्रन्थों में भी समुद्र को पृथिवी की करधनी (Belt) कहा गया है।

इस श्लोक में अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, श्लेष तथा समासोक्ति अलङ्कार हैं। अनुष्टुप् छन्द है ॥ १७ ॥

व्युत्पत्तिः—प्रतिष्ठे—प्रति + √स्था + अङ् (अ) + टाप् + विभक्तिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—निर्वृते = आनन्दित हो गईं। दत्तदृष्टिः = आँख लगाए हुए, मृगपोतकः = मृगशावक। अशरणा = असहाय। अन्यतरा = दो में से एक। शरणम् = आवेगेन = घबराहट से।

टीका—उभे इति। निर्वृते = सुखिते स्वः। दत्तदृष्टिः—दत्ता = प्रेरिता दृष्टिः

दोनों—आनन्दित हो गईं (हम लोग)।

प्रियंवदा—(दूसरी ओर दृष्टि डालकर) अनसूया, शायद (यथा) इसी ओर आँख लगाए हुए यह मृगशावक अपनी माँ को खोज रहा है। आओ इसको उससे मिला दें। (ऐसा कहकर दोनों जाने लगीं)।

शकुन्तला—सखी, मैं असहाय हो गई हूँ। तुम दोनों में से कोई एक यहाँ आओ।

दोनों—जो पृथिवी का रक्षक है, वह तुम्हारे पास है। (अतः अन्य रक्षक की क्या आवश्यकता है ?) (ऐसा कहकर दोनों चली गईं)

राजा—घबड़ाहट की कोई आवश्यकता नहीं है। अरे (तुम्हारी) उपासना करनेवाला यह व्यक्ति (तो) तुम्हारे पास ही है।

क्या (मैं) शीतल, थकान को दूर करनेवाले, कमलिनी-पत्र के पंखे से ठण्डी हवा डुलाऊँ ? अथवा हे करभोरु, तुम्हारे कमल की तरह लाल चरणों को गोद में रख कर, जिस प्रकार तुम्हें सुख मिले उस तरह, दबाऊँ ॥१८॥

येन तादृशः, मृगपोतकः = हरिणशिशुः। अशरणा = असहाया, एकाकिनीति यावत्। अन्यतरा = द्वयोरेका। शरणम् = रक्षकः ('शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः)। आवेगेन = संभ्रमेण, आकुलत्वेनेत्यर्थः ॥

टिप्पणी—निर्वृते—सखियों का कहना है कि यदि ऐसी बात है तो हम लोग वस्तुतः सुखी हो गईं।

मृगपोतकः—हरिण का बच्चा आश्रम में इधर-उधर घूम रहा था। खेल रहा था। उसे माँ की कोई आवश्यकता न थी। अतः वह उसे खोज न रहा था। किन्तु उस हरिण-शिशु को देखकर अत्यन्त चतुर प्रियंवदा वहाँ से हटने का बहाना ढूंढ़ती है तथा उसे उसकी माँ से मिलाने के बहाने अनसूया के साथ निकल जाना चाहती है। उसका यह बहाना शकुन्तला और दुष्यन्त को पूर्ण एकान्त और विश्वास उत्पन्न करने के लिये है।

पृथिव्याः—तुम्हारे पास तो सम्प्रति वह व्यक्ति है, जो समूची पृथिवी की रक्षा करता है। अतः हमारे जैसे रक्षक की तुझे अब क्या आवश्यकता है ?

अन्वयः—किम्, (अहम्), शीतलैः, क्लमविनोदिभिः, नलिनीदलतालवृन्तैः, आर्द्रवातान्, सञ्चारयामि; उत, हे करभोरु, ते, पद्मताम्रौ, चरणौ, अङ्के, निधाय, यथासुखम्, संवाहयामि ॥ १८ ॥

शब्दार्थ :—किम् = क्या, (अहम् = मैं), शीतलैः = शीतल, ठण्डे, क्लमविनोदिभिः = थकान को दूर करने वाले, नलिनीदलतालवृन्तैः = कमलिनी-पत्र के पंखे से, आर्द्रवातान् = ठण्डी हवा को, सञ्चारयामि = डुलाऊँ, उत = अथवा, हे करभोरु = हे हाथी के बच्चे की सूँड़ की तरह जाँघों वाली, ते = तुम्हारे, पद्मताम्रौ = कमल की तरह लाल, चरणौ = पैरों को, अङ्के = गोद में, निधाय = रख कर, यथासुखम् = जिस प्रकार तुम्हें सुख मिले उस तरह, संवाहयामि = दबाऊँ ॥१८॥

टीका—किं शीतलैरिति। किमिति प्रश्ने, अहमिति शेषः, शीतलैः = शीतलस्पर्शैः।

शकुन्तला—न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये । माणणीएसु अत्ताणं अवराहइस्सं ।] (इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति

राजा—सुन्दरि, अनिर्वाणो दिवसः । इयं च शरीरावस्था ।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् ।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधापेलवैरङ्गैः ॥

(इति बलादेनां निवर्तयति ।)

शकुन्तला—पौरव, रक्ष विनयम् । मदनसंतप्ता न खल्वात्मनः प्रभवामि । [पोरव, रक्ख विणअं । मअण तत्तावि ण हु अत्तणो पहवामि ।]

यानि स्वयं शीतलानि तज्जन्यो वायुः सुतरां शीतल इत्यार्द्रपदार्थस्य हेतुत्वेन ... क्लमविनोदिभिः—क्लमम् = खेदम् विशेषेण नुदन्ति = अपनयन्ति तैः, क्लान्तिहरैः ... यानि दृष्टानि स्पृष्टान्याघ्रातानि स्वयं क्लमच्छिन्दि तज्जन्यो वायुः सुतरां क्लमच्छि... भावः । नलिनीदलतालवृन्तैः—नलिनम् = पद्मम् विद्यते यस्याः सा नलिनी = ... तस्याः दलानि = पत्राणि, कमलिनीपलाशानीत्यर्थः, तान्येव तालवृन्तानि = ... तैः । नलिनीपदेनात्र सौगन्ध्यं सूचितम् । ('व्यजनं तालवृन्तकम्' इत्यमरः) । आर्द्र... = शीतलतरवातान् । आर्द्रत्वेन शैत्यं लक्ष्यते । तदतिशयः फलम् । सञ्चारयामि— = मन्दं मन्दमित्यर्थः चारयामि = रचयामि, करोमि, न तूच्चैः । उतेति ... करभोरु = 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः ।' तद्वदूरू यस्यास्तत्सम्बोधने ... तव, पद्मताम्रौ = कमललोहितौ, चरणौ = पादौ, अङ्के = क्रोडे, निधाय = स्थाप... सुखम् = यथा ते सुखं स्यात्तथा, संवाहयामि = संमर्दयामि, संवाहनेन खेदमप... भावः । अत्र परिणामो विकल्पः परिकरश्चालङ्काराः । वसन्ततिलका छन्दः ॥१८॥

टिप्पणी—करभोरु—कलाई से लेकर कनिष्ठिका अँगुली के मूल तक के ... को करभ कहते हैं । यह भाग सुडौल तथा ऊपर से नीचे की ओर उतार वा... है । करभ की तरह स्त्रियों की जाँघें मादक होती हैं । अथवा करभ हाथी के ... भी कहते हैं । उसकी सूड़ की तरह भी कामिनी की जाँघें बतलाई ...

यहाँ परिणाम, विकल्प तथा परिकर अलङ्कार है । इसमें प्रयुक्त छन्द ... है—वसन्ततिलका । छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥१८॥

व्युत्पत्तिः—क्लमविनोदिभिः—क्लम + वि + √नुद् + णिच् + णिनि + विभ... कार्यम् ॥१८॥

शकुन्तला—आदरणीय व्यक्तियों के प्रति अपने आपको अपराधिनी नहीं बनाऊँगी। (ऐसा कह कर उठ कर जाना चाहती है)

राजा—सुन्दरी, दिन (अभी) ढला नहीं है, और तुम्हारे शरीर की यह हालत है। कमल-लता के पत्तों से बनाया गया है स्तनों का आवरण जिस पर ऐसी पुष्पशय्या को छोड़कर पीडा के कारण कोमल अङ्गों से कैसे धूप में जाओगी ? ॥१९॥

शकुन्तला—पुरुवंशी राजन्, विनय की रक्षा कीजिये। कामपीडित होने पर भी मैं अपनी स्वामिनी (स्वयं) नहीं हूँ (अर्थात् मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ)।

शब्दार्थ :—माननीयेषु = आदरणीय व्यक्तियों के प्रति, आत्मानम् = अपने आपको, अपराधयिष्ये = अपराधिनी बनाऊँगी। अनिर्वाणः = अपरिणत, ढला नहीं है। शरीरावस्था = शरीर की हालत ॥

टीका—शकुन्तलेति—माननीयेषु = आदरणीयेषु भवादृशेषु, आत्मानम् = स्वम्, अपराधयिष्ये = अपराधिनीं करिष्यामि। अनिर्वाणः = अपरिणतः। शरीरावस्था-शरीरस्य = देहस्य अवस्था = दशा ॥

अन्वयः—नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम्, कुसुमशयनम्, उत्सृज्य परिबाधापेलवैः, अङ्गैः, कथम्, आतपे, गमिष्यसि ॥१९॥

शब्दार्थ :—नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् = कमललता के पत्तों से बनाया गया है स्तनों का आवरण जिस पर ऐसी, कुसुमशयनम् = पुष्पशय्या को, उत्सृज्य = छोड़ कर, परिबाधापेलवैः = पीडा के कारण कोमल, अङ्गैः = अङ्गों से, कथम् = कैसे, आतपे = धूप में, गमिष्यसि = जाओगी ॥१९॥

टीका—उत्सृज्येति। नलिनीदलेत्यादिः—नलिनीदलैः = कमलिनीपत्रैः कल्पितम् = कृतम् स्तनयोः = कुचयोः आवरणम् = आच्छादनम् यस्मिन् तत् तादृशम्, कुसुमशयनम् = पुष्पशय्याम्, उत्सृज्य = परित्यज्य, परिबाधापेलवैः—परितः बाधा = पीडा तया पेलवैः = सुकुमारैः, अङ्गैः = अवयवैः, कथम् = केन प्रकारेण, आतपे = घर्मे, गमिष्यसि = व्रजिष्यसि। अत्र काव्यलिङ्गपरिकरालङ्कारौ। आर्या छन्दः ॥१९॥

टिप्पणी—नलिनीदल०—शकुन्तला पुष्पशय्या के नलिनीदलों को ले-ले कर अपने स्तनों पर रक्खा करती थी।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग तथा परिकर अलङ्कार हैं। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या ॥१९॥

व्युत्पत्तिः—उत्सृज्य—उत् + √सृज् + ल्यप्। शयनम्—√शी + ल्युट् + विभक्तिः ॥१९॥

शब्दार्थः—पौरव = पुरुवंशी राजन्, विनयम् = मर्यादा को, शिष्टाचार को, रक्ष = बचाइये, रक्षा कीजिये। मदनसंतप्ता = कामपीडित। विदितधर्मा = धर्म को जानने वाले ॥

राजा—भीरु, अलं गुरुजनभयेन । दृष्ट्वा ते विदि-
धर्मा तत्रभवान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः । अपि च,

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः ।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥२०॥

शकुन्तला—मुञ्च तावन्माम् । भूयोऽपि सखीः
मनुमानयिष्ये । [मुञ्च दाव मं । भूओ वि सहीं
अणुमाणइस्सं ।]

राजा—भवतु । मोक्ष्यामि ।

शकुन्तला—कदा । [कदा]

राजा—

अपरिक्षतकोमलस्य यावत्
कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन ।
अधरस्य पिपासता मया ते
सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य ॥२१॥

(इति मुखमस्याः समुन्नमयितुमिच्छति ।
शकुन्तला परिहरति नाट्येन ।)

टीका—शकुन्तलेति । पौरव = पुरुवंशोत्पन्न राजन्, रतेरनिर्वाहादत्र
संबुद्धिः, विनयम् = मर्यादाम्, सभ्यतामिति यावत्, रक्ष = पालय । मदनसंतप्ता—
कामेन संतप्ता = पीडिता । विदितधर्मा—विदितः = ज्ञातः धर्मः = जगतो धा-
तत्त्वं श्रुतिस्मृत्याचारो वा येन तादृशः ॥

टिप्पणी—रक्ष विनयम्—पहली-पहली मुलाकात थी । शकुन्तला इधर-उ-
रही थी । कोढ़नस कर रही थी । दुष्यन्त उसके नाज नखरों से संतप्त हो -
उसे अब बर्दास्त न हो रहा था । अतः उसने शकुन्तला को पकड़कर अपना
सिद्ध करना चाहा । उसी समय शकुन्तला कह उठती है—'रक्ष विनयम्॥'

अन्वयः—बह्वयः, राजर्षिकन्यकाः, गान्धर्वेण, विवाहेन परिणीताः; (तथा)
पितृभिः, अभिनन्दिताः, च, श्रूयन्ते ॥ २० ॥

शब्दार्थः—बह्वयः = बहुत-सी, राजर्षिकन्यकाः = राजर्षियों की कन्याएं,
= गान्धर्व, विवाहेन = विवाह से, परिणीताः = विवाहित हुईं, (तथा = और),
पितृभिः = पिता आदि के द्वारा, अभिनन्दिताः = समर्थित की गई, च = भी,
सुनी जाती हैं ॥ २० ॥

राजा—डरपोक, गुरुजनों से भय करने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हें देख कर धर्म को जाननेवाले पूज्य कुलपति (कण्व) इस विषय में कुछ बुरा नहीं मानेंगे। और भी—

वहुत-सी राजर्षियों की कन्याएँ गान्धर्व विवाह (की विधि) से विवाहित हुईं (और बाद में) वे पिता आदि के द्वारा समर्थित भी की गईं—(ऐसा) सुना जाता है ॥२०॥

शकुन्तला—अभी मुझे छोड़ो। फिर मैं अपनी सखियों की अनुमति लूंगी।

राजा—अच्छा, छोड़ूंगा।

शकुन्तला—कब ?

हे सुन्दरी, जब तक, भ्रमर के द्वारा नूतन फूल के (रस की) तरह, प्यासे मेरे द्वारा अक्षत अतः कोमल इस तुम्हारे अधर का रस दयापूर्वक पिया जा रहा है। (उसके बाद छोड़ूंगा) ॥ २१ ॥

(ऐसा कहकर इसका मुख उठाना चाहता है। शकुन्तला अभिनयपूर्वक बचाती है)

टीका—गान्धर्वेणेति। बह्वयः = अनेकाः, राजर्षिकन्यकाः—राजर्षीणां कन्यकाः = कुमार्यः, गान्धर्वेण = रहसि परस्परानुमोदनकृतेन, 'गान्धर्वः समयान्मिथः' इति (याज्ञ० १।६१) स्मृतेः, विवाहेन = विवाहविधिनेत्यर्थः, परिणीताः = कृतोद्वाहाः, तथा तदनु ताः = तादृश्यः कन्यकाः, पितृभिः = गुरुभिः, अभिनन्दिताः = अनुमोदिताः, च = अपि, श्रूयन्ते = आकर्ण्यन्ते। अनुष्टुप् छन्दः ॥ २० ॥

टिप्पणी—गान्धर्वेण—विवाह के आठ भेद बतलाये गये हैं—"ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥" इनमें गान्धर्व एक प्रकार है। काम के वशीभूत युवक तथा युवतियाँ परस्पर इच्छा से जब आपस में राजी हो जाते हैं, तो वह गान्धर्व विवाह कहा जाता है। मनु ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—"इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः॥" (मनु० ३।३२)। गान्धर्व विवाह एकमात्र क्षत्रियों के लिये ही स्वीकृत था।

इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है। छन्द का लक्षण—

'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' ॥ २० ॥

व्युत्पत्तिः—अभिनन्दिताः—अभि + √नन्द् + क्त + टाप् + विभक्तिकार्यम् ॥ २० ॥

अन्वय :—सुन्दरि, यावत्, षट्पदेन, नवस्य, कुसुमस्य, (रसस्य), इव, पिपासता, मया, अपरिक्षतकोमलस्य, अस्य, ते, अधरस्य, रसः, सदयम्, गृह्यते ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—सुन्दरि = हे सुन्दरी, यावत् = जब तक, षट्पदेन = भ्रमर के द्वारा, नवस्य = नूतन, कुसुमस्य = फूल के, (रसस्य = रस की), इव = तरह, पिपासता = प्यासे, मया = मेरे द्वारा, अपरिक्षतकोमलस्य = अक्षत अतः कोमल, अस्य = इस, ते = तुम्हारे, अधरस्य = अधर का, रसः = रस, सदयम् = दयापूर्वक, गृह्यते = ग्रहण किया जा रहा है, पिया जा रहा है ॥ २१ ॥

(नेपथ्ये)

चक्रवाकवधुके, आमन्त्रयस्व सहचरम् । उपस्थि रजनी। [चक्कवाकवहुए, आमन्तेहि सहअरं। उवट्ठि रअणी ।]

शकुन्तला--(ससंभ्रमम्) पौरव, असंशयं शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति । विटपान्तरितो भव । [पोरव, असंसअं मम सरीरवुत्तं वलम्भस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि। विडवन्तरितो होहि ।]

राजा--तथा। (इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति ।)

(ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी सख्यौ च)

सख्यौ--इत इत आर्या गौतमी। [इदो इदो अ गोदमी ।]

गौतमी--(शकुन्तलामुपेत्य) जाते, अपि लघुसन्ता पानि तेऽङ्गानि। [जादे, अवि लहुसंदावाइं दे अङ्गाइं

टीका--अपरिक्षतेति । हे सुन्दरि=हे शोभनाङ्गे, यावत्=यावत्कालम्, षट्पदे भ्रमरेण, नवस्य=नूतनस्य, कुसुमस्य=पुष्पस्य, रसस्येतिशेषः, पुष्पसम्बन्धिनः रस भावः, इव=यथा, पिपासता=पातुमिच्छता, मया=तव सेवकसदृशेन दुष्यन्तेनेति अपरिक्षतकोमलस्य--न विद्यते परितः क्षतं यस्य स चासौ कोमलश्चेति तस्य अपरि कोमलस्य--अस्पर्शकोमलस्य, अस्य=एतस्य, ते=तव, अधरस्य=अधरौष्ठस्य, आस्वादः, सदयम्=सानुकम्पम्, गृह्यते=पीयते । मालभारिणी चात्र छन्दः ॥ २१

टिप्पणी--अपरिक्षत०--अक्षत अतः कोमल । अभी तक शकुन्तला के अधरो किसी ने चुम्बन नहीं किया है। उसे किसी ने काटा नहीं है । अतः कोमल हैं।

पिपासता--ओष्ठ का पान करना काम-क्रीडा का प्राण है ।

यहाँ स्पृहा नामक नाटकालङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है-- भारिणी । छन्द का लक्षण--

"विषमे ससजा गुरू समे चेत् सभरा येन तु मालभारिणीयम्" ॥ २१ ॥

व्युत्पत्तिः--पिपासता--√ पा + सन्=पिपास + शतृ + तृतीयैकवचने वि कार्यम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थः--चक्रवाकवधुके=हे चक्रवाकवधू, अमन्त्रयस्य=विदा लो। रज रात्रि । ससंभ्रमम्=घबराहट के साथ, जल्दी में । विटपान्तरितः=शाखाओं की ओ हो जाओ, शाखाओं में छिप जाओ । आवृत्य=ढककर । जाते=बेटी, लघुसन्ताप

(पर्दे के पीछे)

हे चक्रवाकवधू, साथी से विदा लो। रात्रि आ गई है।

शकुन्तला—(घबराहट के साथ) पुरुवंशी राजन्, निश्चय ही मेरे शरीर के समाचार को जानने के लिये पूज्या गौतमी इधर ही आ रहीं हैं। अतः शाखाओं की आड़ में हो जाओ।

राजा—ठीक है। (ऐसा कहकर अपने आपको ढककर खड़ा हो जाता है)

(तदनन्तर हाथ में पात्र लिये हुए गौतमी तथा दोनों सखियाँ प्रवेश करती हैं)

गौतमी—(शकुन्तला के पास जाकर) बेटी, तुम्हारे अङ्गों का सन्ताप कुछ कम है?

कम सन्ताप वाले, (अर्थात् तुम्हारे अङ्गों का सन्ताप कम है ?), विशेषः = फर्क, अन्तर। दर्भोदकेन = कुशसमेत जल से, निराबाधम् = नीरोग, अभ्युक्ष्य = सींचकर, परिणतः = ढल चुका है, उटजम् = कुटीर को ॥

टीका—नेपथ्य इति। चक्रवाकवधुके = अनुकम्पिते रथाङ्गदयिते, सहचरम् आमन्त्रयस्व = प्रस्थानाय आनुज्ञां गृहाण। रजनी = रात्रिः। एतच्च शकुन्तलां प्रति सख्योः सङ्केतवचनम्। ससंभ्रमम् = सवेगम्, सभयमिति वा। विटपान्तरितः—विटपैः = लताशाखाभिः अन्तरितः = आच्छादितः। आवृत्य = आच्छाद्य। जाते = हेपुत्रि। लघुसन्तापानि—लघुः = अल्पः सन्तापः = पीडा येषां तानि। विशेषः = अन्तरम्, किञ्चिदुपशम इति यावत्। दर्भोदकेन = कुशसिञ्चितसलिलेन। दर्भसहितेनोदकेन वा, वैतानोदकेनेत्यर्थः, निराबाधम् = पीडारहितम्, अभ्युक्ष्य = सिञ्चित्वा, परिणतः = चरमे यामे स्थितः, उटजम् = कुटीरम् ॥

टिप्पणी—चक्रवाकवधुके—सीता के वियोग में राम विलख रहे थे। पम्पासर के तट पर बैठा चक्रवाक उन्हें देखकर हँस पड़ा। राम को दुःखमिश्रित क्रोध आ गया। उन्होंने उसे शाप दे डाला—'जाओ आज से तुम सर्वदा सूर्यास्त से सूर्योदय तक अपनी प्रियतमा से वियुक्त रहकर विलाप करोगे।' तब से चक्रवाक अपनी प्रेयसी से प्रत्येक रात में वियुक्त रहता है। वियोग के समय इन दोनों को महान् कष्ट होता है।

यहाँ कालिदास ने बड़े ही मनोहर ढंग से सखियों के मुँह से गौतमी के आने की सूचना दिलाई है। सखियाँ सोच रही हैं कि गौतमी जा रही हैं। यदि शकुन्तला दुष्यन्त के साथ काम-क्रीडा करती पकड़ी गई तो अनर्थ हो जायगा। अतः अप्रस्तुत प्रशंसा के द्वारा उन्होंने शकुन्तलारूपी चक्रवाकी को दुष्यन्तरूपी चक्रवाक से अलग होने को त्वरित सूचना दी है।

व्युत्पत्तिः—चक्रवाकवधुके—चक्र + √वच् + घञ् कर्मणि = चक्रवाकः। तस्य वधूः। अनुकम्पिता सा इति चक्रवाकवधू + कन् स्त्रियाम् = चक्रवाकवधुका, तत्सम्बुद्धौ।

शकुन्तला—आर्ये, अस्ति मे विशेषः। [अज्जे, अ
मे विसेसो।]

गौतमी—अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते
भविष्यति। (शिरसि शकुन्तलामभ्युक्ष्य) वत्से, परि
दिवसः। एहि, उटजमेव गच्छामः। [इमिणा दब्भो
णिराबाधं एव्व दे सरीरं भविस्सदि। वच्छे, परि
दिअहो। एहि, उडजं एव गच्छम्ह।] (इति प्रस्थिताः

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हृदय, प्रथममेव सुखो
मनोरथे कातरभावं न मुञ्चसि। सानुशयविघटितस्य
ते सांप्रतं सन्तापः। (पदान्तरे स्थित्वा। प्रकाशम्) ल
लय सन्तापहारक, आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोग
[हिअअ, पढमं एव्व सुहोवणदे कादरभावं ण मुञ्च
साणुसअविहडिअस्स कहं दे संपदं संदावो। लदा
संदावहारअ, आमन्तेमि तुमं भूओ वि परिभोअस्स।]

(इति दुःखेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभिः।)

राजा—(पूर्वस्थानमुपेत्य, सनिःश्वासम्) अहो विघ्न
प्रार्थितार्थसिद्धयः। मया हि—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं
प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः
कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥२२॥

शब्दार्थः—सुखोपनते = अनायास प्राप्त होने पर, मनोरथे = अभिलाष के
भावम् = संकोच को। सानुशयविघटितस्य = पश्चात्ताप के साथ विछुड़ते हुए
वलय = लतानिकुञ्ज, परिभोगाय = भोग के लिये। विघ्नवत्यः = बाधा युक्त,
सिद्धयः = अभीष्ट वस्तुओं की उपलब्धियाँ॥

टीका—शकुन्तलेति। सुखोपनते—सुखेन = अनायासेन उपनते = प्रा
रथे = दुष्यन्तरूपाभिलाषे, कातरभावम् = भीरुतां संकुचितस्वभावं वा।
विघटितस्य—अनुशयेन = पश्चात्तापेन सह विघटितस्य = मनोरथेन वियो
लतावलय—लतानाम् = व्रततीनाम् वलयः = पुञ्जम् तत्सम्बुद्धौ हे लताव

शकुन्तला—आर्या है, कुछ अन्तर।

गौतमी—इस कुशसमेत जल से तुम्हारा शरीर पूर्ण नीरोग हो जायगा। (शकुन्तला के शिर पर सींचकर) बेटी, दिन ढल चुका है। आओ, कुटीर को ही चलें। (ऐसा कह कर चल पड़ती हैं)

शकुन्तला—(अपने आप) हृदय, पहले तो (दुष्यन्तरूप) मनोरथ के अनायास प्राप्त होने पर तुमने संकोच को नहीं छोड़ा। (किन्तु) अब पश्चात्ताप के साथ विछुड़ते हुए तुम्हें सन्ताप क्यों हो रहा है। (कुछ पग चलने पर रुक कर प्रकटरूप में) लता-निकुञ्ज, मेरे सन्ताप का हरण करनेवाले, तुम्हें पुनः भोग के लिये आमन्त्रित करती हूँ। (ऐसा कहकर दुःखित शकुन्तला औरों के साथ निकल गई)

राजा—(पहले वाले स्थान पर आकर, लम्बी श्वास छोड़कर) ओह, अभीष्ट वस्तुओं की उपलब्धियाँ बाधायुक्त होती हैं।

क्योंकि मेरे द्वारा—

(उस) मनोहर नेत्रोंवाली (शकुन्तला) का, बार-बार अङ्गुलि से ढका हुआ अधरोष्ठवाला, निषेध के अक्षरों के अस्पष्ट उच्चारण से मनोहर, कन्धे की ओर मोड़ा गया मुख किसी-किसी तरह उठाया गया, किन्तु चूमा नहीं गया॥ २२॥

भोगाय = सुखाय संभोगाय च। विघ्नवत्यः = विघ्नबहुलाः, प्रार्थितार्थसिद्धयः—प्रार्थितानाम् = अभिलषितानाम् अर्थानाम् = वस्तूनाम् सिद्धयः = निष्पत्तयः॥

टिप्पणी—कातरभावम्—शकुन्तला दुष्यन्त के साथ अपनी इस प्रथम भेंट में बड़े-बड़े नाज नखरे करती रही। बहुत-सा समय इसी तरह व्यतीत कर दिया। अब पछता रही है। यही अवस्था प्रत्येक युवती की अपने प्रथम मिलन के समय होती है।

लतावलय, सन्तापहारक—शकुन्तला लतानिकुञ्ज के बहाने ये सारी बातें दुष्यन्त को सुना रही है। यद्यपि सखियाँ उसके इस कथन का भाव समझ रही हैं, पर बेचारी गौतमी को इसका शुद्ध वाच्य अर्थ ही समझ में आया होगा।

व्युत्पत्तिः—परिभोगाय—परि + भुज् + घञ् + विभक्तिकार्यम्। **विघ्नवत्यः**—विहन्यते एभिः इति वि + √हन् + क करणे घञर्थे = विघ्नाः, ते सन्ति बाहुल्येन आसु इति विघ्न + मतुप् ङीप् + स्त्रियां टाप् + विभक्तिः॥

अन्वयः—(तस्याः), पक्ष्मलाक्ष्याः, मुहुः, अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम्, प्रतिषेधाक्षर-विक्लवाभिरामम्, अंसविवर्ति, मुखम्, कथमपि, उन्नमितम्, तु, चुम्बितम्, न॥ २२॥

शब्दार्थ :—(तस्याः = उस), पक्ष्मलाक्ष्याः = मनोहर नेत्रोंवाली का, मुहुः = बार-बार, अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम् = अङ्गुलि से ढका हुआ अधरोष्ठवाला, प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् = निषेध के अक्षरों के अस्पष्ट उच्चारण से मनोहर, अंसविवर्ति = कन्धे की ओर मोड़ा गया, मुखम् = मुख, कथमपि = किसी-किसी तरह, उन्नमितम् = उठाया गया, तु = किन्तु, चुम्बितम् = चूमा गया, न = नहीं॥ २२॥

क्व नु खलु संप्रति गच्छामि । अथवा, इहैव प्रियापरि-
भुक्तमुक्ते लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि । (सर्वतोऽवलोक्य)-

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः ।
हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि ॥२३

टीका—मुहुरिति । (तस्याः = सद्यः इतः गतायाः), पक्ष्मलाक्ष्याः—पक्ष्मले= प्रशस्तरोमवती (प्राशस्त्ये मत्वर्थीयो लच्) अक्षिणी = लोचने यस्याः तथोक्तायाः शकुन्तलायाः, मुहुः = वारंवारम्, अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम्—अङ्गुल्या = तर्जन्या, संवृतः आच्छादितः अधरोष्ठः = निम्नौष्ठः यस्मिन् यस्य वा तत् तथाविधम्, तथा प्रतिषेधा-क्षरविक्लवाभिरामम्—प्रतिषेधाक्षराणि = 'मा मा अलम्' इत्यादीनि निषेधवर्णानि तेषां यद्वैक्लव्यम् = अस्फुटमुच्चारणम् तेन अभिरामम् = मनोहरम्, अंसविवर्ति—अंसे = स्कन्धे विवर्तितुं शीलं यस्य तत्, मुखम् = आननम्, कथमपि = महता प्रयत्नेन, उन्नमितम्= चुम्बनार्थमुर्ध्वीकृतम्, तु = किन्तु, तु पश्चात्तापे वा, चुम्बितम् = पानविषयीकृतम् न चुम्बितमित्यर्थः । अनेन तावन्मात्रचुम्बनलाभेनापि कृतकृत्यता स्यादिति ध्वन्यते । अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारो मालभारिणी च छन्दः ॥ २२ ॥

टिप्पणी—अंगुलिसंवृताधर०—दुष्यन्त ने शकुन्तला को बगल में बैठाकर बाहु में कस लिया था। वह उसके अधर का पान करना चाहता था। शकुन्तला ने अपना मुख कन्धे की ओर घुमा लिया था। दुष्यन्त ने किसी-किसी तरह उसे उठाकर चूमना चाहा, पर शकुन्तला ने तभी ओष्ठ को दाहिने हाथ की तर्जनी से ढक लिया। इसके साथ ही वह—'नहीं नहीं' भी कहती जा रही थी। अतः दुष्यन्त यथेच्छ अधर-रस का पान न कर सका।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा मालभारिणी छन्द है। छन्द का लक्षण पीछे श्लोक २१ की टिप्पणी में लिखा हुआ है ॥ २२ ॥

व्युत्पत्तिः—उन्नमितम्—उद् + √नम् + क्त + विभक्तिकार्यम् । चुम्बितम्—√चुम्ब् +क्त+विभक्तिः ॥ २२ ॥

अन्वय :—शिलायाम्, तस्याः, शरीरलुलिता, इयम्, पुष्पमयी, शय्या, (अस्ति); नलिनीपत्रे, नखैः, अर्पितः, एषः, (तस्याः), क्लान्तः, मन्मथलेखः, (आस्ते); हस्तात् भ्रष्टम्, इदम्, (तस्याः), बिसाभरणम्, (वर्तते); इति, आसज्यमानेक्षणः, (अहम्) शून्यात्, अपि, वेतसगृहात्, सहसा, निर्गन्तुम्, न, शक्नोमि ॥ २३ ॥

इस समय कहाँ जाऊँ ? अथवा, प्रियतमा (शकुन्तला) के द्वारा उपभुक्त तथा (सम्प्रति) मुक्त इसी लतामण्डप में थोड़ी देर रुकूँगा । (चारो ओर देखकर)

शिला पर उसकी देह से मसली गई यह पुष्पनिर्मित शय्या (है) । कमल-लता के पत्ते पर नाखूनों से लिखा गया यह (उसका) मुर्झाया हुआ काम-पत्र (है) । हाथ से गिरा हुआ यह (उसका) कमलनाल का कंकण (है) । इस प्रकार (इन वस्तुओं में) आसक्त नेत्रवाला (मैं) शूने भी इस बेंत-निकुञ्ज से एकाएक बाहर जाने में असमर्थ हूँ ॥ २३ ॥

शब्दार्थ :—शिलायाम् = पत्थर की पटिया पर, तस्याः = उसकी, शरीरलुलिता = देह से मसली गई, इयम् = यह, पुष्पमयी = पुष्पनिर्मित, शय्या = शय्या, शयन, (अस्ति = है); नलिनीपत्रे = कमललता के पत्ते पर, पुरइन पर, नखैः = नाखूनों से, अर्पितः = लिखा गया, एषः = यह, (तस्याः = उसका), क्लान्तः = मुर्झाया हुआ, मन्मथलेखः = काम-पत्र, (आस्ते = है); हस्तात् = हाथ से, भ्रष्टम् = गिरा हुआ, इदम् = यह, (तस्याः = उसका), बिसाभरणम् = कमलनाल का कंकण, (वर्तते = है); इति = इस प्रकार, आसज्यमानेक्षणः = आसक्त नेत्रवाला, उन-उन वस्तुओं पर अटकी आँखों-वाला, (अहम् = मैं), शून्यात् = शूने, अपि = भी, वेतसगृहात् = इस बेंत-निकुञ्ज से, सहसा = एकाएक, झट से, निर्गन्तुम् = बाहर जाने में, न = नहीं, शक्नोमि = समर्थ हूँ ॥ २३ ॥

टीका—तस्या इति । शिलायाम् = शिलापट्टके, तस्याः = प्रेयस्याः शकुन्तलायाः, शरीरलुलिता—शरीरेण = सन्तप्तदेहेन लुलिता = इतस्ततः क्षिप्ता, इयम् = एषा, पुरोवर्तिनी, पुष्पमयी = कुसुमनिर्मिता, शय्या = शयनीयम्, (अस्ति = वर्तते) । नलिनीपत्रे = कमलिनीपत्रे, नखैः = करजैः, अर्पितः = लिखितः, एषः = अयम्, तस्या इति शेषः, क्लान्तः = म्लानः, मन्मथलेखः = कामपत्रम्, (आस्ते) । हस्तात् = मणिमन्धात्, भ्रष्टम् = पतितम्, इदम्, एतत्, (तस्याः), बिसाभरणम् = मृणालवलयम्, (वर्तते) । क्लान्तमित्येवात्रापि योज्यम् । इति = अमुना प्रकारेण, आसज्यमानेक्षणः—आ = समन्तात् सज्यमाने = स्वयमेव सम्बध्यमाने ईक्षणे = नेत्रे यस्य सः, अहमिति शेषः, शून्यात् = प्रियाविरहितात्, अपि = च, वेतसगृहात् = वेतसलतामण्डपात्, सहसा = अकस्मात्, निर्गन्तुम् = निःसरितुम्, न शक्नोमि = न समर्थो भवानि । तत्त्यक्तान्युपभोगचिह्नान्यत्यन्तं मम मनो रमयन्तीतिभावः । अत्र विभावना विशेषोक्तिश्चालङ्कारौ । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ २३ ॥

टिप्पणी—इत्यासज्यमानेक्षण :—प्रेमी को अपनी प्रियतमा से मिलकर जो आनन्द होता है, वह अवर्णनीय है । किन्तु प्रियतमा की अनुपस्थिति में उसके द्वारा इस्तेमाल की गई वस्तुओं को देखने, छूने तथा हृदय लगाने से होनेवाला आनन्द उससे भी बढ़ कर होता है । प्रिया शकुन्तला के चली जाने पर उसकी शय्या, उसके कंकण

(आकाशे)

राजन्,

सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते
वेदिं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः
सन्ध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम् ॥२४॥

राजा—अयमहमागच्छामि। (इति निष्क्रान्तः।)

इति तृतीयोऽङ्कः।

तथा पत्र राजा के नेत्रों में शरत्पूर्णिमा की शीतलता भर रहे हैं, उसके हृदय को ... रहे हैं। अतः वह झट से बाहर जाने में असमर्थ है।

इस श्लोक में विभावना और विशेषोक्ति अलंकार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द

छन्द का लक्षण :—

'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥ २३ ॥

व्युत्पत्तिः—पुष्पमयी—पुष्प + मयट् + स्त्रीलिङ्गे ङीप् + विभक्त्यादि... क्लान्त :—√क्लम्+क्त+विभक्तिः। निर्गन्तुम्—निर् + √गम् + तुमुन् ॥ २३ ॥

अन्वय :—सायन्तने, सवनकर्मणि, संप्रवृत्ते, हुताशनवतीम्, वेदिम्, ... प्रयस्ताः, सन्ध्यापयोदकपिशाः, भयम्, आदधानाः, पिशिताशनानाम्, छायाः, ... चरन्ति ॥ २४ ॥

शब्दार्थ :—सायन्तने = सायंकालीन, सवनकर्मणि = यज्ञकार्य के, संप्रवृत्ते = ... होने पर, हुताशनवतीम् = यज्ञीय अग्नि से अलंकृत, वेदिम् = वेदी के, परितः = ... ओर, प्रयस्ताः = फैली हुई, सन्ध्यापयोदकपिशाः = सान्ध्य मेघ की तरह भूरी, ... भय को, आदधानाः = देनेवाली, धारण करनेवाली, पिशिताशनानाम् = राक्षसों ... छायाः = छाया, बहुधाः = विविध रूपों में, चरन्ति = विचरण कर रही हैं ॥ २४ ॥

टीका—सायंतन इति। सायन्तने = सायंकालीने, 'सायंचिरं—, (पा० ४।३... इत्यादिना ट्युल् तुडागमश्च। सवनकर्मणि = यज्ञकार्ये ('सवनं यजने स्नाने' ... विश्वः), संप्रवृत्ते = सम्यक् प्रचलिते, हुताशनवतीम्—अश्नातीति अशनः, हुतस्य ... हुताशनः = चरुभक्षको वह्निः तद्वतीम् वेदीं परितः = वेद्याः समन्तात्, प्रयस्ताः = ... विक्षिप्ताः, सन्ध्यापयोदकपिशाः—सन्ध्यापयोदवत् = सायंकालीनमेघवत् कपि...

(आकाश में)

राजन्,

सायंकालीन यज्ञ-कार्य के प्रारम्भ होने पर, यज्ञीय अग्नि से अलङ्कृत वेदी के चारों ओर फैली हुई, सान्ध्य मेघ की तरह भूरी, भयकारक, राक्षसों की छाया विविध रूपों में विचरण कर रही हैं ॥ २४ ॥

राजा—मैं अभी आ रहा हूँ। (ऐसा कहकर निकल गया)।

॥ तृतीय अङ्क समाप्त ॥ ३ ॥

पिशङ्गाः, भयम् = भीतिम्, आदधानाः = कुर्वाणाः, पिशिताशनानाम् = रक्षसाम्, छायाः = प्रतिबिम्बानि पङ्क्तयो वा, ('छाया स्यादातपाभावे सच्छोभापङ्क्तिषु स्मृता' इति विश्वः), बहुधाः = अनेकधाः, चरन्ति = इतस्ततो भ्रमन्ति। अत्र काव्यलिङ्गमुपमा चालङ्कारौ। वसन्ततिलका छन्दः ॥ २४ ॥

॥ इति रमाशंकरत्रिपाठिकृतायामभिज्ञानशाकुन्तलव्याख्यायां रमाख्यायां तृतीयोऽङ्कः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—छायाश्चरन्ति। महामुनि कण्व के रहने पर उनके प्रभाव के भय से ये राक्षस विघ्न नहीं करते थे। किन्तु सम्प्रति वे आश्रम में हैं नहीं। अतः राक्षस ऋषियों के यज्ञ में वाधा उपस्थित कर रहे हैं। इसीलिये यज्ञकर्ता ऋषि राजा की पुकार कर रहे हैं।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग और उपमा अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ २४ ॥

व्युत्पत्तिः—सायन्तने—सायं भवं सायन्तनम्। सायम्+ट्यु (अन) + तुडागमे विभक्तिकार्यम्। संप्रवृत्ते—सम् + प्रा + √वृत् + क्त + विभक्तिः। आदधानाः—आ + √धा + शानच् + विभक्तिकार्यम् ॥ २४ ॥

(ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ।)

अनसूया—हला प्रियंवदे, यद्यपि गान्धर्वेण वि- निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलाऽनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृ हृदयम्, तथाप्येतावच्चिन्तनीयम्। [हला पिअंवदे, जइ गन्धव्वेण विहिणा णिव्वुत्तकल्लाणा सउन्दला अणुरूवभ मिणी संवुत्तेति णिव्वुदं मे हिअअं। तह वि एतिअं चिन्तणि

प्रियंवदा—कथमिव। [कहं विअ।]

अनसूया—अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्यर्षिभि सर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्त स्मरति वा न वेति। [अज्ज सो राएसी इ परिसमाविअ इसीहिं विसज्जिओ अत्ताणो णअरं पवि अन्तेउरसमागदो इदोगदं वुत्तन्तं सुमरदि वा ण वेति।]

प्रियंवदा—विस्रब्धा भव। न तादृशा आकृतिवि गुणविरोधिनो भवन्ति। तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न किं प्रतिपत्स्यत इति। [वीसद्धा होहि। ण तादिसा आकि विसेसा गुणविरोहिणो होन्ति। तादो दाणिं इमं वुत्तन्तं सुणि अ आणे किं पडिवज्जिस्सदि त्ति।]

अनसूया—यथाऽहं पश्यामि, तथा तस्यानुमतं भवे [जह अहं देक्खामि, तह तस्स अणुमदं भवे।]

शब्दार्थः—कुसुमावचयम् = पुष्प तोड़ने का, निर्वृत्तकल्याणा = जिसका रूपी मङ्गलकार्य संपन्न हो गया है ऐसी, अनुरूपभार्तृगामिनी = अपने योग्य संगत, संवृत्ता = हो गई है, निर्वृतम् = सुखी, प्रसन्न, चिन्तनीयम् = सोचने इष्टिम् = यज्ञ को, परिसमाप्य = समाप्त करके, अन्तःपुरसमागतः = अन्तःपुर की से मिल कर, इतोगतम् = यहाँ के, यहाँ घटित हुए॥

टीका—ततः प्रविशत इति। कुसुमावचयम्—कुसुमानाम् = पुष्पाणाम् अवच

चतुर्थ अङ्क

(तदनन्तर पुष्प तोड़ने का अभिनय करती हुई दोनों सखियों का प्रवेश)

अनसूया—सखी प्रियंवदा, यद्यपि गान्धर्व विधि से जिसका विवाहरूपी मङ्गल-कार्य संपन्न हो गया है ऐसी शकुन्तला अपने योग्य पति से संगत हो गई है, अतः मेरा हृदय सुखी है, तथापि इतनी बात सोचने की है।

प्रियंवदा—वह कौन-सी ?

अनसूया—आज वह राजर्षि, यज्ञ को समाप्त करके (अर्थात् यज्ञ की समाप्ति पर) ऋषिओं के द्वारा विदा होकर, अपने नगर में प्रवेश करके अन्तःपुर की स्त्रियों से मिलकर, यहाँ के वृत्तान्त को याद करेगा अथवा नहीं ?

प्रियंवदा—विश्वस्त रहो। उस तरह की मनोहर आकृतियाँ गुणविहीन नहीं हुआ करतीं। (किन्तु) पिता (कण्व) इस समाचार को सुनकर पता नहीं क्या करेंगे ?

अनसूया—जहाँ तक मैं सोचती हूँ, यह उन्हें अभीष्ट ही होगा।

चयनम्, निर्वृत्तकल्याणा—निर्वृत्तम् = सम्पन्नम् कल्याणम् = विवाहमङ्गलम् यस्याः सा, ('कल्याणं मङ्गलेऽपि च' इति विश्वः), अनुरूपभर्तृगामिनी—अनुरूपम् = योग्यम् भर्तारम् = पतिम् गच्छति = व्रजति, प्राप्नोतीति यावत्, इति तादृशी, योग्यपात्रस्था इति भावः, संवृत्ता = सञ्जाता, निर्वृतम् = सुस्थितम्, आनन्दितमिति भावः, चिन्तनीयम् = विचारणीयम्। इष्टिम् = यागम्, परिसमाप्य = समापनं विधाय, अन्तःपुरसमागतः—अन्तःपुरैः = लक्षणया अन्तःपुरवर्तिनीभिः महिषीभिः समागतः = ससत्कारं मिलितः, इतो गतम् = अत्र जातम्, वृत्तान्तम् = वार्ताम् ॥

टिप्पणी—**राजर्षिः····ऋषिभिर्विसर्जितः**—ऋषियों का यज्ञ चल रहा था। उसमें राक्षस विघ्न कर रहे थे। यज्ञकर्ताओं ने इस विघ्न को रोकने के लिये राजा से प्रार्थना की थी। उसने विघ्नों को रोकते हुए यज्ञ पूर्ण करवाया। अब यज्ञ के समास हो जाने से ऋषियों ने राजा को सादर विदा कर दिया है। ऋषियों से विदा होकर राजा अपनी राजधानी को लौट आया है। उसके चले जाने के बाद अनसूया वितर्क कर रही है—'यहाँ से लौटकर राजा जब अपनी रानियों के साथ आनन्द का उपभोग करने में मग्न हो जायगा तब वह शकुन्तला को और उसे दिये गये अपने वचन को याद करेगा अथवा नहीं ?'

व्युत्पत्तिः—**संवृत्ता**—सम् + √वृत् + क्त + टाप् + विभक्तिः। **निर्वृतम्**—निर् + √वृ + क्त + विभक्त्यादिकार्यम्। **प्रविश्य**—प्र + विश् + ल्यप् ॥

शब्दार्थः—विस्रब्धा = विश्वस्त। गुणविरोधिनः = गुणविहीन। पश्यामि = देखती हूँ, समझती हूँ, अनुमतम् = अभीष्ट, स्वीकृत ॥

प्रियंवदा—कथमिव ? [कहं विआ]

अनसूया—गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तात प्रथमः संकल्पः। तं यदि दैवमेव संपादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः। [गुणवदे कण्णआ पडिवादणिज्जे त्ति अअं तादस्स पढमो संकप्पो। तं जइ देव्वं एव्व संपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरुअणो।]

प्रियंवदा—(पुष्पभाजनं विलोक्य) सखि, अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि। [सहि, अवइदाइं बलिकम्मपज्जत्ताइं कुसुमाइं।]

अनसूया—ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवतार्चनीया। [णं सहीए सउन्दलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआ।]

प्रियंवदा—युज्यते। [जुज्जदि।]

(इति तदेव कर्माभिनयतः।)

(नेपथ्ये)

अयमहं भोः।

अनसूया—(कर्णं दत्त्वा) सखि, अतिथीनामिव निवेदितम्। [सहि, अदिधीणं विअ णिवेदिदं।]

प्रियंवदा—ननूटजसंनिहिता शकुन्तला। [णं उडजसण्णिहिदा सउन्दला।]

टीका—प्रियंवदेति। विस्रब्धा = विस्रम्भवती, निःशङ्का इति यावत्। गुणविरहिणः = गुणविरहिणः, निर्गुणा इत्यर्थः। यतो यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्तीत्यभियुक्ताः। पश्यामि = अवलोकयामि, विचारयामीत्यर्थः, अनुमतम् = अभीष्टम्॥

टिप्पणी—आकृतिविशेषाः—यह लोकमान्यता है कि—'जिसका स्वरूप सुन्दर है, वह अवश्य ही गुणी होता है।' दुष्यन्त का रूप सुन्दर है। अतः वह अवश्य सद्गुणों से विभूषित होगा। इसलिये जैसा उसने कहा है वैसा अवश्य करेंगे। इस प्रकार की कुछ उक्तियाँ अवलोकनीय हैं—'न ह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम्' (मृच्छकटिक ९-१६), 'आकारसदृशप्रज्ञः' (रघुवंश १-१५), 'स्वप्नेऽप्यविसंवादिन्य इ...' (कादम्बरी), 'सेयमाकृतिर्न व्यभिचरति शीलम्' (दशकुमारचरित)॥

तातस्यानुमतम्—अनसूया के कहने का अभिप्राय है कि—'प्रत्येक लड़की

प्रियंवदा—यह कैसे ?

अनसूया—गुणशाली व्यक्ति को कन्या देनी चाहिए, यह तो (माँ-बाप की) प्रथम अभिलाषा होती है। उसे यदि भाग्य ही सम्पन्न कर देता है, तब तो गुरुजन बिना प्रयास के ही कृतार्थ हो गये।

प्रियंवदा—(फूलों की टोकरी को देखकर) सखी, पूजा-कार्य के लिए पर्याप्त फूल तोड़ लिये गये हैं।

अनसूया—अरे, सखी शकुन्तला के विवाह-देवता भी पूजने हैं।

प्रियंवदा—ठीक है।

(ऐसा कहकर उसी कार्य का अभिनय करती हैं।)

(पर्दे के पीछे)

अजी, यह मैं (आ गया) हूँ।

अनसूया—(कान लगाकर) सखी, पूज्य अतिथि की-सी आवाज है।

प्रियंवदा—शकुन्तला तो कुटीर में उपस्थित ही है।

यह सोचता है कि मेरी कन्या योग्य वर के साथ ब्याही जाय। शकुन्तला ने अपना विवाह चक्रवर्ती सम्राट् से किया है। अब क्या चाहिए ? निश्चय ही पिता जी इस कार्य का समर्थन ही करेंगे।'

व्युत्पत्तिः—विस्रब्धा—वि+√स्रम्भ्+क्त+टाप्+विभक्त्यादिकार्यम्। श्रुत्वा—√श्रु+क्त्वा। अनुमतम्—अनु+√मन्+क्त+विभक्तिकार्यम्॥

शब्दार्थः—गुणवते=गुणशाली, गुणवान्, प्रतिपादनीया=देनी चाहिए, संकल्पः=अभिलाषा, दृढ इच्छा। दैवम्=भाग्य, कृतार्थः=कृतकार्य, गुरुजनः=बड़े लोग। पुष्पभाजनम्=फूलों की टोकरी। अवचितानि=तोड़ लिये गये, बलिकर्मपर्याप्तानि=पूजा-कार्य के लिए पर्याप्त। सौभाग्यदेवता=विवाह के देवता, अर्चनीया=पूजने हैं॥

टीका—अनसूयेति—गुणवते=गुणशालिने, प्रतिपादनीया=समर्पणीया, संकल्पः=दृढो विचारः। दैवम्=भाग्यम्, कृतार्थः=सिद्धकामः, गुरुजनः=श्रेष्ठजनः। पुष्पभाजनम्=प्रसूनपात्रम्। अवचितानि=गृहीतानि, बलिकर्मपर्याप्तानि-बलिकर्मणे=पूजाकार्याय पर्याप्तानि=प्रचुराणि, पूजाकार्ययोग्यानीत्यर्थः। सौभाग्यदेवता=विवाहमङ्गलदेवता, अर्चनीया=पूजनीया॥

टिप्पणी—सौभाग्यदेवता—विवाह के अनन्तर कुछ देवी-देवता पूजे जाते हैं। इन्हें सौभाग्य-देवता कहा जाता है। यद्यपि शकुन्तला का गान्धर्व-विवाह था। फिर भी उसकी सखियाँ इस माङ्गलिक कृत्य को सम्पन्न कर रही हैं।

व्युत्पत्तिः—गुणवते—गुणाः सन्ति अस्य इति गुण+मतुप्+चतुर्थ्येकवचने विभक्तिकार्यम्। अवचितानि—अव+√चि+क्त+विभक्तिकार्यम्।

अनसूया—अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता । अलमेतावद्भिः कुसुमैः । (इति प्रस्थिते) [अज्ज उण हिअएण असण्णिहिदा । अलं एत्तिएहिं कुसुमेहिं ।]

(नेपथ्ये)

आः, अतिथिपरिभाविनि,
विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥१॥

प्रियंवदा—हा धिक्, हा धिक् । अप्रियमेव संवृत्तम् । कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला । (पुरोऽवलोक्य

शब्दार्थः—कर्णं दत्त्वा = कान लगाकर । अतिथीनाम् = पूज्य अतिथि की । संनिहिता = कुटीर में उपस्थित । असंनिहिता = अनुपस्थित ॥

टीका—अनसूयेति । कर्णं दत्त्वा = ध्यानेन श्रुत्वा । अतिथीनाम् = अभ्यागत... आदरार्थे बहुवचनम् । उटजसंनिहिता—उटजे = कुटीरे संनिहिता = उपस्थिता । ...निहिता = अनुपस्थिता, हृदयशून्येत्यर्थः, हृदयस्य राजगामित्वादिति भावः । ... अतिथिपूज्या यथोचिता न सम्भावनीया ॥

टिप्पणी—हृदयेनासंनिहिता—कुछ काल तक शकुन्तला के साथ रहकर, ...कर, यौवन का मजा लूटकर दुष्यन्त अपनी राजधानी को वापस चला गया है । ...विना शकुन्तला को कुछ अच्छा नहीं लग रहा है । उसकी इन्द्रियाँ आज ... काम नहीं कर रही हैं । उसका हृदय एकमात्र दुष्यन्त का चिन्तन कर रहा है ... कारण है कि अनसूया उसे हृदय से अनुपस्थित बतला रही है ।

व्युत्पत्तिः—दत्त्वा—√दा + क्त्वा । निवेदितम्—नि + √विद् + क्त + विभक्ति... संनिहिता—सम् + नि + √धा + क्त + टाप् + विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—अनन्यमानसा, (त्वम्), यम्, विचिन्तयन्ती, उपस्थितम्, माम्, ... न, वेत्सि; सः, प्रमत्तः, प्रथमम्, कृताम्, कथाम्, इव, बोधितः, सन्, अपि, त्वाम् स्मरिष्यति ॥ १ ॥

शब्दार्थः—अनन्यमानसा = अनन्यहृदयवाली, (त्वम् = तुम), यम् = जिसको

अनसूया—किन्तु आज वह हृदय से अनुपस्थित है (अर्थात् आज उसका मन कहीं और लगा है)। तो बस, इतना ही फूल रहने दिया जाय। (ऐसा कहकर दोनों चल दीं)।

(पर्दे के पीछे)

ओह, अतिथि का तिरस्कार करने वाली,

अनन्यहृदयवाली (तुम) जिसको सोचती हुई आये हुए मुझ तपोधन को नहीं देख रही हो वह, उन्मत्त (Intoxicated) पहले की गई बात की तरह (अर्थात् जैसे उन्मत्त व्यक्ति पहले कही गई बात को नहीं याद करता उसी तरह), याद दिलाने पर भी तुझे नहीं स्मरण करेगा ॥ १ ॥

प्रियंवदा—हाय धिक्कार है, हाय धिक्कार है! अनर्थ ही हुआ। शून्यहृदय शकुन्तला ने किसी पूजनीय व्यक्ति के प्रति अपराध कर दिया है। (सामने देखकर)

न्तयन्ती = सोचती हुई, उपस्थितम् = आये हुए, माम् = मुझ, तपोधनम् = तपस्वी को, न = नहीं, वेत्सि = जान रही हो, देख रही हो; सः = वह, प्रमत्तः = उन्मत्त (Intoxicated), प्रथमम् = पहले, कृताम् = की गई, कही गई, कथाम् = बात को, इव = तरह, बोधितः सन् = याद दिलाने पर, अपि = भी, त्वाम् = तुझे, न = नहीं, स्मरिष्यति = याद करेगा, स्मरण करेगा ॥ १ ॥

टीका—विचिन्तयन्तीति। अनन्यमानसा—न अन्यत् अवलम्बनम् = आधारः यस्य तत् अनन्यम् = एकनिष्ठम्, अनन्यं मानसम् = अन्तःकरणम् यस्याः सा, एकचित्ता सतीत्यर्थः, त्वमिति शेषः, यम् = यं जनम्, यं दुष्यन्तमित्यर्थः विचिन्तयन्ती = ध्यायन्ती, उपस्थितम् = द्वारि आगतम्, माम् = दुर्वाससमित्यर्थः, तपोधनम् = तपस्विनम्, न वेत्सि = न जानासि, न पश्यसीत्यर्थः, सः = तव ध्यानविषयीभूतो राजादुष्यन्तः, प्रमत्तः = उन्मत्तः, प्रथमम् = पूर्वम्, कृताम् = सम्पादिताम्, कथाम् = वार्ताम्, इव = यथा, यथा मदिरादिभिर्मत्तो जनः पूर्वं कृतां स्वकीयामेव वार्तां न स्मरति तथैवेत्यर्थः, बोधितः = ज्ञापितः सन्, अपि = च, त्वाम् = मां तिरस्कारिणीं पूर्वमङ्गीकृतां त्वामित्यर्थः, न = नैव, स्मरिष्यति = अभिज्ञास्यसि। सः स्वयं तु स्मरिष्यत्येव न, स्मारितोऽपि न स्मरिष्यतीत्यपिशब्दार्थः। अत्र काव्यलिङ्गमुपमा चालङ्कारौ। वंशस्थं छन्दः ॥ १ ॥

टिप्पणी—प्रमत्तः—शराबी व्यक्ति यदि अभी किसी से कोई बात करता है, तो वह कुछ क्षणों के बाद उसे भूल जाता है। वह बात उसे याद नहीं रहती। यदि कोई उस बात की उसे याद भी दिलाता है तो वह उसे स्मरण नहीं कर पाता। इसी प्रकार दुष्यन्त न तो स्वयं तुझे पहचानेगा और न याद दिलाने पर ही याद करेगा।

कवि ने दुर्वासा के शाप की यह योजना कर दुष्यन्त के चरित्र की बड़ी कुशलता से रक्षा कर ली है। अन्यथा दुष्यन्त जैसा दुश्चरित्र नायक नाटक का प्रधान पात्र नहीं बन सकता।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग और उपमा अलङ्कार तथा वंशस्थ छन्द है। छन्द का लक्षण—

'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' ॥ १ ॥

व्युत्पत्तिः—उपस्थितम्—उप + √स्था + क्त + विभक्तिः। बोधितः—√बुध + णिच् + क्त + विभक्तिः। प्रमत्तः—प्र + √मद् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥ १ ॥

न खलु यस्मिन् कस्मिन्नपि । एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षि
तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया दुर्वारया गत्या प्रतिनि
[हद्धी, हद्धी । अप्पिअं एव्व संवुत्तं । कस्सि पि पूआरुहे अव
मुण्णहिअआ सउन्दला । ण हु जस्सि कस्सि पि । एसो दुव्
सुलहकोवो महेसी । तह सविअ वेअबलुप्फुल्लाए दुव्वाराए
पडिणिवुत्तो ।]

अनसूया—कोऽन्यो हुतवहाद् दग्धुं प्रभवति । गच्छ
पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनं यावदहमर्घोदकमुपकल्पया
[को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि । गच्छ । पादेसु पण
णिवत्तेहि णं जाव अहं अग्घोदअं उवकप्पेमि ।]

प्रियंवदा—तथा । [तह ।] (इति निष्क्रान्ता)

अनसूया—(पदान्तरे स्खलितं निरूप्य) अ
आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात् पुष्पभाजन
(इति पुष्पोच्चयं रूपयति
[अम्मो, आवेअक्खलिदाए गईए पब्भट्टं मे अग्गहत्
पुप्फभाअणं ।]

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—सखि, प्रकृतिवक्रः स कस्या
प्रतिगृह्णाति । किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः । [
पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि । किं वि
साणुक्कोसो किदो ।]

शब्दार्थः—संवृत्तम् = हुआ, घटित हुआ । पूजार्हे = पूजा के योग्य, पूजनी
राद्धा = अपराध कर दिया है, शून्यहृदया = शून्यहृदय । सुलभकोपः = शीघ्र
जाने वाले । शप्त्वा = शाप देकर, वेगबलोत्फुल्लया = वेग के बल से युक्त
अतितीव्र), प्रतिनिवृत्तः = लौटे जा रहे हैं । हुतवहात् अन्यः = अग्नि के
प्रभवति = समर्थ हो सकता है । अर्घोदकम् = अर्घ और जल, उपकल्पयामि
करती हूँ, एकत्रित करती हूँ ॥

अरे! जिस किसी (साधारण) व्यक्ति के प्रति ही नहीं (अपराध कर दिया है)। यह हैं शीघ्र क्रुद्ध हो जाने वाले महर्षि दुर्वासा। इस प्रकार (शकुन्तला को) शाप देकर वेग के बल से युक्त (अर्थात् अति तीव्र) एवं दुर्निवार्य गति से लौटे जा रहे हैं।

अनसूया—अग्नि के अलावा और कौन जलाने में समर्थ हो सकता है? जाओ, पैरों पर पड़कर इन्हें लौटा लाओ, जब तक मैं भी अर्घ और जल (अर्थात् पूजा-सामग्री) तैयार करती हूँ।

प्रियंवदा—ठीक है। (ऐसा कहकर निकल गई)

अनसूया—(कुछ चलने पर ठोकर खाकर गिरने का अभिनय करके) ओह, घबराहट से लड़खड़ाती हुई चाल के कारण मेरे हाथ से फूलों की डलिया गिर गई। (ऐसा कहकर फूलों को बटोरने का अभिनय करती है।)

(प्रवेश करके)

प्रियंवदा—सखी, स्वभाव से ही टेढ़े वह (भला) किसकी प्रार्थना स्वीकार करते हैं? (अर्थात् किसी की नहीं)। फिर भी कुछ दयार्द्र-हृदय बना लिये गये हैं।

टीका—**प्रियंवदेति**। संवृत्तम्=घटितम्। पूजार्हे=पूजायोग्ये, अपराद्धा=पूजामदत्त्वा कृतापराधा जाता, शून्यहृदया—शून्यम्=विविक्तम् हृदयम्=चेतः यस्याः सा तादृशी। सुलभकोपः—सुलभः=अतिशीघ्रमारूढः कोपः=क्रोधः यस्य सः। शप्त्वा=शापं दत्त्वा, वेगबलोत्फुल्लया—वेगस्य=गमनप्रवाहस्य बलम्=ओजः तेन उत्फुल्ला=विकसिता, त्वरितेति यावत् तया, प्रतिनिवृत्तः=निवर्तते। हुतवहात्=वह्नेः, अन्यः=अपरः, प्रभवति=समर्थो भवति। अर्घोदकम्—अर्घम्=दूर्वाक्षतादिकं पूजाद्रव्यम् उदकम्=जलञ्चेति, तयोः समाहारः, उपकल्पयामि=सम्पादयामि॥

टिप्पणी—**शून्यहृदया**—शकुन्तला का हृदय दुष्यन्त के चले जाने से विरह-विह्वल है। वह एकमात्र (दुष्यन्त के ही) विषय में सोच रही है। आस-पास क्या हो रहा है? यह सब उसे कुछ भी नहीं ज्ञात है।

दुर्वासाः—यह महर्षि अत्रि और अनसूया के पुत्र थे। पुराणों में उन्हें अतिक्रोधी के रूप में वर्णित किया गया है।

कोऽन्यो दग्धुम्—यहाँ इस कथन का भाव यह है कि क्रोधी तपस्वी दुर्वासा जैसा ऋषि ही कण्वपुत्री शकुन्तला को शाप देकर दण्डित कर सकता है, कोई साधारण व्यक्ति नहीं।

अर्घोदकम्—अर्घ और जल। अर्घ=पूजा-सामग्री। इसमें आठ वस्तुएँ रहती हैं—'आपः क्षीरं कुशाग्रश्च दधि सर्पिः सतण्डुलम्। यवः सिद्धार्थकश्चैवाष्टाङ्गोऽर्घः प्रकीर्तितः॥

व्युत्पत्तिः—**पूजार्हे**—पूजामर्हति इति पूजा + √अर्ह + अच् कर्तरि पूजार्हस्तस्मिन्। **अपराद्धा**—अप + √राध + कर्तरि क्त + स्त्रियां टाप्॥

शब्दार्थः—स्खलितम्=ठोकर खाकर गिरने को, अभिनीय=अभिनीत करके। आवेगस्खलितया=घबराहट से लड़खड़ाती हुई, गत्या=चाल के कारण, पुष्पभाजनम्=फूलों की डलिया। पुष्पोच्चयम्=फूलों को बटोरने को, रूपयति=अभिनीत करती है। प्रकृतिवक्रः=स्वभाव से ही टेढ़े, अनुनयम्=प्रार्थना को, प्रतिगृह्णाति=स्वीकार करते हैं। सानुक्रोशः=दयार्द्र हृदय॥

अनसूया—(सस्मितम्) तस्मिन् बह्वेतदपि। कथय
[तस्सिं बहु एदं पि । कहेहि ।]

प्रियंवदा—यदा निर्वर्तितुं नेच्छति तदा विज्ञापि
मया । भगवन्, प्रथम इति प्रेक्ष्याविज्ञाततपःप्रभाव
दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्य इति। [ज
णिवत्तिदुं ण इच्छदि तदा विण्णविदो मए । भअवं, प
त्ति पेक्खिअ अविण्णादतवप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्
अवराहो मरिसिदव्वो त्ति ।]

अनसूया—ततस्ततः । [तदो तदो ।]

प्रियंवदा—ततो न मे वचनमन्यथाभवितुमर्हति
किं त्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यत इति मन्त्र
माण एवान्तर्हितः । [तदो ण मे वअणं अण्णहाभवि
अरिहदि, किंदु अहिण्णाणाभरणदंसणेण सावो णिवत्तिस्
त्ति मन्तअन्तो एव्व अन्तरिहिदो ।]

अनसूया—शक्यमिदानीमाश्वसितुम् । अस्ति
तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुली
स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम् । तस्मिन् स्वाधीनोपा
शकुन्तला भविष्यति । [सक्कं दाणिं अस्ससिदुं । अ
तेण राएसिणा संपत्थिदेण सणामहेअंकिअं अंगुली
सुमरणीयं त्ति सअं पिणद्धं । तस्सिं साहीणोवाआ सउन्
भविस्सदि ।]

टीका—अनसूयेति । स्खलितम् = स्खलनम्, अभिनीय = निरूप्य । आवेगस्खलि
आवेगेन = संभ्रमेण स्खलितया = भ्रष्टया, गत्या = गमनेनेत्यर्थः, पुष्पभाजनम्—पुष्प
प्रसूनानाम् भाजनम् = पात्रम् । पुष्पोच्चयम्—पुष्पाणाम् = भूपतितानां प्रसूनानाम्
यम् = संग्रहम्, रूपयति = अभिनयति । प्रकृतिवक्रः—प्रकृत्या = स्वभावेन वक्रः =
अनुनयम् = प्रार्थनाम्, प्रतिगृह्णाति = स्वीकरोति । सानुक्रोशः—अनुक्रोशेन = दयया
इति सानुक्रोशः = सदयः ॥

टिप्पणी—प्रभ्रष्टम्—हाथ से फूलों की डलिया का गिरना अपशकुन है।
यह सूचित होता है कि क्रुद्ध दुर्वासा लौटेंगे नहीं ।

अनसूया—(मुस्कराकर) उनके विषय में इतना भी बहुत है। (तो) बतलाओ (आगे क्या हुआ) ?

प्रियंवदा—जब वे लौटने के लिए राजी न हुए तब मैंने उनसे प्रार्थना की—भगवन्, (आपके) तप के प्रभाव को न जानने वाली पुत्री (शकुन्तला) का यह पहला-पहला अपराध है, यह जानकर आपके द्वारा उसका यह एक अपराध क्षमा करना चाहिए।

अनसूया—उसके बाद, उसके बाद ?

प्रियंवदा—उसके बाद 'मेरा वचन बदल नहीं सकता, किन्तु पहचान के आभूषण के दिखलाने से शाप समाप्त हो जायगा'—यह कहते हुए ही वे अदृश्य हो गये।

अनसूया—अब धैर्य रक्खा जा सकता है। (राजधानी के प्रति) प्रस्थान करते हुए स्वयं उस राजर्षि के द्वारा अपने नाम से अङ्कित अँगूठी स्मृति-चिह्न के रूप में (शकुन्तला की अँगुली में) पहनाई गई है। उससे शकुन्तला (शाप छुड़ाने के) उपाय में स्वतन्त्र होगी।

व्युत्पत्तिः—स्खलितम्—√स्खल्+क्त+विभक्तिकार्यम्। निरूप्य—नि+रूप्+ल्यप्। प्रभ्रष्टम्—प्र+√भ्रंश्+क्त+विभक्तिः। कृतः—√कृ+क्त+विभक्तिकार्यम्॥

शब्दार्थः—निर्वर्तितुम्=लौटने के लिए। प्रेक्ष्य=देखकर, समझकर, अविज्ञाततपःप्रभावस्य=तपस्या के प्रभाव को न जानने वाली, दुहितृजनस्य=पुत्री का, बेटी का, मर्षयितव्यः=क्षमा करने के योग्य है, क्षमा करना चाहिए। अन्यथा=दूसरा, असत्य, बदलना, अभिज्ञानाभरणदर्शनेन=पहचान के आभूषण दिखलाने से, मन्त्रयमाणः=कहते हुए ही, अन्तर्हितः=अदृश्य हो गये॥

टीका—प्रियंवदेति। निर्वर्तितुम्=परावर्तितुम्। प्रेक्ष्य=अवलोक्य,विचार्येति यावत्, अविज्ञाततपःप्रभावस्य—अविज्ञातः=अविदितः तपसः=भवतः तपस्यायाः प्रभावः=महत्त्वम् यस्य येन वा तथाविधस्य, दुहितृजनस्य=पुत्र्याः शकुन्तलायाः, मर्षयितव्यः=क्षन्तव्यः। अन्यथा=विपरीतम्, असत्यमितिभावः, अभिज्ञानाभरणदर्शनेन—अभिज्ञायते=परिचीयते अनेनेति अभिज्ञानम्=परिचायकं वस्तु, आभरणमेव=आभूषणमेव अभिज्ञानमिति आभरणाभिज्ञानं तस्य दर्शनेन=प्रदर्शनेन, पुरःस्थापनेनेत्यर्थः, मन्त्रयमाणः=कथयन्, अन्तर्हितः=तिरोहितः॥

टिप्पणी—अभिज्ञानाभरणदर्शनेन—आज की भाँति ही पहले भी जब दो प्रेमी बिछुड़ते थे तो निशानी के रूप में एक-दूसरे को कुछ न कुछ दे देते थे। इस तरह की निशानी प्रायः अँगूठी, गले की माला आदि ही हुआ करती थी। यह साधारण और सर्वप्रचलित बात थी। अतः दुर्वासा शाप छूटने के लिए इस तरह की बात बतला रहे हैं।

व्युत्पत्तिः—निवर्तितुम्—नि+√वृत्+तुमुन्। विज्ञापितः—वि+√ज्ञा+णिच्+क्त+पुकागमे विभक्तिकार्यम्। अन्तर्हितः—अन्तर्+√धा+क्त+विभक्तिकार्यम्॥

शब्दार्थः—स्वनामधेयाङ्कितम्=अपने नाम से अङ्कित, जिस पर अपना नाम लिखा

प्रियंवदा—सखि, एहि । देवकार्यं तावद् निर्वर्तयावः (इति परिक्रामतः)

[सहि, एहि । देवकज्जं दाव णिव्वत्तेम्ह ।]

प्रियंवदा—(विलोक्य) अनसूये, पश्य तावत् वामहस्तोपहितवदनाऽऽलिखितेव प्रियसखी । भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति । किं पुनरागन्तुकम् [अणसूए, पेक्ख दाव । वामहत्थोवहिदवअणा आलिहिदा विअ पिअसही । भत्तुगदाए चिन्ताए अत्ताणं पि ण विभावेदि । किं उण आअन्तुअं ।]

अनसूया—प्रियंवदे, द्वयोरेव नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु । रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी । [पिअंवदे, दुवेणं एव्व णो मुहे एसो वुत्तन्तो चिट्ठदु । रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पिअसही ।]

प्रियंवदा—को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति [को णाम उण्होदएण णोमालिअं सिंचेदि ।]

(इत्युभे निष्क्रान्ते ।)

। विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः ।)

शिष्यः—वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन काश्यपेन । प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति । (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त, प्रभातम् । तथाहि—

हुआ है ऐसी, अङ्गुलीयकम् = अँगूठी, स्मरणीयम् = स्मृति-चिह्न, निशानी, पिनद्धम् = पहनाई गई है । स्वाधीनोपाया = स्वतन्त्र । निर्वर्तयावः = निभायें, पूरा करें । वामहस्तोपहितवदना = बाएँ हाथ पर मुँह रक्खी हुई, आलिखिता = चित्रित, विभावयति = रही है, सुध ले रही है, आगन्तुकम् = अतिथि को ।

टीका—अनसूयेति । स्वनामधेयाङ्कितम्—स्वस्य = निजस्य नामधेयेन अङ्कितम् = मुद्रितम् अङ्गुलीयकम् = मुद्रिका, स्मरणीयम्—स्मरत्यनेनेति स्मरणम् स्मारकम्, पिनद्धम् = परिधापितम् । स्वाधीनोपाया—स्वाधीनः = स्वायत्तः उपायः शापनिवर्तनकरणम् यस्याः तादृशी भविष्यति । निर्वर्तयावः = सम्पादयावः । वामहस्तो...

प्रियंवदा—सखी, आओ। इस समय देवकार्य (अर्थात् देवपूजा) पूरा करें। (ऐसा कहकर दोनों घूमती हैं।)

प्रियंवदा—(देखकर) अनसूया, जरा देखो तो। बाएँ हाथ पर मुँह रक्खी हुई प्रियसखी (शकुन्तला) चित्रित-सी (बैठी) है। पति में लगी चिन्ता के कारण यह अपने आपको भी भूल गई है, फिर अतिथि के विषय में क्या कहना?

अनसूया—प्रियंवदा, यह वृत्तान्त हम दोनों तक ही सीमित रहे। निश्चय ही, स्वभाव से ही सुकुमार प्रियसखी (शकुन्तला) रक्षा करने के योग्य है।

प्रियंवदा—भला कौन व्यक्ति गरम जल से नवमालिका को सींचेगा। (इस प्रकार बात-चीत करके दोनों निकल गईं)

॥ विष्कम्भक समाप्त ॥

(तदनन्तर सोकर उठा हुआ शिष्य प्रवेश करता है)

शिष्य—प्रवास से वापस आये हुए आदरणीय कण्व के द्वारा समय का परिज्ञान करने के लिए आदेश दिया गया हूँ। तो (बाहर) प्रकाश में निकलकर देखता हूँ कि रात्रि का कितना (भाग) अवशिष्ट है। (चारों ओर घूमकर और देखकर) वाह, प्रातःकाल हो गया। जैसे कि—

वदना—वामहस्ते = वामकरे उपहितम् = स्थापितम् वदनम् = मुखम् यस्याः तादृशी सती, आलिखिता = चित्रिता, विभावयति = जानाति 'काहं, किं करोमि, कुत्र तिष्ठामि ?' इत्यात्मविषयकमपि ज्ञानं नास्तीत्यर्थः। आगन्तुकम् = अतिथिम्। विभावयतीत्यनुपज्यते, तज्ज्ञानं दूरापास्तमित्यर्थः ॥

टिप्पणी—**स्वाधीनोपाया**—इसका भाव यह है कि यदि वह राजा शकुन्तला को पहचानने में देर करे या न पहचाने तो यह इस अँगूठी को दिखलाकर उसे स्मरण दिला सकती है। ऐसा करने में शकुन्तला समर्थ तथा स्वतन्त्र रहेगी।

व्युत्पत्तिः—**शक्यम्**—√शक् + यत् + विभक्तिकार्यम्। **आश्वसितुम्**—आ + √श्वस् + तुमुन्। —**सम्प्रस्थितेन**—सम् + प्र + √स्था + क्त + विभक्तिः। **पिनद्धम्**—अपि + √नह् + क्त + विभक्तिकार्यम्। भागुरिमतेनाकारलोपः ॥

शब्दार्थः—रक्षितव्या = रक्षा करने के योग्य है, रक्षणीय है, प्रकृतिपेलवा = स्वभाव से ही सुकुमार। उष्णोदकेन = गरम जल से। विष्कम्भकः = प्रवेशक ॥

टिप्पणी—**रक्षितव्या**—अनसूया के कहने का भाव यह है कि दुर्वासा के शाप की बात हम दोनों के अलावा कोई तीसरा व्यक्ति न जानने पावे। यदि यह समाचार कर्णपरम्परा से शकुन्तला तक पहुँचा तो अनर्थ ही हो जायगा। सुनते ही प्राणों को छोड़ सकती है, क्योंकि वह अत्यन्त सुकुमार है।

उष्णोदकेन—नवमालिका अत्यन्त सुकोमल लतिका है। अति सावधानी से पालन करने पर ही बढ़ती है। यदि उसकी जड़ में गरम जल छोड़ा जाय तो वह कुछ ही घण्टों में सूखकर विनष्ट हो जायगी। शकुन्तला को दुर्वासा के शाप की बात बताना नवमालिका को गरम जल से सींचना है।

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥२॥

विष्कम्भकः—नाटकों के अंकों के मध्य में मध्यरंग का दृश्य, जो दो मध्यम या निम्न दर्जे के पात्रों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, तथा जिसमें श्रोताओं के लिए अंकों के अन्तराल में तथा बाद में होने वाली घटनाओं को संक्षेप में कहकर नाटक की कथावस्तु के अवान्तर भागों का नाटक की मुख्यकथा से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है। साहित्यदर्पण में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः । संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भः आदावङ्कस्य दर्शितः ॥'

व्युत्पत्तिः—रक्षितव्या—√रक्ष +तव्यत् + णिनि +स्त्रियां टाप् ॥

शब्दार्थः—सुप्तोत्थितः = सोकर उठा हुआ । वेलोपलक्षणार्थम् = समय का पता करने के लिए, आदिष्टः = आज्ञप्त । प्रवासात् = प्रवास से, परदेश से, उपावृत्तेन = लौटकर आये हुए, काश्यपेन = कश्यप के कुल में उत्पन्न कण्व के द्वारा । रजन्याः = रात्रि के, हन्त = यह प्रसन्नता का सूचक अव्यय है ॥

टीका—ततः प्रविशतीति । सुप्तोत्थितः—आदौ सुप्तः = स्वापं प्राप्तः पश्चात् उत्थितः = शयनं परित्यज्य आगतः । वेलोपलक्षणार्थम्—वेलायाः = होमकालस्य समयस्य वा उपलक्षणार्थम् = परिज्ञानार्थम्, आदिष्टः = आज्ञप्तः । प्रवासात् = देशान्तरवासात्, उपावृत्तेन = परावृत्तेन, आगतेनेत्यर्थः, काश्यपेन = कण्वेन । रजन्याः = रात्र्याः, हन्तेति हर्षसूचकमव्ययपदम् ।

व्युत्पत्तिः—शिष्यः—√शास्+क्यप्+विभक्तिः । निर्गतः—निर् + √गम् + क्त + विभक्तिः । अवशिष्टम्—अव+√शिस्+क्त+विभक्तिः ॥

अन्वयः—एकतः, ओषधीनाम्, पतिः, अस्तशिखरम्, याति; एकतः, अरुणपुरःसरः, अर्कः, आविष्कृतः; लोकः, तेजोद्वयस्य, युगपत्, व्यसनोदयाभ्याम्, आत्मदशान्तरेषु, नियम्यते, इव ॥ २ ॥

शब्दार्थः—एकतः = एक ओर, ओषधीनाम् = (धान आदि) शस्यों का, पतिः = स्वामी (चन्द्रमा), अस्तशिखरम् = अस्ताचल के शिखर को, याति = जा रहा है, एकतः = एक ओर, अरुणपुरःसरः = अरुण को आगे किये हुए, अर्कः = सूर्य, आविष्कृतः = प्रकट हो रहा है, उदित हो रहा है; लोकः = संसार, तेजोद्वयस्य = दो तेजों के, युगपत् = एक साथ, व्यसनोदयाभ्याम् = एक साथ अस्त एवं उदित होने से, आत्मदशान्तरेषु = अपनी अवस्थाओं के परिवर्तित होने के विषय में, सुख-दुःख के विषय में; नियम्यते = नियमित किया जा रहा है, इव = सा, तरह ॥ २ ॥

एक ओर (धान आदि) शस्यों का स्वामी (चन्द्रमा) अस्ताचल के शिखर को जा रहा है (और) दूसरी ओर अरुण (नामक अपने सारथि) को आगे किये हुए सूर्य उदित हो रहा है। (इस प्रकार) यह संसार दो तेजों के एक साथ अस्त एवं उदित होने से, अपनी अवस्थाओं के परिवर्तित होने के विषय में मानो शिक्षा दिया जा रहा है॥ २॥

टीका—यातीति। एकतः=एकस्यां दिशि, पश्चिमायांदिशीत्यर्थः, ओषधीनाम्=तृणज्योतिषां शस्यविशेषाणां वा, पतिः=स्वामी, चन्द्र इत्यर्थः, अस्तशिखरम्—अस्तस्य=अस्ताचलस्य शिखरम्=शृङ्गम्, याति=गच्छति। 'शिखर' पदेनात्युच्चैः पतनायेति सूचितम्। एकतः=एकस्यां दिशि, पूर्वस्यां दिशीति यावत्, अरुणपुरस्सरः—अरुणः=अनूरुः, स्वसारथीत्यर्थः, पुरःसरः=अग्रगः यस्य सः, अरुणसारथिरिति यावत्, अर्कः=सूर्यः, आविष्कृतः=प्रकाशितः; लोकः=संसारः, भुवनमित्यर्थः, ('लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः), तेजोद्वयस्य=चन्द्रसूर्ययोरिति यावत्, युगपत्=समकालम्, एकस्मिन्नेव काले इत्यर्थः, व्यसनोदयाभ्याम्—व्यसनम्=अस्तगमनम्, क्षय इत्यर्थः, उदयः=अभ्युन्नतिरिति यावत् ताभ्याम्, अस्तमयोदयाभ्यां विपत्संपद्भ्यां च हेतुभ्यामिति भावः, चन्द्रस्यास्तङ्गमनेन सूर्यस्योदयं गमनेनेति यावत्, ('व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः, तथा 'उदयः संपदुत्पत्योः पूर्वशैले समुन्नतौ' इत्यजयः), आत्म-दशान्तरेषु—आत्मनः = स्वस्य अन्याः = परस्परं विपरीताः दशाः = अवस्थाः दशान्तराणि तेषु, सुखदुःखाद्यवस्थाभेदेष्वित्यर्थः, अन्तरशब्दो विशेषवाची, नियम्यते = शिक्ष्यते, स्वस्वविपत्तिसंपत्तिदशानां परिवर्तने केनापि दुःखहर्षौ न कार्याविति भावः। अत्र समासोक्तिस्तुल्ययोगिता यथासंख्यमुत्प्रेक्षा चालंकाराः। वसन्ततिलका छन्दः॥ २॥

टिप्पणी—ओषधीनां पतिः—राघवभट्ट के अनुसार यहाँ अत्यन्त मनोरम अर्थ सूचित किया गया है। उनके अनुसार कवि का भाव यह है—'ओषधियाँ अत्यन्त दुःसह मरण आदि हजारों विपत्तियों को विनष्ट करने वाली हैं किन्तु समय आ जाने पर, उनकी क्या बात, उनका पति चन्द्र भी नाश को प्राप्त हो रहा है।

आविष्कृतः—यहाँ आदि कर्म अर्थात् कार्य के प्रारम्भ अर्थ में कर्तृवाच्य में क्त प्रत्यय है। 'आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या' (वार्तिक) तथा 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' (३।४।७१) से क्त प्रत्यय होता है। इसलिये इसका अर्थ होगा—सूर्य उदय हो रहा है। अतः यहाँ प्रक्रमभङ्ग दोष नहीं होगा।

दशान्तरेषु—सूर्य और चन्द्र देव हैं। दूसरों को वरदान देने में समर्थ हैं किन्तु काल-क्रम से वे भी उन्नति तथा अवनति को प्राप्त करते हैं। अतः वे सारी जगती को शिक्षा दे रहे हैं कि—उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम है। देवता भी इस नियम से नहीं बच सकते हैं। इसलिये मनुष्यों को भी चाहिये कि वे अपनी उन्नति के समय हर्ष तथा अवनति के समय विषाद न करें। यही शिक्षा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की कविता में इस प्रकार निबद्ध है—

अपि च--

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥३॥

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

अनसूया--यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्य जनस्यै... विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरित...
[जइ वि णाम विसअपरम्मुहस्स जणस्स एदं ण विदिअं तह... तेण रण्णा सउन्दलाए अणज्जं आअरिदं।]

उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम एक अखण्ड है।
चढ़ता प्रथम जो व्योम में गिरता वही मार्तण्ड है॥

महाकवि कालिदास ने ही मेघदूत में भी कहा है—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

इस श्लोक में समासोक्ति, तुल्ययोगिता तथा उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। इसमें प्रयु... का नाम है—वसन्ततिलका। छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग...

व्युत्पत्तिः—ओषधीनाम्—ओष + √धा + कि (इ) + षष्ठीबहुवचने विभक्ति... एकतः--एक + तसिल् + विसर्गादिकार्यम्। आविष्कृतः--आविस् + √कृ +... विभक्तिः ॥ २ ॥

अन्वयः—शशिनि, अन्तर्हिते, संस्मरणीयशोभा, सा, एव, कुमुद्वती, मे, दृष्टि... नन्दयति; नूनम्, अबलाजनस्य, इष्टप्रवासजनितानि, दुःखानि, अतिमात्रसुदुः... (भवन्ति) ॥ ३ ॥

शब्दार्थः--शशिनि = चन्द्रमा के, अन्तर्हिते = छिप जाने पर, अस्त हो जा... संस्मरणीयशोभा = केवल स्मरण का विषय है शोभा जिसकी ऐसी, सा = वह, ... ही, कुमुद्वती = कुमुदिनी, मे = मेरी, दृष्टिम् = आँख को, न = नहीं, नन्दयति = आ... कर रही हैं; नूनम् = वस्तुतः, निश्चय ही, अबलाजनस्य = स्त्रियों को, इष्टप्रवा... तानि = प्रेमी व्यक्ति के परदेश-गमन से उत्पन्न, दुःखानि = दुःख, अतिमात्रसुदुःस... अत्यन्त असह्य, (भवन्ति = हुआ करते हैं) ॥ ३ ॥

टीका—अन्तर्हित इति। शशिनि = चन्द्रमसि, अन्तर्हिते = व्यवहिते... अस्तङ्गते इत्यर्थः ('अन्तर्धा व्यवधा' इत्यमरः), अतः संस्मरणीयशोभा—संस्मर...

और भी—

चन्द्रमा के अन्तर्हित हो जाने पर केवल स्मरण का विषय है शोभा जिसकी ऐसी वही कुमुदिनी मेरी आँखों को नहीं आनन्दित कर रही है। वस्तुतः स्त्रियों को (अपने) प्रेमी व्यक्ति के परदेश-गमन से उत्पन्न दुःख अत्यन्त असह्य (हुआ करते हैं) ॥ ३ ॥

(विना पर्दा हटाए ही प्रवेश करके)

अनसूया—यद्यपि विषयों से विमुख-जन (हम लोगों) को यह सब ज्ञात नहीं है, तो भी (इतना निश्चित है कि) उस राजा (दुष्यन्त) के द्वारा शकुन्तला के साथ अभद्र आचरण किया गया है।

अदृश्या, स्मृतिविषयिणी न तु प्रत्यक्षेति भावः, शोभा=कान्तिः यस्याः सा तादृशी, कुमुद्वती=कुमुदिनी, 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' इति मतुप्, मे=मम, दर्शकस्येत्यर्थः, दृष्टिम्=नेत्रम्, न=नहि, नन्दयति=प्रणयति। चन्द्रे सति विकसिता या कुमुदिनी नयनानन्दकरी आसीत्, सैव सम्प्रति चन्द्रेऽस्तमिते म्लाना सती दृष्टिं नाह्लादयतीति भावः। नूनम्=वस्तुतस्तु, अबलाजनस्य=वनितालोकस्य, इष्टप्रवासजनितानि—इष्टस्य=कान्तस्य प्रवासेन=विदेशस्थित्या, विच्छेदेनेति भावः, जनितानि=उत्पादितानि, दुःखानि=कष्टानि, अतिमात्रसुदुःसहानि—अतिमात्रम् = अत्यर्थम् सुदुःसहानि=दुरुद्वहानि, भवन्तीति क्रियाशेषः। अत्र समासोक्तिः काव्यलिङ्गमर्थान्तरन्यासश्चालंकाराः। तृतीयं पताकास्थानकं चाप्यत्रास्ते। वसन्ततिलका छन्दः। लक्षणम्—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥' ३ ॥

टिप्पणी—संस्मरणीयशोभा—केवल स्मरण का विषय है शोभा जिसकी ऐसी। चन्द्रमा के रहने पर रात में ही कुमुदिनी विकसित होती है। चन्द्रमा की अनुपस्थिति में कुमुदिनी मलिन हो जाती है। विकास की अवस्था में कुमुदिनी लोगों की आँखों को अपनी ओर आकृष्ट करती है, परन्तु मलिनावस्था में वही कुमुदिनी आँखों को आनन्दित नहीं करती है। यहाँ कुमुदिनी को नायिका और चन्द्र को नायक के रूप में चित्रित किया गया है। नायक चन्द्र यद्यपि सकलङ्क है, फिर भी कुमुदिनी उसके लिए मलिन हो रही है। इसी प्रकार नायक दुष्यन्त भी सकलङ्क है, किन्तु शकुन्तला उसके लिए विकल है।

इस श्लोक में समासोक्ति, काव्यलिङ्ग तथा अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। शकुन्तला

शिष्यः—यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि।
(इति निष्क्रान्तः)

अनसूया—प्रतिबुद्धाऽपि किं करिष्यामि । न
उचितेष्वपि निजकरणीयेषु हस्तपादं प्रसरति। काम इ...

को शीघ्र राजा के पास भेजना चाहिए—यह गूढ अर्थ होने से तृतीय पताकास्थान...
इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका । छन्द का लक्षण—

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ ३ ॥

व्युत्पत्तिः—अन्तर्हिते—अन्तर्+√धा+क्त+विभक्तिकार्यम् ।

कुमुद्वती—कुमुद+ड्मतुप्+ङीप्+विभक्तिकार्यम् ॥३॥

जीवानन्द विद्यासागर, शारदारञ्जन राय तथा चौखम्भा के संस्करणों में
निम्नलिखित दो और श्लोक दिये गये हैं। काले तथा निर्णयसागर के संस्करणों में
ये श्लोक नहीं हैं—

१—अपि च—कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रञ्जयत्यग्रसन्ध्या
दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः ।
वेदिप्रान्तात् खुरविलिखितादुत्थितश्चैष सद्यः
पश्चादुच्चैर्भवति हरिणः स्वाङ्गमायच्छमानः ॥

शब्दार्थः—अग्रसन्ध्या=प्रातःकालीन सन्ध्या, कर्कन्धूनाम्=बेर की झाड़ियों के
उपरि=ऊपर, तुहिनम्=ओस की बूदों को, रञ्जयति=रक्तवर्ण की बना रही है,
वीतनिद्रः=जागा हुआ, मयूरः=मोर, दार्भम्=कुशनिर्मित, उटजपटलम्=कुटीर की
छत को, मुञ्चति=छोड़ रहा है; च=और, एषः=यह, हरिणः=हरिण, खुरविलिखितात्
=खुर से खोदे गये, वेदिप्रान्तः=यज्ञ-वेदी के पार्श्वभाग से, उत्थितः=उठकर, स्वाङ्गम्=
अपनी शरीर को आयच्छमानः=फैलाता हुआ, सद्यः=शीघ्र ही, पश्चात्=...
पिछले भाग से, उच्चैः=ऊँचा, भवति=हो रहा है ॥

अर्थः—और भी

प्रातःकालीन सन्ध्या बेर की झाड़ियों के ऊपर ओस की बूँदों को रक्तवर्ण बना
रही है। जगा हुआ मोर कुशनिर्मित कुटीर की छत को छोड़ रहा है, और यह ...
खुर से खोदे गये यज्ञ-वेदी के पार्श्वभाग से उठकर अपनी शरीर को फैलाता हुआ ...
ही शरीर के पिछले भाग से ऊँचा हो रहा है ॥

शिष्यः—तो उपस्थित इस हवन की वेला को गुरु (कण्व) से निवेदन करता हूँ। अर्थात् चलकर गुरु से निवेदन करता हूँ कि हवन की वेला हो गई है)।

(ऐसा कहकर निकल गया)

अनसूया—जगकर भी क्या करूँगी ? दैनिक कार्यों में भी हाथ-पैर नहीं चल रहे

२—अपि च—पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि कृत्वा सुमेरोः
क्रान्तं येन क्षपिततमसा मध्यमं धाम विष्णोः।
सोऽयं चन्द्रः पतति गगनादल्पशेषैर्मयूखै—
रत्यारूढिर्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा ॥

शब्दार्थः—क्षपिततमसा = अन्धकार को नष्ट करके; येन = जिसने, क्षितिधरगुरोः = पर्वतराज, सुमेरोः = सुमेरु के, मूर्ध्नि = शृंग पर, पादन्यासम् = पैर (किरण) विन्यास को, कृत्वा = करके, विष्णोः = विष्णु के, मध्यमम् = मध्यम, धाम = स्थान को, क्रान्तम् = व्याप्त कर लिया था, सः = वही, अयम् = यह, चन्द्रः = चन्द्रमा, अल्पशेषैः = थोड़े वचे हुए, मयूखैः = किरणों के साथ, गगनात् = आकाश से, पतति = गिर रहा है; महताम् = महान् लोगों की, अत्यारूढिः = अत्यधिक उन्नति, अपभ्रंशनिष्ठा = पतन-परिणामवाली, भवति = हुआ करती है।

अर्थः—और भी—

अन्धकार को नष्ट करके जिसने पर्वतराज सुमेरु के शृंग पर पैर (किरण) विन्यास करके विष्णु के मध्यम स्थान (आकाश) को व्याप्त कर लिया था, वहीं यह चन्द्रमा थोड़े वचे हुए किरणों के साथ आकाश से गिर रहा है। महान् लोगों की अत्यधिक उन्नति पतन-परिणामवाली हुआ करती है।

शब्दार्थः—अपटीक्षेपेण = बिना पर्दा हटाए ही, अपने हाथ से पर्दा हटाकर, प्रविश्य = प्रवेश करके। त्रिपयपराङ्मुखस्य = विषयों से विमुख, अनार्यम् = अनुचित, अभद्र, आचरितम् = आचरण किया गया है। होमवेलाम् = हवन की वेला को ॥

टीका—प्रविश्येति। अपटीक्षेपेण—पट्याः = पटस्य, जवनिकायाः इत्यर्थः, क्षेपः = अपसारणम् पटीक्षेपः = जवनिकापसारणम्, न पटीक्षेपः अपटीक्षेपस्तेन। जवनिकायामनपसृतायामेव प्रविष्टाऽनसूया। यद्वा—अपटी = जवनिका ('अपटी काण्डपटीका प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी' इति हलायुधः), तस्याः क्षेपेण, तां निरस्येत्यर्थः। प्रविश्य = रङ्गमञ्चमागत्येत्यर्थः। विषयपराङ्मुखस्य—विषयेभ्यः = इन्द्रियग्राह्येभ्यः पराङ्मुखस्य =

सकामो भवतु, येनासत्यसन्धे जने शुद्धहृदया सखी
कारिता । अथवा दुर्वाससः शाप एष विकारयति । अन्य
कथं स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावतः कालस्य लेख
त्रमपि न विसृजति । तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं
विसृजावः । दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम् ।
सखीगामी दोष इति व्यवसितापि न पारयामि प्रवास
निवृत्तस्य तातकाश्यपस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वां
न्तलां निवेदयितुम् । इत्थंगतेऽस्माभिः किं करणीय
[पडिबुद्धा वि किं करिस्सं । ण मे उइदेसु वि णिअकरणि
हत्थपाआ पसरन्ति । कामो दाणिं सकामो होदु, जण असच्च
जणे सुद्धहिअआ सही पदं कारिदा । अहवा दुव्वाससो सावो
विआरेदि । अण्णहा कहं सो राएसी तारिसाणि मन्तिअ एत्ति
कालस्स लेहमेत्तं पि ण विसज्जेदि। ता इदो अहिण्णाणं अङ्गुली
तस्स विसज्जेम । दुक्खसीले तवस्सिजणे को अब्भत्थीअदु । पं
गामी दोसो त्ति ववसिदा वि ण पारेमि पवासपडिणि
तादकस्सवस्स दुस्सन्तपरिणीदं आवण्णसत्तं सउन्दलं णिवे
इत्थंगदे अम्हेहिं किं करणिज्जं ।]

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—(सहर्षम्) सखि, त्वरस्व त्व
शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकं निर्वर्तयितुम् । [सहि, तुवर
सउन्दलाए पत्थानकोदुअं णिव्वत्तिदुं ।]

अनसूया—सखि, कथमेतत् । [सहि, कहं एदं ।]

प्रियंवदा—श्रृणु । इदानीं सुखशयनपृ
शकुन्तलासकाशं गतास्मि । [सुणाहि । दाणि सुहसइदपु
सउन्दलासआसं गदम्हि ।]

अनसूया—ततस्ततः । [तदो तदो ।]

प्रियंवदा—तावदेनां लज्जावनतमुखीं परि
तातकाश्यपेनैवमभिनन्दितम् । दिष्टचा धूमाकुलितदृ
पावक एवाहुतिः पतिता । वत्से, सुशिष्यपरिदत्ता वि
शोचनीयासि संवृत्ता । अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां

हूँ। काम अब सफलमनोरथ हो, जिसने झूठी प्रतिज्ञावाले व्यक्ति के साथ निष्कपट हृदय-वाली सखी (शकुन्तला) का प्रेम कराया है। अथवा दुर्वासा का शाप यह गड़बड़ कर रहा है। नहीं तो, कैसे वह राजर्षि उस प्रकार के आश्वासनों को देकर भी इतने दिनों से एक पत्र भी नहीं भेज रहा है। तो यहाँ से, पहचान के लिये दी गई अंगूठी उसके पास हम भेजेंगी। किन्तु निरन्तर कष्ट सहन करने वाले तपस्विजनों में किससे (सन्देश पहुँचाने के लिये) प्रार्थना की जाय? सखी (शकुन्तला) पर दोष आ जायगा। इसलिये (कहने के लिये) उद्यत होकर भी मैं प्रवास से वापस आये हुए पिता कण्व से यह निवेदन करने में असमर्थ हूँ कि शकुन्तला दुष्यन्त के साथ (गान्धर्व विधि से) विवाहित हो गई है और वह गर्भिणी है। ऐसी दशा में हम क्या करें? (कुछ समझ में नहीं आता)।

(प्रवेश करके)

प्रियंवदा—(प्रसन्नतापूर्वक) सखी, शकुन्तला के प्रास्थानिक मङ्गल को पूरा करने के लिये जल्दी करो, जल्दी करो।

अनसूया—सखी, यह कैसे (संभव हुआ)?

प्रियंवदा—सुनो। सुखपूर्वक सोना हुआ या नहीं यह पूछने की इच्छा से मैं अभी-अभी शकुन्तला के पास गई थी।

अनसूया—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ)?

प्रियंवदा—तब लज्जा के कारण नीचे मुख झुकाई हुई इस (शकुन्तला) को गले लगाकर पिता कण्व के द्वारा इस प्रकार अभिनन्दन किया गया—सौभाग्य से धुएँ से विह्वल आँखवाले भी यजमान की आहुति ठीक अग्नि में ही पड़ी है। बेटी, योग्य शिष्य को प्रदान की गई विद्या की तरह तुम अशोचनीय हो गई हो। आज ही ऋषियों की देखरेख में तुम्हें (तुम्हारे) पति के पास भेज दे रहा हूँ।

निवृत्तस्य, जनस्य = अस्मत्सदृशस्य लोकस्य, अनार्यम् = अनुचितम्, अभद्रमिति यावत्, आचरितम् = अनुष्ठितम्। होमवेलाम्—होमस्य = हवनस्य वेलाम् = समयम्॥

टिप्पणी—अपटीक्षेपेण—नियम यह है कि बिना पूर्वसूचना के किसी पात्र का रङ्गमञ्च पर प्रवेश नहीं हुआ करता। किन्तु जब कभी कोई अत्यावश्यक सूचना देनी होती है अथवा किसी घबराहट की अवस्था में पात्र अपने हाथ से पर्दे को जरा एक ओर करके बगल से रङ्गमञ्च पर आ जाते हैं। इसे अपटीक्षेप प्रवेश कहते हैं। विशेष के लिये टीका देखिये।

अनार्यम्—दुष्यन्त जब से आश्रम से गया तब से शकुन्तला की कोई हाल-चाल भी नहीं मँगाई। अपने वादों को पूरा नहीं किया। यही कारण है कि अनसूया उसके व्यवहार को अनुचित बतला रही है।

व्युत्पत्तिः—विदितम्—√विद् + क्त कर्मणि वर्तमाने + विभक्तिः। अनार्यम्—अर्य्यते = गम्यते अनुष्ठीयते इति यावत् इति √ऋ + ण्यत् कर्मणि आर्यम् न + आर्यम् = अनार्यम्॥

शब्दार्थः—प्रबुद्धा = जगी हुई, जगकर, उचितेषु = अभ्यस्त, निजकरणीयेषु = अपने दैनिक कार्यों में। सकामः = सफल मनोरथ, पूर्ण इच्छावाला, असत्यसन्धे = झूठी प्रतिज्ञा-वाले, शुद्धहृदया = निष्कपटहृदयवाली। अभिज्ञानम् = निशानी, पहचान के लिये दी गई, अङ्गुलीयकम् = अँगूठी। सखीगामी = सखी पर आ पड़ेगा, व्यवसिता = उद्यत, तत्पर, प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य = परदेश से वापस आये हुए, दुष्यन्तपरिणीताम् = दुष्यन्त के साथ विवाहित, आपन्नसत्त्वाम् = गर्भिणी, इत्थंगते = ऐसी दशा में॥

टीका—अनसूयेति। प्रबुद्धा = शयनादुत्थिता, उचितेषु = अभ्यस्तेषु, ('अभ्यस्तेषूचितं न्याय्यम्' इति [illegible]), [illegible] = स्वकीयेषु

सकाशं विसर्जयामीति । [दाव एणं लज्जावणदमुहिं परिस्स-
तादकस्सवेण एव्वं अहिणन्दिदं । दिट्ठिआ धूमाउलिदर्दिट्ठि-
वि जअमाणस्स पावए एव्व आहुदी पडिदा । वच्छे, सुसिस्स-
दिण्णा विज्जा विअ असोअणिज्जासि संवुत्ता । अज्ज एव्व इ-
क्खिदं तुमं भत्तुणो सआसं विसज्जेमि त्ति ।]

अनसूया—अथ केन सूचितस्तातकाश्यपस्य वृत्ता-
[अह केण सूइदो तादकस्सवस्स वुत्तन्तो ।]

प्रियंवदा—अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं
छन्दोमय्या वाण्या । [अग्गिसरणं पविट्ठस्स सरीरं विणा छन्दो-
वाणिआए ।]'

अनसूया—(सविस्मयम्) कथमिव । [कहं विअ ।]

करणीयेषु = प्रातःकृत्यादिषु, कामिनां प्रतारणारूपस्य स्वधर्मस्य सिद्धत्वात्कामः
सफलमनोरथः, असत्यसन्धे—असत्या = अनृता सन्धा = प्रतिज्ञा यस्यासौ तादृ-
अनृतभाषिणि इत्यर्थः, शुद्धहृदया—शुद्धम् = पवित्रम् हृदयम् = अन्तःकरणम्
तादृशी, सरलेत्यर्थः, अभिज्ञानम्—अभिज्ञायते = परिचीयते अनेनेति अभिज्ञानम्-
अङ्गुलीयकम् = अङ्गुलिमुद्राम् । सखीगामी—सखीम् = शकुन्तलामित्यर्थः गामी-
इति = इति हेतोः, व्यवसिता = उद्युक्ता, प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य—प्रवासात् =
निवासात् प्रतिनिवृत्तस्य = प्रत्यागतस्य, दुष्यन्तपरिणीताम्—दुष्यन्तेन गान्ध-
परिणीताम् = कृतविवाहमङ्गलाम्, अतः आपन्नसत्त्वाम्—सत्त्वम् = गर्भम्
प्राप्ता इति आपन्नसत्त्वा = गर्भिणी ताम्, इत्थंगते = अस्यामवस्थायामित्यर्थः ॥

टिप्पणी—कामः—युवक-युवतियों को प्रेम-पाश में फँसा कर पीड़ित
कामदेव की इच्छा रहती है । अतः अब उसकी इच्छा पूरी हो गई है, क्योंकि
दुष्यन्त के लिये मर रही है और वह इसकी खबर भी नहीं ले रहा है ।

अङ्गुलीयकम्—अनसूया उस अँगूठी की बात कर रही है, जिसे दुष्यन्त ने
समय शकुन्तला को दिया था ।

दुःखशीले—तपस्वी लोग दुःख झेलकर तपस्या करने वाले हैं । अतः प्रे-
ले जाने में कौन सहायक होगा ?

व्युत्पत्तिः—प्रतिबुद्धा—प्रति + √बुध् + क्त + टाप् + विभक्तिकार्यम् ।
√कृ + णिच् + क्त + टाप् + विभक्तिकार्यम् । **करणीयम्**—√कृ + अनीयर् + विभ-

शब्दार्थः—प्रस्थानकौतुकम् = प्रास्थानिक मङ्गल, प्रस्थान के समय किये
मङ्गल को, **निर्वर्तयितुम्** = निष्पन्न करने के लिये, पूरा करने के लिये । सुख-
= सुखपूर्वक सोना हुआ या नहीं यह पूछने की इच्छावाली, यह पूछने की

टीका—प्रियंवदेति । प्रस्थानकौतुकम्—प्रस्थाने = गमनसमये कौतुकम् =
गतमङ्गलम्, ('कौतुकं नर्मणीच्छायामुत्सवे कुतुके मुदि । पारम्पर्यागतख्याते-
सूत्रयोः ॥ इति हैमः), निर्वर्तयितुम् = संपादयितुम् । सुखशयनपृच्छिका-

अनसूया—अच्छा, किसके द्वारा तात काश्यप (कण्व) को यह समाचार बतलाया गया ?

प्रियंवदा—यज्ञशाला में गये हुए (उनको) अशरीरिणी छन्दोमयी वाणी के द्वारा (यह सूचना दी गयी) ।

अनसूया—(आश्चर्य के साथ) किस प्रकार ?

रात्रौ तव सुखशयनं जातमिति या पृच्छति सा सुखशयनपृच्छिकेत्युच्यते, तेन प्रातः सुखशयनं प्रष्टुं गतास्मीत्यर्थः ॥

टिप्पणी—**प्रस्थानकौतुकम्**—कौतुक का अर्थ है—माङ्गलिक कार्य अथवा मङ्गलाचार । प्रस्थान के समय किये जाने वाले माङ्गलिक कृत्य को प्रस्थान-कौतुक कहते हैं ॥

शब्दार्थः—लज्जावनतमुखीम् = लज्जा के कारण नीचे मुख झुकाई हुई, परिष्वज्य = छाती लगाकर, गले लगाकर, अभिनन्दितम् = अभिनन्दन किया गया । दिष्टया = सौभाग्य से, धूमाकुलितदृष्टेः = धुएँ से विह्वल आँखवाले । अशोचनीया = अशोचनीय, संवृत्ता = हो गई हो । ऋषिरक्षिताम् = ऋषियों की देखरेख में ॥

टीका—**प्रियंवदेति** । लज्जावनतमुखीम्—लज्जया = व्रीडया अवनतम् = नम्रम् मुखम् = आननम् यस्याः सा ताम्, परिष्वज्य = आलिङ्ग्य, अभिनन्दितम् = सहर्षं समर्थितम् । दिष्टया = सौभाग्येन, धूमाकुलितदृष्टेः—धूमेन आकुलिते = व्याकुले दृष्टी = लोचने यस्यासौ तस्य । अशोचनीया = शोचितुमनर्हा, संवृत्ता = सञ्जाता । ऋषिपरिरक्षिताम्—ऋषिभिः = मुनिभिः स्वशिष्यैः परिरक्षिताम् = गोपितां विधायेत्यर्थः ।

टिप्पणी—**धूमाकुलितदृष्टेः**—यजमान हवन कर रहा था । धुएँ से उसकी आँखें व्याकुल हो उठीं । आँखें मूँदे ही उसने आहुति फेंकी । पर सौभाग्य तो यह कि वह जाकर सीधे आग में ही पड़ी । ठीक यही बात शकुन्तला की है । शकुन्तला ने अपने पिता कण्व की आड़ में दुष्यन्त से विवाह किया । पर संयोग और सौभाग्य की बात यह है कि उसने योग्य अभिभावक की अनुपस्थिति में भी सुयोग्य वर का वरण किया है ।

सुशिष्यपरिदत्ता—जिस प्रकार अत्यन्त योग्य शिष्य को पढ़ाई गई विद्या के विषय में गुरु नहीं सोचता कि—मेरी पढ़ाई विद्या का सदुपयोग होगा या नहीं । वह यह खूब जानता है कि मेरी विद्या अवश्य ही बढ़ेगी फैलेगी । इसी प्रकार योग्य पात्र के हाथ में शकुन्तला के पड़ जाने से कण्व को भी कुछ उसके विषय में शोच करने की आवश्यकता नहीं है ।

व्युत्पत्तिः—**परिष्वज्य**—परि + √स्वंज् + ल्यप् । **अभिनन्दितम्**—अभि + नन्द + क्त भावे + विभक्तिकार्यम् ॥

शब्दार्थः—सूचितः = बतलाया गया, वृत्तान्तः = समाचार । अग्निशरणम् = यज्ञशाला में । सविस्मयम् = आश्चर्य के साथ ॥

प्रियंवदा—(संस्कृतमाश्रित्य)

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥४॥

अनसूया—(प्रियंवदामाश्लिष्य) सखि, प्रियं मे। किन्त्वद्यैव शकुन्तला नीयते इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि। [सहि, पिअं मे। किंदु अज्ज एव्व सउन्दला णीअदि त्ति उक्कण्ठासाहारणं परितोसं अणुहोमि ।]

प्रियंवदा—सखि, आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः। सा तपस्विनी निर्वृता भवतु । [सहि, वअं दाव उक्कण्ठं विणोदइस्सामो । सा तवस्सिणी णिव्वुदा होदु ।]

अनसूया—तेन ह्येतस्मिंश्चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद्गके एतन्निमित्तमेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका । तदिमां हस्तसंनिहितां कुरु । यावदहमपि तस्यै गोरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानीति मङ्गलसमा-

---

टीका—अनसूयेति । सूचितः=कथितः, वृत्तान्तः=समाचारः । अग्निशरणम्=अग्निगृहम्, होमशालामित्यर्थः । सविस्मयम्—विस्मयेन=आश्चर्येण सहितं सविस्मयम्=साश्चर्यम् ॥

टिप्पणी—अग्निशरणम्—यज्ञशाला को अग्निशरण कहते हैं। इसमें तीन कुण्ड बने होते हैं। तीनों में तीन अग्नियाँ स्थापित रहती हैं। इनके नाम हैं—गार्हपत्य अग्नि, आहवनीय अग्नि तथा दक्षिणाग्नि ।

छन्दोमय्या—छन्दोबद्ध आकाशवाणी के द्वारा ।

व्युत्पत्तिः—सूचितः—√सूच्+क्त+विभक्तिः । प्रविष्टस्य—प्र+√विश्+क्त+षष्ठ्येकवचने विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—ब्रह्मन्, दुष्यन्तेन, आहितम्, तेजः, भुवः, भूतये, दधानाम्, तनयाम्, अग्निगर्भाम्, शमीम् इव, अवेहि ॥४॥

शब्दार्थः—ब्रह्मन् = हे ब्रह्मन्, दुष्यन्तेन=दुष्यन्त के द्वारा, आहितम् = स्थापित, तेजः=तेज को, भुवः=भूमण्डल के, भूतये=कल्याण के लिये, दधानाम्=धारण की हुई, तनयाम्=पुत्री को, अग्निगर्भाम्=अपने अन्दर आग को धारण करने वाली, शमीम्=शमी की, इव=तरह, अवेहि=समझो ॥४॥

टीका—दुष्यन्तेनेति । हे ब्रह्मन्=हे वेदविदां वर काश्यप, दुष्यन्तेन=राज्ञा दुष्यन्तेन, 'नामानुकीर्तनेन सोमवंशोद्भवत्वेन किमप्याभिजात्यमौदार्यविनयादिगुणसंपन्नत्वं च

प्रियंवदा—(संस्कृत भाषा का आश्रय लेकर अर्थात् संस्कृत में)

हे ब्रह्मन्, दुष्यन्त के द्वारा स्थापित तेज (वीर्य) को, भूमण्डल के कल्याण के लिये, धारण की हुई पुत्री को, अपने अन्दर आग को धारण करने वाली शमी की तरह, समझो ॥ ४ ॥

अनसूया—(प्रियंवदा का आलिङ्गन करके) सखी, मेरे लिए बहुत प्रिय (समाचार) है। किन्तु आज ही शकुन्तला (पतिगृह) ले जाई जा रही है, इसलिये खेद के कारण सामान्य सन्तोष का अनुभव कर रही हूँ।

प्रियंवदा—सखी, हम दोनों तो (अपने) खेद को दूर कर लेंगी। वह बेचारी सुखी हो।

अनसूया—तो ठीक है। इस आम की डाली में लटकते हुए नारियल के गोल्लक (डिब्बे) में बहुत दिनों तक ताजी रहने वाली केसर की एक सुन्दर-सी माला, इसी अवसर के लिए ही, मैंने रख छोड़ी है। तो इसे तुम हाथ में ले लो। मैं भी तब तक उसके लिए गोरोचन, तीर्थों की मिट्टी तथा दूब के अग्रभाग आदि माङ्गलिक अङ्गराग (की सामग्री) को तैयार करती हूँ।

व्यज्यते' इति राघवभट्टः, आहितम् = निहितम्, निषिक्तमित्यर्थः, तेजः = वीर्यम्, भुवः = पृथिव्याः, भूतये = कल्याणाय, दधानाम् = धारयन्तीम्, तनयाम् = पुत्रीं शकुन्तलाम्, अग्निगर्भाम्—अग्निः = वह्निः गर्भे = अन्तराले यस्याः सा तादृशीम्, शमीम् = शमीवृक्षम्, इव = यथा, भृगुशापाद्भीतो वह्निः शमी वृक्षमध्यमगच्छदितीतिवृत्तं महाभारते शल्यपर्वणि, अवेहि = जानीहि। 'अग्निगर्भां शमीमिव' इति सहजपूतत्वं ध्वनितमिति वीरराघवः। अत्रोपमालङ्कारः। मार्गनामकं गर्भसन्ध्यङ्गं चास्ति। अनुष्टुप् छन्दः ॥ ४ ॥

टिप्पणी—भूतये भुवः—इससे यह सूचित होता है कि शकुन्तला का यह गर्भस्थ बेटा आगे चलकर चक्रवर्ती सम्राट् होगा।

अग्निगर्भां शमीम्—शमी वृक्ष के अन्दर अग्नि के प्रवेश की घटना महाभारत के अनुशासन पर्व तथा शल्य पर्व में वर्णित है। अनुशासन पर्व के अनुसार घटना इस प्रकार है—देवों की प्रार्थना पर अग्नि ने शिव के वीर्य को धारण किया। किन्तु वीर्य के तेज को सहन करने की शक्ति अग्नि में न थी। अतः उसने क्रमशः पीपल और शमी में प्रवेश किया। देवों ने अग्नि को ढूँढ़कर शमी को अग्नि का स्थायी आधार बना दिया। दूसरी कथा शल्य पर्व में इस प्रकार है—भृगु के शाप से भयभीत अग्नि ने शमी वृक्ष में प्रवेश किया। यही कारण है कि थोड़ी रगड़ से भी शमी से आग प्रकट हो जाती है। यहाँ उपमा अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है ॥४॥

व्युत्पत्तिः—भूतये—√भू × क्तिन् + चतुर्थ्येकवचने विभक्ति-कार्यम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—उत्कण्ठासाधारणम् = खेद के कारण सामान्य सन्तोष का। तपस्विनी = बेचारी, निर्वृता = सुखी। चूतश[illegible] में लटकते हुए, नारिकेलसमुद्गके = नारियल के गोल्लक।

[illegible]ष्यन्त की राजधानी से उत्तरपूर्व की ओर ५६ मील

लम्भनानि विरचयामि । [तेण हि एदस्सिं चूदसाहालम्बिदे णारिएरसमुग्गए एतण्णिमित्तं एव्व कालान्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ । ता इमं हत्थसण्णिहिदं करेहि । जाव-अहंपि से गोरोअणं तित्थमित्तिअं दुव्वाकिसलआणि त्ति मंगल-समालंभणाणि विरएमि ।]

प्रियंवदा—तथा क्रियताम् । [तह करीअदु ।]

(अनसूया निष्क्रान्ता । प्रियंवदा नाट्येन सुमनसो गृह्णाति ।)

(नेपथ्ये)

गौतमि, आदिश्यन्तां शार्ङ्गरवमिश्राः शकुन्तला-नयनाय ।

प्रियंवदा—(कर्णं दत्त्वा) अनसूये, त्वरस्व त्वरस्व । एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषयः शब्दाय्यन्ते । [अणसूए, तुवर तुवर । एदे क्खु हत्थिणाउरगामिणो इसीओ सद्दावी-अन्ति ।]

वहुत दिनों तक ताजी रहने वाली, निक्षिप्ता=रक्खी गई है, केसरमालिका=केसर की सुन्दर-सी माला । हस्तसंनिहिताम्=हाथ में स्थापित, हाथ में ले लेना । मङ्गलसमा-लम्भनानि=माङ्गलिक-लेपन को, शरीर पर लगाने के लिए माङ्गलिक अङ्गराग अथवा उवटन को ॥

टीका—अनसूयेति । उत्कण्ठासाधारणम्—उत्कण्ठया=विरहखेदेन साधारणम्=सामान्यम्, उत्कण्ठासाधारणं विपादसदृशमिति जीवानन्दविद्यासागरः, तेनोत्कण्ठा परि-तोपश्चेत्युभयमप्यनुभवामीत्यर्थः' इति राघवभट्टः, 'उत्कण्ठया = खेदेन साधारणम्=समानमि'ति शारदारञ्जनरायः, परितोषम् = प्रसन्नताम् । तपस्विनी=वराकी, अनु-कम्पार्हेत्यर्थः, निर्वृता=सुखिता । चूतशाखावलम्बिते—चूतस्य=आम्रस्य शाखायाम्=शमी की, इव अवलम्बिते=अधो लम्बिते, नारिकेलसमुद्गके—नारिकेलस्य सम्पुटे, कालान्तर-टीका—दुष्यन्तेनेति = समयात्ययम् क्षमते इति कालान्तरक्षमा=दीर्घकालेनापि विकृति-न्तेन, 'नामानुकीर्तनेन सोमवंशोद्भव स्थापिता, केसरमालिका = वकुलमाला । हस्तसं-हिताम्=वर्तमानामित्यर्थः । मङ्गलसमालम्भनानि-

प्रियंवदा—वैसा ही करो।

(अनसूया निकल गई। प्रियंवदा फूलों को लेने का अभिनय करती है।)

(पर्दे के पीछे)

गौतमी, शकुन्तला को (हस्तिनापुर) पहुँचाने के लिए शार्ङ्गरव आदि को आदेश दो।

प्रियंवदा—(कान लगाकर) अनसूया, शीघ्रता करो। निश्चय ही ये हस्तिनापुर को जाने वाले ऋषि बुलाये जा रहे हैं।

मङ्गलानि = मङ्गलार्थानि समालम्भनानि = अङ्गरागाणि, मङ्गलसमालम्भनानि = मङ्गलालङ्करणानि इति वीरराघवः; ('समालम्भनमालेपे तिलकेऽलङ्कृतावपि' इति यादवः)॥

टिप्पणी—कालान्तरक्षमा—इस कथन से प्रतीत होता है कि कालिदास के समय में भी आज के रेफ्रिजरेटर (Refrigerator) का कोई छोटा रूप प्रचलित था। उस समय लोग नारियल के गोल्लक में कोई पालिस लगाते थे जिससे उसके भीतर रखी गई चीज बहुत दिनों तक अपने स्वाभाविक रूप में वर्तमान रहा करती थी।

व्युत्पत्तिः—नारिकेलसमुद्गके—सम् + उद् + √गम् + ड (अ) + स्वार्थे कन् + विभक्तिकार्यम्। निक्षिप्ता—नि + √क्षिप् + क्त + टाप् + विभक्तिः॥

शब्दार्थः—सुमनसः = फूलों को। शार्ङ्गरवमिश्राः = शार्ङ्गरव हैं प्रधान जिनमें, शार्ङ्गरव आदि। हस्तिनापुरगामिनः = हस्तिनापुर को जाने वाले॥

टीका—प्रियंवदेति। सुमनसः = पुष्पाणि। 'आपः सुमनसो वर्षा अप्सरःसिकताः समाः। एते स्त्रियां बहुत्वे स्युरेकत्वेऽप्युत्तरत्रयम्'॥ इति। शार्ङ्गरवमिश्राः—शार्ङ्गरवः मिश्रः = प्रधानः येषां ते शार्ङ्गरवप्रधाना इत्यर्थः। हस्तिनापुरगामिनः—हस्तिनापुरं गच्छन्तीति हस्तिनापुरगामिनः॥

टिप्पणी—शार्ङ्गरवमिश्राः—मिश्र शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) मिश्रित अथवा इत्यादि तथा (२) पूज्य अथवा प्रधान। यहाँ मिश्र शब्द प्रधान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

हस्तिनापुर—यहाँ कवि ने काल-क्रम की गड़बड़ी कर दी है। इस नगर को भरत के प्रपौत्र राजा हस्ती ने बसाया था। भरत > सुमन्यु > सुहोत्र > हस्ती। भरत दुष्यन्त का बेटा था। (महाभरत १–९५)। हरिवंशपुराण (अध्याय २०), वायुपुराण (अध्याय ९९ तथा १६५) और विष्णुपुराण (४ अ० १८) में भी इन लोगों का वर्णन है। किन्तु कवि ने अपने काल में वर्तमान हस्तिनापुर को दुष्यन्त की राजधानी के रूप में उल्लिखित कर दिया है। हस्तिनापुर दिल्ली से उत्तरपूर्व की ओर ५६ मील पर स्थित था।

(प्रविश्य समालम्भनहस्ता)

अनसूया—सखि, एहि। गच्छावः। (इति परिक्रामतः।) [सहि, एहि। गच्छम्ह।]

प्रियंवदा—(विलोक्य) एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतीष्टनीवारहस्ताभिः स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति। उपसर्पाव एनाम्। (इत्युपसर्पतः।) [एसा सुज्जोदए एव सिहामज्जिदा पडिच्छिदणीवारहत्थाहिं सोत्थिवअणिकाहिं तावसीहिं अहिणन्दीअमाणा सउन्दला चिट्ठइ। उवसप्पम्ह णं।]

(ततः प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापारा आसनस्था शकुन्तला)

तापसीनामन्यतमा—(शकुन्तलां प्रति) जाते, भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व। [जादे, भत्तुणो बहुमाणसूअअं महादेईसद्दं लहेहि।]

द्वितीया—वत्से, वीरप्रसविनी भव। [वच्छे, वीरप्पसविणी होहि।]

तृतीया—वत्से, भर्तुर्बहुमता भव। (इत्याशिषो दत्त्वा गौतमीवर्जं निष्क्रान्ताः।) [वच्छे, भत्तुणो बहुमदा होहि।]

सख्यौ—(उपसृत्य) सखि, सुखमज्जनं ते भवतु। [सहि, सुहमज्जणं दे होदु।]

शकुन्तला—स्वागतं मे सख्योः। इतो निषीदतम्। [साअदं मे सहीणं। इदो णिसीदह।]

व्युत्पत्तिः—शब्दायन्ते—शब्द+क्यङ्=शब्दाय+णिच्+लटि विभक्त्यादिकार्यम्॥

शब्दार्थः—समालम्भनहस्ता=माङ्गलिक लेपन को हाथ में ली हुई। शिखामज्जिता=शिर धोकर स्नान की हुई, पूर्ण स्नान की हुई, प्रतीष्टनीवारहस्ताभिः=लिया है नीवार हाथ में जिन्होंने, नीवार हाथ में ली हुई, स्वस्तिवाचनिकाभिः=स्वस्तिवाचन का पाठ करती हुई, तापसीभिः=तपस्विनियों से, अभिनन्द्यमाना=अभिनन्दन की जाती हुई॥

टीका—प्रियंवदेति। समालम्भनहस्ता—समालम्भनम्=माङ्गलिकमनुलेपनम् हस्ते=करे यस्याः सा तादृशी। शिखामज्जिता=शिखामज्जनपूर्वकं कृतावगाहा, प्रतीष्टनीवार-

(माङ्गलिक लेपन को हाथ में ली हुई प्रवेश करके)

अनसूया—सखी, आओ चलें। (ऐसा कहकर दोनों चारों ओर घूमती हैं)।

प्रियंवदा—(देखकर) सूर्योदय के समय ही पूर्ण स्नान की हुई यह शकुन्तला, नीवार हाथ में ली हुई स्वस्तिवाचन का पाठ करती हुई तपस्विनियों से, अभिनन्दन की जाती हुई बैठी है। (तो) हम दोनों इसके पास चलें। (ऐसा कहकर उसके पास जाती हैं)।

(तदनन्तर पूर्वनिर्दिष्ट रूप से आसन पर बैठी हुई शकुन्तला प्रवेश करती है)

तपस्विनियों में से एक—(शकुन्तला के प्रति) बेटी, पति के अत्यन्त आदरसूचक महादेवी शब्द को प्राप्त करो।

दूसरी—बिटिया, वीर पुत्र को जन्म देने वाली होओ।

तीसरी—बेटी, पति की अत्यन्त प्यारी बनो।

(इस प्रकार आशीर्वाद देकर गौतमी को छोड़कर सभी निकल गईं)

दोनों सखियाँ— पास में जाकर) सखी, तेरा स्नान सुखकारक हो (अर्थात् तुम सर्वदा सुखी रहो)।

शकुन्तला—मेरी सखियों का स्वागत है। इस ओर बैठिए।

हस्ताभिः—प्रतीष्टाः=गृहीता नीवाराः=यैरेवंभूताः हस्ताः यासां ताभिः, शून्यहस्तानामागमनमनुचितमिति नीवारेत्याद्युक्तिः, स्वस्तिवाचनिकाभिः=स्वस्तिवाचनाधिकारिणीभिः, तापसीभिः=तापसस्त्रीभिः अभिनन्द्यमाना=अनुगृह्यमाना शकुन्तला तिष्ठतीति ॥

टिप्पणी—नीवारहस्ताभिः—आज भी स्त्रियाँ विवाह आदि किसी माङ्गलिक कार्य में खाली हाथ नहीं जातीं। वे हाथ में कोई न कोई अन्न लेकर ही जाती हैं। खाली हाथ वाला अशुभ माना जाता है।

शब्दार्थः—यथोद्दिष्टव्यापारा=पूर्वनिर्दिष्ट कार्योंवाली, पूर्वनिर्दिष्ट रूप से। भर्तुः=पति के, बहुमानसूचकम्=अत्यन्त आदर को सूचित करने वाले, महादेवीशब्दम्=महादेवी शब्द को। वीरप्रसविनी=वीरपुत्र को जन्म देने वाली। बहुमता=अत्यन्त प्रिय। गौतमीवर्जम्=गौतमी को छोड़कर।

टीका—ततः प्रविशतीति। यथोद्दिष्टव्यापारा—यथोद्दिष्टः=पूर्वं निर्दिष्टः व्यापारः=कार्यम् यस्याः सा तादृशी। भर्तुः=स्वामिनः, बहुमानसूचकम्—बहुमानस्य=अत्यादरस्य सूचकम्=अभिव्यञ्जकम्, महादेवीशब्दम्=महादेवीत्यभिधानम्। वीरप्रसविनी—वीरम्=शूरम् प्रसूते=जनयति इति वीरप्रसविनी=वीरमाता। बहुमता=अतिप्रिया। गौतमीवर्जम्=गौतमीं परित्यज्येत्यर्थः।

टिप्पणी—महादेवीशब्दम्—राजा अपनी अत्यन्त प्रियतमा पट्टरानी को सर्वदा महादेवी कहा करता था। महादेवी का ही बेटा राज्य का उत्तराधिकारी हुआ करता था।

व्युत्पत्तिः—वीरप्रसविनी—वीर+प्र+√सू+इनि (इन्) कर्तरि ताच्छील्ये धानुकारिणि वा। मता—√मन्+क्त कर्मणि स्त्रियां टाप् मता ॥

शब्दार्थः—सुखमज्जनम्=सुखदायक स्नान। इतः=इस ओर। मङ्गलपत्राणि=

उभे—(मङ्गलपत्राण्यादाय । उपविश्य) हला, सज्जा भव । यावत्ते मङ्गलसालम्भनं विरचयावः । [हला, सज्जा होहि । जाव दे मङ्गलसमालम्भणं विरएम ।]

शकुन्तला—इदमपि बहु मन्तव्यम् । दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यति । (इति बाष्पं विसृजति ।) [इदं पि बहु मन्तव्वं । दुल्लहं दाणि मे सहीमण्डणं भविस्सदि ।]

उभे—सखि, उचितं न ते मङ्गलकाले रोदितुम् । [सहि, उइणं दे ण मङ्गलकाले रोइदुं ।]

(इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयतः ।)

प्रियंवदा—आभरणोचितं रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यते । [आहरणोइदं रूवं अस्समसुलहेहिं पसाहणेहिं विप्पआरीअदि ।]

(प्रविश्योपायनहस्तावृषिकुमारकौ)

उभौ—इदमलंकरणम् । अलंक्रियतामत्रभवती ।

(सर्वा विलोक्य विस्मिताः ।)

गौतमी—वत्स नारद, कुत एतत् । [वच्छ णारअ, कुदो एदं ।]

प्रथमः—तातकाश्यपप्रभावात् ।

गौतमी—किं मानसी सिद्धिः । [किं माणसी सिद्धिः ।]

माङ्गलिक पत्तों को । सज्जा=सावधान । सखीमण्डनम्=सखियों के द्वारा अलङ्कृत होना । प्रसाधयतः=अलङ्कृत करती हैं ।

टीका—सख्याविति । सुखमज्जनम्—सुखयतीति सुखम्=सुखकरम्, पचाद्यच्, मज्जनम्=स्नानम्, इदं स्नानं ते भाविजीवनस्य मङ्गलकारणं भवत्विति भावः । इतः=अस्यां दिशि, मङ्गलपत्राणि—मङ्गलानाम्=मङ्गलजनकानाम् पत्राणि=पर्णानि, अशोकदूर्वादिपत्राणि मङ्गलजनकानि सन्ति । सज्जा=तत्परा, सावधानेत्यर्थः । सखीमण्डनम्—सखीभ्याम्=वयस्याभ्याम् मण्डनम्=अलङ्करणम् । प्रसाधयतः=अलङ्कुरुतः ॥

टिप्पणी—मङ्गलसालम्भनम्—विवाह आदि के अवसर पर युवतियों के गात्रं

दोनों—(माङ्गलिक पत्तों को लेकर और बैठकर) सखी, सावधान हो जाओ। हम लोग तुम्हारा माङ्गलिक अलङ्करण (सजावट) करेंगी।

शकुन्तला—यह भी बहुत मानने के योग्य है। (क्योंकि) अब मेरे लिए सखियों के द्वारा अलङ्कृत होना दुर्लभ हो जायगा। (ऐसा कहकर आँसू बहाती है)

दोनों—सखी, मङ्गल के समय पर तुम्हारा रोना उचित नहीं है। (ऐसा कहकर आँसू पोंछकर सजाने का अभिनय करती हैं)

प्रियंवदा—आभूषणों के योग्य (शकुन्तला का यह) सौन्दर्य आश्रम में प्राप्य (पुष्प आदि) प्रसाधनों से विकृत किया जा रहा है।

(हाथ में उपहार लिये हुए दो ऋषिकुमार प्रवेश करके)

दोनों—यह है आभूषण। आदरणीया (शकुन्तला) को अलङ्कृत किया जाय।

(सभी देखकर आश्चर्यचकित होती हैं)

गौतमी—वत्स नारद, कहाँ से यह (प्राप्त हुआ)?

पहला—पिता कण्व के प्रभाव से।

गौतमी—क्या (यह उनके) मानसिक संकल्प के फल हैं?

पर कस्तूरी आदि से फूल-पत्तियाँ बनाई जाती थीं। उनके जूड़े में, कानों में तथा बाहों आदि में फूल तथा पत्तियाँ बाँधी जाती थीं। यही मङ्गल समालम्भन कहा जाता है।

व्युत्पत्तिः—उपसृत्य—उप+√सृ+ल्यप्। उपविश्य—उप+√विश+ल्यप्। मन्तव्यम्—√मन्+तव्यत्+विभक्तिः। रोदितम्—√रुद्+तुमुन्॥

शब्दार्थः—आभरणोचितम्=आभूषणों के योग्य, आश्रमसुलभैः=आश्रम में प्राप्य, प्रसाधनैः=प्रसाधनों से, विप्रकार्यते=विकृत किया जा रहा है। उपायनहस्तौ=हाथ में उपहार लिये हुए। अलङ्करणम्=आभूषण। अत्रभवती=आदरणीया शकुन्तला। विस्मिताः=आश्चर्य से चकित। मानसी=मानसिक, सिद्धिः=सफलता॥

टीका—प्रियंवदेति। आभरणोचितम्—आभरणानाम्=आभूषणानाम्, रत्नाद्यलङ्काराणामित्यर्थः, उचितम्=योग्यम्, आश्रमसुलभैः—आश्रमे=तपोवनाश्रमे सुलभैः=सुखप्राप्यैः, प्रसाधनैः=मञ्जरीपल्लवादिभिरलङ्करणैरित्यर्थः, विप्रकार्यते=विकृतं क्रियते इत्यर्थः। उपायनहस्तौ—उपायनम्=उपहारद्रव्याणि हस्तेषु=करेषु ययोस्तौ। अलङ्करणम्=आभूषणम्। अत्रभवती=आदरणीया शकुन्तला। विस्मिताः=आश्चर्यचकिताः। मानसी=सङ्कल्पजा सिद्धिः=सफलता, किं मनसा चिन्तनमात्रेणैवैतेषां समुपलब्धिर्जातेति प्रश्नाभिप्रायः॥

टिप्पणी—आभरणोचितम्—संसार की बहुत-सी वस्तुएँ प्रसाधन कर देने से द्विगुणित सुन्दर हो जाती हैं। शकुन्तला का अनुपम सौन्दर्य बहुमूल्य अलङ्कारों से सजा

द्वितीयः—न खलु । श्रूयताम् । तत्रभवता वयमाज्ञप्ताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरतेति । तत इदानीम्—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ॥५॥

देने पर अत्यन्त लुभावना बन जाता था। यही कारण है कि प्रियंवदा उसे आभरणों के योग्य बतला रही है।

विप्रकार्यते—विकृत किया जा रहा है। आभूषणों से चेहरे का सौन्दर्य बढ़ता है। किन्तु इन फूलों-पत्तों से तो शकुन्तला का दमकता रूप कुछ भद्दा-सा ही प्रतीत होता है। इनसे शकुन्तला के सौन्दर्य की श्रीवृद्धि नहीं अपितु शकुन्तला के सौन्दर्य से इनकी श्रीवृद्धि हो रही है।

मानसी सिद्धिः—मन से सोचते ही जो वस्तु आकर सामने उपस्थित हो जाय उसे मानसी सिद्धि अथवा मानसिक संकल्प का फल कहते हैं।

वनस्पतिभ्य.—आजकल वनस्पति शब्द का प्रयोग वृक्षमात्र के लिए किया जाता है। किन्तु वनस्पति का पारिभाषिक अर्थ है—विना पुष्प के ही फल प्रदान करने वाले वृक्ष। 'अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।' (मनु० ३–४७)।

व्युत्पत्तिः—प्रसाधनैः—प्र + √ साध् + णिच् + ल्युट् करणे + विभक्तिकार्यम्। विप्रकार्यते—वि + प्र + √कृ + णिच् + लट् ते कर्मणि। सिद्धिः—√ सिध् + क्तिन् + विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—(नः), केनचित्, तरुणा, इन्दुपाण्डु, माङ्गल्यम्, क्षौमम्, आविष्कृतम्; केनचित्, चरणोपभोगसुलभः, लाक्षारसः, निष्ठ्यूतः, अन्येभ्यः, आपर्वभागोत्थितैः, तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः, वनदेवताकरतलैः, आभरणानि, दत्तानि ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—(नः = हम लोगों के लिए), केनचित् = किसी, तरुणा = वृक्ष के द्वारा, इन्दुपाण्डु = चन्द्रमा की तरह धवल, माङ्गल्यम् = माङ्गलिक, क्षौमम् = रेशमी वस्त्र, आविष्कृतम् = प्रकट किया गया, प्रकट करके दिया गया; केनचित् = किसी (वृक्ष) के द्वारा, चरणोपभोगसुलभः = पैरों में उपयोग के योग्य, लाक्षारसः = अलक्तक, महावर, निष्ठ्यूतः = चुवाया गया, टपकाया गया; अन्येभ्यः = अन्य (वृक्षों) से, आपर्व-

दूसरा—नहीं। सुनिये। पूज्य (पिता कण्व) के द्वारा हम लोगों को आज्ञा मिली कि—शकुन्तला (को सजाने) के लिए पेड़-पौधों से फूलों को चुनकर लाओ। उसके बाद अब—

(हम लोगों के लिए) किसी वृक्ष के द्वारा चन्द्रमा की तरह धवल माङ्गलिक रेशमी वस्त्र प्रकट किया गया (अर्थात् प्रकट करके दिया गया)। किसी (वृक्ष) के द्वारा पैरों में उपयोग के योग्य अलक्तक टपकाया गया (अर्थात् टपकाकर दिया गया)। अन्य (वृक्षों) के द्वारा कलाई तक निकले हुए तथा उनके निकलते हुए किसलयों (कोपलों) की प्रतिस्पर्धा करने वाले वन-देवता के करतलों से आभूषण दिये गये ॥५॥

भागोत्थितैः = कलाई तक निकले हुए, तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः = उनके निकलते हुए किसलयों (कोपलों) की प्रतिस्पर्धा करने वाले, वनदेवताकरतलैः = वनदेवता के करतलों से, आभरणानि = आभूषण, दत्तानि = दिये गये ॥ ५ ॥

टीका—क्षौममिति। नः = अस्मभ्यमित्यध्याहार्यम्, केनचित् तरुणा = वृक्षेण, इन्दुपाण्डु—इन्दुवत् = चन्द्रवत् पाण्डु = शुभ्रम्, माङ्गल्यम्—मङ्गलकर्मणि साधु माङ्गल्यम् = मङ्गलकर्मयोग्यम्, क्षौमम् = दुकूलम्, आविष्कृतम् = प्रकटीकृतम्, आविष्कृत्य दत्तमित्यर्थः; केनचित्तरुणा, चरणोपभोगसुलभः—चरणयोः = पादयोः उपभोगः = उपयोगः, रञ्जनादिरित्यर्थः, तत्र सुलभः = योग्यः, लाक्षारसः = अलक्तकद्रवः, निष्ठ्यूतः = निःसार्य दत्तः इत्यर्थः; अन्येभ्यः = अपरेभ्यो वृक्षेभ्यः, आपर्वभागोत्थितैः—पर्वणः = सन्धेः भागः = प्रदेशः मणिबन्ध इत्यर्थः, तस्मात् आ = तत्पर्यन्तमित्यर्थः उत्थितैः = निर्गतैः, अत एव तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः—तेषाम् = तद्वृक्षाणामित्यर्थः, किसलयानि = नवपल्लवानि तेषां उद्भेदाः = विकाशाः उद्भिन्नानि किसलयानीत्यर्थः, तेषां प्रतिद्वन्द्विभिः = तत्सदृशैरित्यर्थः, वनदेवताकरतलैः—वनदेवतानाम् = वनाधिष्ठातृदेवीनाम्, करतलैः = आलोहितैः हस्तैः, आभरणानि = आभूषणानि, दत्तानि = अर्पितानि। अत्रोपमालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ ५ ॥

टिप्पणी—क्षौमम्—क्षुमायाः विकारः क्षौमम्। क्षुमा सन को कहते हैं।

अन्येभ्यः—अन्येभ्यः उत्थितैः = अन्य वृक्षों से निकले हुए। यहाँ उत्थितैः को ध्यान में रखते हुए अन्येभ्यः में पञ्चमी है। अतः यहाँ प्रक्रमभङ्ग दोष है। केनचित् की भाँति तृतीया का बहुवचन होना चाहिए था ॥ ५ ॥

इस श्लोक में उपमालङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥ ५ ॥

व्युत्पत्तिः—क्षौमम्—क्षुमायाः विकारः, क्षुमा + अण् + विभक्तिकार्यम्। माङ्गल्यम्—मङ्गलमेव माङ्गलम्—मङ्गल + अण् स्वार्थे = माङ्गलम्, माङ्गले साधु—माङ्गल + यत् = माङ्गल्य + विभक्तिकार्यम् ॥ ५ ॥

प्रियंवदा—(शकुन्तलां विलोक्य) हला, अनयाऽभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीः। (शकुन्तला व्रीडां रूपयति।) [हला, इमाए अब्भुववत्तीए सूइआ दे भत्तुणो गेहे अणुहोदव्वा राअलच्छि।]

प्रथमः—गौतम, एह्येहि। अभिषेकोत्तीर्णाय काश्यपाय वनस्पतिसेवां निवेदयावः।

द्वितीयः—तथा। (इति निष्क्रान्तौ।)

सख्यौ—अये, अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः। चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु त आभरणविनियोगं कुर्वः। [अए, अणुवजुत्तभूसणो अअं जणो। चित्तकम्मपरिअएण अंगेसु द आहरणविणिओअं करेम्ह।]

शकुन्तला—जाने वां नैपुणम्। [जाणे वो णेउणं।]

(उभे नाट्येनालंकुरुतः।)

(ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः काश्यपः।)

काश्यपः—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥६॥

(इति परिक्रामति।)

शब्दार्थः—हला = सखी, अभ्युपपत्त्या = अनुग्रह से, अनुभवितव्या = अनुभव हो जायगी। अभिषेकोत्तीर्णाय = स्नान करके (नदी से) निकले हुए, वनस्पतिसेवाम् = वृक्षों की सेवा को॥

टीका-प्रियंवदेति।—हला = सखि, अभ्युपपत्त्या = अनुग्रहेण, वनदेवतानामिति शेषः, अनुभवितव्या = भोक्तव्या। अभिषेकोत्तीर्णाय—अभिषेकात् = स्नानं कृत्वेति ल्यब्लोपे पञ्चमी, उत्तीर्णाय = नद्याः निर्गताय, वनस्पतिसेवाम्—वनस्पतीनाम् = वृक्षाणां सेवाम् = शुश्रूषाम्॥

टिप्पणी-राजलक्ष्मीः—वनदेवता के द्वारा अकस्मात् बहुमूल्य आभूषणों के दिये जाने से यह बात सूचित होती है कि भविष्य में तुम ऐश्वर्य का उपभोग करोगी। आभूषणों की उपलब्धि भावी सुख के लिए शकुन है।

प्रियंवदा—(शकुन्तला को देखकर) सखी, (वनस्पतियों के) इस अनुग्रह से सूचित होता है कि तुम्हारे द्वारा पति के घर में राजलक्ष्मी अनुभव की जायगी (अर्थात् तुम पति-गृह में राजलक्ष्मी का उपभोग करोगी)।

(शकुन्तला लज्जा का अभिनय करती है)

पहला—गौतम आओ-आओ। स्नान करके (नदी से) निकले हुए काश्यप (कण्व) से वृक्षों की (इस) सेवा को निवेदित कर दें।

दूसरा—ठीक है। (इस प्रकार दोनों निकल गये)

दोनों सखियाँ—ओह, हम लोगों ने कभी आभूषणों का उपयोग नहीं किया है। (तो भी) चित्रों को देखने से प्राप्त अनुभव के कारण तुम्हारे अंगों में आभूषणों का विन्यास कर रही हैं।

शकुन्तला—मैं तुम दोनों की निपुणता को जानती हूँ।

(दोनों अभिनयपूर्वक आभूषण पहनाती हैं)

(तदनन्तर स्नान करके आए हुए काश्यप प्रवेश करते हैं)

काश्यप—आज शकुन्तला (पति-गृह) जायगी इसलिये हृदय दुःख से भर रहा है। गला रोके गये अश्रु-प्रवाह से पूरित (है)। (मेरी) दृष्टि चिन्ता के कारण निश्चेष्ट (हो गई) है। जङ्गल में निवास करने वाले मुझे इस समय (शकुन्तला के प्रति) स्नेह के कारण ऐसी यह विकलता (है तो) गृहस्थ लोग पहली बार होने वाले पुत्री के वियोग से उत्पन्न महान् दुःख से कितना पीडित होते होंगे?॥ ६॥

(ऐसा कहते हुए चारों ओर घूमते हैं)

व्युत्पत्तिः—अभ्युपपत्त्या—अभि+उप+√पद+क्तिन्+विभक्तिः। अभिषेकोत्तीर्णाय—अभिषेक+उद्+√तॄ+क्त+विभक्त्यादिकार्यम्॥

शब्दार्थः—अनुपयुक्तभूषणः=जिसने कभी आभूषण का उपयोग नहीं किया है ऐसा। चित्रकर्मपरिचयेन=चित्रकारी से परिचय होने के कारण, चित्रों को देखने से प्राप्त अनुभव के कारण, आभरणविनियोगम्=आभूषणों का विन्यास, नैपुणम्=निपुणता को॥

टीका—सख्याविति। अनुपयुक्तभूषणः—अनुपयुक्तानि=असेवितानि भूषणानि=अलङ्काराः येन तादृशः, अधृतालङ्कार इत्यर्थः। चित्रकर्मपरिचयेन—चित्रस्य=आलेख्यस्य कर्म=कार्यम् तस्य परिचयेन=ज्ञानेन, आभरणविनियोगम्—आभरणानाम्=आभूषणानाम् विनियोगम्=विन्यासम्, परिधापनमित्यर्थः। नैपुणम्=नैपुण्यम्, चातुर्यमित्यर्थः॥

टिप्पणी—चित्रकर्मपरिचयेन—इसके दो अर्थ हो सकते हैं—स्वयं चित्र बनाने के कार्य से परिचित होने के कारण, तथा दूसरों के द्वारा निर्मित चित्रों के देखने से प्राप्त संस्कार के कारण। यहाँ दूसरा अर्थ ही अधिक उपयुक्त है॥

व्युत्पत्तिः—नैपुणम्—निपुण+अण्+विभक्त्यादि कार्यम्॥

अन्वयः—अद्य, शकुन्तला, यास्यति, इति, हृदयम्, उत्कण्ठया, संस्पृष्टम्; कण्ठः;

सख्यौ—हला शकुन्तले, अवसितमण्डनाऽसि । परिधत्स्व साम्प्रतं क्षौमयुगलम् । (शकुन्तलोत्थाय परिधत्ते।) [हला सउन्दले, अवसिदमण्डणासि । परिधेहि संपदं खोमजुअलं।]

गौतमी—जाते, एष ते आनन्दपरिवाहिणा चक्षुषा परिष्वजमान इव गुरुरुपस्थितः । आचारं तावत् प्रतिपद्यस्व। [जादे, एसो दे आणन्दपरिवाहिणा चक्खुणा परिस्सजन्तो विअ गुरू उवट्ठिदो। आआरं दाव पडिवज्जस्स ।]

शकुन्तला—(सव्रीडम्) तात, वन्दे । [ताद, वन्दामि।]

स्तम्भितवाष्पकलुषः, (आस्ते); दर्शनम्, चिन्ताजडम्, (वर्तते); अरण्यौकसः, मम, तावत्, स्नेहात्, ईदृशम्, इदम्, वैक्लव्यम्, (आस्ते, तर्हि); गृहिणः, नवैः, तनयाविश्लेषदुःखैः, कथं नु, पीड्यन्ते ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—अद्य = आज, शकुन्तला = शकुन्तला, यास्यति = जायगी, इति = इसलिये, हृदयम् = हृदय, उत्कण्ठया = दुःख से, संस्पृष्टम् = संस्पृष्ट हो रहा है, भर रहा है; कण्ठः = गला, स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषः = रोके गये अश्रु-प्रवाह से कलुष, रोके गये अश्रु-प्रवाह से पूरित, (आस्ते = है); दर्शनम् = दृष्टि, चिन्ताजडम् = चिन्ता के कारण निश्चेष्ट, (वर्तते = हो गई है); अरण्यौकसः = जंङ्गल में निवास करने वाले, मम = मुझे, तावत् = इस समय, स्नेहात् = स्नेह के कारण, ईदृशम् = ऐसी, इदम् = यह, वैक्लव्यम् = विकलता, (आस्ते = है, तर्हि = तो), गृहिणः = गृहस्थ लोग, नवैः = पहली वार होने वाले, तनयाविश्लेषदुःखैः = पुत्री के वियोग से उत्पन्न महान् दुःख से, कथं नु = क्यों न, कितना, पीड्यन्ते = पीडित होते होंगे ? ॥ ६ ॥

टीका—यास्यतीति । अद्य = अधुना, शकुन्तला = मम पुत्रीत्यर्थः, यास्यति = गमिष्यति, 'न तु याता, नापि याति, अपि तु 'यास्यति' इति मनसि कृतमात्र एवेति भावः' इति राघवभट्टः, इति = अस्मात् कारणात्, हृदयम् = चेतः, उत्कण्ठया = चिन्तया, दुःखेनेत्यर्थः, संस्पृष्टम् = समाक्रान्तमस्ति; प्रेमातिशयो द्योत्यते । 'अत्रोद्देश्यप्रतिनिर्देश्यप्रक्रम इन्द्रियाणां स्वविषयाग्राहकत्वं च 'हृदय' पदोपादानमन्तरेण न स्फुरतीति तत्पदोपादानमिति राघवभट्टः, कण्ठः = गलप्रदेशः, स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषः—स्तम्भिता = अवरुद्धा या वाष्पवृत्तिः = अश्रुप्रसरः तया कलुषः = विकृतः, स्वरभङ्गवानित्यर्थः, आस्ते इति शेषः; दर्शनम् = चक्षुः, अथवा दर्शनम् = तत्तदिन्द्रियजं ज्ञानं तत्तदिन्द्रियं वा (करणे ल्युट्), दृशिरत्र ज्ञानमात्रे न तु केवलं चाक्षुषे, चिन्ताजडम्—चिन्तया = शकुन्तलागमनानुध्यानेन जडम् = मन्थरम्, स्वस्वविषयाग्राहकमित्यर्थः, वर्तते इति शेषः;—मनसश्चिन्तया ग्रस्तत्वात्तेन विना तदग्राहकत्वं तेषाम्; अरण्यौकसः—अरण्यम् = वनम् ओकः = वासस्थानम्, आश्रय इत्यर्थः, यस्य तथाविधस्य, ('ओकः सद्मनि आश्रये' इति विश्वः), वनवासिनः इत्यर्थः, मम = तपस्विनो निर्मोहस्य कण्वस्येत्यर्थः, तावत् = सम्प्रति, अव-

दोनों सखियाँ—सखी शकुन्तला, तुम्हें सजाने-सवाँरने का कार्य पूरा हो गया। अब (तुम) दोनों रेशमी वस्त्रों को धारण करो। (शकुन्तला उठकर पहनती है)

गौतमी—बेटी, आनन्द से (उमड़े हुए आँसुओं को) बहाने वाले नेत्रों से तुम्हें गले लगाते हुए से तेरे पिता यहाँ उपस्थित हैं। अतः शिष्टाचार को सम्पन्न करो।

शकुन्तला—(लज्जापूर्वक) पिताजी, प्रणाम कर रही हूँ।

धारणे वा, स्नेहात् = तनयाप्रेमभावात्, ईदृशम् = एतादृशम्, एतत् = इदम्, वैक्लव्यम् = विह्वलता, आस्ते तर्हीति शेषः, गृहिणः = गृहनिवासिनः, ममत्ववन्तो गृहस्थाः इत्यर्थः, नवैः = प्रथमोत्पन्नैः, तनयाविश्लेषदुःखैः—तनयाभिः = पुत्रीभिः यो विश्लेषः = वियोगः तस्मात् दुःखानि = कष्टानि तैः, कथम् = कस्मात्, न्विति वितर्के, पीड्यन्ते = व्याकुलीक्रियन्ते। अत्र व्यतिरेकालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः॥ ६॥

टिप्पणी—अरण्यौकसः···गृहिणः—जङ्गल में वे लोग निवास करते हैं, जो सांसारिक मोह-माया छोड़ चुके होते हैं, गृहस्थी में होने वाले सम्बन्धों से ऊपर उठ चुके रहते हैं। शकुन्तला के पतिगृह गमन के समय जब वनवासी कण्व को इतनी विह्वलता है, तो गृहस्थ लोगों को कितनी होती होगी—इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

इस श्लोक में गृहस्थ को मुनि से अधिक दुःखी होने का वर्णन है। अतः यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण—

'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्'॥ ६॥

विशेषः—संस्कृत-साहित्य में यह उक्ति अतिप्रसिद्ध है—'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला। तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्॥' शाकुन्तल का प्राण है चतुर्थ अङ्क। उसमें भी चार श्लोक सर्वोत्तम हैं। उनमें तो एक श्लोक यही है। शेष तीन श्लोक आगे के ये हैं—शुश्रूषस्व० (श्लोक १८), अभिजनवतो० (श्लोक १९) अथवा—अस्मान् साधु० (श्लोक १७) तथा भूत्वा चिराय० (श्लोक २०)॥ ६॥

व्युत्पत्तिः—संस्पृष्टम्—सम् + √स्पृश् + क्त + विभक्त्यादिकार्यम्॥ ६॥

शब्दार्थः—हला = हे सखी, अवसितमण्डना = समाप्त मण्डनवाली, जिसका शृङ्गार पूरा हो गया है, ऐसी परिधत्स्व = पहनो, धारण करो; साम्प्रतम् = अब, क्षौमयुगलम् = दोनों रेशमी वस्त्रों को। आनन्दपरिवाहिणा = आनन्द से (उमड़े हुए आँसुओं को) बहाने वाले, परिष्वजमानः = गले लगाते हुए, आलिङ्गन करते हुए। आचारम् = शिष्टाचार को, प्रतिपद्यस्व = सम्पन्न करो। सव्रीडम् = लज्जापूर्वक॥

टीका—सख्याविति। हला = सखि, अवसितमण्डना—अवसितम् = समाप्तम् मण्डनम् = अलङ्करणम् यस्याः सा तादृशी, परिहितभूषणेत्यर्थः। परिधत्स्व = परिधेहि, क्षौमयुगलम् = दुकूलयुग्मम्। आनन्दपरिवाहिणा—आनन्दम् = हर्षम् परितो वाहयति = सर्वात्मना प्रेरयति यत् तथाविधेन, आनन्दाश्रुवर्षिणेत्यर्थः, परिष्वजमानः = त्वामालिङ्गन्निव, अतिस्नेहेन पश्यन्नित्यर्थः। आचारम् = शिष्टाचारमित्यर्थः, पितरि कर्तव्यं गौरवमिति भावः, प्रतिपद्यस्व = विधेहि। सव्रीडम्—व्रीडया = लज्जया सहितं सव्रीडम् =

काश्यपः—वत्से,—

यथातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव ।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥७॥

गौतमी—भगवन्, वरः खल्वेषः। नाशीः। [भअवं वरो क्खु एसो। ण आसिसा।]

काश्यपः—वत्से, इतः सद्योहुतानग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व।

(सर्वे परिक्रामन्ति।)

काश्यपः—(ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते।) वत्से,

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः
समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धै-
र्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥८॥

प्रतिष्ठस्वेदानीम्। (सदृष्टिक्षेपम्) क्व ते शाङ्र्गरवमिश्राः।

सलज्जम् ॥

टिप्पणी—आचारं प्रतिपद्यस्व—पिता आदि गुरुजनों के आ जाने पर उठकर अगवानी करना, उन्हें प्रणाम करना तथा योग्य आसन पर बिठाना आदि आचार कहा गया है। इसी आचार को सम्पन्न करने के लिए गौतमी शकुन्तला से कह रही है।

व्युत्पत्तिः—अवसितमण्डना—अव + √सो + क्त कर्तरि + विभक्तिः अवसितम्। परिधेहि—परि+√धा+लोट् तत्र हि। आचारम्—आ+√चर+घञ् कर्मणि+ विभक्तिः ॥

अन्वयः—शर्मिष्ठा, ययातेः, इव; भर्तुः, वहुमता, भव; सा, पूरुम्, इव; त्वम्, अपि, सम्राजम्, सुतम्, अवाप्नुहि ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—शर्मिष्ठा=शर्मिष्ठा, ययातेः=ययाति की, इव=तरह, भर्तुः= पति की, वहुमता=अत्यन्त प्रिया, भव=वनो; सा=वह, पुरुम्=पुरु को, इव= जैसे; त्वम्=तुम, अपि=भी, सम्राजम्=सम्राट्, सुतम्=पुत्र को, अवाप्नुहि= प्राप्त करो ॥ ७ ॥

टीका—ययातेरिति। शर्मिष्ठा=असुरराजस्य वृषपर्वणः कन्या, ययातेः=नहुषपुत्र- यस्य, इव=यथा, भर्तुः=पत्युः, वहुमता=प्रिया, भव। सा=शर्मिष्ठा, पुरुमिव=चन्द्र- वंशस्य कर्तारं सम्राजमिव, त्वम्=शकुन्तला, अपि=च, सम्राजम्=चक्रवर्तिनम्, सुतम् =पुत्रम्, अवाप्नुहि=लभस्व। उपमालङ्कारः। क्रमनामकं गर्भसन्ध्यङ्गमाशीर्नामकं नाट्यालङ्कारश्चात्र वर्तते। अनुष्टुप् छन्दः ॥ ७ ॥

टिप्पणी—ययातेः इव—ययाति नहुष का पुत्र था। उसने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया। दैत्यों के राजा वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा दासी के रूप में

काश्यप—बेटी,

शर्मिष्ठा ययाति की (जैसे अतिप्रिय रानी थी उसी) तरह (तुम भी) पति की अत्यन्त प्रिया बनो। उस (शर्मिष्ठा) ने जैसे (सम्राट् पुत्र) पुरु को (प्राप्त किया), उसी प्रकार) तुम भी सम्राट् पुत्र को प्राप्त करो ॥ ७ ॥

गौतमी—भगवन्, निश्चय ही यह वर है, केवल आशीर्वाद ही नहीं।

काश्यप—बेटी, इधर अभी हवन की गई अग्नियों की प्रदक्षिणा करो।

(सभी प्रदक्षिणा करते हैं।)

काश्यप—(ऋग्वेद के छन्द में बने श्लोक से आशीर्वाद देते हैं)

समिधाओं से प्रज्वलित, वेदी के चतुर्दिक् प्रतिष्ठित, किनारे पर बिछाये गये कुशों से युक्त यज्ञीय ये अग्नियाँ हवन की गई वस्तुओं की सुगन्ध से पाप को विनष्ट करती हुई तुझे पवित्र करें ॥ ८ ॥

अब प्रस्थान करो। (इधर-उधर दृष्टि डालकर) कहाँ हैं शार्ङ्गरव आदि ?

देवयानी के साथ गई। इसका कारण यह है कि शर्मिष्ठा ने किसी समय देवयानी का अपमान किया था। अतः इसी अपमान की क्षतिपूर्ति के लिये आज शर्मिष्ठा को देवयानी की सेविका बनना पड़ा, परन्तु ययाति इस दासी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया और उसने उससे गान्धर्व विवाह कर लिया। इस बात से खिन्न होकर देवयानी अपने पिता के पास चली गई। शुक्राचार्य ने ययाति को शाप दिया कि वह शीघ्र असमय में ही वृद्ध हो जाय। ययाति ने जब बहुत अनुनय-विनय किया तब प्रसन्न होकर शुक्राचार्य ने ययाति को अनुमति देदी कि वह अपने बुढ़ापे को जिस किसी को दे सकता है यदि वह लेना स्वीकार करें। उसने अपने पाँचों पुत्रों से पूछा, किन्तु सबसे छोटे पुत्र को छोड़कर किसी ने भी बुढ़ापा लेना स्वीकार नहीं किया। फलस्वरूप ययाति ने अपना बुढ़ापा पुरु को देकर उसको जवानी ले ली। अन्त में ययाति ने पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया। पुत्र शर्मिष्ठ का बेटा था।

सम्राजम्—जो राजसूय यज्ञ करता है तथा राजाधिराज होता है। उसे सम्राट् कहा जाता था।

यहाँ उपमा अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है ॥ ७ ॥

व्युत्पत्तिः—सम्राजम्-सम्यक् राजते—सम् + √राज् + क्विप् + विभक्ति-कार्यम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—समिद्वन्तः, वेदिम्, परितः, क्लृप्तधिष्ण्याः, प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः, वैतानाः, अमी, वह्नयः, हव्यगन्धैः, दुरितम्, अपघ्नन्तः, त्वाम्, पावयन्तु ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—समिद्वन्तः = समिधाओं से प्रज्वलित, वेदिम् = वेदी के, परितः = चतुर्दिक्, क्लृप्तधिष्ण्याः = प्रतिष्ठित, प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः = किनारे पर बिछाये गये कुशों से युक्त, वैतानाः = यज्ञीय, अमी = ये, वह्नयः = अग्नियाँ, हव्यगन्धैः = हवन की गई वस्तुओं की

(प्रविश्य)

शिष्यः—भगवन्, इमे स्मः ।

काश्यपः—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय ।

शार्ङ्गरवः—इत इतो भवती । (सर्वे परिक्रामन्ति।)

काश्यप भो भोः संनिहितास्तपोवनतरवः ।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥९॥

सुगन्ध से, दुरितम्=पाप को, अपघ्नन्तः= विनष्ट करती हुई, त्वाम्=तुझे, पावयन्तु= पवित्र करें ॥ ८ ॥

टीका—अमी इति । समिद्वन्तः—समिधः=यज्ञकाष्ठानि सन्ति येषां ते तादृशाः ससमिध इत्यर्थः, वेदिम्=यज्ञवेदिकाम्, परितः=समन्तात्, क्लृप्तधिष्ण्याः—क्लृप्तानि=विहितानि धिष्ण्यानि=स्थानानि ('धिष्ण्यं स्थाने गृहे भेऽग्नौ' इत्यमरः) येषां ते तथाविधाः क्लृप्तस्थानाः इत्यर्थः, प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः—प्रान्तेषु=पार्श्वभागेषु संस्तीर्णाः=आकीर्णाः दर्भाः=कुशाः येषां ते तथाविधाः, प्रान्तसंस्तीर्णेति च विशेषणद्वयेन सद्योद्गतत्वेन प्रकाशमानत्वाच्छुभसूचकत्वं ध्वन्यते; वितानस्य=यज्ञस्य इमे इति वैतानाः=यज्ञसम्बन्धिनः, अमी=पुरतः परिदृश्यमानाः, वह्नयः=अग्नयः, हव्यगन्धैः—हव्यानाम्=हवनीयद्रव्याणाम् गन्धैः=सौरभैः, दुरितम्=पापम्, अपघ्नन्तः=विनाशयन्तः, त्वाम्=शकुन्तलामित्यर्थः, पावयन्तु=पवित्रीकुर्वन्तु, दौर्भाग्यसूचकं दुरदृष्टं क्षपयन्त्विति भावः । अत्र परिकरोऽलङ्कारः । वैदिकं त्रिष्टुप् छन्दः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—क्लृप्तधिष्ण्याः—वेदी में तीन अग्नियों की स्थापना की जाती है। इन तीन अग्नियों के नाम हैं (१) गार्हपत्य (२) दक्षिण और (३) आहवनीय। इनमें गार्हपत्य अग्नि वेदी के पश्चिम हिस्से में, दक्षिण अग्नि वेदी के दक्षिण-पश्चिम कोने में तथा आहवनीय अग्नि वेदी के पूर्व हिस्से में स्थापित होती है।

संस्तीर्णदर्भाः—वेदी के चारों ओर कुशा बिछाया जाता है।

यहाँ विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलङ्कार है। महाकवि ने इस स्थान पर वैदिक त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग करके मन्त्र की रचना प्रस्तुत की है। इसके प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं। इसमें चतुर्थ या पञ्चम वर्ण पर यति होती है ॥ ८ ॥

व्युत्पत्तिः—समिद्वन्तः—समिध्+मतुप्+विभक्त्यादिकार्यम् । वैतानाः—वितान+अण्+विभक्तिकार्यम् ॥ ८ ॥

(प्रवेश करके)

शिष्य—भगवन्, यह हैं हमलोग।

काश्यप—अपनी बहन (शकुन्तला) को मार्ग बतलाओ।

शार्ङ्गरव—आप इधर से-इधर से चलें। (सभी घूमते हैं)

काश्यप—हे हे समीपस्थ तपोवन के तरुओं!

आप लोगों को विना जल पिलाए (अर्थात् आप लोगों को बिना सींचे) जो पहले जल पीने के लिए नहीं प्रयास करती थी (अर्थात् जल नहीं पीती थी), आभूषण प्रिय होती हुई भी जो आप लोगों पर स्नेह के कारण नवीन पत्तों को नहीं तोड़ती थी, आप लोगों के प्रथम फूल निकलने के समय पर जिसका उत्सव होता था, वही यह शकुन्तला पति-गृह जा रही है, आप सभी लोग अनुमति दें॥ ९॥

अन्वयः—युष्मासु, अपीतेषु, या प्रथमम् जलम्, पातुम्, न व्यवस्यति; प्रियमण्डना, अपि, या, भवताम्, स्नेहेन, पल्लवम्, न, आदत्ते; वः, आद्ये, कुसुमप्रसूतिसमये, यस्याः, उत्सवः, भवति; सा, इयम्, शकुन्तला, पतिगृहम्, याति; सर्वैः, अनुज्ञायताम्॥ ९॥

शब्दार्थः—युष्मासु=तुम लोगों के, आप लोगों के, अपीतेषु=बिना जल पिलाए, या=जो, प्रथमम्= पहले, जलम् = जल, पातुम् = पीने के लिए, न=नहीं, व्यवस्यति = प्रयास करती थी; प्रियमण्डना = आभूषणप्रिय होती हुई, अलङ्कारों की प्रेमी होती हुई, अपि=भी, या = जो, भवताम् = आप लोगों पर, स्नेहेन=स्नेह के कारण, पल्लवम् = कोपलों को, नवीन पत्तों को, न=नहीं, आदत्ते=तोड़ती थी; वः = आप लोगों के, आद्ये=प्रथम, कुसुमप्रसूतिसमये=फूल निकलने के समय पर, यस्याः=जिसका, उत्सवः = उत्सव, भवति = होता था; सा = वही, इयम्=यह, शकुन्तला = शकुन्तला, पतिगृहम्=पतिगृह, ससुराल, याति=जा रही है; सर्वैः=सभीलोग, अनुज्ञायताम्= अनुमति दें॥ ९॥

टीका—पातुमिति। 'तपोवनतरव' इत्यस्य श्लोकेन संबन्धः; युष्मासु = भवत्सु, अपीतेषु = अपीतजलेषु, असिक्तेष्वित्यर्थः, अत्र राघवभट्टाः अर्थद्योतनिकायां व्याख्यायामित्थं विवेचयन्ति— न विद्यते पीतं पानमेषां तेऽपीताः। 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा० ५।२।२७) तथा च महाभाष्ये—'अकारो मत्वर्थीयः। विभक्तमेषामस्तीति विभक्ताः, पीतमेषामस्तीति पीताः'। अथवा, उत्तरपदलोपो द्रष्टव्यः। 'विभक्तधना विभक्ताः, पीतोदका पीता' इति तत्र लोपशब्दार्थमाह कैयटः—'गम्यमानस्याप्रयोग एव लोपोऽभिमतः। विभक्ता भ्रातर इत्यत्र धनस्य यद्विभक्तत्वं तद्भ्रातृषूपचर्यते। पीतोदका गाव इत्यत्राप्युदकस्य पीतत्वं गोष्वारोप्यते' इति। या=या शकुन्तला, प्रथमम्=पूर्वम्, तद्दिने पूर्वमित्यर्थः, जलम् = सलिलम्, पातुम् = ग्रहीतुम्, न व्यवस्यति = न यतते; भवत्सूदकव्यतिरेकेण प्रथमं जलपानं न करोतीत्यर्थः। 'व्यवस्यति' इति वर्तमानप्रत्ययेनाधुनाप्येतदवस्थाया अपि तन्निर्वाह इति ध्वन्यते। प्रियमण्डना—

(कोकिलरवं सूचयित्वा।)

अनुमतगमना शकुन्तला
तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा
प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥१०॥

(आकाशे)

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।

प्रियम् = अभीप्सितम् मण्डनम् = भूषणम् यस्याः तथाविधा, आभूषणप्रिया, अपि = च, या = या शकुन्तला, भवताम् = युष्माकम्, स्नेहेन = कृपया प्रेम्णा वा, पल्लवम् = नूतनं पत्रम्, न आदत्ते = न गृह्णाति। वः = युष्माकम्, आद्ये = प्रथमे, कुसुमप्रसूतिसमये—कुसुमानाम् = पुष्पाणाम् प्रसूतेः = उद्गमस्य समये काले, पुष्पोत्पत्तिकाले इत्यर्थः, यस्याः = यस्याः शकुन्तलायाः, उत्सवः = आनन्दः, भवति = जायते। फलसमयजो हर्षातिशयो वक्तुमेव न शक्यत इत्याशयः। सा = तादृशी, इयम् = एषा, शकुन्तला, पतिगृहम्—पत्युः = भर्तुः गृहम् = भवनम्, याति = व्रजति, अतः सर्वैः = निखिलैः युष्माभिः, अनुज्ञायताम् = अनुमन्यताम्, गमनायेति शेषः। अत्र चेतनव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः काव्यलिङ्गश्चालङ्कारौ। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ ९ ॥

टिप्पणी—प्रथमम्—शकुन्तला प्रातःकाल उठकर अपने दैनन्दिन कार्यों से निवृत्त होकर पहले आश्रम के वृक्षों को सींचती थी। उसके बाद ही स्वयं जल पीती थी। वृक्षों को बिना सींचे वह कभी जल न पीती थी। कुछ लोगों ने इसका अर्थ किया है कि दिन में जितनी बार वह जल पीती थी उतनी बार पहले वृक्षों को सींचती थी। यह अर्थ अव्यवहारिक होने से उपेक्षणीय है।

उत्सवः—वृक्षों में पहले-पहल पुष्प निकलने पर शकुन्तला प्रसन्न होकर गाती थी, नाचती थी तथा ब्राह्मणों को भोजन आदि प्रदान करती थी।

यहाँ वृक्षों में चेतन-व्यवहार का आरोप होने के कारण समासोक्ति अलङ्कार है। पत्तों को न तोड़ने में स्नेह कारण है, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है। इसमें प्रयुक्त छन्द है—शार्दूलविक्रीडित। छन्द का लक्षण—

'सूर्याश्वैर्यदिमः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ९ ॥

व्युत्पत्तिः—पातुम्—√पा + तुमुन्। पीतेषु—√पा + क्त भावे + विभक्तिकार्यम्। पीतम् अस्ति एषामिति पीत + अच् मत्वर्थे + विभक्तिः ॥ ९ ॥

अन्वयः—इयम्, शकुन्तला, वनवासबन्धुभिः, तरुभिः, अनुमतगमना; यथा, कलम्

(कोयल की कूक के सुनने का अभिनय करके)

यह शकुन्तला वनवास के साथी वृक्षों के द्वारा जाने की अनुमति पा गई, क्योंकि मनोहर कोकिल की कूक को इन्होंने इस प्रकार (अपना) प्रत्युत्तर बनाया है ॥ १० ॥

(आकाश में)

इसका मार्ग कमल-लताओं से हरे-भरे, तालावों से मनोहर मध्य भागवाला हो। छायादार वृक्षों से कम किया गया सूर्य की किरणों के तापवाला हो। कमलों के

परभृतविरुतम्, एभिः, ईदृशम्, प्रतिवचनीकृतम् ॥ १० ॥

शब्दार्थः—इयम् = यह, शकुन्तला = शकुन्तला, कण्वपुत्री, वनवासबन्धुभिः = वनवास के साथी, तरुभिः = वृक्षों के द्वारा, अनुमतगमना = जाने की अनुमति पा गई; यथा = जैसे कि, क्योंकि, कलम् = मनोहर, परभृतविरुतम् = कोकिल की कूक को, एभिः = इन्होंने, ईदृशम् = इस प्रकार, प्रतिवचनीकृतम् = (अपना) प्रत्युत्तर बनाया है ॥ १० ॥

टीका—अनुमतेति । इयम् = एषा, पतिगृहगमनाय तत्परेत्यर्थः, शकुन्तला = कण्वपुत्री, वनवासबन्धुभिः—वनवासस्य = अरण्यनिवासस्य, वनवासेन वा, बन्धुभिः = सुहृद्भिः, तरुभिः = वृक्षैः, अनुमतगमना—अनुमतम् = अनुज्ञातम् गमनम् = पतिगृहप्रस्थानम् यस्याः सा तादृशी जाता; कथमेवं ज्ञायते इत्याह—यथा = यतः, कलम् = मनोहरम्, श्रवणमधुरमित्यर्थः, परभृतविरुतम्—परभृतस्य = अन्यपुष्टस्य कोकिलस्येत्यर्थः विरुतम् = मञ्जुकूजितम्, कोकिलकूजितमित्यर्थः, एभिः = तरुभिः, ईदृशम् = इत्थम्, प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानमित्यर्थः, प्रतिवचनीकृतम् = प्रत्युत्तरत्वेन प्रकटितमित्यर्थः । अत्र परिणामोऽलङ्कारः । अपवक्त्रं छन्दः ॥ १० ॥

टिप्पणी—परभृतविरुतम्—यात्रा के समय कोकिल का कूजन मङ्गलसूचक माना गया है । स्वजन भी यात्रा के प्रारम्भ में मङ्गल वचन बोलते हैं । मङ्गल-वचन सुनकर व्यक्ति यात्रा आदि कार्य प्रारम्भ करते हैं । वृक्ष शकुन्तला के स्वजन हैं । अतः उन्होंने कोयल की आवाज के बहाने शकुन्तला को प्रस्थान करने की अनुमति प्रदान की है ।

परभृत०—कोयल अपने छोटे बच्चों को कौवे के घोंसले में रख देती है । मूर्ख कौवा रङ्ग की समानता के कारण कोयल के बच्चे को अपना बच्चा समझकर पालता-पोसता है । बड़ा होने पर कोयल का बच्चा उड़कर अपनी जाति के साथ जाकर मिल जाता है । यही कारण है कि कोयल को पर = दूसरे के द्वारा भृत = पाला-पोसा गया कहा जाता है ।

यहाँ परिणाम अलङ्कार तथा अपवक्त्र छन्द है । छन्द का लक्षण—'अयुजि न-न-

भूयात् कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥११॥
(सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति)

गौतमी—जाते, ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवनदेवताभिः। प्रणम भगवतीः। [जादे, ण्णादिजणसिणिद्धाहिं अणुण्णादगमणासि तवोवणदेवदाहिं। पणम भअवदीणं।]

शकुन्तला—(सप्रणामं परिक्रम्य। जनान्तिकम्) हला प्रियंवदे, आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तेते। [हला पिअंवदे, अज्जउणदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअन्तीए दुक्खेण मे चलणा पुरदो पवट्टन्ति।]

प्रियंवदा—न केवलं तपोवनविरहकातरा सख्येव। त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत् समवस्था दृश्यते।

र-ला गुरुः समे, तदपवक्त्रमिदं नजौ जरौ ॥ १० ॥

व्युत्पत्तिः—अनुमत—अनु + √मन् + क्त कर्मणि + समासकार्यम् ॥ १० ॥

अन्वयः—अस्याः, पन्थाः, कमलिनीहरितैः, सरोभिः, रम्यान्तरः; छायाद्रुमैः, नियमितार्कमयूखतापः; कुशेशयरजोमृदुरेणुः, च, शान्तानुकूलपवनः, च, शिवः, भूयात् ॥ ११॥

शब्दार्थः—अस्याः = इस (शकुन्तला) का, पन्थाः = मार्ग, कमलिनीहरितैः = कमललताओं से हरे-भरे, सरोभिः = तालाबों से, रम्यान्तरः = मनोहर मध्यवाला (हो), छायाद्रुमैः = छायादार वृक्षों से, नियमितार्कमयूखतापः = कम किया गया सूर्य की किरणों के तापवाला (हो), कुशेशयरजोमृदुरेणुः = कमलों के पराग से कोमल धूलिवाला, च = तथा, शान्तानुकूलपवनः = शान्त और अनुकूल वायु से युक्त, च = एवम्, शिवः = कल्याणमय, भूयात् = हो ॥ ११ ॥

टीका—रम्यान्तर इति। अस्याः = एतस्याः = पतिगृहं गन्तुं तत्परायाः शकुन्तलायाः, पन्थाः = मार्गः, कमलिनीहरितैः—कमलिनीभिः = कमललताभिः हरितैः = श्यामैरित्यर्थः, अनेन कमलिनीव्याप्तत्वं ध्वन्यते, कमलिनीशब्देन कमलसंयोगोऽपि, अत एव न विसिन्यादिपदप्रयोगः, एतादृशैः सरोभिः = जलाशयैः, रम्यान्तरः—रम्यम् = मनोज्ञम् अन्तरम् = अवकाशो मध्यभागो वा यस्य तथोक्तः; छायाद्रुमैः—छायाप्रधानाः द्रुमाः छायाद्रुमाः तैः छायाद्रुमैः = छायावद्भिर्वृक्षैरित्यर्थः, नियमितार्कमयूखतापः—नियमितः = नियन्त्रितः, निर्वर्तित इत्यर्थः, अर्कस्य = सूर्यस्य मरीचीनाम् = किरणानाम् तापः = प्रचण्डघर्मः यत्र तादृशः, अनेन विश्रान्तिस्थलत्वं व्यज्यते; कुशेशयरजोमृदुरेणुः—कुशेशयानाम् = कमलानाम् रजांसीव = परागा इव मृदवः = कोमलाः रेणवः = धूलयः

पराग से कोमल धूलिवाला तथा शान्त और अनुकूल वायु से युक्त एवम् कल्याणमय हो॥ ११ ॥

(सभी लोग आश्चर्य के साथ सुनते हैं)

गौतमी—बेटी, जाति-बिरादरी की स्त्रियों की तरह स्नेह करने वाली तपोवन की देवियों के द्वारा तुझे जाने की अनुमति मिल गई है। (तो) पूज्य इन देवियों को प्रणाम करो।

शकुन्तला—(प्रणाम करती हुई चारों ओर घूमकर, हाथ से ओट करके दूसरी ओर) सखी प्रियंवदा, आर्यपुत्र (पतिदेव) के दर्शन के लिए उत्कण्ठा होने पर भी आश्रम-भूमि को छोड़ते हुए मेरे पैर दुःख के साथ आगे की ओर बढ़ रहे हैं।

प्रियंवदा—न केवल तू ही तपोवन के वियोग से दुःखी है, किन्तु तुम्हारी विदाई का समय उपस्थित होने के कारण तपोवन की भी तुम्हारे समान अवस्था दिखलाई पड़ रही है।

यत्र तथाविधः, अथवा कुशेशयानाम् = पद्मानाम् रजांसि = परागाः तैः मृदवः = कोमलाः रेणवः = धूलयः यस्मिन् सः तादृशः; च = तथा, शान्तानुकूलपवनः—शान्तः = मन्दः अनुकूलः = पृष्ठवर्तित्वात् सुभग इत्यर्थः, पवनः = वायुः यत्र तथाभूतः, च, शिवः = माङ्गल्यरूपः सुखप्रदश्च; ('शिवं मोक्षे सुखे भद्रे, इति विश्वः), भूयात् = स्यात्। अत्रैकश्चकारो विशेषणानां समुच्चये। द्वितीयस्त्वनुपपन्नः॥ अत्र तुल्ययोगिता परिकरोऽन्योन्यं काव्यलिङ्गञ्चालङ्काराः वसन्ततिलका छन्दः॥ ११ ॥

टिप्पणी—आकाशे—यहाँ 'आकाशे' का अर्थ है—आकाशवाणी। यह 'आकाशे' तृतीय अङ्क के निष्कम्भक में प्रयुक्त 'आकाशे' से भिन्न है। यह नेपथ्य से कहा जायगा। यात्रा के आरम्भ में आकाशवाणी का होना शुभ माना गया है।

कुशेशय०—टीका में इसके दो अर्थ बतलाये गये हैं—(क) कमलों के पराग से कोमल धूलिवाला, और (ख) कमलों के पराग के तुल्य कोमल धूलिवाला। यहाँ प्रथम अर्थ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसका आशय यह है कि मार्ग में कमलों से भरपूर तालाब मिलें तथा हवा से उड़ाया हुआ उनका पराग इतना अधिक हो कि मार्ग की धूल कोमल हो जाय।

यहाँ मार्ग और वायु दोनों प्रकृत हैं। दोनों कल्याणकारी बनें। दोनों का 'शिव' के साथ सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलङ्कार है। विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलङ्कार भी है।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका। छन्द का लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः॥ ११ ॥

व्युत्पत्तिः—कुशेशय०—कुशे = जले शेते = विराजते इति, कुशे + √शी + अच् अधिकरणे, शयवासवासिषु० (६।३।१८) इत्यनेन सप्तम्याः अलुक् + विभक्तिकार्यम्॥ ११ ॥

शब्दार्थः—ज्ञातिजनस्निग्धाभिः = जाति-बिरादरी की स्त्रियों की तरह स्नेह करने वाली, तपोवनदेवताभिः = तपोवन की देवियों के द्वारा। आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकायाः = आर्यपुत्र (पतिदेव) के दर्शन के लिए उत्कण्ठित, पुरतः = आगे की ओर। तपोवनविरह-

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्त्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥१२॥

[ण केवलं तवोवणविरहकादरा सही एव्व । तुए उवट्ठिद-विओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ ।

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥]

शकुन्तला—(स्मृत्वा) तात, लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये। [ताद, लताबहिणिअं वणजोसिणिं दाव आमन्तइस्सं।]

काश्यपः—अवैमि ते तस्यां सोदर्यास्नेहम् । इयं तावद् दक्षिणेन ।

शकुन्तला—(उपेत्य लतामालिङ्ग्य) वनज्योत्स्ने, चूतसंगताऽपि मां प्रत्यालिङ्गेतोगताभिः शाखाबाहुभिः। अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी ते खलु भविष्यामि। [वणजोसिणि,

---

कातरा=तपोवन के विरह से दुःखी । समवस्था=समान ही अवस्था, दृश्यते=दिखाई पड़ रही है ॥

टीका—गौतमीति—ज्ञातिजनस्निग्धाभिः—ज्ञातिजन इव=स्वबन्धुजन इव स्निग्धाः =सस्नेहाः ताभिः, तपोवनस्य देवताभिः । आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकायाः—आर्यपुत्रस्य=पति-देवस्य दर्शने=साक्षात्कारे उत्सुका=उत्कण्ठिता तस्याः, पुरतः=अग्रतः। तपोवनविरह-कातरा—तपोवनस्य=तपोऽरण्यस्य विरहेण=वियोगेन कातरा=दुःखसम्पृक्ता। सम-वस्था=तुल्या दुःखपूर्णा दशा, दृश्यते=अवलोक्यते ॥

अन्वयः—मृग्यः, उद्गलितदर्भकवलाः; मयूराः; परित्यक्तनर्तनाः, लताः, अपसृतपाण्डु-पत्राः, (इत्थम्, एताः), अश्रूणि, मुञ्चन्ति, इव ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—मृग्यः=हरिणियों ने, उद्गलितदर्भकवलाः=कुश के ग्रास को उगल दिया है, मयूराः=मयूरों ने, परित्यक्तनर्तनाः=नाचना छोड़ दिया है, लताः=लताओं ने अपसृतपाण्डुपत्राः=पीले पत्तों को गिराया है, (इत्थम्=इस प्रकार, एताः=ये), अश्रूणि=आंसुओं को, मुञ्चन्ति=छोड़ रही हैं, इव=मानो ।। १२ ॥

टीका—तपोवनस्यावस्थामेवात्र कथयति—उद्गलितेति । मृग्यः=हरिण्यः, उद्-गलितदर्भकवलाः—उद्गलितः=उद्वान्तः दर्भकवलः=कुशग्रासः याभिस्तादृश्यः, सन्ति; मयूराः=बर्हिणः, परित्यक्तनर्तनाः—परित्यक्तम्=परिहृतम् नर्तनम्=नृत्यम् यैः तादृशाः, सन्ति; लताः=व्रततयः, अपसृतपाण्डुपत्राः—अपसृतानि=गलितानि=पाण्डूनि=

हरिणियों ने कुश के ग्रास को उगल दिया हैं; मयूरों ने नाचना छोड़ दिया है लताओं ने पीले पत्तों को गिराया हैं; (इस प्रकार ये) मानो आँसुओं को छोड़ रही हैं ॥ १२ ॥

शकुन्तला—(स्मरण करके) पिता जी, सम्प्रति (तावत्) लता-बहन वनज्योत्स्ना से विदाई लूँगी।

काश्यप—मैं जानता हूँ कि उस पर तुम्हारा सगी बहन का सा प्रेम है। तो यह (वनज्योत्स्ना) दाहिनी ओर है।

शकुन्तला—(पास में जाकर तथा लता का आलिङ्गन करके) हे वनज्योत्स्ना, आम से लिपटी हुई भी तुम इधर फैली हुई शाखारूपी बाहुओं से मेरा आलिङ्गन करो। आज से मैं तुमसे दूर हो जाऊँगी।

परिणतानीति भावः पत्राणि=पर्णानि यासां तथाविधाः लताः, अश्रूणि=बाष्पाणि, मुञ्चन्ति=परित्यजन्ति, इव=यथा। उत्प्रेक्षा समासोक्तिश्चालङ्कारौ। आर्याजातिः ॥ १२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में 'इव' के कारण उत्प्रेक्षा तथा मृगी, मयूर तथा लताओं में भ्रातृभाव के आरोप के कारण समासोक्ति अलङ्कार है ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—स्मृत्वा=स्मरण करके। आमन्त्रयिष्ये=विदाई लूँगी। सोदर्यास्नेहम्=सगी बहन का सा प्रेम। दक्षिणेन=दाहिनी ओर। उपेत्य=पास में जाकर। चूतसङ्गता=आम से लिपटी हुई, इतोगताभिः=इधर फैली हुई, शाखाबाहुभिः=शाखारूपी बाहुओं से। अद्यप्रभृति=आज से, दूरपरिवर्तिनी=दूर-स्थित ॥

टीका—शकुन्तलेति। स्मृत्वा=बुद्धावानीयेत्यर्थः, आमन्त्रयिष्ये=सम्भाषिष्ये, अनुमतिं याचयिष्यामीत्यर्थः, सोदर्यास्नेहम्—समानम्=एकम् उदरम्=मातुः गर्भशय्या यस्याः सा सोदर्या तस्याः स्नेहः=अनुरागः तम्। दक्षिणेन—दक्षिणहस्तेन। उपेत्य=पार्श्वे गत्वा। चूतसङ्गता—चूतेन=आम्रवृक्षेण सङ्गता=मिलिता, इतोगताभिः=इतः प्रसृताभिः, शाखाबाहुभिः—शाखा=विटपानि एव बाहवः=हस्ताः ताभिः। अद्यप्रभृतिभिः=अद्यारभ्येत्यर्थः, दूरवर्तिनी—दूरे=सुदूरप्रदेशे वर्तते=स्थिता भवतीति दूरवर्तिनी=दूरदेशनिवासिनी, दूरस्थितेति यावत् ॥

टिप्पणी—सोदर्यास्नेहम्—काले ने यही पाठ स्वीकार किया है। निर्णयसागर संस्करण में 'सोदर्यस्नेहम्' पाठ मिलता है। 'सोदर्यस्नेहम्' का अर्थ है—'भाई के से प्रेम को'। किन्तु प्रस्तुतप्रसङ्ग में 'सोदर्यास्नेहम्' पाठ ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

व्युत्पत्तिः—सोदर्या—समानम् उदरम् यस्याः सा, समान+उदर+यत्प्रत्यये समानस्य सादेशे टाबादिकार्यम् ॥

चूदसंगता वि मं पच्चालिंग इदोगदाहिं साहाबाहाहिं। अज्जप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी द क्खु भविस्सं।]

काश्यपः—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-
मस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः ॥१३॥

इतः पन्थानं प्रतिपद्यस्व।

शकुन्तला—(सख्यौ प्रति) हला, एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षपः। [हला, एषा दुवेणं वो हत्थे णिक्खेवो।]

सख्यौ—अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः। (इति बाष्पं विहरतः।) [अअं जणो कस्स हत्थे समप्पिदो।]

काश्यपः—अनसूये, अलं रुदित्वा। ननु भवतीभ्यामेव स्थरीकर्तव्या शकुन्तला। (सर्वे परिक्रामन्ति।)

शकुन्तला—तात, एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदाऽनघप्रसवा भवति, तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ। [ताद, एषा उडअपज्जन्तचारिणी गब्भमन्थरा मअवहू जदा अणघप्पसवा होइ, तदा मे कंपि पिअणिवेदइत्तअं विसज्जइस्सह।]

अन्वयः—मया, तवार्थे, प्रथमम्, एव, सङ्कल्पितम्, आत्मसदृशम्; भर्तारम्, त्वम्, सुकृतैः, गता; इयम्, नवमालिका, चूतेन, संश्रितवती, सम्प्रति, अहम्, अस्याम्, च, त्वयि, वीतचिन्तः ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—मया=मेरे द्वारा, तवार्थे=तुम्हारे लिये, प्रथमम्=पहले से, एव=ही, सङ्कल्पितम्=सोचे गये, आत्मसदृशम्=अपने सदृश, भर्तारम्=पति को, त्वम्=तुम, सुकृतैः=भाग्य से, गता=पा गई हो; इयम्=यह, नवमालिका=नेवारी, चूतेन=आम्र वृक्ष से, संश्रितवती=मिल गई है; सम्प्रति=इस समय, अहम्=मैं, अस्याम्=इसके विषय में, च=और, त्वयि=तुम्हारे विषय में, वीतचिन्तः=चिन्ता से मुक्त हो गया हूँ ॥ १३ ॥

टीका—सङ्कल्पितमिति। मया=तपोनिधिना कण्वेन, सदा, तवार्थे=त्वत्प्रयोजन-निमित्तम्, प्रयोजनञ्चात्र योग्यसमागम एव, प्रथमम्=पूर्वम्, एवेति दाढर्य, संकल्पितम्=चिन्तितम्, मनसाभीप्सितं वेति, आत्मसदृशम्—आत्मनः=स्वस्य सदृशम्=अभिजनगुणैः सौन्दर्येण च वयसा च योग्यम्, भर्तारम्=पतिम्, त्वम्=शकुन्तले, त्वम्, सुकृतैः=पुण्यैः, आत्मन इति शेषः, गता=याता, प्राप्तेत्यर्थः। इयम्=एषा,

काश्यप—मेरे द्वारा तुम्हारे लिये पहले से ही सोचे गये अपने सदृश पति को तुम भाग्य से पा गई हो। यह नवमालिका (भी) आम्र-वृक्ष से मिल गई है। इस समय मैं इसके और तुम्हारे विषय में चिन्ता से मुक्त हो गया हूँ ॥ १३ ॥

शकुन्तला—(दोनों सखियों से) सखियों, यह (लता) तुम दोनों के हाथ में (मेरी) धरोहर है।

दोनों सखियाँ—यह जन किसके हाथ में समर्पित किया गया है? (अर्थात् हम दोनों को किसके हाथ में सौंप रही हो ?)

(ऐसा कहकर दोनों आँसू बहाती हैं)

काश्यप—अनसूया, रोओ मत। अरे, आप दोनों को ही चाहिए कि शकुन्तला को ढाँढस बँधाओ। (सभी चारों ओर घूमते हैं)

शकुन्तला—पिताजी, कुटी के पास विचरण करने वाली, गर्भ के भार के कारण धीमी गतिवाली यह हरिणी जब निर्विघ्न रूप से बच्चा पैदा करेगी, तब इस शुभ समाचार की सूचना देने वाले किसी व्यक्ति को मेरे पास भेजियेगा।

पुरतो दृश्यमानेति यावत्, नवमालिका = वनज्योत्स्नाभिधावल्लरीत्यर्थः, चूतेन = आम्रेण, संश्रितवती = सङ्गतवती मिलितेत्यर्थः। सम्प्रति = अधुना, अहम् = काश्यपः इत्यर्थः, अस्याम् = एतस्यां वनज्योत्स्नायाम्, च = तथा, त्वयि = शकुन्तलायाञ्च, वीतचिन्तः—वीता = दूरीभूता चिन्ता यस्य सः तादृशः, विशेषेण गतचिन्त इत्यर्थः, जात इति शेषः। अत्र समासोक्तिस्तुल्ययोगिता समं काव्यलिङ्गञ्चालङ्काराः। वसन्ततिलका छन्दः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—सङ्कल्पितम्—शकुन्तला अपने जमाने की अनुपम सुन्दरी थी। अभी-अभी यौवन ने उसके सौन्दर्य में चार चाँद लगाया था। कण्व ने उसके मादक सौन्दर्य को स्नेहिल नेत्रों से देखकर सोचा था—'इसे इसके योग्य व्यक्ति को दूँगा।' वे रात-दिन इसी चिन्ता में रहते थे कि कौन युवक शकुन्तला के सौभाग्य के सर्वस्व का अधिकारी होने लायक है। आज उन्हें विदित हुआ है कि शकुन्तला ने दुष्यन्त के साथ गान्धर्व विवाह कर लिया है। अब वे निश्चिन्त हो गये हैं, क्योंकि दुष्यन्त योग्य व्यक्तियों में प्रथम है।

तवार्थे—तव + अर्थे। 'अर्थ' लिए अर्थ में अव्यय है। तुम्हारे लिए।

यहाँ आम और नवमालिका में नायक-नायिका का आरोप होने से समासोक्ति है। शकुन्तला और नवमालिका—ये दोनों ही यहाँ प्रस्तुत हैं। दोनों का 'वीतचिन्तः' के साथ सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता है। दोनों का अपने पतियों से मिलना निश्चिन्तता का कारण है, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है ॥ १३ ॥

व्युत्पत्तिः—संश्रितवती—सम् + √श्रि + क्त भावे = संश्रित + मतुप् + ङीप् ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—निक्षेपः = धरोहर, ट्रस्ट। समर्पितः = समर्पित किया गया है। विहरतः = बहाती हैं। उटजपर्यन्तचारिणी = कुटी के पास विचरण करने वाली, गर्भमन्थरा = गर्भ के भार के कारण धीमी गति वाली, मृगवधूः = हरिणी, अनघप्रसवा = निर्विघ्न बच्चा पैदा की हुई, प्रियनिवेदयितृकम् = शुभ समाचार की सूचना देने वाले को।

काश्यपः—नेदं विस्मरिष्यामः।

शकुन्तला—(गतिभङ्गं रूपयित्वा) को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते। (इति परावर्तते।) [को णु क्खु एसो णिवसणे मे सज्जइ।]

काश्यपः—वत्से,

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥१४॥

गतिभङ्गम्=गति में वाधा को, रूपयित्वा=अभिनीत करके। निवसने=वस्त्र में, सज्जते=लिपट रहा है॥

टीका—शकुन्तलेति। निक्षेपः=न्यासः। समर्पितः=प्रदत्तः। विशेषेण हरतः=बहिः प्रापयतः विहरतः=मुञ्चतः। उटजपर्यन्तचारिणी—उटजस्य=पर्णशालायाः पर्यन्ते=प्रान्तभूमौ चरति=विचरति या सा, गर्भमन्थरा—गर्भेण=गर्भभारेण मन्थरा=मन्दगमना, मृगवधूः=हरिणी, अनघप्रसवा—अनघः=निर्विघ्नः प्रसवः=उत्पत्तिः यस्याः सा, सुखप्रसवेत्यर्थः, प्रियनिवेदयितृकम्=प्रियसमाचारनिवेदयितारम्। गतिभङ्गम्—गतेः=गमनस्य भङ्गम्=वाधाम्, रूपयित्वा=अभिनीय। निवसने=वस्त्रे, सज्जते=लगति, संलग्नो भवतीत्यर्थः॥

टिप्पणी—निक्षेपः—धरोहर को 'निक्षेप' कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति अपने स्थान से वाहर जाने लगता है तो वह अपनी बहुमूल्य वस्तुओं को किसी विश्वस्त मित्र व्यक्ति के पास सुरक्षा के लिए, तब तक के लिए, रख देता है जब तक कि वह वापस न आ जाय। धरोहर जिस रूप में रखी जाती है उसी रूप में वह लौटाई जाती है।

विहरतः—वाहर निकालती हैं, बहाती हैं। 'बाष्पं विहरतः' यह मुहावरा है, यहां का एक ढङ्ग है॥

व्युत्पत्तिः—निक्षेपः—नि+√क्षिप्+घञ्+विभक्तिकार्यम्।

समर्पितः—सम्+√अर्प्+क्त+विभक्त्यादिकार्यम्॥

अन्वयः—यस्य, कुशसूचिविद्धे, मुखे, त्वया, व्रणविरोपणम्, इङ्गुदीनाम्, तैलम्, न्यषिच्यत; सः, अयम्, श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितकः, पुत्रकृतकः, मृगः, ते, पदवीम्, न जहाति॥ १४॥

शब्दार्थः—यस्य=जिसके, कुशसूचिविद्धे=कुशों की नोंक से बिंधे हुए, मुखे=मुख में

काश्यप—इसको नहीं भूलूंगा।

शकुन्तला—(गति में बाधा का अभिनय करके) अरे, यह कौन मेरे वस्त्र में लिपट रहा है? (ऐसा कहकर पीछे की ओर मुड़ती है)

काश्यप—बेटी,

जिसके कुशों की नोक से विंधे हुए मुख में तुम्हारे द्वारा घाव को भरने वाला इङ्गुदी (हिंगोट) का तेल लगाया गया था, वही यह साँवा की मुट्ठियों (को खिलाकर) बड़ा किया गया तथा पुत्र की तरह माना गया हरिण तुम्हारे मार्ग को नहीं छोड़ रहा है॥ १४॥

में, त्वया=तुम्हारे द्वारा, व्रणविरोपणम् = घाव को भरने वाला, इङ्गुदीनाम् = इङ्गुदी का, तैलम् = तेल, न्यषिच्यत = लगाया गया था; सः = वही, अयम् = यह, श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितकः = साँवा की मुट्ठियों (को खिलाकर) बड़ा किया गया, पुत्रकृतकः = पुत्र की तरह माना गया, मृगः = हरिण, ते = तुम्हारे, पदवीम् = मार्ग को, न = नहीं, जहाति = छोड़ रहा है॥ १४॥

टीका—यस्य त्वयेति। यस्य = यस्य मृगस्य, कुशसूचिविद्धे—कुशानाम् = दर्भाणाम्, सूचिभिः = सूच्याकारैरग्रैरित्यर्थः, विद्धे = कृतक्षते, मुखे = आनने, त्वया = अत्यन्तदयार्द्रया भवत्या शकुन्तलया, व्रणविरोपणम्—व्रणानाम् = क्षतानाम् विरोपणम् = शोपकम्, व्रणशामकमित्यर्थः, इङ्गुदीनाम् = तापसतरूणाम्, = तैलम् = स्नेहः, न्यषिच्यत = निषिक्तम्; सः = तादृशः, अयम् = एषः, दृष्टिगोचर इत्यर्थः, श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितकः—श्यामाकानाम् = तदाख्यधान्यविशेषाणाम् मुष्टिभिः परिवर्धितकः = पोषितः, पुत्रकृतकः—पुत्रः = सुतः कृतः = विहितः पुत्रकृतः, स एव पुत्रकृतकः, स्वार्थे कन्, अथवा कृतकः = कृत्रिमः पुत्रः = सुतः पुत्रकृतकः, मयूरव्यंसकादयश्चेति समासत्वात्कृतकस्य परप्रयोगः, मृगः = हरिणः; ते = तव, पदवीम् = पन्थानम्, न जहाति = न परित्यजति, त्वदनुगामी भवतीत्यर्थः। अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः। वसन्ततिलका छन्दः॥ १४॥

टिप्पणी—व्रणविरोपणम्—लोकभाषा में इङ्गुदी को 'एँगुआ' या हिंगोट कहते हैं। यह महीन पत्तों का काँटेदार मध्यम कद का वृक्ष होता है। इसके फलों को तोड़कर बीज निकाला जाता है। पहले लोग इन्हीं बीजों को पीसकर तेल निकालते थे। इसका तेल घावों के लिए अत्यन्त लाभकारी होता है।

श्यामाक०—इसे बोलचाल की भाषा में साँवा कहते हैं। यह भदई फसल है। आज भी गावों की गरीब जनता इसे खाती है। यह अत्यन्त रूखा अनाज है।

इस श्लोक में मृग के स्वभाव का वर्णन होने के कारण स्वभावोक्ति अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका। छन्द का लक्षण—

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः'॥ १४॥

व्युत्पत्तिः—विरोपणम्—वि + √रुह् + णिच् + ल्युट् करणे + 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन हस्य पः + विभक्तिकार्यम्।

विद्धे—√व्यध् + क्त + सम्प्रसारणे कृते + विभक्त्यादिकार्यम्॥ १४॥

शकुन्तला—वत्स, किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि। अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव। इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति। निवर्तस्व तावत्। (इति रुदती प्रस्थिता।) [वच्छ, किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि। अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वड्ढिदो एव्व। दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिन्तइस्सदि। णिवत्तेहि दाव।]

काश्यपः—

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
बाष्पं कुरु स्थिरतया विरतानुबन्धम्।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति॥१५॥

शार्ङ्गरवः—भगवन्, ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्। अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हति।

शब्दार्थः—वत्स = बेटा, सहवासपरित्यागिनीम् = साथ को छोड़कर जाने वाली। अचिरप्रसूतया = तत्काल प्रसव की हुई। विरहितम् = रहित, चिन्तयिष्यति = चिन्ता करेंगे, पालेंगे। रुदती = रोती हुई॥

टीका—शकुन्तलेति। वत्स = पुत्र, सहवासपरित्यागिनीम्—सहवासम् = एकत्र निवासं परित्यजति = त्यक्त्वा व्रजति या सा तथाविधाम्, माम् = शकुन्तलाम्। अचिरप्रसूतया—अचिरम् = तत्कालम् प्रसूता = कृतपुत्रोत्पादा तया, जनन्या = मात्रा। विरहितः = परित्यक्तः, चिन्तयिष्यति = पालयिष्यति॥

टिप्पणी—अचिरप्रसूतया—जिस मृग को उद्देश्य करके शकुन्तला यह बात कह रही है, उसकी माँ उसे पैदा करते ही मर गई थी। शकुन्तला ने उसे मुट्ठी-मुट्ठी साँवा आदि खिलाकर पाला था। उसे स्वल्प भी कष्ट नहीं होने पाया था। इसी बात की ओर यहाँ संकेत है॥

व्युत्पत्तिः—वर्धितः—√वृध्+णिच्+क्त+विभक्तिकार्यम्।
विरहितम्—वि+√रह्+क्त+विभक्तिकार्यम्॥

अन्वयः—उत्पक्ष्मणोः, नयनयोः, उपरुद्धवृत्तिम्, बाष्पम्, स्थिरतया, विरतानुबन्धम्, कुरु; खलु, अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे, अस्मिन्, मार्गे, ते, पदानि, विषमीभवन्ति॥१५॥

शब्दार्थः—उत्पक्ष्मणोः = ऊपर उठी हुई बरौनियों से युक्त, नयनयोः = नेत्रों के उपरुद्धवृत्तिम् = व्यापार (अर्थात् दर्शन-शक्ति) को अवरुद्ध करने वाले, बाष्पम् =

शकुन्तला—बेटा, साथ को छोड़कर जाने वाली मेरा पीछा क्यों कर रहे हो? प्रसव करके तत्काल मरी हुई माता के विना (भी) तुम पाले ही गये हो। अब भी मेरे द्वारा छोड़े गये तुम्हें पिताजी पालेंगे ही। तो लौट जाओ। (ऐसा कहकर रोती हुई प्रस्थान करती है)

काश्यप—ऊपर उठी हुई वरौनियों से युक्त नेत्रों के व्यापार (अर्थात् दर्शन-शक्ति) को अवरुद्ध करने वाले आँसू को धैर्यपूर्वक रोको, क्योंकि नहीं दिखलाई पड़ रहे ऊँचे-नीचे भू-भागवाले इस मार्ग में, तुम्हारे पैर लड़खड़ा रहे हैं॥ १५॥

शार्ङ्गरव—भगवन् (यात्रा के समय) जलाशय तक प्रिय व्यक्ति का अनुगमन करना चाहिए—ऐसा लोक-कथन है। तो यह सरोवर का तट है। यहाँ (हमें अपना) संदेश देकर आप लौट सकते हैं।

आँसू को, स्थिरतया=धैर्यपूर्वक, विरतानुबन्धम्=विरत प्रवाहवाला, अवरुद्ध, कुरु=करो; खलु=क्योंकि, अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे=नहीं दिखलाई पड़ रहा है ऊँचा-नीचा भू-भाग जिसमें ऐसे, न दिखलाई पड़ रहे ऊँचे-नीचे भू-भागवाले, अस्मिन्=इस, मार्गे=मार्ग में, ते=तुम्हारे, खलु=क्योंकि, पदानि=पैर, खलु=वस्तुतः, विषमीभवन्ति=लड़खड़ा रहे हैं, ऊँचे-नीचे हो रहे हैं॥ १५॥

टीका—उत्पक्ष्मणोरिति। उत्पक्ष्मणोः—उद्गतानि=प्रशस्तानि बहूनि चेत्यर्थः, पक्ष्माणि=लोमानि ययोः तादृशयोः, नयनयोः=नेत्रयोः, उपरुद्धवृत्तिम्—उपरुद्धा=व्याहता वृत्तिः=व्यापारः येन तादृशम्, वाष्पम्=अश्रुजलम्, स्थिरतया=स्थैर्येण, धैर्येणेति यावत्, विरतानुबन्धम्—विरतः=दूरीकृतः अनुबन्धः=पुनःपुनरुत्पत्तिर्यस्य तथाविधम्, कुरु=विधेहि। उत्पन्नमश्रु ऊर्ध्वीकृतैः पक्ष्मभी रुद्धं तदधिकं चेत्तदधःपतनेऽङ्गलमिति त्वं निरुन्धीति भावः। 'उत्पक्ष्मणोः' इति विशेषणदानार्थं 'नयन' पदम्। अन्यथा वाष्पस्य तदविनाभावित्वादार्थं पौनरुक्त्यं स्यात्। अत्र हेतुमाह—अस्मिन्निति। खलु=यस्मात् अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे—न लक्षितः=न दृष्टः अलक्षितः=अनवलोकितः नतोन्नतः=उच्चावचः भूमिभागः=भूप्रदेशः यत्र तादृशे, अस्मिन्=एतस्मिन्, मार्गे=पथि, ते=तव, भवत्याः, पदानि=पादनिक्षेपाः इत्यर्थः, विषमीभवन्ति=स्खलन्ति। काव्यलिङ्गमलङ्कारः। वसन्ततिलका छन्दः॥ १५॥

टिप्पणी—उत्पक्ष्मणोः—आँखों की, विशेषकर स्त्रियों की आँखों की, शोभा का प्राण हैं बड़ी-बड़ी ऊपर उठी हुई बरौनियाँ। सर्वाङ्गसुन्दरी शकुन्तला की आँखें ऊपर उठी हुई बड़ी-बड़ी बरौनियों से अलङ्कृत हैं।

अलक्षित:०—संभवतः यह वर्षा के शीघ्र अन्त का समय रहा होगा जब शकुन्तला पति-गृह जा रही थी। उस समय जंगली घासों की उद्दाम वृद्धि से मार्ग ढँका हुआ था। अतः ठीक से विना देखे चलने से पैर लड़खड़ा रहे थे। यही कारण है कि कण्व आँखों को साफ करके ठीक से देखकर चलने की सलाह दे रहे हैं। यात्रा के समय पैरों का लड़खड़ाना शुभ नहीं माना जाता।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः'॥ १५॥

काश्यपः—तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः।

(सर्वे परिक्रम्य स्थिताः।)

काश्यपः—(आत्मगतम्) किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपमस्माभिः संदेष्टव्यम्। (इति चिन्तयति।)

शकुन्तला—(जनान्तिकम्) हला, पश्य। नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति, दुष्करमहं करोमीति। [हला, पेक्ख। णलिणीपत्तन्तरिदं वि सहअरं अदेक्खन्ती आदुरा चक्कवाई आरडदि, दुक्करं अहं करेमि त्ति।

अनसूया—सखि, मैवं मन्त्रयस्व।

एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति ॥१६॥

[सहि, मा एव्वं मन्तेहि।
एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि ॥]

व्युत्पत्तिः—उपरुद्ध०—उप+√रुध्+क्त+विभक्तिकार्यम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—ओदकान्तम् – जलाशय तक, स्निग्धः = प्रिय व्यक्ति, अनुगन्तव्यः = अनुगमन करना चाहिए, पहुँचाना चाहिए। सरस्तीरम् = सरोवर का तट है। संदिश्य = संदेश देकर, प्रतिगन्तुम् = लौटने में, अर्हति = योग्य हैं। क्षीरवृक्षच्छायाम् = दुधारु वृक्ष की छाया का, वट-वृक्ष की छाया का ॥

टीका—शार्ङ्गरव इति। ओदकान्तम्—उदकस्य = जलस्य, लक्षणया जलाशयस्य अन्तः = सान्निध्यम्, आ उदकान्तात् इति ओदकान्तम् = जलदर्शनपर्यन्तमित्यर्थः। स्निग्धः = वत्सलः प्रिय इति यावत्, अनुगन्तव्यः = अनुयातव्यः। सरस्तीरम्—सरसः = जलाशयस्य तीरम् = तटम्। संदिश्य = अस्मान् संदेशं दत्त्वा, प्रतिगन्तुम् = प्रतियातुम्, पश्चादाश्रमं गन्तुमित्यर्थः, अर्हति = भवान् योग्योऽस्ति। क्षीरप्रधानो वृक्षः क्षीरवृक्षः = वटभेदः, शाकपार्थिववत् समासः, तस्य छायाम् = अनातपम् ॥

टिप्पणी—ओदकान्तम्—स्मृतियों के अनुसार जब कोई अपना व्यक्ति बाहर जाने लगे तो घर के लोगों को चाहिए कि वे जलाशय अथवा किसी दुधारु वृक्ष तक उसे पहुँचावें। यहाँ संयोग से दोनों ही उपस्थित हैं। आश्रम के व्यक्तियों को लौटने की सलाह दी जा रही है।

काश्यप—तो हम सब इस वट-वृक्ष की छाया में एकत्रित हो जायें।

(सभी लोग घूमकर खड़े हो जाते हैं)

काश्यप—(अपने आप) आदरणीय दुष्यन्त के योग्य हमें क्या सन्देश भेजना चाहिए। (इस प्रकार सोचने लगते हैं)

शकुन्तला—(हाथ से आड़ करके दूसरी ओर) सखी, देखो। कमल-लता के पत्ते की आड़ में स्थित भी अपने साथी को न देख सकने से दुःखी चकवी चिल्ला रही है—'मैं दुष्कर, कार्य कर रही हूँ।'—ऐसा मेरा अनुमान है (इति)।

सखी, ऐसा मत कहो।

यह (चक्रवाकी) भी प्रिय के विना दुःख के कारण विशाल (प्रतीत होने वाली) रात्रि को व्यतीत (ही) करती है; (क्योंकि) आशा का बन्धन महान् भी वियोग-कष्ट को सहन करवाता है ॥ १६ ॥

व्युत्पत्ति—स्निग्धः—√स्निह् + क्त + विभक्तिकार्यम्। **अनुगन्तव्यः**—अनु + √गम् + तव्यत् + विभक्तिकार्यम्। **संदिश्य**—सम् + √दिश् + ल्यप् ॥

शब्दार्थः—आत्मगतम् = अपने आप। युक्तरूपम् = अनुरूप, अनुकूल, योग्य। नलिनीपत्त्रान्तरितम् = कमल-लता के पत्ते की आड़ में स्थित, सहचरम् = साथी को, वस्तुतः जीवनसाथी को, आतुरा = दुःखी, आरटति = चिल्ला रही है ॥

टीका—काश्यप इति। आत्मगतम् = स्वगतम्। युक्तरूपम्—प्रशस्तं युक्तं युक्तरूपम् = योग्यमित्यर्थः। नलिनीपत्त्रान्तरितम्—नलिन्याः = कमलिन्याः पत्त्रैः = पर्णैः अन्तरितम् = व्यवहितम्, सहचरम् = चक्रवाकम्, अपश्यन्ती = अनवलोकयन्ती, अतः आतुरा = विह्वला, आरटति = विलपति ॥

टिप्पणी—दुष्करमहम्—चकई और चकवा साथ-साथ विहार कर रहे थे। कमल के पत्रों से चकवा थोड़ी देर के लिए छिप गया। चकई विह्वल होकर चिल्लाने लगी। शकुन्तला का अनुमान है कि वह चिल्ला-चिल्लाकर यही कह रही है कि—"प्रियतम से कुछ क्षणों के लिए बिछुड़कर जो मैं जीवित हूँ, वही बड़ा कठिन कार्य कर रही हूँ।" इस कथन से शकुन्तला का संकेत अपनी ओर भी है कि—"मैं भी पति के वियोग में कठिनाई से जी रही हूँ।" महाकवि का प्रस्थान करती हुई शकुन्तला के मुख से यह वाक्य कहलाना अनुचित और अप्रासङ्गिक है॥

व्युत्पत्तिः—युक्तरूपम्—युक्त + रूपम् (रूप) + विभक्तिकार्यम्। **संदेष्टव्यम्**—सम् + √दिश् + तव्यत् + विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—एषा, अपि, प्रियेण, विना, विषाददीर्घतराम्, रजनीम्, गमयति; आशाबन्धः, गुरु, अपि, विरहदुःखम् साहयति ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—एषा = यह, अपि = भी, प्रियेण = प्रिय के विना = बिना, विषाददीर्घ-

काश्यपः—शार्ङ्गरव, इति त्वया मद्वचनात् स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः ।

शार्ङ्गरवः—आज्ञापयतु भवान् ।

काश्यपः—

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद् वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥१७॥

तराम् = दुःख के कारण विशाल (प्रतीत होने वाली), रजनीम् = रात्रि को, गमयति = व्यतीत करती है; आशाबन्धः = आशा का बन्धन, गुरु = महान्, अपि = भी, विरहदुःखम् = वियोग के कष्ट को, साहयति = सहन करवाता है ॥१६॥

टीका—एषेति । एषा = इयम् चक्रवाकी, अपि = च, अपिना यदा तिरश्चामियं दशा तदा मानवानां कीदृशी भवितव्येति निर्दिष्टम्, प्रियेण = सहचरेण, न तु नाथेन न च कान्तेन, विना = विना, विषाददीर्घतराम्—विषादेन = वियोगदुःखेन दीर्घतराम् = विशालाम्, रञ्जयति लोकानिति रजनी तां रजनीम् = रात्रिम्, गमयति = व्यतीतयति । अत्र कारणं निर्दिशति—आशाबन्धः—आशाया बन्धः = बन्धनम्, गुरु = महत्, कठिनमिति यावत्, अपि, विरहदुःखम्—विरहस्य = वियोगस्य दुःखम् = पीडाम्, साहयति = विरहिभिर्वाहयति । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । आर्या जातिः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—विषाददीर्घतराम्—दुःख की अवस्था में रात्रि व्यतीत ही नहीं होती। सुरसा के मुख की भाँति वह बढ़ती ही जाती है ।

आशाबन्धः—आशा बड़ी प्रबल होती है । इसके कारण व्यक्ति महान् से महान् कष्ट को भी सहन कर लेता है । इसी प्रकार की कुछ सूक्तियाँ और हैं—'आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यः पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि'॥ (मेघ० १-९) "शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम् ।" (विक्रमोर्वशीय, अं० ३) ॥

विशेष से सामान्य अर्थ का समर्थन होने से यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या ॥ १६ ॥

व्युत्पत्तिः—०बन्धः—√बन्ध् + घञ् + विभक्तिकार्यम् ॥१६॥

शब्दार्थः—मद्वचनात् = मेरे वचन से, मेरी ओर से, शकुन्तलां पुरस्कृत्य = शकुन्तला को आगे करके ॥

टीका—कश्यप इति । मद्वचनात्—मम वचनं मद्वचनम् = मत्कथनम् तस्मात्, मद्वचन-

काश्यप—शार्ङ्गरव, तुम शकुन्तला को आगे करके मेरी ओर से राजा से इस प्रकार कहना।

शार्ङ्गरव—आप आज्ञा दें (कि क्या कहना है)।

काश्यप—संयमरूपी धनवाले हम लोगों को तथा अपने ऊँचे कुल को और तुम्हारे ऊपर इस (शकुन्तला) के, किसी भी रूप में वन्धुओं के द्वारा न कराए गये, उस प्रेम-व्यापार को भी भली-भाँति विचार कर तुम्हारे द्वारा यह (शकुन्तला) स्त्रियों के मध्य समान गौरवपूर्वक (With equal honour) देखी जानी चाहिए। इससे अधिक भाग्य के अधीन है, वह वस्तुतः वधू के भाई-वन्धुओं को नहीं कहना चाहिए ॥ १७ ॥

मवलम्ब्येत्यर्थः, ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी, शकुन्तलां पुरस्कृत्य = शकुन्तलाम् अग्रे कृत्वेत्यर्थः ॥

अन्वयः—संयमधनान्, अस्मान्; च, आत्मनः, उच्चैः, कुलम्; त्वयि, अस्याः, कथमपि, अबान्धवकृताम्, ताम्, स्नेहप्रवृत्तिम्, च, साधु, विचिन्त्य, त्वया, इयम्, दारेषु, सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकम्, दृश्या; अतः, परम्, भाग्यायत्तम्, तत्, खलु, वधूबन्धुभिः, न, वाच्यम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—संयमधनान् = संयमरूपी धनवाले, अस्मान् = हम लोगों को; च = तथा, आत्मनः = अपने, उच्चैः = ऊँचे, कुलम् = कुल को, त्वयि = तुम्हारे ऊपर, अस्याः = इस (शकुन्तला) के, कथमपि = किसी भी रूप में, अबान्धवकृताम् = बन्धुओं के द्वारा न किये गये, ताम् = उस, स्नेहप्रवृत्तिम् = प्रेम-व्यापार को, च = भी, साधु = भली-भाँति, विचिन्त्य = विचार कर; त्वया = तुम्हारे द्वारा, इयम् = यह (शकुन्तला), दारेषु = स्त्रियों में, सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकम् = समान गौरव के साथ, एक समान सम्मान-पूर्वक, दृश्या = देखी जानी चाहिए, समझी जानी चाहिए; अतः = इससे, परम् = अधिक, भाग्यायत्तम् = भाग्य के अधीन है, तत् = वह, खलु = वस्तुतः, वधूबन्धुभिः = वधू के भाई-बन्धुओं को, न = नहीं, वाच्यम् = कहना चाहिए ॥ १७ ॥

टीका—अस्मानिति। संयमधनान्—संयमः = इन्द्रियनिग्रहः एव धनम् = सम्पत्तिः येषां तान्, तपोधनानित्यर्थः, अत्र मुन्यादिपदत्यागेन 'संयमधन' पदग्रहणमङ्गीकारानङ्गीकारयोर्भयानुग्रहौ दर्शयति, अस्मान् = मद्विधान्, च = तथा, आत्मनः = स्वस्य, उच्चैः = महत्, कुलम् = वंशम् च, त्वयि = भवति, अस्याः = एतस्याः शकुन्तलायाः, कथमपि = केनापि रूपेण, अबान्धवकृताम्—बान्धवैः कृतां बान्धवकृतां न बान्धवकृतामबान्धवकृताम् = बन्धुजनप्रयासं विनैव घटितामित्यर्थः, ताम् = तादृशीम्, स्नेहप्रवृत्तिम् = स्नेहप्रवाहम्, आधिक्यमिति यावत्, ('प्रवृत्तिः कथिता वृत्तौ प्रवाहोदन्तयोरपि' इति विश्वः), च = अपि, साधु = सम्यक्, विचिन्त्य = विचार्य; वाक्यपरिसमाप्तौ 'साधु विचिन्त्य' इति योज्यम्; त्वया = भवता, इयम् = एषा मत्पुत्री शकुन्तला, दारेषु = पत्नीषु, सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकम्—सामान्या = साधारणी या प्रतिपत्तिः = गौरवम् तत्पूर्वकम्, ('प्रतिपत्तिः पदे प्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवेऽपि च' इति विश्वः), दृश्या = अवलोकनीया, विचारणीयेति यावत्, व्यवहर्तव्येत्यर्थः; अतः = अस्मात्, परम् = अधिकम्, भाग्यायत्तम् = भाग्याधीनम्, दैवाय-

शार्ङ्गरवः—गृहीतः सन्देशः ।

काश्यपः—वत्से, त्वमिदानीमनुशासनीयाऽसि । वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम् ।

शार्ङ्गरवः—न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम ।

काश्यपः—सा त्वमितः पतिकुलं प्राप्य—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥१८॥

कथं वा गौतमी मन्यते ।

त्वमित्यर्थः; तत् = तद्विषये इत्यर्थः, खलु = वस्तुतः, वधूबन्धुभिः = वध्वा बन्धुभिः = पित्रादिभिः, न वाच्यम् = न वक्तव्यम्; तदुच्यमानं तु पक्षपातितया पर्यवसन्नं सत् औदासीन्यमेव गमयेदिति वीरराघवः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ १७ ॥

टिप्पणी—साधु विचिन्त्य—इसका आगे के तीन वाक्यों के साथ सम्बन्ध है—(१) अस्मान् साधु विचिन्त्य, (२) आत्मानं कुलं साधु विचिन्त्य, तथा (३) स्नेहप्रवृत्तिं साधु विचिन्त्य ।

संयमधनान्—संयम = इन्द्रिय-निग्रह ही हम लोगों का धन है । अतः पुत्री की विदाई के अवसर पर हम भौतिक सम्पत्ति को देने में असमर्थ हैं ।

उच्चैः कुलम्—अपने विश्व-विश्रुत कुल को याद कर ऐसा कार्य करना जिससे शकुन्तला को किसी भी प्रकार का कष्ट न होने पाये, किसी तरह की अपकीर्ति न होने पाये ।

स्नेहप्रवृत्तिम्—आपको यह स्मरण कर शकुन्तला पर अधिक ध्यान देना चाहिए कि मुझे इसने स्वयं, विना दूसरे की प्रेरणा के ही, प्यार किया है और मैंने भी इसे अपना प्यार प्रदान किया है ।

भाग्यायत्तम्—इससे आगे तो भाग्य के अधीन है कि वह कहाँ तक सफलता की श्रेणी पर पहुँचती है । उसके विषय में हम नहीं कहेंगे, क्योंकि हम कन्यापक्ष के हैं। अतः हमारा कहना पक्षपातपूर्ण समझा जायगा । तुम इस पर स्वयं विचार कर व्यवहार करना कि कन्या के सम्बन्धी उसकी सुख-शान्ति के लिए कैसा विचार रखते हैं ।

यहाँ पर 'माम्' न कहकर 'संयमधनान् अस्मान्' कहने से विशेष के लिए सामान्य का प्रयोग होने से अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है । इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित । छन्द का लक्षण—"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १७॥

शार्ङ्गरव—(आपका) सन्देश ग्रहण कर लिया गया (अर्थात् मैंने आपका सन्देश समझ लिया)।

काश्यप—बेटी, तुम अब शिक्षणीय हो (अर्थात् अब तुम्हें भी कुछ शिक्षा देनी हैं)। वनवासी होकर भी हम लोग लोक-व्यवहार को जानने वाले हैं।

शार्ङ्गरव—वस्तुतः बुद्धिशालियों के लिए कुछ भी अज्ञात नहीं होता है।

काश्यप—तुम यहाँ से पति-गृह पहुँचकर—

गुरु-जनों की सेवा करना, सपत्नियों (सौतों) के साथ प्रिय सखी का-सा बर्ताव करना, तिरस्कृत होकर भी (तुम) क्रोधवश पति के विपरीत आचरण मत करना, सेवक-सेविकाओं पर पर्याप्त उदार रहना, (अपने उत्तम) भाग्य पर अभिमान मत करना,—ऐसा व्यवहार करने वाली युवतियाँ गृह-लक्ष्मी के पद को प्राप्त करती हैं और इसके विपरीत आचरण करने वाली (युवतियाँ) कुल के लिए व्याधि (दुःख का कारण) बनती हैं ॥ १८ ॥

अथवा गौतमी (इस विषय में) क्या सोचती है ?

व्युत्पत्तिः—संयम०—सम्+√यम्+अप् (अ) भावे+विभक्त्यादिकार्यम्। भाग्यायत्तम्—आ+√यत्+क्त कर्मणि+विभक्तिकार्ये आयत्तम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—गृहीतः=ग्रहण कर लिया गया, समझ लिया गया। अनुशासनीया=शिक्षणीय हो। वनौकसः=वनवासी, लौकिकज्ञाः=लोकव्यवहार को जानने वाले। धीमताम्=बुद्धिशालियों के लिए, अविषयः=अज्ञात, अपरिचित ॥

टीका—शार्ङ्गरव इति। गृहीतः=अवबुद्धः, मनसि कृत इत्यर्थः। अनुशासनीया=उपदेष्टव्या। वनौकसः=वनवासिनः, लौकिकज्ञाः=लौकिकाचारविदः। धीमताम्=बुद्धिमताम्, अविषयः=अगोचरः ॥

टिप्पणी—लौकिकज्ञाः—लोकव्यवहार को जानने वाले। कण्व के कहने का भाव यह है कि यद्यपि हम लोगों का सारा जीवन जङ्गल में ही व्यतीत हो रहा है, फिर भी हम लोक-प्रचलित व्यवहारों को जानते हैं। अतः लोक-समाज में उतरती हुई तुम्हारे लिए मेरे उपदेश निरर्थक न होकर सार्थक ही हैं।

व्युत्पत्तिः—लौकिकज्ञाः—लोके भवं लौकिकम्, लोक+ठञ् (इक्)=लौकिक+√ज्ञा+क (अ)+विभक्त्यादिकार्यम्। अनुशासनीया—अनु+√शास्+अनीयर्+टाप्+विभक्त्यादिकार्यम् ॥

अन्वयः—गुरून्, शुश्रूषस्व, सपत्नीजने, प्रियसखीवृत्तिम्, कुरु; विप्रकृता, अपि, (त्वम्), रोषणतया, भर्तुः, प्रतीपम्, मा स्म गमः; परिजने, भूयिष्ठम्, दक्षिणा, भव; भाग्येषु, अनुत्सेकिनी, (भव); एवम्, युवतयः, गृहिणीपदम्, यान्ति; वामाः, कुलस्य, आधयः, (भवन्ति) ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—गुरून्=गुरु-जनों की, आदरणीय जनों की, शुश्रूषस्व=सेवा करना;

गौतमी—एतवान् वधूजनस्योपदेशः। जाते, एतत् खलु सर्वमवधारय। [एत्तिओ वहूजणस्स उवदेसो। जादे, एदं क्खु सव्वं ओधारेहि।]

काश्यपः—वत्से, परिष्वजस्व मां सखीजनं च।

शकुन्तला—तात, इत एव किं प्रियंवदाऽनसूये सख्यौ निर्वतिष्येते। [ताद, इदो एव्व किं पिअंवदाअणसूआओ सहीओ णिवत्तिस्सन्ति ।]

काश्यपः—वत्से, इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्। त्वया सह गौतमी यास्यति।

शकुन्तला—(पितरमाश्लिष्य) कथमिदानीं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयतटोन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि। [कहं दाणिं तादस्स अंकादो परिब्भट्टा मलअतडुम्मूलिआ चन्दणलदा विअ देसन्तरे जीविअं धारइस्सं।]

सपत्नीजने=सपत्नियों के साथ, सौतों के साथ, प्रियसखीवृत्तिम्=प्रिय सखी का-सा वर्ताव, कुरु=करना; विप्रकृता=तिरस्कृत होकर, अपि=भी, (त्वम्=तुम), रोषणतया=क्रोधवश, भर्तुः=स्वामी के, पति के, प्रतीपम्=विपरीत, मा स्म गमः=मत जाना, आचरण मत करना; परिजने=सेवक-सेविकाओं पर, भूयिष्ठम्=पर्याप्त, दक्षिणा=उदार, भव=होओ, रहना; भाग्येषु=भाग्य पर, अनुत्सेकिनी=अभिमान-रहित (भव=रहना); एवम् ऐसा व्यवहार करने वाली, युवतयः=युवतियाँ, गृहिणीपदम्=गृह-लक्ष्मी के पद को, यान्ति=प्राप्त करती हैं; वामाः=इसके विपरीत आचरण करने वाली युवतियाँ, कुलस्य=कुल के लिए, आधयः=व्याधि, रोग, (भवन्ति=होती हैं, बनती हैं) ॥ १८ ॥

टीका—शुश्रूषस्वेति। गुरून्=श्वश्रूश्वशुरादीन् पूज्यान् जनान्, शुश्रूषस्व=सेवस्व, सपत्नीजने—सपत्नीनाम्=त्वत्समानभर्तृकाणाम् जने=समूहे, प्रियसखीवृत्तिम्—प्रियसखीनाम्=प्रियवयस्यानाम् इव वृत्तिम्=व्यवहारम्, कुरु=वर्तस्व; विप्रकृता=न्यक्कृता, तिरस्कृतेत्यर्थः (निकारो विप्रकारः स्यात्' इत्यमरः), अपि, रोषणतया=ईर्ष्यया, क्रोधावेगेनेति यावत्, भर्तुः=पत्युः, प्रतीपम्=वैपरीत्यम्, मा स्म गमः=मा यासीः; परिजने=सेवकवर्गे, भूयिष्ठम्=अतिशयेन, दक्षिणा=अनुकूला, भव=स्याः, भाग्येषु=निजेषु सौभाग्येष्वित्यर्थः, अनुत्सेकिनी=अभिमानविरहिता, भवेति शेषः, मदीया भाग्यसंपत्तिरतुलनीयेति गर्वो न कार्य इत्यर्थः, राघवभट्टास्त्वित्थं व्याख्यान्ति—

गौतमी—इतना ही नववधुओं के लिए (पर्याप्त) उपदेश है। बेटी, यह सब अवश्य ही स्मरण रखना।

काश्यप—बेटी, मुझसे और अपनी सखियों से गले लग लो।

शकुन्तला—पिताजी, यहीं से क्या प्रियम्वदा और अनसूया—दोनों सखियाँ—लौट जायेंगी ?

काश्यप—बेटी, ये दोनों भी विवाह करके देनी हैं। (अतः) इनका वहाँ (हस्तिनापुर में) जाना ठीक नहीं है। तुम्हारे साथ गौतमी जायेगी।

शकुन्तला—(पिता से लिपटकर) पिता की गोद से बिछुड़ी हुई मैं अब, मलय पर्वत की उपत्यका से उखाड़ी हुई चन्दन-लता की भाँति, दूसरे देश में कैसे जीवन को धारण करूँगी ?

'भाग्येषु सपत्नीदैवेष्वनुत्सेकिन्यस्खलिता' भवेत्यनुषज्यते। अस्या भाग्यं मम नास्तीति दुःखं न कार्यमित्यर्थः। अथ च भागेषु निजेष्वनुत्सेकिनी निर्गर्वा 'ममैतादृशं सौभाग्य'-मिति गर्वो न कार्य इत्यर्थः। 'उदो मर्दनोत्क्षेपणगर्वस्खलनेषु' इति गणपाठात्। वस्तुतस्त्वत्र भोगेष्वेव पाठः समीचीनः' कामसूत्रवर्तित्वादिति, एवम्=एवं सति, युवतयः=तरुण्यः, स्त्रीमात्रमित्यर्थः, त्वं, तु किं पुनरिति भावः, गृहिणीपदम्—गृहिण्याः=गृहस्वामिन्याः पदम्=स्थानम्, अधिकारमिति यावत्, यान्ति=प्राप्नुवन्ति; वामाः=एतत्प्रतिकूलवर्तिन्य युवतयः, कुलस्य=पितृश्वसुरवंशस्य, आधयः=मनस्तापकारिण्यः, ('आधिर्मानसपीडायाम्' इति विश्वः), भवन्तीति शेषः। रूपकं हेतुरर्थान्तरन्यासश्चालङ्काराः। उपदिष्टं नाम नाट्यलक्षणं वर्तते। शार्दूलविक्रीडितमत्र छन्दः॥ १८॥

टिप्पणी—कण्व का यह उपदेश किसी भी युवती के लिए आवश्यक कर्तव्य है। इसी प्रकार का एक कहीं का उपदेश-वाक्य श्री काले ने इस प्रकार उद्धृत किया है—'अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता, तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधिस्तस्योपचर्या स्वयम्। सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति, प्राच्यैः पुत्रि निवेदितः कुलवधूसिद्धान्तधर्मागमः॥'

भाग्येषु—यद्यपि निर्णयसागर तथा काले के संस्करणों ने यही पाठ स्वीकार किया है। किन्तु यहाँ 'भोगेषु' ही मूल पाठ रहा होगा। क्योंकि कालिदास ने यह अंश वात्स्यायनकामसूत्र (१।४) से लिया है। वहाँ 'भोगेषु' यही पाठ है। अन्य दृष्टियों में भी यही पाठ अधिक तर्कसङ्गत प्रतीत होता है।

इस श्लोक में रूपक, हेतु तथा अर्थान्तरन्यास अलङ्कार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द के लक्षण के लिए देखिये पीछे ४।१७ श्लोक की टिप्पणी॥ १८॥

व्युत्पत्तिः—विप्रकृता—वि+प्र √कृ+क्त+टाप्+विभक्तिः। भूयिष्ठम्—

काश्यपः—वत्से, किमेवं कातराऽसि ।

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥ १९॥

(शकुन्तला पितुः पादयोः पतति ।)

वहु + इष्ठन् (इष्ठ), इष्ठस्य यिट् च (पा० ६।४।१५९) इति सूत्रेण वहो भूरादेशः इकारस्य यि चेति + विभक्तिः । वामा—वमति स्नेहमिति, √वम् + ण (अ) + टाप् + विभक्तिकार्यम् ॥ १८॥

शब्दार्थः—प्रदेये = विवाह करके देनी हैं । युक्तम् = ठीक, तत्र = वहाँ हस्तिनापुर में । आश्लिष्य = लिपटकर । अङ्कात् = गोद से, परिभ्रष्टा = बिछुड़ी हुई, मलय-तटोन्मूलिता = मलय पर्वत की उपत्यका (पर्वत के निचले भाग) से उखाड़ी हुई, जीवितम् = जीवन को ॥

टीका—काश्यप इति । प्रदेये = प्रदातव्ये, अनुरूपाय वरायेति शेषः । युक्तम् = समीचीनम्, तत्र = हस्तिनापुरे इत्यर्थः । आश्लिष्य = आश्लिष्टा भूत्वा । अङ्कात् = क्रोडात्, परिभ्रष्टा = च्युता, मलयतटोन्मूलिता—मलयस्य = तदाख्यस्य पर्वतस्य तटात् = उपत्यकायाः, प्रान्तभूमेरिति यावत्, उन्मूलिता = उत्पाटिता, जीवितम् = जीवनं प्राणानित्यर्थः ॥

टिप्पणी—प्रदेये—इन दोनों का अभी विवाह करना बाकी है । योग्य वर के साथ विवाह करके इन्हें भी दूसरे को देना ही है । कालिदास ने बड़ी चतुरता से यहाँ कण्व के मुख से अनसूया और प्रियंवदा को शकुन्तला के साथ जाने से रोकवा दिया है । यदि वे दोनों शकुन्तला के साथ जातीं तो कण्व के शाप की बात प्रकट हो जाती और उसका कुछ खास प्रभाव न पड़ता । इस प्रसङ्ग से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन भारत में पूर्ण वयस्क हो जाने पर ही विवाह होता था ।

चन्दनलता—यहाँ पर चन्दनलता का अर्थ है—चन्दन का छोटा कोमल वृक्ष । चन्दन की लता नहीं उसका वृक्ष होता है । चन्दन के वृक्ष की शाखा अर्थ करना भी अव्यावहारिक होगा, क्योंकि उन्मूलन शाखा का नहीं वृक्ष का होता है ।

काश्यप—बेटी, क्यों इस तरह दुःखी हो रही हो?

बेटी, तुम अति कुलीन पति के प्रशंसनीय गृहस्वामिनी (महारानी) के पद पर स्थित होकर, उस (पति) के ऐश्वर्य के कारण महान् कार्यों से प्रतिक्षण व्यस्त (तुम) शीघ्र ही, पूरब दिशा जिस प्रकार पावन सूर्य को जन्म देती है उसी प्रकार, पवित्र पुत्र को पैदा करके, मेरे विरहजन्य शोक को भूल जाओगी ॥ १९ ॥

(शकुन्तला पिता के चरणों पर गिरती है।)

व्युत्पत्तिः—गन्तुम्—√गम्+तुमुन्। आश्लिष्य—आ+√श्लिष्+ल्यप् ॥

अन्वयः—वत्से, त्वम्, अभिजनवतः, भर्तुः, श्लाघ्ये, गृहिणीपदे, स्थिता; तस्य, विभवगुरुभिः, कृत्यैः, प्रतिक्षणम्, आकुला, (त्वम्), अचिरात्, प्राची, अर्कम्, इव, पावनम्, तनयम्, प्रसूय, च, मम, विरहजाम्, शुचम्, न, गणयिष्यसि ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—वत्से=बेटी, त्वम्=तुम, अभिजनवतः=अति कुलीन, सत्कुलोत्पन्न, भर्तुः=पति के, श्लाघ्ये=प्रशंसनीय, गृहिणीपदे=गृहस्वामिनी (महारानी) के पद पर, स्थिता=स्थित होकर; तस्य=उसके, विभवगुरुभिः=ऐश्वर्य के कारण महान्, कृत्यैः=कार्यों से, प्रतिक्षणम्=प्रतिक्षण, आकुला=व्यस्त, (त्वम्=तुम), अचिरात्=शीघ्र ही, प्राची=पूरब दिशा, अर्कम्=सूर्य को, इव=तरह, पावनम्=पवित्र, तनयम्=पुत्र को, प्रसूय=पैदा करके, च=यहाँ इसका कोई खास अर्थ नहीं है, मम=मेरे, विरहजाम्=विरहजन्य, शुचम्=शोक को, न=नहीं, गणयिष्यसि=गिनोगी, समझोगी, भूल जाओगी ॥ १९ ॥

टीका—अभिजनेति। वत्से=पुत्रि, त्वम्, अभिजनवतः=कुलवतः, महाकुलीनस्येत्यर्थः, ('कुलान्यभिजनान्वयौ' इत्यमरः) अथवा 'अभिजन' पदेन तदुत्पन्ना जनाः लक्ष्यन्ते, तद्वतस्तद्बहुजनवतः, अभितः=समन्ततः जनवतः=स्वजनवतः इति वा, भर्तुः=पत्युः, श्लाघ्ये=प्रशंसनीये, सर्वोत्कृष्टे इत्यर्थः गृहिणीपदे—गृहिण्याः=गृहस्वामिन्याः पदे=स्थाने, महिषीपदे इति भावः, स्थिता=वर्तमाना सती, तस्य=तादृशस्य अभिजनवतो भर्तुरित्यर्थः, विभवगुरुभिः—विभवः=सम्पत्तिः तेन गुरुभिः=गरिष्ठैः, कृत्यैः=निमित्तनैमित्तिक-काम्यैः कर्मभिः, प्रतिक्षणम्=सततम्, आकुला=व्यग्रा, व्यस्तेति यावत्, त्वमिति शेषः, अचिरात्=अविलम्बेन, प्राची=पूर्वा दिक्, अर्कम्=सूर्यम्, इव=यथा, यथा पूर्वा दिक् पावनं सूर्यं प्रसूते तथैवेत्यर्थः, पावनम्=पवित्रम्, तनयम्=सुतम्, प्रसूय=उत्पाद्य, च समुच्चये, मम=स्वपितुः कण्वस्येत्यर्थः, विरहजाम्=वियोगोत्पन्नाम्, शुचम्=शोकम्, न गणयिष्यसि=न चिन्तयिष्यसि। गृहकार्यव्यग्रतया त्वया शोको न गणनीय इत्यर्थः। अत्रोपमा समुच्चयः काव्यलिङ्गश्चालङ्काराः हरिणी च छन्दः ॥ १९ ॥

टिप्पणी—अभिजनवतः—'अभिजन' का अर्थ होता है—कुल। मतुप् प्रत्यय यहाँ प्रशंसा अर्थ में है। अतः इसका अर्थ होता है—प्रशस्त कुलवाले।

प्राची अर्कम् इव—जिस प्रकार पूरब दिशा सूर्य को पैदा करती है, उसी प्रकार। यहाँ यह उपमा विशेष अभिप्राय को प्रकाशित करती है। इसका भाव यह है कि जैसे पूरब दिशा अत्यन्त तेजस्वी, यशस्वी तथा त्रिभुवनवन्द्य सूर्य को पैदा करती है, उसी प्रकार तुम भी अत्यन्त प्रतापी, यशस्वी और त्रिलोकी के बेजोड़ योद्धा अतः वन्दनीय

काश्यपः—यदिच्छामि ते तदस्तु।

शकुन्तला—(सख्यावुपेत्य) हला, द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम्। [हला, दुवे वि मं समं एव्व परिस्सजह।]

सख्यौ—(तथा कृत्वा) सखि, यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्, ततस्तस्मा इदमात्मनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं दर्शय। [सहि, जइ णाम सो राआ पच्चहिण्णाणमन्थरो भवे, तदो से इमं अत्तणामहेअअंकिअं अंगुलीअअं दंसेहि।]

शकुन्तला—अनेन सन्देहेन वामाकम्पिताऽस्मि। [इमिणा संदेहेण वो आकम्पिदम्हि।]

सख्यौ—मा भैषीः। अतिस्नेहः पापशंकी। [मा भाआहि। अदिसिणेहो पावसंकी।]

शार्ङ्गरवः—युगान्तरमारूढः सविता। त्वरतामत्रभवती।

शकुन्तला—(आश्रमाभिमुखी स्थित्वा) तात, कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये। [ताद, कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं।]

पुत्र को पैदा करोगी।

यहाँ 'इव' के द्वारा उपमा है। 'न गणयिष्यसि' के तीन हेतु यहाँ दिये हैं। अतः काव्यलिङ्ग है। तीन हेतुओं के यहाँ एकत्रित होने से समुच्चय अलङ्कार भी है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—हरिणी। छन्द का लक्षण—

'न-स-म-र-स-ला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' ॥ १९ ॥

व्युत्पत्तिः—अभिजनवतः—अभिजन्यते अस्मिन् इति, अभि + √जन + घञ् अधिकरणे संज्ञायाम्, अभिजन + मतुप् प्रशंसायाम् + षष्ठ्येकवचने विभक्तिकार्यम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—प्रत्यभिज्ञानमन्थरः = पहचानने में शिथिल, पहचानने में देर करे। आत्मनामधेयाङ्कितम् = अपने नाम से अङ्कित, अङ्गुलीयकम् = अँगूठी। आकम्पिता = घबड़ा गई। भैषीः = डरो। अतिस्नेहः = अत्यधिक अनुराग, पापशङ्की = अनिष्ट की आशङ्का करने वाला ॥

टीका—सख्याविति। प्रत्यभिज्ञानमन्थरः—प्रत्यभिज्ञाने = संस्मृतौ, ऊढपूर्वेयं मया इति ज्ञाने इत्यर्थः, मन्थरः = शिथिलः, आत्मनामधेयाङ्कितम्—आत्मनः = स्वस्य, त्वदीय राज्ञ इति भावः, नामधेयेन = नाम्ना अङ्कितम् = मुद्रितम्, अङ्गुलीयकम् = अङ्गुलिमुद्राम्। आकम्पिता = भीता। भैषीः = विभीहि। अतिस्नेहः = प्रगाढं प्रेम, पापशङ्की = अनिष्टशङ्की भवतीति वाक्यपरिसमाप्तिः ॥

टिप्पणी—यदिच्छामि—यहाँ पर कण्व को कहना चाहिए था कि—'यदिच्छसि तदस्तु।' तुम जो कुछ चाहती हो, वह तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। किन्तु ऐसा न कहकर उन्होंने 'इच्छामि' कहा। मैं जो कुछ तुम्हारे लिए चाहता हूँ, वह सब पूरा हो। ये

काश्यप—मैं तुम्हारे लिए जो चाहता हूँ, वह हो।

शकुन्तला—(दोनों सखियों के पास जाकर) सखियों, तुम दोनों भी एक साथ ही मेरा आलिङ्गन करो।

दोनों सखियाँ—(वैसा ही करके) सखी, सम्भवतः (नाम) यदि वह राजा (तुम्हें) पहचानने में देर करे तो उसके अपने नाम से अङ्कित यह अँगूठी उसे दिखला देना।

शकुन्तला—तुम लोगों के इस सन्देह से मैं घबड़ा गई हूँ।

दोनों सखियाँ—डरो मत। अत्यधिक अनुराग अनिष्ट की आशङ्का करने वाला होता है।

शार्ङ्गरव—सूर्य दूसरे पहर में चढ़ गया है। (अतः) आदरणीया आप (अर्थात् शकुन्तला) शीघ्रता करें।

शकुन्तला—(आश्रम की ओर मुँह की हुई खड़ी होकर) पिताजी, अब मैं कब फिर तपोवन देखूँगी ?

शकुन्तला के लिए जो कुछ चाहते हैं, वह आगे (श्लोक २०) में स्पष्ट हुआ है। 'इच्छसि' का प्रयोग इसलिये नहीं किया कि कहीं वह प्रेमवश आश्रम में ही रुकने का आग्रह न कर बैठे।

प्रत्यभिज्ञानमन्थरः—पहचानने में शिथिल। 'प्रत्यभिज्ञान' शब्द काश्मीर शैवदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। प्रत्यभिज्ञान उस ज्ञान को कहते हैं, जिसमें स्मृति और अनुभव (अर्थात् प्रत्यक्ष) दोनों ही निहित रहते हैं। इसका अर्थ है कि पहले देखी गई किसी वस्तु को फिर देखने पर स्मृति के द्वारा स्मरण करना तथा अनुभव या प्रत्यक्ष द्वारा प्रत्यक्ष देखना। जैसे—'सोऽयं देवदत्तः' यहाँ पर 'सः' के द्वारा पूर्वदृष्ट देवदत्त का स्मरण है और 'अयं' के द्वारा प्रत्यक्ष है।

यहाँ अनसूया और प्रियंवदा अप्रत्यक्षरूप से शकुन्तला को वह उपाय बतलाती हैं जिससे मुनि दुर्वासा का शाप समाप्त हो जाय।

व्युत्पत्तिः—सन्देहेन—सम् + √दिह् + घञ् + तृतीयैकवचने विभक्तिकार्यम् ॥

शब्दार्थः—युगान्तरम् = दूसरे पहर में, आरूढः = चढ़ गया है। प्रेक्षिष्ये = देखूँगी ॥

टीका—शार्ङ्गरव इति। युगान्तरम् = प्रहरान्तरम्, हस्तचतुष्कावधि वा, ('युगं हस्तचतुष्केऽपि' इति विश्वः), आरूढः = आगतः। प्रेक्षिष्ये = अवलोकयिष्यामि ॥

टिप्पणी—युगान्तरम्—अर्थात् दूसरा पहर प्रारम्भ हो गया है। तीन घण्टे का एक युग होता है। चौबीस घण्टे में आठ युग होते हैं, चार दिन में तथा चार रात में। इसके अतिरिक्त दिन को चार भागों में विभक्त करने का एक और तरीका था। पूरे आकाश को सोलह हाथों में बाँट देते थे। चार हाथ के नाप वाले आकाश को एक युग कहते थे।

व्युत्पत्तिः—आरूढः—आ + √रुह् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥

काश्यपः—श्रूयताम्—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥२०॥

गौतमी—जाते, परिहीयते गमनवेला । निवर्तय पितरम्। अथवा चिरेणापि पुनः पुनरेषैवं मन्त्रयिष्यते । निवर्ततां भवान् । [जादे, परिहीअदि गमणवेला । णिवत्तेहि पिदरं। अहवा चिरेण वि पुणो पुणो एसा एव्वं मन्तइस्सदि । णिवत्तदु भवं॥]

काश्यपः—वत्से, उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम् ।

शकुन्तला—(भूयः पितरमाश्लिष्य) तपश्चरणपीडितं तातशरीरम् । तन्माऽतिमात्रं मम कृते उत्कण्ठस्व । [तवच्चरण-पीडिदं तादसरीरं। ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कण्ठस्स॥]

अन्वयः—चिराय, चतुरन्तमहीसपत्नी, भूत्वा; अप्रतिरथम्, तनयम्, दौष्यन्तिम्, निवेश्य; तदर्पितकुटुम्बभरेण, भर्त्रा, सार्धम्, शान्ते, अस्मिन्, आश्रमे, पुनः, पदम्, करिष्यसि ॥ २० ॥

शब्दार्थः— चिराय = बहुत दिनों तक, चतुरन्तमहीसपत्नी = चारों समुद्रों तक फैली हुई पृथिवी की सपत्नी (सौत), भूत्वा = होकर; अप्रतिरथम् = बेजोड़ महारथी, तनयम् = पुत्र, दौष्यन्तिम् = दौष्यन्ति को, भरत को, निवेश्य = राज्य-सिंहासन पर बिठाकर, तदर्पित-कुटुम्बभरेण = उसके ऊपर कुटुम्ब के भार को सौंप देने वाले, भर्त्रा = पति के, सार्धम् = साथ; शान्ते = शान्त, अस्मिन् = इस, आश्रमे = आश्रम में, पुनः = फिर से, पदम् = आश्रय, निवास, करिष्यसि = करोगी ॥ २० ॥

टीका—भूत्वेति । चिराय = चिरकालम्, चतुरन्तमहीसपत्नी—चत्वारः समुद्राः विशेषणेनैव विशेष्यप्रतिपत्तिः ते अन्तः = सीमाभागः यस्याः सा चासौ मही = पृथिवी तस्याः सपत्नी = समानभर्तृका, अथवा चत्वारः अन्ताः = प्रान्तभागाः यस्याः सा चतुरन्ता = समग्रा इत्यर्थः तथाविधायाः मह्याः = पृथिव्याः सपत्नी = समानभर्तृका भूत्वा;—चतुरुदधिमेखलितभूवलयोपभोगमुपभुञ्ज्येति भावः । अप्रतिरथम्—न विद्यते प्रति = संमुखः रथः यस्य स तम्, अविद्यमानः प्रतिरथः = विपक्षी यस्य स तथाविधं वा, तनयम् = सुतम्, दौष्यन्तिम्—दुष्यन्तस्यापत्यं दौष्यन्तिस्तम्, दुष्यन्तजातं तनयम्

काश्यप—सुनो—

बहुत दिनों तक चारों समुद्रों तक फैली हुई पृथिवी की सपत्नी (सौत) होकर तथा (अपने) बेजोड़ महारथी पुत्र दौष्यन्ति (भरत) को राज्य-सिंहासन पर बिठाकर और उसके ऊपर कुटुम्ब के भार को सौंप देने वाले पति के साथ शान्त इस आश्रम में फिर से (आकर) निवास करोगी ॥ २० ॥

गौतमी—बेटी, प्रस्थान का काल व्यतीत होता जा रहा है। (अतः) पिताजी को लौटाओ। अथवा बहुत देर तक भी वार-वार यह इसी प्रकार कहती रहेगी। (तो) आप (ही) लौटिए।

काश्यप—बेटी, तपस्या का अनुष्ठान रुक रहा है। (अतः मुझे जाने दो)।

शकुन्तला—(पुनः पिता से लिपटकर) पिताजी का (अर्थात् आपका) शरीर तपस्या के आचरण से अतिकृश है। अतः (आप) मेरे लिए अत्यधिक दुःखी मत होइए।

मित्यर्थः, अजातत्वात् नाम विना सामान्येन दौष्यन्ति-शब्देन व्यपदेशः इति प्राचीनाः, निवेश्य=स्थापयित्वा; तदर्पितकुटुम्बभरेण—तस्मिन्=दौष्यन्तौ अर्पितः=न्यस्तः कुटुम्बस्य=बन्धुवर्गस्य भरः=भारः येन तादृशेन, भर्त्रा=पत्या दुष्यन्तेन, सार्धम्=साकम् अस्मिन्=एतस्मिन्, आश्रमे=तपोवने, पुनः=मुहुः, पदम्=स्थानम्, निवासमिति यावत्, करिष्यसि=विधास्यसि। अत्र मालादीपकमलङ्कारः। वसन्ततिलका छन्दः ॥ २० ॥

टिप्पणी—महीसपत्नी—पृथिवी की सौत। राजा पृथिवी का पति कहा जाता है। दुष्यन्त पृथिवी-पति था। शकुन्तला भी उसकी पत्नी थी। इस प्रकार राजा पृथिवी और शकुन्तला—दोनों—का पति था। अतः शकुन्तला पृथिवी की सौत हुई। इससे राजा के समस्त भूमण्डल के शासक होने की बात सिद्ध होती है।

दौष्यन्तिम्—चूंकि अभी तक दुष्यन्त का पुत्र पैदा नहीं हुआ है। अतः उसका नामकरण न होने से उसे दौष्यन्ति कहा गया है। यहाँ भरत से अभिप्राय है।

तदर्पितकुटुम्बभरेण—प्राचीन परिपाटी के अनुसार जब पुत्र योग्य हो जाता था और राजा का चौथापन आ जाता था, तब वह पुत्र को सिंहासन पर बैठाकर स्वयं पत्नी के साथ जंगल में तपस्या करने चला जाता था। यही मनु आदि धर्मशास्त्रियों का विधान है।

यहाँ पर शकुन्तला पर सौतभाव के आरोप, सिंहासन पर पुत्र के बिठाने तथा पुत्र पर कुटुम्ब के भार के रखने से मालादीपक अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका। छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥'

चतुर्थ अङ्क के प्रसिद्ध चार श्लोकों में यह चतुर्थ है ॥ २० ॥

व्युत्पत्तिः—दौष्यन्तिम्—दुष्यन्त + इञ् + विभक्त्यादिकार्यम्।

निवेश्य—नि:√विश् + णिच् + ल्यप् (य)=निवेश्य ॥ २० ॥

शब्दार्थः—परिहीयते=व्यतीत होता जा रहा है, गमनवेला=प्रस्थान का काल। उपरुध्यते=रुक रहा है। तपश्चरणपीडितम्=तपस्या के आचरण से अतिकृश ॥

काश्यपः—(सनिःश्वासम्)

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं निवारबलिं विलोकयतः ॥२१॥

गच्छ। शिवास्ते पन्थानः सन्तु।

(निष्क्रान्ता शकुन्तला सहयायिनश्च।)

सख्यौ—(शकुन्तलां विलोक्य) हा धिक्, हा धिक्। अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या। [हद्धी, हद्धी। अन्तलिहिदा सउन्दला वणराईए।]

काश्यपः—(सनिःश्वासम्) अनसूये, गतवती वां सहचारिणी निगृह्य शोकमनुगच्छतं मां प्रस्थितम्।

उभे—तात, शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः। [ताद, सउन्दलाविरहिदं सुण्णं विअ तवोवणं कहं पविसामो।]

टीका—गौतमीति—परिहीयते=क्षीयते, गमनवेला=प्रस्थानकालः। उपरुध्यते=विघ्नितं भवति। तपश्चरणपीडितम्—तपश्चरणेन=तपसोऽनुष्ठानेन पीडितम्=कृशम्, अतिदुर्बलमिति यावत्॥

अन्वयः—वत्से, त्वया, रचितपूर्वम्, उटजद्वारविरूढम्, नीवारबलिम्, विलोकयतः, मम, शोकः, कथम्, नु, शमम्, एष्यति॥ २१॥

शब्दार्थः—वत्से= बेटी, त्वया=तुम्हारे द्वारा, रचितपूर्वम्=पहले बनाये गये, उटजद्वारविरूढम्= कुटीर के द्वार पर उगे हुए, नीवारबलिम्=तिन्नी धान के उपहार को, विलोकयतः=देखते हुए, मम=मेरा, शोकः=शोक, कथम्=कैसे, नु=यह वितर्क का द्योतक अव्यय है, शमम्=शान्ति को, एष्यति=प्राप्त होगा?॥ २१॥

टीका—शममिति। वत्से=पुत्रि, त्वया=शकुन्तलयेत्यर्थः, रचितपूर्वम्—पूर्वम्=प्राक् रचितः=निर्मितः रचितपूर्वस्तम्, उटजद्वारविरूढम्—उटजस्य=कुटीरस्य द्वारं=प्रवेशमार्गपार्श्वे विरूढम्=अङ्कुरितम्, ('विरुढस्तु सञ्जाताङ्कुरितेऽन्यवत्' इति विश्वः) नीवारबलिम्—नीवारैः=तृणधान्यैः बलिम्=पूजाम्, विलोकयतः=पश्यतः, मम=कण्वस्येत्यर्थः, शोकः=दुःखम्, कथम्=केन प्रकारेण, नु इति वितर्के, शमम्=शान्तिम्, एष्यति=प्राप्स्यति। अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः। आर्या छन्दः॥ २१॥

काश्यप—(लम्बी साँस छोड़ते हुए)

बेटी, तुम्हारे द्वारा पहले बनाये गये और (अब) कुटीर के द्वार पर उगे हुए तिन्नी धान के उपहार को देखते हुए मेरा शोक कैसे शान्त होगा ? ॥ २१ ॥

जाओ। तुम्हारे मार्ग मङ्गलमय हों।

(शकुन्तला और उसके साथ जाने वाले व्यक्ति निकल गये)

दोनों सखियाँ—(शकुन्तला की ओर देखकर) हाय कष्ट है, हाय कष्ट है। शकुन्तला वन-पंक्ति से ओझल हो गई।

काश्यप—(लम्बी साँस छोड़ते हुए) अनसूया, तुम लोगों की सखी चली गई। रोककर (अपने) शोक को चलने वाले मेरे पीछे-पीछे आओ।

दोनों—पिताजी, शकुन्तला से विहीन अतः सूना-सा प्रतीत होने वाले इस तपोवन में कैसे प्रवेश करें।

टिप्पणी—रचितपूर्वम्···नीवारबलिम्—वर्षा प्रारम्भ होने पर मुनि-कन्याएँ तिन्नी धान को आस-पास के गड्ढों में बोती थीं। बोने के पूर्व वे अपने गृह-द्वार के दोनों तरफ गोबर का कुठिला (पात्र) बनाकर उसमें तिन्नी-धान भरती थीं। थोड़े समय के बाद यह धान उगकर लहलहा जाता था।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा आर्या छन्द है।

छन्द का लक्षण—यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥ २१ ॥

व्युत्पत्तिः—शोकः√शुच् + घञ् + विभक्त्यादिकार्यम्।
विरूढम्—वि + √रुह् + क्त + विभक्त्यादिकार्यम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—शिवाः = कल्याणकारक, मंगलमय, पन्थानः = मार्ग। सहयायिनः = साथ जाने वाले, सहयात्री। अन्तर्हिता = ओझल हो गई, वनराज्या = वन-पंक्ति से। सहचारिणी = सखी, साथी। निगृह्य = रोककर। शकुन्तलाविरहितम् = शकुन्तला से विहीन, शून्यम् = सूना। स्नेहप्रवृत्तिः = स्नेह का सञ्चार, सविमर्शम् = गम्भीरतापूर्वक सोचकर, स्वास्थ्यम् = स्वस्थता, मानसिक शान्ति ॥

टीका—शिवास्ते इति। शिवाः = मङ्गलमयाः, पन्थानः = मार्गाः। सहयायिनः = सहयात्रिणः। अन्तर्हिता = व्यवहिता, दृष्टिपथात् अपनीता इत्यर्थः, वनराज्या = कानन-श्रेण्या। सहचारिणी = सखी। निगृह्य = नियम्य। शकुन्तलाविरहितम्—शकुन्तलया विरहितम् = विलीनम्, शून्यम् = रिक्तम्।

टिप्पणी—शून्यमिव—वस्तुतः प्रिय व्यक्ति के बिछुड़ने पर घर, गाँव, नगर तथा प्रदेश सब कुछ सूना-सूना-सा प्रतीत होता है। यह प्रत्येक व्यक्ति का सार्वकालिक अनुभव है।

व्युत्पत्तिः—अन्तर्हिता—अन्तर् + धा + क्त + टाप् + विभक्तिकार्यम्। सहचारिणी—सह + √चर् + णिनिस्ताच्छील्ये + विभक्त्यादिकार्यम्। निगृह्य—नि + √ग्रह् + ल्यप् ॥

काश्यपः—स्नेहप्रवृत्तिरेवंदर्शिनी । (सविमर्शं परिक्रम्य) हन्त भोः, शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम् । कुतः—

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥२२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

। इति चतुर्थोऽङ्कः ।

शब्दार्थः—स्नेहप्रवृत्तिः—स्नेहस्य = प्रेम्णः प्रवृत्तिः = सञ्चारः, सविमर्शम् = विचारम्, स्वास्थ्यम् = निश्चिन्तता इत्यर्थः ॥

टिप्पणी—स्नेहप्रवृत्तिः—यदि आपका अपना घनिष्ठ व्यक्ति बहुत दिन तक साथ रहकर बिछुड़ा हो तो सारा वातावरण आपको सूना-सा लगेगा । किन्तु उसी समय यदि उस स्थान में कोई बाहरी व्यक्ति आ जाय तो उस (बाहरी व्यक्ति) को वह स्थान सूना नहीं लगेगा । इससे व्यक्त है कि स्नेह-व्यवहार ही इस प्रकार देखता है ।

अन्वयः—कन्या, हि, परकीयः, एव, अर्थः, (अस्ति), अद्य, ताम्, परिग्रहीतुः (पार्श्वे), संप्रेष्य, मम, अयम्, अन्तरात्मा, प्रत्यर्पितन्यासः, इव, प्रकामम्, विशदः, जातः ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—कन्या=अविवाहिता लड़की, हि = वस्तुतः, परकीयः = पराया, दूसरे का, एव = ही, अर्थः = धन, (अस्ति = है); अद्य=आज, ताम्=उसे, परिग्रहीतुः=पति के, (पार्श्वे=पास), संप्रेष्य=भेजकर, मम=मेरा, अयम् =यह, अन्तरात्मा=अन्तःकरण, प्रत्यर्पितन्यासः = धरोहर को वापस करनेवाले व्यक्ति की, इव=तरह, प्रकामम्=अत्यन्त विशदः=प्रसन्न, जातः=हो गया है ॥२२॥

टीका—अर्थ इति । कन्या=दुहिता, हि=वस्तुतः, परकीयः=अन्यस्य, एवेति [illegible] अर्थः=धनम्, अस्तीति शेषः, अद्य = अस्मिन् दिने, ताम्=न्यासरूपां तां कन्यामित्यर्थः परिग्रहीतुः=परिणेतुः पार्श्वे इति शेषः, संप्रेष्य=संस्थाप्य, मम=कण्वस्येत्यर्थः, अयम्

काश्यप—स्नेह का सञ्चार ऐसा ही देखता है (अर्थात् प्रेम की अधिकता के कारण व्यक्ति ऐसा ही अनुभव करता है)। (गम्भीरतापूर्वक सोचकर, चारों ओर घूमकर) अहा, शकुन्तला को पति-गृह (ससुराल) भेजकर अब मानसिक शान्ति प्राप्त हुई (मुझे)। क्योंकि—

कन्या वस्तुतः पराया ही धन है। आज उसे पति के (पास) भेजकर मेरा यह अन्तःकरण, धरोहर को वापस करने वाले व्यक्ति (के अन्तःकरण) की तरह, अत्यन्त प्रसन्न हो गया है॥ २२॥

॥ चतुर्थ अङ्क समाप्त ॥

एषः, अन्तरात्मा = अन्तःकरणम्, प्रत्यर्पितन्यासः—प्रत्यर्पितः = पुनर्दत्तः, निर्यातित इति यावत्, न्यासः = निक्षेपः येन तथाविधः, जन इव, प्रकामम् = अत्यर्थम्, विशदः = निर्मलः, भाररहित इति भावः, जातः = संपन्नः। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। इन्द्रवज्रा छन्दः॥ २२॥

टिप्पणी—प्रत्यर्पितन्यासः—प्राचीन काल में जब व्यक्ति बाहर जाने लगता था तो अपनी मूल्यवान् वस्तु किसी विश्वासपात्र व्यक्ति के पास धरोहर रख जाता था। अपने पास मित्र की सम्पत्ति रखने वाला व्यक्ति उसकी रक्षा में सर्वदा व्यग्र रहा करता था। फिर मित्र के वापस आने पर जब वह उसे सम्पत्ति लौटा देता था तब शान्ति मिलती थी। ठीक यही बात कन्या के पिता की होती है। पुत्री पिता के पास वस्तुतः धरोहर के रूप में ही रहती हैं। उसे योग्य व्यक्ति को देने पर ही पिता को शान्ति मिलती है।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा इन्द्रवज्रा छन्द है। छन्द का लक्षण—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः'॥ २२॥

व्युत्पत्तिः—संप्रेष्य—सम्+प्र+√इष्+ल्यप्। न्यासः—नि+√अस्+घञ्+विभक्तिकार्यम्॥ २२॥

॥ इति रमाशङ्करत्रिपाठिकृतायामभिज्ञानशाकुन्तलव्याख्यायां रमाख्यायां चतुर्थोऽङ्कः॥ ४॥

(ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च ।)

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा) भो वयस्य, संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि । कलविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते । जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति । [भो वअस्स, संगीतसालन्तरे अवधाणं देहि । कलविसुद्धाए गीदीए सरसंजोओ सुणीअदि । ज़ाणे तत्तहोदी हंसवदिआ वण्णपरिअअं करेदि त्ति ।]

राजा—तूष्णीं भव । यावदाकर्णयामि ।

(आकाशे गीयते)

अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥१॥
[अहिणवमहुलोलुवो तुमं तह परिचुम्बिअ चूअमंजरिं ।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर विम्हरिओ सि णं कहं ॥]

शब्दार्थः—वयस्य = मित्र, सङ्गीतशालान्तरे = सङ्गीतशाला के अन्दर की ओर, अवधानम् = ध्यान । कलविशुद्धायाः = मधुर और शुद्ध, गीतेः = सङ्गीत के, स्वरसंयोगः = स्वर का आलाप, जाने = समझता हूँ, वर्णपरिचयम् = गान-क्रिया का अभ्यास । तूष्णीम् = मौन ॥

टीका—विदूषक इति । वयस्य = मित्र, सङ्गीतशालान्तरे—सङ्गीतशालायाः = तौर्यत्रिकभवनस्य अन्तरे = मध्ये, अवधानम् = ध्यानम् । कलविशुद्धायाः—कला = मधुर-स्फुटध्वनियुक्ता विशुद्धा = शुद्धा नाम गीतिः, ग्रामरागजनिकेत्यर्थः, तस्याः स्वरसंयोगः = तत्सम्बन्धी स्वरालाप इत्यर्थः; तदुक्तं संगीतरत्नाकरे—'गीतयः पञ्च शुद्धाख्या भिन्ना गौडा निवेसरा । साधारणी विशुद्धा स्यादवक्रैर्ललितैः स्वरैः ॥' जाने मन्ये, वर्णपरिचयम्—वर्णस्य = गानक्रियायाः परिचयम् = अभ्यासम्, तथा च तत्रैव—'गानक्रियोच्यते वर्णः स चतुर्धा निरूपितः । स्थाय्यारोह्यवरोही च संचारी' इति । तूष्णीम् = मौनम् ॥

टिप्पणी—कल०—मधुर तथा अस्पष्ट ध्वनि को कल कहते हैं । शुद्ध गीति के पाँच भेदों में से यह एक है । इसमें सरल और ललित स्वर होते हैं । विशेष के लिए देखिये टीका ।

पञ्चम अङ्क

(तदनन्तर आसन पर बैठे हुए राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं)

विदूषक—(कान लगाकर) हे मित्र, सङ्गीतशाला के अन्दर की ओर ध्यान दीजिये। (मधुर और शुद्ध सङ्गीत के स्वर का आलाप सुनाई पड़ रहा है। मैं समझता हूँ, आदरणीया (रानी) हंसपदिका गानक्रिया का अभ्यास कर रही हैं।

राजा—चुप रहो, मैं जरा सुनता हूँ।

(आकाश में संगीत होता है)

हे भ्रमर, नवीन मधु के लालची तुम आम की मञ्जरी (बौर) का उस प्रकार (अर्थात् उतने प्रेम से) आस्वाद लेकर, कमल में निवासमात्र से सन्तुष्ट (होकर) अब इस (आम्र-मञ्जरी) को कैसे भूल गये हो ? ॥ १ ॥

वर्णपरिचयम्—यहाँ वर्ण का अर्थ है—गान-क्रिया। गान-क्रिया को संगीत भी कह सकते हैं। हंसपदिका स रे ग म प ध नि का अभ्यास कर रही है। विशेष के लिये देखिए टीका।

व्युत्पत्तिः—अवधानम्—अव + √धा + ल्युट् + विभक्तिकार्यम्।

परिचयम्—परि + √चि + अप् + विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—मधुकर, अभिनवमधुलोलुपः, त्वम्, चूतमञ्जरीम्, तथा, परिचुम्ब्य, कमलवसतिमात्रनिर्वृतः, (भूत्वा), एनाम्, कथम्, विस्मृतः, असि ॥ १ ॥

शब्दार्थः—मधुकर = हे भ्रमर, अभिनवमधुलोलुपः = नवीन मधु के लालची, त्वम् = तुम, चूतमञ्जरीम् = आम की मञ्जरी (बौर) का, तथा = उस प्रकार, परिचुम्ब्य = आस्वाद लेकर, कमलवसतिमात्रनिर्वृतः = कमल में निवास मात्र से सन्तुष्ट, (भूत्वा = होकर), एनाम् = इसको, कथम् = कैसे, क्यों, विस्मृतः = भूल गये, असि = हो ॥ १ ॥

टीका—अभिनवेति। मधुकर = हे भ्रमर, अभिनवमधुलोलुपः—अभिनवस्य = नूतनस्य, अनास्वादितरसस्येत्यर्थः, मधुनः = पुष्परसस्य, प्रणयरसस्येतिव्यङ्ग्यम्, लोलुपः = अभिलाषी, त्वम् = भवान्, चूतमञ्जरीम्—चूतस्य = सहकारस्य मञ्जरीम् = पुष्पगुच्छम् वल्लरीमित्यर्थः, नवयौवनां मामिति व्यङ्ग्यम्, तथा = तेन प्रकारेण, यथा स्वाभिलापपरिपूर्तिर्भवति तथेत्यर्थः, परिचुम्ब्य = आस्वाद्य, कमलवसतिमात्रनिर्वृतः—कमले = प्रफुल्लपद्मे, गतप्राययौवनायां देव्यां वसुमत्यामिति व्यङ्ग्यम्, या वसतिः = वासः तन्मात्रेण देवीसहवासमात्रेणेति व्यङ्ग्यम्, निर्वृतः = सन्तुष्टः, सुखमनुभूतः इति यावत्, भूत्वेति शेषः, एनाम् = एताम् चूतमञ्जरीमित्यर्थः, मामिति व्यङ्ग्यम्, कथम् = किमर्थम्, विस्मृतः

राजा—अहो, रागपरिवाहिणी गीतिः।

विदूषकः—किं तावद् , गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः। [किं दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो।]

राजा—(स्मितं कृत्वा) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तदस्या देवीं वसुमतीमन्तरेण महदुपालम्भनं गतोऽस्मि। सखे माधव्य, मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका। निपुणमुपालब्धोऽस्मीति।

विदूषकः—यद् भवानाज्ञापयति। (उत्थाय) भो वयस्य, गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके ताड्यमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः। [जं

असि = न स्मरसीत्यर्थः। अस्याः विस्मरणं तवानुचितमिति भावः। एतेन राज्ञः शकुन्तलाविस्मरणं सूचितम्। अत्र राघवभट्टपादास्त्वेवमपि व्याख्यान्ति—'अत्र सारूप्यनिमित्तया प्रशंसया राज्ञो दुष्यन्तस्य शकुन्तलाविस्मरणस्य प्रस्तुतस्य गम्यत्वादाक्षेपनामाङ्गमुपक्षिप्तम्। तल्लक्षणं दशरूपके (१।४२—'गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः, इति। अथ चानेन तृतीयं पताकास्थानमुक्तम्। तल्लक्षणमुक्तं मातृगुप्ताचार्यैः—'अक्षोपक्षेपणं यत्तु गूढं सविनयं भवेत्। श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयं तन्मतं तथा॥' इति 'मधुव्रते मधुकरः कामुकेऽपि प्रकीर्तितः' इति विश्वः। कमलाया लक्ष्म्या वसतिस्तया निर्वृत इति। 'दीर्घह्रस्वे मिथो वृत्तौ' इत्यनेन ह्रस्वत्वम्। 'अभिनवं यन्मध्वधरमधु तत्र लोलुप इति सर्वेषां श्लिष्टत्वम्।' इति। अत्र अपरवक्त्रं वृत्तमिति॥ १॥

टिप्पणी—वर्णपरिचयम्—गान-क्रिया को वर्ण कहते हैं। हंसपदिका स रे ग म प ध नि का अभ्यास कर रही है।

चूतमञ्जरीम्—आम्र-मञ्जरी को। अर्थात् आम्र-मञ्जरी के सदृश नई-नवोढ़ा मुझको। इस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ के लिये देखिए टीका।

विस्मृतः—यह श्लोक शकुन्तला की स्मृति दिलाने के लिए यहाँ रक्खा गया है। दुष्यन्त भ्रमर है। शकुन्तला आम्र-मञ्जरी है। अन्तःपुर की रानियाँ कमल हैं। भाव यह है कि—शकुन्तला से प्रेम कर, उसका सम्भोग कर पुनः राजधानी में आकर रानियों में इस प्रकार मग्न हो गये हो कि उसकी सुध भी नहीं ले रहे हो। राजा का शकुन्तला को न याद करना यह सूचित करता है कि दुर्वासा का शाप इस समय पूर्ण प्रभावकारी है। विशेष के लिए देखिये टीका।

इस श्लोक में अपरवक्त्रा छन्द है। छन्द का लक्षण—

'अयुजि ननरला गुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ॥' १॥

राजा—अहा ! अनुराग से परिपूर्ण गीत है।

विदूषक—क्या आपके द्वारा गीत के शब्दों का अर्थ समझ लिया गया ?

राजा—(मुस्कराकर) यह (हंसपदिकारूपी) व्यक्ति (मेरे द्वारा) एक बार प्रेम किया गया है। (अर्थात् मैंने केवल एक वार इस हंसपदिका से प्रेम किया था)। अतः महारानी वसुमती को लक्ष्य में रखकर इसने मुझे वहुत वड़ा उलाहना दिया है। मित्र माधव्य, मेरी ओर से जाकर हंसपदिका से कहो कि—'(तुम्हारे द्वारा मैं) बहुत चतुरतापूर्वक उलाहना दिया गया हूँ।'

विदूषक—जो आपकी आज्ञा। (उठकर) हे मित्र, वह दूसरों (अर्थात्, सेविकाओं) के हाथों से मेरी शिखा पकड़कर अब मुझ विषय-वासना-रहित को (मजा लेने के लिए) पीटेगी और उसी तरह मुझे किसी प्रकार छुटकारा नहीं मिलेगा, जिस तरह किसी अप्सरा के द्वारा पकड़े गये विरक्त (संन्यासी) को छुटकारा नहीं मिलता है।

व्युत्पत्तिः—लोलुपः—√लुप्+यङ्+अच् (अ) कर्तरि+विभक्त्यादिकार्यम्। परिचुम्ब्य—परि+√चुम्ब्+ल्यप्॥ १॥

शब्दार्थः—रागपरिवाहिणी=अनुराग से परिपूर्ण। अवगतः=समझ लिया गया। सकृत्कृतप्रणयः=एक बार प्रेम किया गया है। उपालम्भनम्=उलाहना। निपुणम्=वहुत चतुरतापूर्वक, उपालब्धः=उलाहना दिया गया हूँ॥

टीका—राजेति। रागपरिवाहिणी—रागम्=प्रीतिम् परिवाहयति=समन्तान्निःसारयति या तादृशी, अथवा रञ्जनं रागस्तत्परिवाहिनी, अत्यन्तरञ्जिकेत्यर्थः, रागस्य=गीतेः परिवाहः=निर्गमनम् अस्ति यस्यां तादृशी। अवगतः=ज्ञातः, सकृत्कृतप्रणयः—सकृत्=एकवारम् कृतः=विहितः प्रणयः=याच्ञा अनुरागो वा प्रणयपरिणामोपभोग इत्यर्थः, येनेदृशः। उपालम्भनम्=तिरस्कारमिति भावः। निपुणम्=अतिवैदग्ध्येनेति भावः, उपलब्धः=तिरस्कृतः॥

टिप्पणी—रागपरिवाहिणी—यहाँ इसके दो अर्थ हो सकते हैं—(क) अनुराग से परिपूर्ण तथा (ख) राग-रागिनियों के प्रवाह से युक्त।

अक्षरार्थः—यहाँ अक्षरार्थ का अर्थ है—पद्यार्थ, वाक्यार्थ या भावार्थ।

सकृत्०—राजा के कहने का भाव है कि मैंने इससे एक बार ही प्रणय (अर्थात् सम्भोग) किया है।

व्युत्पत्तिः—प्रणयः—प्र+√नी+अच्+विभक्तिकार्यम्। उपालब्धः—उप्+आ+√लभ्+क्त+विभक्त्यादिकार्यम्॥

शब्दार्थः—परकीयैः=दूसरों के, शिखण्डके=चोटी से, शिखा से, अप्सरसा=अप्सरा के द्वारा, वीतरागस्य=विरक्त, संन्यासी। मोक्षः=छुटकारा।

भवं आणवेदि। भो वअस्स, गहीदस्स ताए परकीएहिं हत्थेहिं सिहण्डए ताडीअमाणस्स अच्छराए वीदराअस्स विअ णत्थि दाणिं मे मोक्खो।]

राजा—गच्छ। नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम्।

विदूषकः—का गतिः। (इति निष्क्रान्तः।) [का गई।]

राजा—(आत्मगतम्) किं नु खलु गीतमेवंविधार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहाद् ऋतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि।

अथवा—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥२॥

(इति पर्याकुलस्तिष्ठति।)

नागरिकवृत्त्या = शिष्ट व्यवहार से, सभ्य शब्दों से। संज्ञापय = समझा देना। एवं विधार्थम् = इस प्रकार के भाववाले, इष्टजनविरहाता ऋते प्रिय व्यक्ति के विरह के विना, बलवत् = अत्यधिक ॥

टीका—विदूषक इति। परकीयैः = अन्यदीयैः, सखीप्रभृतीनामित्यर्थः, शिखण्डके = शिखायाम्, शिरसीत्यर्थः, 'अप्सरसा' अत्र भाष्यप्रयोगादेकत्वम्, वीतरागस्य = अनासक्तस्य; प्रशान्तस्येत्यर्थः, विदूषकपक्षे—विगतक्रोधस्य अशरणस्य अगतिकस्येत्यर्थः। मोक्षः = मोचनं कैवल्यञ्च। नागरिकवृत्त्या—नागरिकस्य = नगरनिवासिनो जनस्य वृत्त्या = व्यवहारेण, विदग्धभावेन इत्यर्थः। संज्ञापय = निवेदय, सांत्वनां देहीत्यर्थः। एवंविधार्थम् = एवंविधः = एतादृशः अर्थः = भावः यस्य तादृशम्। इष्टजनविरहात् ऋते—इष्टजनेन = प्रियजनेन विरहात् = वियोगात् ऋते, बलवत् = अत्यर्थम् ॥

वीतरागस्य—जब कभी कोई अप्सरा किसी संन्यासी को किसी प्रकार फंसा लेती हैं, तब उस बेचारे संन्यासी की मुक्ति दुर्लभ हो जाती है। वह भ्रष्ट हो जाता है।

मोक्षः—यहाँ मोक्ष के दो अर्थ हैं—(१) मुक्ति और (२) छुटकारा। संन्यासी के पक्ष में मुक्ति तथा विदूषक के पक्ष में छुटकारा अर्थ लगेगा।

व्युत्पत्तिः—मोक्षः—मोक्ष + णिच् स्वार्थे (चुरादिः) + अच् + विभक्तिकार्यम्। नागरिकः—नगर + ठक् अथवा ठञ् + विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—रम्याणि; वीक्ष्य; च, मधुरान्, शब्दान्, निशम्य, सुखितः, अपि, जन्तुः, यत्, पर्युत्सुकः, भवति, तत्, नूनम्, भावस्थिराणि, जननान्तरसौहृदानि, अबोधपूर्वम्, चेतसा, स्मरति ॥ २॥

राजा—जाओ। शिष्ट व्यवहार से उसे समझा देना।

विदूषक—क्या उपाय है ? (अर्थात् यह करने के अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है)। (ऐसा कहकर निकल गया)

राजा—(अपने आप) क्या कारण है कि इस प्रकार के भाववाले गीत को सुनकर प्रिय व्यक्ति के विरह के विना भी मैं अत्यधिक उत्कण्ठित हो रहा हूँ ? अथवा—

मनोहर वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों को सुनकर सुखी (अर्थात् प्रिया से युक्त) भी प्राणी जोकि उत्कण्ठित हो उठता है, तव वह अवश्य ही संस्कार के रूप में दृढ रूप से स्थित पूर्वजन्मों के प्रेम-व्यवहारों को, अज्ञानपूर्वक, मन से स्मरण करता है ॥ २ ॥

(ऐसा कहकर व्याकुल अवस्था में बैठता है)

शब्दार्थः—रम्याणि = मनोहर वस्तुओं को, वीक्ष्य = देखकर, च = तथा, मधुरान् = मधुर, शब्दान् = शब्दों को, निशम्य = सुनकर, सुखितः = सुखी, प्रिया से युक्त, अपि = भी, जन्तुः = प्राणी, यत् = जोकि, पर्युत्सुकः = उत्कण्ठित, भवति = हो उठता है; तत् = वह, नूनम् = अवश्य ही, भावस्थिराणि = संस्कार के रूप में दृढ रूप से स्थित, जननान्तरसौहृदानि = पूर्वजन्मों के प्रेम-व्यवहारों को, अवोधपूर्वम् = अज्ञानपूर्वक, चेतसा = मन से, स्मरति = स्मरण करता है ॥ २ ॥

टीका—रम्याणीति— रम्याणि = मनोहराणि वस्तूनि, वीक्ष्य = अवलोक्य; विशेषणेनैव विशेष्यावगतेस्तदनुपादानम्, च = तथा, मधुरान् = श्रवणसुखदान्, शब्दान् = गीतादीन्, निशम्य = श्रुत्वा; सुखितः = प्रियसंयुक्तः, अविरही इत्यर्थः, अपिनाऽसुखितस्यापि संग्रहः, जन्तुः = प्राणी प्राणिमात्रं वा, यत् = यतः, पर्युत्सुकः—परितः = सर्वतःउत्सुकः = उत्कण्ठितः, उन्मना इत्यर्थः, भवति = जायते; तत् = तस्मात्, नूनम् = निश्चितम्, सः, भावस्थिराणि—भावेन = संस्कारेण, वासनया इत्यर्थः, यद्वा भावे = हृदये स्थिराणि = बद्धमूलानि, जन्मसहस्रैरपि दूरीकर्तुमशक्यानीति भावः, जननान्तरसौहृदानि—अन्यत् = अपरम् जननम् = जन्म इति जननान्तरम् = जन्मान्तरम् तस्य जननान्तरस्य = पूर्वजन्मन इत्यर्थः सौहृदानि = प्रणयान्, अवोधपूर्वम् = अज्ञानपूर्वम्, विषयविशेषज्ञानाभावपूर्वमित्यर्थः। चेतसा = मनसा, स्मरति = उत्प्रेक्षते। अत्राप्रस्तुतप्रशंसा काव्यलिङ्गं विभावना चालङ्काराः। वसन्ततिलका छन्दः ॥ २ ॥

टिप्पणी—सुखितः—साहित्य में सुखी का अर्थ होता है—प्रिय या प्रिया से संयुक्त व्यक्ति।

चेतसा स्मरति—यद्यपि यहाँ 'स्मरति' कहने मात्र से अभिप्राय की पूर्ति हो जाती है। अतः 'चेतसा' कहने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि स्मरण चित्त से ही होता है। किन्तु 'चेतसा' विशेष प्रयोजनवश दिया गया है। इसका भाव है—न चाहते हुए भी हठात् चित्त से स्मरण करता है। स्मरण करने के लिए व्यक्ति विवश है।

अवोधपूर्वम्—यह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अनुभव है कि कभी-कभी वह विना कारण के ही अत्यन्त प्रसन्नता या उदासीनता का अनुभव करता है। उसे यह ठीक-ठीक

(ततः प्रविशति कञ्चुकी।)

कञ्चुकी—अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था ॥३॥

पता नहीं चलता कि यह प्रसन्नता या उदासीनता क्यों प्रतीत हो रही है। यही है 'अवोधपूर्वम्' का भाव।

यहाँ पूर्वार्ध विशेष के द्वारा उत्तरार्ध सामान्य अर्थ के समर्थन होने से अप्रस्तुत प्रशंसा, पूर्वार्ध में उत्तरार्ध के कारण होने से काव्यलिंग तथा बोधरूपी कारण के न रहने पर भी स्मरणरूपी कार्य के होने से विभावना अलङ्कार है।

इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका। छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ २ ॥

व्युत्पत्तिः—रम्याणि—√रम् + यत् + विभक्तिः। वीक्ष्य—वि + √ईक्ष् + ल्यप्। निशम्य—नि + √शम् + ल्यप् ॥ २ ॥

अन्वयः—राज्ञः, अवरोधगृहेषु, आचारः, इति, अवहितेन, (अपि), मया या, वेत्रयष्टिः, गृहीता, सा, एव, बहुतिथे, काले, गते, प्रस्थानविक्लवगतेः, मम, अवलम्बनार्था, जाता ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—राज्ञः = राजा के, अवरोधगृहेषु = अन्तःपुर में, आचारः = परम्परा, इति = है यह मानकर, अवहितेन = सावधान, शक्तिसम्पन्न, समर्थ, (अपि = भी), मया = मेरे द्वारा, या = जो, वेत्रयष्टिः = बेंत की छड़ी, गृहीता = धारण की गई थी, सा = वह, एव = ही, बहुतिथे = बहुत, काले = समय के, गते = व्यतीत हो जाने पर, प्रस्थानविक्लवगतेः = चलने में लड़खड़ाती हुई गति वाले, मम = मेरे लिए, अवलम्बनार्था = सहारा देने की वस्तु, जाता = बन गई है ॥ ३ ॥

टीका—आचार इति। राज्ञः = नृपस्य, अवरोधगृहेषु = अन्तःपुरेषु, आचारः = परम्परा, इति = इत्थं स्वीकृत्य, 'रक्षाधिकारिणा वेत्रयष्टिर्गृहीतव्या' इत्याचारादित्यर्थः। अधिकारिचिह्नमिति हेतोरितियावत्, अवहितेन = सावधानेन, शक्तेनापीत्यर्थः, या वेत्र-

(तदनन्तर कञ्चुकी प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—ओह, (अव) मैं ऐसी अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ। शक्तिसम्पन्न (भी) राजा के अन्तःपुर में, परम्परा है यह मानकर, मेरे द्वारा जो वेंत की छड़ी धारण की गई थी, वही वहुत समय के व्यतीत हो जाने पर चलने में लड़खड़ाती हुई गतिवाले मेरे लिए सहारा लेने की वस्तु वन गई है ॥ ३ ॥

यष्टिः = यो वेतसदण्डः, गृहीता = स्वीकृता, सा एव = आचारगृहीता यष्टिरेव, वहुतिथे = वहुसंख्यके, काले = समये, गते = व्यतीते, प्रस्थानविक्लवगतेः—प्रस्थाने = गमनारम्भे गमने वा विक्लवा = विह्वला गतिः = गमनक्रिया यस्य तादृशस्य, मम = सम्प्रति वृद्धस्य कञ्चुकिन इत्यर्थः, अवलम्वनार्था = अवलम्वनम् = धारणम्, पतननिवारणमित्यर्थः, अर्थः=प्रयोजनम् यस्याः तथाविधा, शरीरालम्वनप्रयोजनेत्यर्थः, 'अर्थेन नित्यसमासः परवल्लिङ्गता च' (वा० १२७३-४) इति समासः स्त्रीलिङ्गता च, जाता = निष्पन्ना। अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः। वसन्ततिलका छन्दः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—कञ्चुकी—राजाओं के अन्तःपुर की रक्षा में नियुक्त वृद्ध ब्राह्मण कञ्चुकी कहलाता था। यह धार्मिक विद्वान् तथा सत्यवक्ता होता था। कञ्चुक (चोंगा) पहनने के कारण ही संभवतः इसे कञ्चुकी कहते थे।

आचार इति—कञ्चुकी को हाथ में वेंत की छड़ी लेना अनिवार्य था। यह राजकीय नियम था। आज भी पुलिस विभाग वेंत की मढ़ी छड़ी हाथ में रखता है।

अवहितेन—सावधान होते हुए भी। किन्तु यहाँ इसका अर्थ है–शक्तिसंपन्न रहते हुए भी। पाठभेद 'अधिकृतेन' का अर्थ 'आचार इति' करने से ही पूरा हो जाता है, अतः स्वीकार नहीं किया गया है।

इस श्लोक में अधिक समय वीतना लड़खड़ाने का कारण है, अतः काव्यलिङ्ग है॥ ३॥

व्युत्पत्तिः—आचारः—आ + √चर् + घञ् + विभक्तिकार्यम्।

वहुतिथे—वहूनां पूरणः–वहु + तिथुक् (तिथ्)+डट् (अ)+सप्तमी-विभक्तिः ॥ ३ ॥

विशेषः—कुछ संस्करणों में इस श्लोक के वाद इतना पाठ और है—

यावदभ्यन्तरगताय देवाय स्वमनुष्ठेयमकालक्षेपार्हं निवेदयामि। किं पुनस्तत्। विचिन्त्य आं, ज्ञातम्। कण्वशिष्यास्तपस्विनो देवं द्रष्टुमिच्छन्ति। भोश्चित्रमेतत्—

क्षणात्प्रबोधमायाति लंघ्यते तमसा पुनः।
निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः॥

तो अन्दर गये हुए महाराज को विलम्ब न करने योग्य अपने कर्तव्य से परिचित कराता हूँ। (थोड़ा दूर चलकर) तो कहना क्या है? (सोचकर) अच्छा, स्मरण हो आया। कण्व के शिष्य तपस्वी महाराज को देखना चाहते हैं। अजी यह विचित्र है—

"मुझ वूढ़े की वुद्धि वुझते हुए दीपक की लौ की तरह, क्षण भर में जागृत हो जाती है तथा फिर क्षणभर में ही अन्धकार (अज्ञान) में ग्रस्त हो जाती है॥"

भोः, कामं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य । तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदयितुम् । अथवाऽविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः । कुतः—

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव, रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः, षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥४॥

यावन्नियोगमनुतिष्ठामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) एष देवः—

शब्दार्थः—कामम् – यद्यपि, धर्मकार्यम् = धार्मिक कृत्य, अनतिपात्यम् = शीघ्र करणीय है, विलम्ब करने के योग्य नहीं है, देवस्य = महाराज को । धर्मासनात् = धर्मासन से, न्यायासन से, उपरोधकारि = विघ्नकारी, अविश्रमः = विश्राम-रहित है, लोकतन्त्राधिकारः = प्रजारक्षण का कार्य ॥

टीका—भोः, काममिति । कामम् = यद्यपि, भोः इति स्वीकारेऽव्ययपदम्, धर्मकार्यम् = धार्मिकं कृत्यम्, अनतिपात्यम्—न अतिपात्यम् = नोल्लङ्घयितुं शक्यमिति अनतिपात्यम्, सद्यः कर्तुमुचितमिति भावः, देवस्य = महाराजस्य । धर्मासनात्—न्यायासनात्, उपरोधकारि = विश्रामे विघ्नकरमित्यर्थः, अविश्रमः—अविद्यमानः विश्रमः = विश्रामः यस्मिन् तथाविधः, लोकतन्त्राधिकारः—लोकस्य = भुवनस्य तन्त्रम् = धारणम्; रक्षा इत्यर्थः, स एव अधिकारः = नियोगः । लोकसंरक्षणकार्यं विश्रामविरतमेव भवतीति भावः ॥

टिप्पणी—**अनतिपात्यम्**—कञ्चुकी का भाव यह है कि राजा को कभी भी धार्मिक कार्य के सम्पादन में विलम्ब नहीं करना चाहिए । संन्यासियों तथा विद्वानों का आदर एवं पूजन करना भी धार्मिक कार्य है ।

धर्मासनात्—धर्मासन का अर्थ है—न्याय करने का आसन । प्राचीन काल में राजा ही सबसे प्रधान न्यायाधीश हुआ करता था । वह प्रतिदिन न्याय के आसन पर बैठकर पेंचीदे तथा कठिन विवादों पर निर्णय देता था ।

व्युत्पत्तिः—**अनतिपात्यम्**—न + अति + √पत् + णिच् + यत् (य) + विभक्तिकार्यम् । **विश्रमः**—वि + √श्रम् + घञ् + विभक्त्यादिकार्यम्, 'नोदात्तोपदेशस्य०, (७।३।३४) इत्यनेन वृद्धिनिषेधः ॥

अन्वयः—भानुः, सकृद्युक्ततुरङ्गः, एव; गन्धवहः, रात्रिन्दिवम्, प्रयाति; शेषः, सदा, एव, आहितभूमिभारः, (अस्ति); षष्ठांशवृत्तेः, अपि, एषः, धर्मः (अस्ति) ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—भानुः = सूर्य, सकृद्युक्ततुरङ्गः = एकबार अपने रथ में घोड़ों को जोतते हैं, एव = ही; गन्धवहः = वायु, रात्रिन्दिवम् = रात-दिन, प्रयाति = बहता है; शेषः =

यद्यपि यह सही है कि महाराज को धार्मिक कृत्य में विलम्ब नहीं करना चाहिए। तो भी अभी-अभी न्यायासन से उठकर गये हुए इनसे (विश्राम में) विघ्नकारी कण्व के शिष्यों का आगमन कहने में हिचक रहा हूँ। अथवा प्रजा-रक्षण का कार्य विश्राम-रहित होता ही है (अर्थात् प्रजा की रक्षा में नियुक्त राजा को विश्राम का अवसर कहाँ से सुलभ हो सकता है?)। क्योंकि—

सूर्य एक बार ही अपने रथ में घोड़ों को (सर्वदा के लिए) जोतते हैं। वायु रात-दिन बहता है। शेषनाग सर्वदा ही भूमि के भार को उठाए रहते (हैं)। (प्रजा से कर के रूप में) छठा भाग लेने वाले (राजा) का भी यही कर्तव्य (है) ॥ ४ ॥

तो मैं अब अपने कर्तव्य का पालन करता हूँ। (चारों ओर घूमकर और देखकर) यह महाराज—

शेषनाग, सदा=सर्वदा, एव=ही, आहितभूमिभारः=भूमि के भार को उठाए रहते, (अस्ति=हैं); षष्ठांशवृत्तेः=कर के रूप में छठा भाग लेने वाले का, राजा का, अपि=भी, एषः=यही, धर्मः=कर्तव्य, (अस्ति=है) ॥ ४ ॥

भानुरिति। भानुः=सूर्यः, सकृद्युक्ततुरङ्गः—सकृत्=एकवारमेव युक्ताः=योजिताः तुरङ्गाः=अश्वाः येन सः, एतेन तुरङ्गमात्रयोजनेऽप्यस्याविश्रान्तिर्ध्वनिता, एतादृश एवास्ते इति शेषः; गन्धवहः=वायुः, रात्रिन्दिवम्—रात्रौ च दिवञ्चेति, 'अचतुर' (पा० ५।४।७७) इति निपातनाद्रात्रिंदिवमिति सिद्धम्, प्रयाति=प्रवहति; न क्षणमपि विरमतीति भावः; शेषः=अनन्तः, सदा=सर्वदैव, आहितभूमिभारः—आहितः=स्वशिरसि स्थापितः भूमेः=पृथिव्याः भारः=भरः येन स तादृशः, धृतवसुन्धराभार इत्यर्थः, अस्तीति शेषः; षष्ठांशवृत्तेः—षष्ठः=प्रजाभिरुपार्जितस्य द्रव्यस्य षष्ठः अंशः=भागः वृत्तिः=वर्तनम्, जीवनोपाय इत्यर्थः, यस्य स तस्य, राज्ञः इत्यर्थः, 'अपि' शब्दः समुच्चये, एषः=अयम्, स्वीकृतभूमिभारत्वमित्यर्थः, धर्मः=नियमः, कर्तव्यम्, अस्तीति शेषः। अत्र मालाप्रतिवस्तूपमाप्रस्तुतप्रशंसा चालङ्काराः। इन्द्रवज्रा छन्दः ॥ ४ ॥

टिप्पणी—सकृद्०—प्रथम सृष्टि के प्रारम्भ में प्रथम बार सूर्य के घोड़े उनके रथ में जोते गये। तब से आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि सूर्य एक क्षण के लिए भी रुके। न उन्होंने विश्राम किया और न घोड़े ही रथ से खोले गये।

षष्ठांशवृत्तेः—राजा को 'षष्ठांशवृत्तिः' कहा जाता है। क्योंकि वह प्रजा की रक्षा करने के बदले उससे (प्रजा से) कर या अपनी जीविका के लिए अनाज की उपज का छठा भाग लेता था।

इस श्लोक में 'अविश्रमः' का ही अर्थ सकृद्युक्त, रात्रिन्दिव तथा सदैव के द्वारा कहा जाता है, अतः प्रतिवस्तूपमा है। इसकी माला-सी होने से मालाप्रतिवस्तूपमा है। विशेष दुष्यन्त के स्थान पर सामान्य राजा का वर्णन होने से अप्रस्तुत प्रशंसा है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—इन्द्रवज्रा। छन्द का लक्षण—

'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' ॥ ४ ॥

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवते श्रान्तमना विविक्तम् ।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ।।५।।

(उपगम्य) जयतु जयतु देवः । एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः काश्यपसन्देशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः संप्राप्ताः । श्रुत्वा देवः प्रमाणम् ।

राजा—(सादरम्) किं काश्यपसन्देशहारिणः ।

कञ्चुकी—अथ किम् ।

व्युत्पत्तिः—गन्धवहः—गन्ध + √वह् + अच् + विभक्तिकार्यम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—यावत् = जब तक, तो, अब, नियोगम् = कर्तव्य का, ड्यूटी का अनुतिष्ठामि = पालन करता हूँ । देवः = महाराज ।।

टीका—यावदिति । यावत् = सम्प्रति, नियोगम् = आदेशं कर्तव्यं वेति, अनुतिष्ठामि = पालयामि । देवः = महाराजः ।।

अन्वयः—स्वाः, प्रजाः, इव, प्रजाः, तन्त्रयित्वा, श्रान्तमनाः, दिवा, यूथानि, सञ्चार्य, रविप्रतप्तः, द्विपेन्द्रः, शीतम्, स्थानम्, इव, विविक्तम्, निषेवते ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—स्वाः = अपनी, प्रजाः = सन्तान की, इव = तरह, प्रजाः = प्रजाओं का, तन्त्रयित्वा = पालन करके, श्रान्तमनाः = थके हुए, दिवा = दिन में, यूथानि = झुण्ड को, सञ्चार्य = सञ्चालित कर, नेतृत्व कर, रविप्रतप्तः = घाम से सन्तप्त, द्विपेन्द्रः = गजराज, शीतम् = शीतल, स्थानम् = स्थान की, इव = तरह, विविक्तम् = एकान्त का, निषेवते = सेवन कर रहे हैं ।।५।।

टीका—प्रजा इति । स्वाः = स्वकीयाः, प्रजाः = अपत्यानि, इव = यथा, प्रजाः = स्वीयलोकान्, स्वराज्यजनानित्यर्थः, ('प्रजाः स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः) तन्त्रयित्वा = संव्यवहार्य, धारयित्वेत्यर्थः श्रान्तमनाः—श्रान्तम् = खिन्नम् मनः = चेतः यस्य तथाभूतः तथा, दिवा = दिने, यूथानि = गजसमूहान्, सञ्चार्य = सञ्चालयित्वा, नेतृत्वेन तेषां नियमनादिकं कृत्वेत्यर्थः, रविप्रदीप्तः—रविणा = सूर्येण प्रदीप्तः = तप्तः, पीडित इत्यर्थः, द्विपेन्द्रः = गजराजः, शीतम् = शैत्ययुक्तम्, स्थानम् = प्रदेशम् इव, विविक्तम् = विजनं स्थानम्, निषेवते = आश्रयते । घर्मप्रदीप्तो दत्तगजसमूहनेतृत्वो यथा गजराजो निर्मक्षिके शीतले च स्थाने विश्रमति तथैवायं राजाऽपि राज्यकार्यं सञ्चाल्याधुना श्रान्तः सन् विविक्तं सेवत इति भावः । यमकमुपमा चालङ्कारौ । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ५ ॥

टिप्पणी—प्रजाः स्वा इव—अपनी सन्तति की तरह प्रजा का पालन करके। इस कथन से प्राचीन काल में राजा और प्रजा के मधुर सम्बन्ध की सूचना मिलती है।

अपनी सन्तान की तरह प्रजाओं का पालन करके थके हुए, दिन में झुण्ड को सञ्चालित कर घाम से सन्तप्त गजराज (जैसे) शीतल स्थान का सेवन करता है उसी तरह, एकान्त का सेवन कर रहे हैं ॥ ५ ॥

(पास में जाकर) महराज की जय हो, जय हो। हिमालय की तराई के जङ्गल में निवास करने वाले, स्त्रियों को साथ लिये हुए, काश्यप (कण्व) के सन्देश को लेकर तापस लोग आये हैं। (यह) सुनकर महाराज ही (निर्णय के विषय में) प्रमाण हैं। अर्थात् आपकी जैसी आज्ञा हो वैसा किया जाय।

राजा—(आदर के साथ) क्या काश्यप (कण्व) के सन्देश को लेकर आए हैं?

कञ्चुकी—और क्या?

यहाँ पर राजा गजराज की तरह, प्रजा गज-समूह की तरह तथा राज्य का सञ्चालन गज-समूह के सञ्चालन की तरह बतलाया गया है।

इस श्लोक में यमक और उपमा अलङ्कार तथा उपजाति छन्द है। छन्द का लक्षण—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवजा जतजास्ततो गौ।
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ ५ ॥

व्युत्पत्तिः—विविक्तम्—वि + √विच् + क्त + विभक्तिकार्यम्।
सञ्चार्य—सम् + √चर् + णिच् + ल्यप् ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—उपगम्य=पास में जाकर, हिमगिरेः=हिमालय की, उत्यकारण्यवासिनः=तराई के जङ्गल में निवास करने वाले, सस्त्रीकाः=स्त्रियों को साथ लिये हुए, तपस्विनः=तापस। काश्यपसन्देशहारिणः=काश्यप (कण्व) के सन्देश को लेकर आए हैं? ॥

टीका—उपगम्येति। उपगम्य=पार्श्वे गत्वा। हिमगिरेः=हिमालयस्य, उपत्यकारण्यवासिनः—उपत्यकायाम्=पर्वतासन्नभूमौ ('उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिः' इत्यमरः), यद् वनम्=अरण्यम् तत्र वासिनः=निवासकर्तारः, अनेन तन्निवासिनां दुष्करतपश्चरणं तेन गौरवातिशयो द्योत्यते, सस्त्रीकाः=स्त्रीसमेताः, तपस्विनः=तापसाः। काश्यपसन्देशहारिणः—काश्यपस्य=कण्वस्य सन्देशम्=वाचिकम् साधु हरन्ति=वहन्तीति तादृशाः ॥

टिप्पणी—उपत्यका०—पर्वत की निचली भूमि को उपत्यका कहते हैं। इसे पर्वत की तराई भी कहा जाता है। पर्वत की ऊपरी भूमि को अधित्यका कहते हैं। अधित्यका ही पठार कहलाता है।

सादरम्—तापस, अपने जमाने के सुविख्यात तपस्वी कण्व का, सन्देश लेकर आए हैं। अतः राजा आदर का प्रदर्शन कर रहा है।

व्युत्पत्तिः—उपत्यका—उप + त्यक् + टाप् + विभक्तिकार्यम् ॥

राजा—तेन हि मद्वचनाद् विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः । अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हसीति । अहमप्यत्र तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(उत्थाय) वेत्रवति, अग्निशरणमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इत इतो देवः । [इदो इदो देवो ।]

राजा—(परिक्रामति । अधिकारखेदं निरूप्य ।) सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः । राज्ञां तु चरितार्थता दुःखोत्तरैव ।

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥६॥

शब्दार्थः—मद्वचनात् = मेरे वचन से, मेरी ओर से, विज्ञाप्यताम् = निवेदन किये जायें, उपाध्यायः = आचार्य । श्रौतेन = वेदोक्त । प्रतिपालयामि = प्रतीक्षा कर रहा हूँ । अग्निशरणमार्गम् = अग्निशाला (यज्ञशाला) के मार्ग को ।

टीका—राजेति । मद्वचनात्—मम वचनम् = कथनम् मद्वचनं तस्मात्, मम कथनादित्यर्थः, विज्ञाप्यताम् = निवेद्यताम्, उपाध्यायः = आचार्यः, पुरोहित इत्यर्थः । श्रौतेन = वेदविहितेन । प्रतिपालयामि = प्रतीक्षां करोमि । अग्निशरणमार्गम्—अग्नेः = वह्नेः शरणम् = शाला तस्य मार्गम् = पन्थानम्, यज्ञशाला-मार्गमित्यर्थः ॥

टिप्पणी—उपाध्यायः—जीविका के लिए वेतन लेकर वेद या वेदाङ्गों के एक अंशमात्र को पढ़ाने वाला गुरु ही उपाध्याय कहा गया है—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ (मनु० २।१४१)

अग्निशरणमार्गम्—आर्य धर्म के अनुयायियों के लिए यह विधान है कि वे एक यज्ञशाला बनवाकर उसमें यज्ञीय अग्नियों की स्थापना करें तथा स्वयं त्रिकाल हवन करें । यदि कार्य आदि की व्यग्रता से स्थापना करने वाला व्यक्ति स्वयं हवन न कर सके तो पुरोहित की नियुक्ति इस कार्य के लिए कर ले । तपस्वी आदि पवित्र व्यक्तियों से राजा इसी अग्निशाला में ही मिलता था—'अग्न्यागारगतः कार्यं पश्येद्वैद्यतपस्विनम् । पुरोहिताचार्यसखः प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ॥'

व्युत्पत्तिः—उपाध्यायः—उप + अधि + √इङ् + घञ् + विभक्तिः ।
सत्कृत्य—सत् + √कृ + ल्यप् ॥

राजा—तो मेरी ओर से आचार्य सोमरात निवेदन किये जायँ (अर्थात् आचार्य सोमरात से निवेदन करो) कि इन आश्रमवासियों का वेदोक्त विधि से सत्कार करके स्वयं ही (इन्हें अन्दर) ले आइये। मैं भी यहाँ तपस्वियों के दर्शन के योग्य स्थान में बैठकर प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

कञ्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा (ऐसा कहकर निकल गया।)

राजा—(उठकर) वेत्रवती, यज्ञशाला के मार्ग को बतलाओ।

प्रतीहारी—महाराज, इधर से, इधर से (आइये)।

राजा—(चारों ओर घूमता है। अधिकार के खेद का अभिनय करके) सभी प्राणी चाही गई वस्तु को प्राप्त करके सुखी होते हैं। किन्तु राजाओं की सफलता दुःखप्रधान ही हुआ करती है।

महान् पद की प्राप्ति केवल उत्सुकता को समाप्त करती है, (किन्तु) प्राप्त की रक्षा का कार्य कष्ट ही देता है। अपने हाथ में ली गई है दण्डव्यवस्था जिसकी ऐसा राज्य, (अपने हाथ से पकड़ा गया है दण्ड जिसका ऐसे) छाते की तरह, थकान को दूर करने के लिए (उतना) नहीं होता, जितना कि थकान के लिए होता है ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—अधिकारखेदम्=अधिकार के खेद का, अधिकार के कारण होने वाले परिश्रम के खेद का, निरूप्य=अभिनय करके। प्रार्थितम्=चाही गई, अर्थम्= वस्तु को, अधिगम्य=प्राप्त करके, जन्तुः=प्राणी। चरितार्थता=सार्थकता, सफलता, दुःखोत्तरा=दुःखप्रधान, जिसमें दुःख ही मुख्य है॥

टीका—राजेति। अधिकारखेदम्—अधिकारस्य = राजकार्यजनितपरिश्रमस्य खेदम्=ग्लानिम्, निरूप्य=अभिनीय। प्रार्थितम्=अभिलषितम्, अर्थम्=वस्तु, अधिगम्य=प्राप्य, जन्तुः=प्राणी। चरितार्थता=सफलता, दुःखोत्तरा—दुःखम्= कष्टम् उत्तरम्=प्रधानम् यस्यां सा, कष्टबहुलेत्यर्थः॥

टिप्पणी—दुःखोत्तरा—राजाओं की सफलता (अर्थात् राज-पद की प्राप्ति) अनेक कठिनाइयों से भरी रहती है। राजपद के भोगने में जितना सुख है उससे दुःख उसमें अधिक है। अतः दुःखोत्तरा कहा गया है।

अन्वयः—प्रतिष्ठा, औत्सुक्यमात्रम्, अवसाययति; (किन्तु) लब्धपरिपालनवृत्तिः, क्लिश्नाति, एव; स्वहस्तधृतदण्डम्, राज्यम्, ('स्वहस्तधृतदण्डम्') आतपत्रम्, इव अति-श्रमापनयनाय, न; यथा, श्रमाय ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—प्रतिष्ठा—महान् पद की प्राप्ति, औत्सुक्यमात्रम्=केवल उत्सुकता को, अवसाययति=समाप्त करती है; (किन्तु=परन्तु), लब्धपरिपालनवृत्तिः=प्राप्त की रक्षा का कार्य, क्लिश्नाति=कष्ट देता है, एव=ही; स्वहस्तधृतदण्डम्=अपने हाथ में ली गई है दण्डव्यवस्था जिसकी ऐसा, राज्यम्=राज्य, (स्वहस्तधृतदण्डम्=अपने हाथ से पकड़ा गया है दण्ड जिसका ऐसे), आतपत्रम्=छाते की, इव=तरह, अतिश्रमाप-

(नेपथ्ये ।)

वैतालिकौ—विजयतां देवः ।

प्रथमः—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥७॥

नयनाय=थकान को दूर करने के लिए । न=नहीं होता है, यथा=जितना, श्रमाय=थकान के लिए होता है ॥ ६ ॥

टीका—औत्सुक्येति । प्रतिष्ठा=सर्वोत्कृष्टं गौरवम्, ('प्रतिष्ठा स्थानमात्रके। गौरवे' इति विश्वः), औत्सुक्यमात्रम्—औत्सुक्यमेवेति औत्सुक्यमात्रम्=यावद्विषयजन्याम् उत्कण्ठाम्, अवसाययति=समाप्तिं नयति; (किन्तु=परन्तु), लब्धपरिपालनवृत्तिः—लब्धस्य=प्राप्तस्य फलस्य यत् परितः=सर्वभावेन पालनम्=रक्षणम् तत्र या वृत्तिः=वर्तना, कदाचित्सर्वरात्रिजागरणं तत्रैव कदाचिदच्छिन्नधारावृष्टचनुभव इत्यादिकमिलयं, क्लिश्नाति=क्लेशं जनयति; एवेति दार्ढ्यं; स्वहस्तधृतदण्डम्—स्वहस्ते=स्वाधिकारे धृतः=रक्षितः दण्डः=व्यवहाराधिकारो यस्य तत् तादृशम्, राज्यम्=भूमण्डलाधिपत्य-मित्यर्थः, स्वहस्तधृतदण्डम्—स्वहस्ते=स्वकरे धृतः=गृहीतः दण्डः=यष्टिः यस्य तत्, आतपत्रम्=छत्रम्, इव=यथा, अतिश्रमापनयनाय—अत्यधिकं श्रमस्य=विषादस्य खेदस्य वा अपनयनाय=नाशाय, न=नास्ति, यथा=येन प्रकारेण, श्रमाय=विषादाय खेदाय वा भवति । एकान्तसुखायतनत्वभ्रमेण राज्य आसक्ततया न भवितव्यमित्युपदेशो व्यज्यते । अत्र काव्यलिङ्गं श्लेषश्चालङ्कारौ । वसन्ततिलका छन्दः ॥ ६ ॥

टिप्पणी—औत्सुक्यमात्रम्—व्यक्ति को उत्सुकता होती है ऊँचे पद पर पहुँचने की । किन्तु जब वह उस पद पर पहुँच जाता है तो उत्कण्ठा समाप्त हो जाती है। लेकिन कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं । सुख दुर्लभ हो जाता है । इस प्रकार प्रतिष्ठा (ऊँचे पद की प्राप्ति) उत्सुकता भर को समाप्त करती है ।

स्वहस्त०—यहाँ दण्ड के दो अर्थ होते हैं—१-दण्ड=न्यायव्यवस्था, २-दण्ड=छाते का डण्डा । राज्य के पक्ष में प्रथम तथा छत्र के पक्ष में द्वितीय अर्थ होगा ।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग तथा श्लेष अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण:—

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।।' ६ ॥

व्युत्पत्तिः—अवसाययति—अव√सो (सा) + णिच् + लट् + युगागमे रूपम् । प्रतिष्ठा—प्रति + √स्था + अङ् टप् + विभक्तिः ॥ ६ ॥

अन्वयः—स्वसुखनिरभिलाषः, (सन्), लोकहेतोः, प्रतिदिनम् खिद्यसे; अथवा,

(पर्दे के पिछे)

दो वैतालिक (भाँट)—महाराज विजयी बनें।

पहला—अपने सुख की अभिलाषा न करते हुए प्रजा के (कल्याण के) लिए प्रतिदिन कष्ट उठाते हो, अथवा तुम्हारा कार्य ऐसा ही है। क्योंकि वृक्ष (अपने) शिर पर तीक्ष्ण गर्मी को सहता है (किन्तु) छाया से आश्रित प्राणियों की गर्मी को दूर करता है।॥ ७॥

वृत्तिः, एवंविधा, एव; हि, पादपः, मूर्ध्ना, तीव्रम्, उष्णम्, अनुभवति, (किन्तु), छायया, संश्रितानाम्, परितापम्, शमयति॥ ७॥

शब्दार्थः—स्वसुखनिरभिलाषः (सन्) = अपने सुख की अभिलाषा न करते हुए, लोकहेतोः = प्रजा के (कल्याण के) लिए, प्रतिदिनम् = प्रतिदिन, खिद्यसे = कष्ट उठाते हो, अथवा = अथवा, ते = तुम्हारा, वृत्तिः = व्यवसाय, कार्य, एवंविधा = ऐसा, एव = ही (है), हि = क्योंकि, पादपः = वृक्ष, मूर्ध्ना = शिर पर, तीव्रम् = तीक्ष्ण, उष्णम् = गर्मी को, अनुभवति = सहता है. (किन्तु = परन्तु); छायया = छाया से, संश्रितानाम् = आश्रित प्राणियों की, परितापम् = गर्मी को, दुःख को, शमयति = दूर करता है॥ ७॥

टीका—अधिकारखेदं निरूप्येत्यादिना यः खेदो निबद्धः स निरुपधिपरोपकार-प्रवृत्तानां भवदादीनामेतत्स्वभावान्नायं खेद इति वैतालिकवचसा स्तौति—स्वसुखेति। स्वसुखनिरभिलाषः—स्वस्मिन् स्वस्य वा यत्सुखम् = आनन्दानुभूतिः ततः निरभिलाषः निःस्पृहः सन्, लोकहेतोः = लोककारणात्, लोकनिमित्तमिति भावः, ('हेतुर्ना कारणं बीजम्' इत्यमरः) प्रतिदिनम् = प्रत्यहम्, निरन्तरमिति यावत्, खिद्यसे = परितप्यसे, अथवेति पूर्वाक्षेपे, ते = तव, वृत्तिः = वर्तनम्, कार्यमित्यर्थः, एवंविधा = एवं प्रकारा, एवास्ति, हि = यतः, पादपः = वृक्षः, मूर्ध्ना = अग्रभागेन अथवा उत्तमाङ्गेन, तीव्रम् = तीक्ष्णम्, उष्णम् = उष्णतायुक्तं घर्मम्, अनुभवति = स्वयं गृह्णाति, (किन्तु = परन्तु), छायया = आतपाभावेन पालनेन च, संश्रितानाम् = अधः उपविष्टानाम् अथ चाश्रितानाम्, परितापम् = उष्णतां तापखेदञ्च, शमयति = नाशयति। समासोक्तिः काव्यलिङ्गमाक्षेपो दृष्टान्तः श्चालङ्काराः। मालिनी छन्दः॥ ७॥

टिप्पणी—वैतालिको—वैतालिक भाँट को कहते हैं। इसका कार्य समय की सूचना देने के साथ-साथ राजाओं की स्तुति करना था। इस शब्द की व्युत्पत्ति दो तरह से हो सकती है—विविधः तालः वितालः, वितलः प्रयोजनमस्य, विताल + ठञ् (इक्); अथवा वितालम् = लक्षणया वितालगानम् शिल्प अस्येति, विताल + ठक् (इक्) + विभक्तिः वैतालिकः।

पादपः—यहाँ पादप = वृक्ष की तुलना राजा से की गई है तथा आश्रित व्यक्तियों को प्रजा के समान बतलाया गया है।

यहाँ वृक्ष पर योग्य सज्जन व्यक्ति का आरोप होने से समासोक्ति है। छाया ताप-शान्ति का कारण है, अतः काव्यलिङ्ग है। अथवा के द्वारा पूर्व बात का निषेध-सा

द्वितीयः—

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय ।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥८॥

राजा—एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः ।
(इति परिक्रामति ।)

प्रतीहारी—एषोऽभिनवसंमार्जनसश्रीकः संनिहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः । आरोहतु देवः । [एसो अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिन्दो। आरोहदु देवो ।]

होने से आक्षेप अलङ्कार है । उत्तरार्ध में विम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होने से दृष्टान्त अलङ्कार है ।

इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—मालिनी । छन्द का लक्षण—'न-न-म-म-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः' ॥ ७ ॥

व्युत्पत्तिः—वैतालिकः—विताल+ठञ् अथवा ठक्, तस्य स्थाने इक्+आदिवृद्धि विभक्तिकार्यम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—आत्तदण्डः, विमार्गप्रस्थितान्, नियमयसि; विवादम्, प्रशमयसि; रक्षणाय, कल्पसे; अतनुषु, विभवेषु, ज्ञातयः, सन्तु नाम, प्रजानाम्, बन्धुकृत्यम्, तु, त्वयि, परिसमाप्तम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—आत्तदण्डः=राजदण्ड (हाथ में) लेकर, विमार्गप्रस्थितान्=कुमार्गप्रस्थितान्=कुमार्गगामियों को, नियमयसि=नियन्त्रित करते हो; विवादम्=विवादों को, प्रशमयसि=शान्त करते हो, हल करते हो; रक्षणाय=रक्षा के लिये, रक्षा में, कल्पसे=समर्थ होते हो; अतनुषु=विपुल, विभवेषु=वैभव के रहने पर, ज्ञातयः=जाति-बिरादर, सगे-सम्बन्धी, सन्तु नाम=भले ही हो जाँय, प्रजानाम्=प्रजा का, लोगों का, बन्धुकृत्यम्=बन्धुकार्य, तु=तो, त्वयि=तुम्हारे में ही, परिसमाप्तम्=समाप्त होता है ॥ ८ ॥

टीका—नियमयसीति । आत्तदण्डः—आत्तः=गृहीतः दण्डः=राजदण्डः, दुष्टदमनव्यापार इत्यर्थः, येन तथाविधः सन्, विमार्गप्रस्थितान्—विपरीतेन मार्गेण=वर्त्मना प्रस्थितान्=चलितान्, कुमार्गगामिनः इत्यर्थः, नियमयसि=विनीतान् करोषि, मार्गस्थान् करोषीत्यर्थः, विवादम्=परस्परकलहम्, प्रशमयसि=शान्तिं नयसि, निवारयसीत्यर्थः,

दूसरा—(आप) राजदण्ड (हाथ में) लेकर कुमार्ग गामियों को नियन्त्रित करते हो; (प्रजा के) विवादों को शान्त करते हो; (लोगों की) रक्षा के लिए समर्थ होते हो (अर्थात् लोगों की रक्षा करते हो)। विपुल वैभव के रहने पर (लोग) ज्ञाति-बिरादर भले ही हो जायँ, (परन्तु) प्रजा का बन्धु-कार्य (सगे-सम्बन्धियों वाला कार्य) तो तुम्हारे में ही समाप्त होता हैं। (अर्थात् तुमसे ही पूरा होता है) ॥ ८ ॥

राजा—(इस प्रशंसा को सुनकर) यह श्रान्तचित्त भी मैं फिर से नवीन (अर्थात् स्फूर्तियुक्त) कर दिया गया हूँ।

(ऐसा कहकर चारों ओर घूमता है)

प्रतिहारी—यह तत्काल सफाई करने के कारण मनोहर, हवन के (घृतादि के लिए) उपयोगी गाय से युक्त, यज्ञशाला का चबूतरा है। महाराज (इस पर) चढ़ें।

रक्षणाय=रक्षितुम्, पालयितुम्, लोकानामिति शेषः, कल्पसे=प्रभवसि। अतनुषु=विपुलेषु, विभवेषु=सम्पत्सु, ज्ञातयः=बान्धवाः, सन्तु=भवन्तु, 'नाम' संभावनायाम्, किन्तु, प्रजानाम्=जनानाम्, बन्धुकृत्यम्—बन्धूनाम्=बान्धवानाम् कृत्यम्=कार्यम्, रक्षणादिकमित्यर्थः, तुः पूर्वतो विशेषे, त्वयि=भवति, परिसमाप्यते=निष्पाद्यते त्वयैवेति नान्येनेत्यर्थः। अत्र व्यतिरेकः काव्यलिङ्गं दीपकं चालङ्काराः। मालिनी छन्दः॥ ८ ॥

टिप्पणी—अतनुषु विभवेषु—प्रभूत सम्पत्ति के रहने पर पराये भी अपना बनते हैं, सम्बन्ध जोड़ते हैं। घर में दरिद्रता देवी के ताण्डव नृत्य करने पर अपने भी पराये हो जाते हैं, नाता तोड़ लेते हैं। किन्तु आप धनी-निर्धन समूची प्रजा के सच्चे बन्धु हैं। उनके भाई-बन्धुओं का कार्य वस्तुतः आपही निभाते हैं। अतः आप ही प्रजा के सच्चे बन्धु-बान्धव हैं।

त्वयि परिसमाप्तम्—बन्धु-बान्धवों का कार्य है—विपत्ति में सहायता पहुँचाना, आपस में कलह होने पर उसे निपटाना, कुमार्ग पर जाने से रोकना आदि। ये सारे बन्धु-कृत्य केवल आपके ही द्वारा पूरे किये जाते हैं।

इस श्लोक में राजा को निजी बन्धुओं से ऊँचा बतलाया गया है अतः व्यतिरेक है। श्लोक का पूर्वार्ध बन्धु-कृत्य की सम्पन्नता में कारण है, अतः काव्यलिङ्ग है। कई क्रियाओं के एक ही कर्ता के होने से दीपक अलङ्कार है।

इसमें प्रयुक्त मालिनी छन्द के लक्षण के लिए पीछे के श्लोक की टिप्पणी देखें ॥ ८ ॥

व्युत्पत्तिः—आत्तदण्डः—आत्त—आ + √दा + क्त + विभक्तिकार्यम्। प्रशमयसि—प्र + √शम् + णिच् + लट् ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—क्लान्तमनसः=श्रान्तचित्त, नवीकृताः=नवीन बना दिया गया। अभिनवसंमार्जनसश्रीकः=तत्काल सफाई करने के कारण मनोहर, सन्निहितहोमधेनुः=हवन के (घृतादि के लिए) उपयोगी गाय से युक्त, अग्निशरणालिन्दः=यज्ञशाला का चबूतरा। परिजनांसावलम्बी=परिजन (सेविका) के कन्धे का सहारा लेते हुए ॥

राजा—(आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठति ।) वेत्रवति, किमुद्दिश्य भगवता काश्यपेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः ।

किं तावद् व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम् ।
आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः ॥९॥

प्रतीहारी—सुचरितनन्दिन ऋषयो देवं सभाजयितुमागता इति तर्कयामि। [सुचरिदणन्दिणो इसीओ देवं सभाजइदुं आअदेत्ति तक्केमि ।]

टीका—राजेति। क्लान्तमनसः—क्लान्तम् = कार्याधिक्येन श्रान्तम् मनः=चेतः येषां ते तादृशाः, नवीकृताः=सुस्थीकृताः, उत्साहवर्धकवचोभिरिति शेषः। अभिनवसंमार्जनसश्रीकः—अभिनवम् = नूतनम् यत् संमार्जनं तेन सश्रीकः = सशोभः; सन्निहितहोमधेनुः—सन्निहिता = आसन्ना होमार्था धेनुः = गौः यस्य तथाविधः, अग्निशरणालिन्दः—अग्निशरणस्य = यज्ञशालायाः आलिन्दः = बहिर्द्वारप्रकोष्ठः। परिजनांसावलम्बी—परिजनस्य = सेवकजनस्य, वेत्रवत्याः इत्यर्थः, अंसम् = स्कन्धम् अवलम्बते = आश्रयते इति तादृशः, वेत्रवत्याः स्कन्धमवलम्ब्येत्यर्थः ॥

टिप्पणी—नवीकृताः—प्रशंसा सुनकर थका व्यक्ति भी स्फूर्ति तथा शक्ति से भर उठता है। वह नवीन-सा होता जाता है। यही स्थिति राजा की भी है।

होमधेनुः—यज्ञ में काम आने वाले घी-दूध के लिए एक गाय रक्खी जाती थी। इसे सर्वदा यज्ञशाला के पास ही रखते थे ॥

अन्वयः—किं तावत्, उपोढतपसाम्, व्रतिनाम्, तपः, विघ्नैः, दूषितम्; उत, धर्मारण्यचरेषु, प्राणिषु, केनचित्, असत्, चेष्टितम्; आहोस्वित्, मम, अपचरितैः, वीरुधाम्, प्रसवः, विष्टम्भितः; इति, आरूढबहुप्रतर्कम्, मे, मनः, अपरिच्छेदाकुलम्, (जायते) ॥ ९॥

शब्दार्थः—किं तावत्=क्या, उपोढतपसाम् = महान् तपस्या करने वाले, व्रतिनाम् = व्रती मुनियों की, नियम-संयम से रहने वाले मुनियों की, तपः = तपस्या, विघ्नैः = विघ्नों के द्वारा, दूषितम्=दूषित कर दी गई है ? उत=अथवा, धर्मारण्यचरेषु=तपोवन में विचरण करने वाले, प्राणिषु=जीवों पर, केनचित्=किसी के द्वारा, असत्=अनुचित, चेष्टितम्=व्यवहार किया गया है ? आहोस्वित्=अथवा, मम=मेरे, अपचरितैः=अशुभ आचरणों के कारण, वीरुधाम्=लताओं के, प्रसवः=फूल-फल, विष्टम्भितः=रुक गये

राजा—(परिजन (सेविका) के कन्धे का सहारा लेते हुए खड़ा होता है) वेत्रवती, पूज्य काश्यप ने किस उद्देश्य से मेरे पास ऋषियों को भेजा होगा ?

क्या महान् तपस्या करने वाले मुनियों की तपस्या विघ्नों के द्वारा दूषित कर दी गई है ? अथवा तपोवन में विचरण करने वाले जीवों पर किसी के द्वारा अनुचित व्यवहार किया गया है ? अथवा मेरे अशुभ आचरणों के कारण (अथवा मेरे अपुण्यों के कारण) लताओं के फूल-फल रुक गये हैं ? इस प्रकार अनेक आशङ्काओं से व्याप्त मेरा मन अनिश्चय के कारण व्याकुल (हो रहा है) ॥ ९ ॥

प्रतीहारी—मैं सोचती हूँ कि (आपके) सुन्दर आचरण से प्रसन्न मुनि-जन महाराज का अभिनन्दन करने के लिए आये हैं।

हैं ? इति = इस प्रकार, आरूढबहुप्रतर्कम् = अनेक आशङ्काओं से व्याप्त, मे = मेरा, मनः = मन, अपरिच्छेदाकुलम् = अनिश्चय के कारण व्याकुल, (जायते=हो रहा है) ॥ ९ ॥

टीका—किं तावदिति । किमिति प्रश्ने, तावदिति परिच्छेदे, उपोढतपसाम्—उपोढम्= अत्यूढम्, अधिकमित्यर्थः, तपः=तपस्या येषां तेषाम्, ('उपोढः कथितोऽत्यूढे समासन्ने विवाहिते' इति धरणिः) व्रतिनाम् = नियमवतां तपस्विनाम्, विशेषणेनैव विशेष्यप्रतिपत्तेर्न तदुपादानम्, तपः=तपश्चरणम्, विघ्नैः= अन्तरायैः, विघ्नकर्तृभिः राक्षसादिभिरित्यर्थः, दूषितम् = व्याहतम् ? उत = अथवा, धर्मारण्यचरेषु—धर्मारण्ये = तपोवने चरन्ति = विचरन्ति ये तेषु, प्राणिषु = हरिणादिषु, जीवेषु केनचित् = केनचिद्दुष्टेनेत्यर्थः, असत् = अनुचितम्, चेष्टितम् = कृतम् ? आहोस्वित् = किंवा, मम = राज्ञो दुष्यन्तस्येत्यर्थः, अपचरितैः = अवैधाचरणैः, पापैरिति यावत्, वीरुधाम् = लतानाम्, प्रसवः = पुष्पफलादिः, विष्टम्भितः = प्रतिबद्धः, ('पुष्पं फलं च पत्रं च वृक्षाणां प्रसवं विदुः' इति धरणिः), तदुक्तम्—'राज्ञोऽपचारात् पृथिवी स्वल्पसस्या भवेत् किल । अल्पायुषः प्रजाः सर्वा दरिद्रा व्याधिपीडिताः ॥' इति ॥ अनेन प्रकारेण, आरूढबहुप्रतर्कम्—आरूढा = अधिगताः बहवः = अनेके प्रतर्काः = ऊहाः यस्मिन् तथाविधम्, मे = मम राज्ञः, मनः = चेतः, अपरिच्छेदाकुलम्, अपरिच्छेदेन = अनिर्णयेन आकुलम् = चञ्चलम्, जायते इति शेषः । काव्यलिङ्गमत्रालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ ९ ॥

टिप्पणी—विघ्नैः—यहाँ विघ्न का अर्थ है विघ्न करने वाले राक्षसों आदि के द्वारा।

अपचरितैः—कुकृत्य या अधर्म । प्राचीन काल में यह माना जाता था कि राजा के पापों के कारण ही प्रजा पर विपत्तियाँ आती हैं।

यहाँ पूर्वार्ध उत्तरार्ध के अंतिम भाग का कारण है, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द शार्दूलविक्रीडित का लक्षण है—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥ ९ ॥

व्युत्पत्तिः—व्रतिनाम्—व्रत + इनिः मत्वर्थे + षष्ठीबहुवचने विभक्तिकार्यम् । अप-

(ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तलां पुरस्कृत्य मुनयः । पुरश्चैषां कञ्चुकी पुरोहितश्च ।)

कञ्चुकी—इत इतो भवन्तः ।

शार्ङ्गरवः—शारद्वत,

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥१०॥

शारद्वतः—स्थाने भवान् पुरप्रवेशादित्थंभूतः संवृत्तः । अहमपि—

चरितैः-अप + √चर् + क्त भावे + तृतीयाबहुवचने विभक्तिकार्यम् । अपरिच्छेद०-अ + परि + √छिद् + घञ् भावे = अपरिच्छेदः ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—सुचरितनन्दिनः = सुन्दर आचरण से प्रसन्न, सभाजयितुम् = अभिनन्दन करने के लिए, तर्कयामि = सोचती हूँ । पुरस्कृत्य = आगे करके ॥

टीका—प्रतीहारीति । सुचरितनन्दिनः—शोभनं चरितं सुचरितम्, सुचरितेन अभि-साधु नन्दन्तीति = आनन्दमनुभवन्तीति तादृशाः, सभाजयितुम् = सम्मानयितुम्, तर्कयामि = अनुमिनोमि । पुरस्कृत्य = अग्रे कृत्वा ॥

टिप्पणी—सभाजयितुम्—मुनिजन यदि राजा आदि को सुन्दर आचरण करते हुए देखते हैं तो प्रसन्न होते हैं । वे उनका अभिनन्दन करते हैं, उनकी प्रशंसा करते हैं ।

व्युत्पत्तिः—सभाजयितुम्—√सभाज् + णिच् चुरादिः + तुमुन् ॥

अन्वयः—कामम्, अभिन्नस्थितिः, असौ, नरपतिः, महाभागः; वर्णानाम्, अपकृष्टः अपि, कश्चित्, अपथम्, न भजते; तथापि, शश्वत्परिचितविविक्तेन, मनसा, जनाकीर्णम्, इदम्, हुतवहपरीतम्, इव, मन्ये ॥१०॥

शब्दार्थः—कामम् = यह मैं स्वीकार करता हूँ, अभिन्नस्थितिः = मर्यादा के रक्षक, असौ = यह, नरपतिः = राजा, महाभागः = महानुभाव हैं; वर्णानाम् = वर्णों में, अपकृष्टः = नीच, अपि = भी, कश्चित् = कोई, अपथम् = कुमार्ग का, न = नहीं, भजते = सेवन करता है; तथापि = तो भी, शश्वत्परिचितविविक्तेन = निरन्तर एकान्त के अभ्यस्त, मनसा = मन से, जनाकीर्णम् = लोगों से भरे हुए, इदम् = इस राजमहल को, हुतवहपरीतम् = अग्नि से घिरा हुआ, इव = सा, मन्ये = अनुभव कर रहा हूँ ॥ १० ॥

(तदनन्तर शकुन्तला को आगे करके गौतमी के साथ मुनि लोग प्रवेश करते हैं। इनके आगे-आगे कञ्चुकी तथा पुरोहित हैं)

कञ्चुकी—आप लोग इधर से (आइये), इधर से।

शार्ङ्गरव—शारद्वत,

यह मैं स्वीकार करता हूँ कि मर्यादा के रक्षक यह राजा महानुभाव हैं और वर्णों में नीच भी कोई व्यक्ति (यहाँ) कुमार्ग का सेवन नहीं करता है (अर्थात् कुमार्ग पर नहीं चलता है)। तो भी निरन्तर एकान्त के अभ्यस्त मन से (मैं) लोगों से भरे हुए इस राजमहल को अग्नि से घिरा हुआ-सा अनुभव कर रहा हूँ ॥१०॥

शारद्वत—ठीक हैं कि आप नगर में प्रवेश करने से इस प्रकार के हो गये हैं (अर्थात् ऐसा अनुभव कर रहें हैं)। मैं भी—

टीका—महाभाग इति। कामम् = अनुमतमेतद्धि में, अभिन्नस्थितिः—न भिन्ना = त्यक्ता स्थितिः = मर्यादा येन सः, असौ = एषः, नरपतिः = राजा, महान् भागः = औदार्यादिगुणसमुदायो यस्य सः, महाभागः = महानुभावः, श्रेष्ठ इति विधेयम्; वर्णानाम् = ब्राह्मणादीनाम्, अपकृष्टः = हीनः, शूद्रः इति यावत्, अपि, कश्चित् = कोऽपि, अपथम् = कुमार्गम्, न भजते = नाश्रयते। तथापि = सत्यामस्यामवस्थायामपीत्यर्थः, शश्वदिति—शश्वत् = निरन्तरम् परिचितम् = अभ्यस्तम् विविक्तम् = विजनस्थानम् यस्य तेन तादृशेन मनसा = चेतसा, उपलक्षितोऽहमिति शेषः, जनाकीर्णम्—जनैः = मानवः आकीर्णम् = परिव्याप्तम्, इदम् = एतत् राजभवनम्, हुतवहपरीतम्—हुतवहेन = अग्निना परीतम् = व्याप्तम्, इव = यथा, मन्ये = अनुभवामि। विभावनाविशेषोक्तिरुपमा चालङ्काराः, शिखरिणी छन्दः ॥ १० ॥

टिप्पणी—अपकृष्टः अपि—इसका आशय यह है कि यहाँ अधम वर्ण भी कुमार्ग का आश्रयण नहीं करते हैं तो फिर ऊँचे वर्णों के व्यक्तियों के विषय में तो कहना ही क्या है?

शश्वत्०—तपस्वियों का मन सर्वदा एकान्त सेवन करने का अभ्यासी है। राजमहल चारों ओर भीड़ से भरा हुआ है। अतः उनका मन उसी प्रकार व्याकुलता का अनुभव कर रहा है जैसे वे आग की लपटों से घिरे हुए महल में हों ॥ १० ॥

यहाँ अशान्ति का कोई कारण न होने पर भी घबराहट है। अतः विभावना अलङ्कार है। महानुभाव राजा तथा पावन प्रजा के रहने पर भी शान्ति की अनुभूति नहीं हो रही है। अतः विशेषोक्ति अलङ्कार है। इव के द्वारा उपमा है। यहाँ मन्ये को देखकर उत्प्रेक्षा नहीं माननी चाहिए, क्योंकि उत्प्रेक्षा की सामग्री का यहाँ अभाव है।

श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—शिखरिणी। लक्षण—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागाः शिखरिणी ॥ १० ॥

व्युत्पत्तिः—अपथम्—न—पन्थाः, न + पथिन् + अ + विभक्त्यादिकार्यम्। अपकृष्टः—अप + √कृष् + क्त + विभक्तिकार्यम् ॥ १० ॥

: अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥११॥

शकुन्तला—(निमित्तं सूचयित्वा) अहो, किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति [अम्महे, किं मे वामेदरं णअणं विप्फुरदि]

गौतमी—जाते, प्रतिहतममङ्गलम् । सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु । (इति परिक्रामति ।) [जादे, पडिहदं अमंगलं । सुहाइं दे भत्तुकुलदेवदाओ वितरन्दु ।]

पुरोहितः—(राजानं निर्दिश्य) भो भोस्तपस्विनः, असावत्रभवान् वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति । पश्यतैनम् ।

शब्दार्थः—स्थाने = उचित है, सही है । ठीक अर्थ को सूचित करने वाला यह अव्यय है । पुरप्रवेशात्=नगर में प्रवेश करने से, इत्थंभूतः=इस प्रकार के, संवृत्तः= हो गये हैं ।

टीका—शारद्वत इति । स्थाने=युक्तम्, ('युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः); पुरप्रवेशात्=नगरे आगमनात्, इत्थंभूतः=एवमवस्थः, संवृत्तः=सञ्जातः ॥

अन्वयः—सुखसंगिनम्, जनम्, स्नातः, अभ्यक्तम्, इव; शुचिः, अशुचिम्, इव; प्रबुद्धः; सुप्तम्, इव; स्वैरगतिः, बद्धम्, इव; अवैमि ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—सुखसंगिनम्= (विषयोपभोग से होने वाले) सुखों में आसक्त, जनम्= लोगों को, स्नातः= स्नान किया हुआ व्यक्ति, अभ्यक्तम्=तेल लगाये हुए को, इव= जैसा, तरह; शुचिः=पवित्र, अशुचिम्=अपवित्र को, इव=जैसा, तरह, प्रबुद्धः=जगा हुआ, सुप्तम्=सोये हुए को, इव=तरह; स्वैरगतिः=स्वच्छन्द गति वाला, बद्धम्=बँधे हुए व्यक्ति को, इव=जैसा, अवैमि=समझ रहा हूँ ॥ ११ ॥

टीका—अभ्यक्तमिति । अहमपि सुखेन सजति=मिलति यस्तम्, अथवा सुखसंगः अस्ति यस्य तमिति सुखसंगिनं जनमीदृशमवैमीति सम्बन्धः । कः कमिव ? स्नातः= स्नानेन प्रक्षालितशरीरमलः, अभ्यक्तमिव=तैलाभ्यक्तमिव, कृतस्नानो जनो यथा तैलाभ्यक्तं जनमस्पृश्यं मन्यते तथैवेति भावः, शुचिः=व्रतादिनाऽन्तःशुद्धो जनः,अशुचिमिव= कलुषात्मानं पापिनमिवेति भावः, शुचिरशुचिं यथाऽस्पृश्यं मन्यते तथेति भावः, प्रबुद्धः= जागरितः, सुप्तमिव=निद्रितमिव, प्रबुद्धोऽतः सावधानो जनो यथा सुप्तमकिञ्चित्करं मन्यते तथेति भावः, स्वैरगतिः—स्वैरा=स्वतन्त्रा गतिः=गमनम् यस्य तादृशः, बद्धम्=निगडितम्, इव=यथा, अवैमि=अवगच्छामि । अत्र मालोपमालंकारः । आर्या जातिः ॥ ११ ॥

(विषयोपभोग में होने वाले) सुखों में आसक्त लोगों को स्नान किया हुआ व्यक्ति तेल लगाये हुए व्यक्ति को जैसा (समझता है), पवित्र अपवित्र को जैसा (समझता है), जगा हुआ व्यक्ति सोये हुए को जैसा (समझता है); स्वतन्त्र गतिवाला बँधे हुए को जैसा (समझता है), वैसा ही समझ रहा हूँ ।। ११ ।।

शकुन्तला—(शकुन को सूचित करके) ओह, क्यों मेरा दाहिना नेत्र फड़क रहा है ?

गौतमी—बेटी, अमङ्गल विनष्ट हो। पति-गृह के देवता तुझे सुख प्रदान करें। (ऐसा कहकर घूमती है)

पुरोहित—(राजा की ओर इशारा करके) हे हे तपस्वियों, यह (चारों) वर्णों तथा आश्रमों के रक्षक आदरणीय (अत्रभवान्) महाराज आसन से उठकर आप लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इन्हें देखिये।

टिप्पणी—अभ्यक्तमिव—इस श्लोक के दो अर्थ किये जा सकते हैं। प्रथम अर्थ है—मैं सुखोपभोग में लीन व्यक्तियों को वैसा ही समझ रहा हूँ जैसे—नहाया हुआ न नहाए हुए को, पवित्र अपवित्र को, जागा हुआ सोये हुए को और स्वतन्त्र बँधे हुए को। द्वितीय अर्थ के अनुसार इसमें मुमुक्षु की चार अवस्थाओं का वर्णन है, जिन्हें उसे पार करना होता है। इन अवस्थाओं को पार करके वह मुक्त हो जाता है। ये चार अवस्थाएँ हैं—देहशुद्धि, मनःशुद्धि, तत्त्वज्ञान के कारण वैराग्य तथा माया के बन्धनों को समाप्त करके मोक्षलाभ ।

अभ्यक्तम्—तेल लगाया हुआ व्यक्ति तब तक चाण्डाल रहता है, जब तक कि वह स्नान करके निर्मल नहीं हो जाता। 'तैलाभ्यंगे चिताधूमे मैथुने क्षौरकर्मणि। तावद्भवति चाण्डालो यावत् स्नानं समाचरेत् ।' अतः नहाया हुआ व्यक्ति उसे अपवित्र तथा अस्पृश्य समझता है। इसी तरह के भावों की योजना आगे भी कर लेनी चाहिए।

इस श्लोक में मालोपमा अलंकार तथा आर्या छन्द है। आर्या का लक्षण—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ।। ११ ।।

व्युत्पत्तिः—अभ्यक्तम्—अभि + √अञ्ज् + क्त कर्मणि + विभक्त्यादिकार्यम् । स्नातः—√ष्णा + क्त + विभक्तिः ।। ११ ।।

शब्दार्थः—निमित्तम् = शकुन को, सूचयित्वा = सूचित करके, वामेतरम् = दाहिना, विस्फुरति = फड़क रहा है। जाते = बेटी, प्रतिहतम् = विनष्ट हो। भर्तृकुलदेवताः = पति-गृह के देवता, वितरन्तु = प्रदान करें। मुक्तासनः = आसन छोड़े हुए, आसन छोड़कर, कामम् = यद्यपि, मध्यस्थाः = तटस्थ हैं, उदासीन हैं ।।

टीका—शकुन्तलेति। निमित्तम् = लक्षणम्, सूचयित्वा = कथयित्वा, अभिनीय वा

शार्ङ्गरवः—भो महाब्राह्मण, काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्थाः। कुतः—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमै-
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥१२॥

प्रतीहारी—देव, प्रसन्नमुखवर्णा दृश्यन्ते। जानामि विश्रब्धकार्या ऋषयः। [देव, पसण्णमुहवण्णा दीसन्ति। जाणामि विस्सद्धकज्जा, इसीओ।]

वामेतरम् = दक्षिणम्, विस्फुरति = स्पन्दते। वामभागस्तु नारीणां पुंसा श्रेष्ठस्तु दक्षिण- इति सामुद्रिक-वचनात् स्त्रीणां दक्षिणाङ्गस्फुरणममङ्गलसूचकमिति भावः। जाते = पुत्रि, प्रतिहतम् = विनष्टम्। भर्तृकुलदेवताः = भर्तुः = पत्युः कुलदेवताः = गृहदेवाः, वितरन्तु = दिशन्तु। मुक्तासनः—मुक्तम् = त्यक्तम् आसनम् = पीठम् येन तथोक्तः, आसनं परित्यज्य इत्यर्थः। कामम् = यद्यपि, मध्यस्थाः = तटस्थाः, उदासीना इति यावत् ॥

टिप्पणी—निमित्तम्—निमित्त का अर्थ होता है—शकुन। शकुन शुभ और अशुभ दोनों के प्रकार के होते हैं।

वामेतरम्—पुरुषों के दाहिने तथा स्त्रियों के बायें नेत्र का फड़कना शुभ माना जाता है। देखिये टीका।

महाब्राह्मण—इससे प्रतीत होता है कि कालिदास के काल में ब्राह्मण शब्द के पूर्व लगाया गया महाशब्द प्रशंसार्थक था, न कि आज की भाँति निन्दासूचक। आज ब्राह्मण आदि शब्दों के पूर्व जोड़ा गया महाशब्द निन्दा अर्थ को सूचित करता है। कहा भी गया है—

शंखे तैले तथा मांसे वैद्ये ज्योतिषिके द्विजे।
यात्रायां पथि निद्रायां महच्छब्दो न दीयते ॥

मध्यस्थाः—कहने का भाव यह है कि हम अपने प्रति दूसरे के द्वारा प्रदर्शित आदर अथवा अनादर के विषय में उदासीन हैं। हमारे लिए यह आनन्ददायक बात नहीं है॥

अन्वयः—तरवः, फलागमैः, नम्राः, भवन्ति; घनाः, नवाम्बुभिः, दूरविलम्बिनः (भवन्ति); सत्पुरुषाः, समृद्धिभिः, अनुद्धताः, (भवन्ति); एषः, परोपकारिणाम्, स्वभावः, एव, (भवति) ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—तरवः = वृक्ष, फलागमैः = फलों के आगमन पर, नम्राः = नम्र, झुके हुए,

शार्ङ्गरव—हे श्रेष्ठ ब्राह्मण, यद्यपि (महाराज का) यह कार्य प्रशंसनीय है, फिर भी हम इस विषय में उदासीन हैं। क्योंकि—

वृक्ष फलों के आजाने पर नम्र हो जाते हैं। मेघ नये जल से पूर्ण होने पर बहुत नीचे तक झुक जाते हैं। सज्जन व्यक्ति समृद्धियों (की प्राप्ति) से विनम्र हो जाते हैं। यह परोपकारियों का स्वभाव ही है।

प्रतीहारी—महाराज, ऋषिजन प्रसन्नमुख दिखलाई पड़ रहे हैं। (अतः) मैं समझती हूँ कि ये लोग किसी शान्तिपूर्ण कार्य से आये हुए हैं।

भवन्ति = हो जाते हैं; घनाः = मेघ, नवाम्बुभिः = नये जल से पूर्ण होने पर, दूरविलम्बिनः = बहु नीचे तक झुक जाते, (भवन्ति = हैं); सत्पुरुषाः = सज्जन व्यक्ति, समृद्धिभिः = समृद्धियों से, अनुद्धताः = विनम्र, (भवन्ति = हो जाते हैं); एषः = यह, परोपकारिणाम् = परोपकारियों का, स्वभावः = स्वभाव, प्रकृति, एव = ही, (भवति = है) ॥ १२ ॥

टीका—भवन्तीति। तरवः = वृक्षाः, फलागमैः—फलानाम् आगमैः = उद्गमैः, अथवा फलानाम् आ = समन्तात् गमः = गमनम् प्राप्तिरित्यर्थः, तैः, अनेन समृद्धिपराकाष्ठा तेषां द्योतितेति राघवभट्टः, नम्राः = अधोमुखाः विनीताश्च, भवन्ति = जायन्ते। घनाः = मेघाः, नवाम्बुभिः = नववर्षर्तुजलैः, वर्षारम्भे इत्यर्थः, दूरविलम्बिनः—दूरम् = भूतलसमीपम् विलम्बन्ते = समागच्छन्तीति तच्छीलाः, अत्यधिकवर्षणशीलाः इत्यर्थः, भवन्तीति योज्यम्। सत्पुरुषाः = सज्जनाः, समृद्धिभिः = ऐश्वर्योत्कर्षैः, अनुद्धताः = विनम्राः, भवन्ति। एषः = अयम्, परोपकारिणाम् = परहितरतानाम्, स्वभावः = प्रकृतिः, एवेति निश्चये विश्वासद्योतने वा। अत्रातिशयोक्तिः माला प्रतिवस्तूपमाऽप्रस्तुतप्रशंसाऽर्थान्तरन्यासश्चालङ्काराः। वंशस्थं छन्दः ॥ १२ ॥

टिप्पणी—यहाँ अचेतन वृक्ष तथा मेघ में चेतन के धर्म नम्रता एवं झुकने का अभेद रूप से वर्णन होने के कारण अतिशयोक्ति है। विनय गुण का ही प्रकारान्तर से तीनों पदों में वर्णन होने से मालाप्रतिवस्तूपमा है। विशेष दुष्यन्त के स्थान पर सामान्य सज्जन के वर्णन से अप्रस्तुत-प्रशंसा है। अन्तिम चरण में अर्थान्तरन्यास है।

इस श्लोक में प्रयुक्त वंशस्थ छन्द का लक्षणः—

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ॥ १२ ॥

व्युत्पत्तिः—विलम्बिनः—वि + √लम्ब + णिनिः साधुकारिणि कर्तरि + विभक्त्यादिकार्यम्। परोपकारिणाम्—परेषामुपकारः परोपकारः, स अस्ति एषामिति परोपकार + इनिः + विभक्त्यादिकार्यम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—प्रसन्नमुखवर्णाः = प्रसन्नमुख, प्रसन्न। जानामि = समझती हूँ, विश्रब्धकार्याः = शान्तिपूर्ण कार्य से आये हुए ॥

टीका—प्रतीहारीति। प्रसन्नमुखवर्णाः—प्रसन्नाः = प्रीताः मुखवर्णाः = आननाच्छायाः येषां ते तादृशाः। जानामि = अवगच्छामि, विश्रब्धकार्याः—विश्रब्धम् = विश्वासपूर्णम्, शान्तिपूर्णमिति यावत्, कार्यम् = कृत्यम् येषां ते तादृशाः ॥

राजा—(शकुन्तलां दृष्ट्वा) अथात्रभवती—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥१३॥

प्रतीहारी—देव, कुतूहलगर्भः प्रहितो न मे तर्कः प्रसरति । ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते । [देव, कुतूहलगब्भो पहिदो ण मे तक्को पसरदि । णं दंसणीआ उण से आकिदी लक्खीअदि ।]

राजा—भवतु । अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम् ।

शकुन्तला—(हस्तमुरसि कृत्वा । आत्मगतम्) हृदय, किमेवं वेपसे आर्यपुत्रस्य भावमवधार्य धीरं तावद् भव । [हिअअ,

---

टिप्पणी—प्रसन्नमुखवर्णाः—जिन के मुख का रङ्ग प्रसन्नता से युक्त है, अर्थात् जिनके मुख पर प्रसन्नता खेल रही है ।

विश्रब्धकार्याः—ऋषियों-मुनियों का समाचार लेने राजा आश्रमों में जाया करते थे । ऋषि-मुनि निष्प्रयोजन राजा के पास नहीं पहुँचते थे । आज वे राजा के पास आये हैं । क्या बात है ? क्या उन्हें कुछ महान् कष्ट तो नहीं झेलना पड़ा जिससे क्रुद्ध होकर वे मुझे शाप देने के लिए यहाँ आये हों ?—इत्यादि तर्क-वितर्क राजा को चञ्चल बना रहे थे । तभी ऋषियों की प्रसन्नमुखमुद्रा को देखकर प्रतीहारी ने कहा—ज्ञात होता है कि ऋषिजन किसी शान्तिपूर्ण कार्य के लिए आये हैं ॥

व्युत्पत्तिः—विश्रब्धम्—वि + √श्रम्भ + क्त + विभक्त्यादिकार्यम् ॥

अन्वयः—पाण्डुपत्राणाम्, मध्ये, किसलयम्, इव, तपोधनानाम्, मध्ये, अवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या, का स्वित् ? ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—पाण्डुपत्राणाम् = पीले पत्तों के, मध्ये = बीच में, किसलयम् = नवीन पत्ते (किसलय) की, इव = तरह, तपोधनानाम् = तपस्वियों के, मध्ये = बीच में, अवगुण्ठनवती = घूँघटवाली, नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या = जिसके शरीर का सौन्दर्य बहुत अधिक प्रकट नहीं हो रहा है ऐसी, का स्वित् = कौन है ? ॥ १३ ॥

टीका—का स्विदिति । पाण्डुपत्राणाम् = पक्वपलाशानाम्, मध्ये = अन्तराले, किसलयम् = नवनिर्गतपत्रम्, इव = यथा तपोधनानाम्—तपः = तपस्या एव धनम् = सम्पत्तिः येषां ते तेषाम् तपस्विनामिति यावत्, मध्ये = समवाये, अवगुण्ठनवती—अवगुण्ठनम् = सशिरोमुखप्रावरणम् तद्वती, अनेन भर्तृकुलश्रेष्ठजनानां पुरतो वधूमुखावगुण्ठनस्य परिपाटीयं कविसमयादपि पुरातनीति प्रतीयते, नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या—नातिपरि-

राजा—(शकुन्तला को देखकर) और यह आदरणीया स्त्री—पीले पत्तों के बीच में नवीन पत्ते (किसलय) की तरह तपस्वियों के बीच में घूँघटवाली, जिसके शरीर का सौन्दर्य बहुत अधिक प्रकट नहीं हो रहा है ऐसी—कौन है ॥ १३ ॥

प्रतीहारी—महाराज, कुतूहलपूर्वक भेजा गया भी मेरा अनुमान (निश्चय की ओर) नहीं बढ़ पा रहा है । किन्तु इसकी आकृति दर्शनीय प्रतीत हो रही है ।

राजा—ठीक है । (किन्तु) परस्त्री को ध्यान से देखना उचित नहीं है ।

शकुन्तला—(छाती पर हाथ रखकर, अपने आप) हृदय, क्यों इस प्रकार धड़क रहे हो ? पतिदेव के (पूर्वप्रदर्शित) प्रेम को समझकर जरा धैर्य तो धारण करो ।

स्फुटम् = नातिप्रकटम् शरीरस्य = देहस्य लावण्यम् = सौन्दर्यम् यस्याः सा तादृशी, लावण्य-लक्षणं सुधाकरे यथा—'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदीहोच्यते ॥' का = का सुन्दरीति, स्विदिति वितर्के, स्विदिति प्रश्ने वितर्के चेत्युक्तेः, इति राघवभट्टः । अथात्रभवती का स्विदिति योजना । अत्रोपमाकाव्यलिङ्गश्चा-लङ्कारौ । आर्या छन्दः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अवगुण्ठनवती—यहाँ अवगुण्ठन (घूँघट) का निर्देश ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । इससे प्रतीत होता है कि ऊँचे घराने तथा राजपरिवारों की स्त्रियाँ अतिप्राचीन काल में भी, घूँघट किया करती थीं। वे साड़ी से ही मुख ढका करती थीं । घूँघट करना तथा पर्दाप्रथा दोनों में अन्तर है । प्राचीन काल में पर्दा-प्रथा प्रचलित न थी । वैयाकरण पाणिनि ने 'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः' (३।२।३६) में कहा है—सूर्यं न पश्यन्तीति असूर्यम्पश्या राजदाराः । इसका केवल यही भाव हो सकता है कि केवल राजघराने की ही महिलायें महलों से बाहर न निकलती थीं । घूँघट-प्रथा इस देश की अपनी निजी प्रथा है। सम्प्रति समाज में प्रचलित पर्दा-प्रथा यवनों के आक्रमण से ही आरम्भ हुई है । पूर्वकाल में कई अवसरों पर युवतियाँ बिना घूँघट के ही बैठती थीं । अत एव भास ने कहा है—'रामः—मैथिलि, अपनीयतामवगुण्ठनम् । भो भोः शृण्वन्तु शृण्वन्तु भवन्तः । स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतद्बाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः । निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च ॥' (प्रतिमानाटक १।२०) । रामायण युद्धकाण्ड में कहा गया है कि—'व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे । न क्रतौ न विवाहे च दर्शनं दूष्यते स्त्रियाः ॥' (११४।२८) ॥ महाभारत (शल्यपर्व २९) में कहा गया है कि—'अदृष्टपूर्वा या नार्यो भास्करेणापि वेश्मसु । ददृशुस्ता महाराज जना याताः पुरं प्रति ॥'

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार है । नातिपरिस्फुट० का कारण अवगुण्ठन है, अतः काव्यलिङ्ग है । छन्द के लिए देखिये १/२,३ की टिप्पणी ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—कुतूहलगर्भः=कुतूहलपूर्वक, जानने की उत्कण्ठा से संवलित, प्रहितः= भेजा गया, प्रेरित, तर्कः = अनुमान । दर्शनीया = दर्शनीय, लक्ष्यते = प्रतीत हो रही है । अनिर्वर्णनीयम् = अनवलोकनीय, ध्यान से न देखने योग्य परकलत्रम् = दूसरे की स्त्री,

किं एव्वं वेवसि अज्जउत्तस्स भावं ओहारिअ धीरं दाव होहि ।]

पुरोहितः—(पुरो गत्वा) एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः। कश्चिदेषामुपाध्यायसन्देशः। तं देवः श्रोतुमर्हति।

राजा—अवहितोऽस्मि।

ऋषयः—(हस्तानुद्यम्य) विजयस्व राजन्।

राजा—सर्वानभिवादये।

ऋषयः—इष्टेन युज्यस्व।

राजा—अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः ?

ऋषयः—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ? ॥१४॥

परस्त्री। वेपसे = काँप रहे हो, धड़क रहे हो, भावम् = प्रेम को, अवधार्य = समझकर॥

टीका—प्रतीहारीति। कुतूहलगर्भः—कुतूहलम् = औत्सुक्यम् गर्भे = मध्ये यस्य तथाभूतः, प्रहितः = प्रेषितः, तर्कः = अनुमानम्, तपोधनानामागमनविषयिणी पृच्छेति भावः। दर्शनीया = सुदर्शना, लक्ष्यते = ज्ञायते इत्यर्थः। अनिर्वर्णनीयम् = अनवलोकनीयम्, अद्रष्टव्यमित्यर्थः, परकलत्रम् = परस्त्री। वेपसे = कम्पसे, भावम् = पूर्वमनुभूतमनुरागमित्यर्थः, अवधार्य = ज्ञात्वा॥

टिप्पणी—कुतूहलगर्भः—इसका अभिप्राय यह है कि मुझे भी जानने की बड़ी उत्कण्ठा है। मैं बार-बार अनुमान करने की कोशिश कर रही हूँ। किन्तु बिना आधार के मेरा अनुमान आगे बढ़ ही नहीं रहा है। मैं समझ नहीं पा रही हूँ कि यह कौन है ?

अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्—दूसरे की स्त्री को घूर-घूरकर नहीं देखना चाहिये। इसी तरह का वचन प्रसन्नराघव में भी मिलता है—'उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते। चतुर्थी चन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका॥' गोस्वामी तुलसीदास ने इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार किया है—'सो परनार लिलार गोसाइं। तजहु चौथचन्दा की नाईं॥

शब्दार्थः—अर्चिताः = पूजित। अवहितः = सावधन। इष्टेन = अभीष्ट से। निर्विघ्नतपसः = निर्विघ्न तपस्यावाले॥

टीका—पुरोहित इति। अर्चिताः + पूजिताः, कृतातिथ्यसत्कारा इत्यर्थः। अवहितः = सावधानः, श्रोतुं तत्पर इत्यर्थः। इष्टेन = अभिलषितेन। निर्विघ्नतपसः—निर्विघ्नम् = प्रत्यवायरहितम् तपः = तपस्या येषां ते तादृशाः॥

पुरोहित—(आगे बढ़कर) विधिपूर्वक पूजित ये तपस्वी (उपस्थित हैं)। इनके पास गुरु का कोई सन्देश है (अर्थात् ये अपने गुरु का कोई सन्देश लेकर आये हैं)। महाराज उसे सुनने की कृपा करें।

राजा—(सुनने के लिए) सावधान हूँ।

ऋषि लोग—(हाथों को उठाकर) राजन्, विजयी बनें (आप)।

राजा—मैं सबको प्रणाम कर रहा हूँ।

ऋषि लोग—अभीष्ट (वस्तु) से युक्त होओ (अर्थात् अपनी अभिलषित वस्तु प्राप्त करो)।

राजा—(आश्रम में) ऋषि लोग निर्विघ्न तपस्यावाले हैं न? (अर्थात् ऋषियों की तपस्या तो निर्विघ्न चल रही है?)

ऋषि लोग—सज्जनों के रक्षक आपके विद्यमान रहने पर धार्मिक क्रियाओं में विघ्न कहाँ से हो सकता है? सूर्य के तपते रहने पर अन्धकार कैसे आविर्भूत हो सकता है? ॥ १४ ॥

अन्वयः—सताम्, रक्षितरि, त्वयि (विद्यमाने सति), धर्मक्रियाविघ्नः, कुतः? घर्मांशौ, तपति, तमः, कथम्, आविर्भविष्यति ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—सताम् = सज्जनों के, रक्षितरि = रक्षक, त्वयि = आपके, (विद्यमाने सति = विद्यमान रहने पर), धर्मक्रियाविघ्नः = धार्मिक क्रियाओं में विघ्न, कुतः = कहाँ से हो सकता है? घर्मांशौ = सूर्य के, तपति = तपते रहने पर, तमः = अन्धकार, कथम् = कैसे, आविर्भविष्यति = आविर्भूत हो सकता है ॥ १४ ॥

टीका—कुत इति। सताम् = सज्जनानाम्, रक्षितरि = रक्षके, त्वयि = भवति, (विद्यमाने सति = वर्तमाने सति), धर्मक्रियाविघ्नः—धर्मक्रियायाम् = धर्मानुष्ठाने विघ्नः = अन्तरायः, कुतः = कस्मात् स्यात्? घर्मांशौ-घर्माः = उष्णाः अंशवः = किरणाः यस्यासौ घर्मांशुः = सूर्यः तस्मिन्, तपति = प्रचण्डतया प्रकाशमाने सति, तमः = अन्धकारः, कथम् = केन प्रकारेण, आविर्भविष्यति = प्रादुर्भूतो भविष्यति? न कथमपि प्रादुर्भविष्यतीत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तोऽर्थापत्तिश्चालङ्कारौ। उदाहरणं नाम नाट्यलक्षणं चास्ति। अनुष्टुप् छन्दः ॥ १४ ॥

टिप्पणी—सतां रक्षितरि—इससे यह प्रकट होता है कि राजा सज्जनों का रक्षक तथा दुष्टों का दमन करने वाला था।

घर्मांशौ—यहाँ घर्मांशु कहने से सूर्य की प्रचण्डता द्योतित होती है।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलङ्कार है। दोनों पदों में कुतः और कथं के प्रयोग से अर्थापत्ति अलङ्कार भी है। यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है—अनुष्टुप् ॥ १४ ॥

व्युत्पत्तिः—कुतः—किम् + तसिल् (तस्), किमः स्थाने कुः + विभक्तिः। सताम्—अस् + शतृ (अत्) + विभक्तिः। कथम्—किम् + प्रकारार्थे थमु कादेशश्च ॥ १४ ॥

राजा—अर्थवान् खलु मे राजशब्दः । अथ भगवां-ल्लोकानुग्रहाय कुशली काश्यपः ?

शार्ङ्गरवः—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः । स भवन्तमनामयप्रश्नपूर्वकमिदमाह ।

राजा—किमाज्ञापयति भगवान् ?

शार्ङ्गरवः—यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायंस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम् । कुतः—

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः
शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया ।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥१५॥

तदिदानीमापन्नसत्त्वेयं प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति।

शब्दार्थः—अर्थवान् = सार्थक, राजशब्दः = राज शब्द, राजा कहा जाना । लोका-नुग्रहाय = लोक-मङ्गल के लिए, कुशली = सकुशल । स्वाधीनकुशलाः = अपने अधीन कुशलवाले, सिद्धिमन्तः = सिद्धियों से सम्पन्न, सिद्ध । अनामयप्रश्नपूर्वकम् = नीरोगता का प्रश्न पूछते हुए, आपके स्वास्थ्य के बारे में पूछते हुए । मिथः = आपस की अनुमति से, पारस्परिक, समयात् = शपथपूर्वक, शपथ के साथ, दुहितरम् = पुत्री को, उपायंस्त = विवाहा है, विवाह किया है; अनुज्ञातम् = अनुमति दे दी गई है ॥

टीका:—राजेति । अर्थवान् = अन्वर्थकः, सार्थक इति यावत्, राजशब्दः—राजते = लोकान् रञ्जयति इति राजा, स एव शब्दः = अभिधानकमित्यर्थः । लोकानुग्रहाय—लोकानाम् = जनानां भुवनानाञ्च अनुग्रहाय = अनुग्रहकरणायेत्यर्थः, ('लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः), कुशली = कल्याणवान् । स्वाधीनकुशलाः—स्वस्य अधीनम् = स्वायत्तं कुशलम् = मङ्गलम् येषां तथाभूताः, सिद्धिमन्तः = अणिमादिसिद्धिसमन्विताः योगे-श्वराः । अनामयप्रश्नपूर्वकम्—अनामयस्य = आरोग्यस्य प्रश्नः पूर्वं यस्मिन् तत् प्रथममनामयप्रश्नं कृत्वेत्यर्थः । अनामयप्रश्नपूर्वकमिति तस्य क्षत्रियत्वात् । तदुक्तं मनु-संहितायाम्—(२।१२७) ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च इति ॥ मिथः = परस्परम्, समयात् = शपथाचारात्, ('समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः) अन्योन्यं प्रतिज्ञामारुह्येत्यर्थः, दुहितरम् = सुताम्, उपायंस्त = परिणीतवान्, अनुज्ञातम् = अनुमोदितम् ॥

टिप्पणी—अर्थवान्—सार्थक । जो लोकरञ्जन करे, प्रजा का सतत कल्याण करे वह राजा कहा गया है। राजकुल में उत्पन्न होने के कारण तो सभी राजा कहलाते हैं।

राजा—(तब तो) मेरा राजा कहा जाना सार्थक है। अच्छा, भगवान् काश्यप (कण्व) लोक-मङ्गल के लिए, सकुशल तो हैं ?

शार्ङ्गरव—सिद्धियों से सम्पन्न महात्माओं की कुशलता उनके अपने अधीन हुआ करती है। उन्होंने आपकी नीरोगता के बारे में पूछते हुए यह (सन्देश) कहा है।

राजा—भगवान् (कण्व) ने क्या आदेश दिया है ?

शार्ङ्गरव—कि आपने पारस्परिक शपथपूर्वक (गान्धर्व विवाह की विधि से) मेरी इस पुत्री के साथ विवाह किया हैं। आप दोनों के उस कार्य को प्रसन्न मनवाले मेरे द्वारा अनुमति दे दी गई है। क्योंकि—

तुम हम लोगों के पूज्य व्यक्तियों में मुख्यतम माने गये हो और शकुन्तला भी साक्षात् पूजा (हैं)। (ऐसे) समान गुणों वाले वधू और वर को मिलाते हुए सृष्टिकर्ता ब्रह्मा बहुत दिनों की (चली आ रही) निन्दा को नहीं प्राप्त हुए हैं ॥ १५ ॥

तो अब यह गर्भिणी है। उसे अपने साथ धर्माचरण के लिए ग्रहण करो।

किन्तु सच्चे अर्थ में तो राजा वही है, जो प्रजा का कल्याण कर उसकी शुभाशंसा का भाजन हो। ऐसे ही व्यक्ति का राजा कहा जाना सार्थक है। दुष्यन्त आज अपने आपको राजा कहा जाना सार्थक मान रहा है।

लोकानुग्रहाय—कण्व जैसे महात्मा इस संसार में अपने लिए नहीं अपितु संसार के कल्याण के लिए जीते हैं। वे आशीष से, अवलोकन से, सञ्चरण से तथा भाषण से इस जगतीतल के प्राणियों का कल्याण करते रहते हैं। उनका सकुशल रहना संसार के कल्याण के लिए आवश्यक हैं।

कुशली—मिलने पर ब्राह्मण से कुशलता, क्षत्रिय से निरोगता, वैश्य से क्षेम तथा शूद्र से आरोग्य पूछना चाहिये। देखिये टीका।

व्युत्पत्तिः—स्वाधीन०—स्व+अधि+ख (ईन)+विभक्त्यादिकार्यम्। सिद्धिमन्तः—सिद्धि+मतुप्+विभक्त्यादिकार्यम् ॥

अन्वयः—त्वम्, नः, अर्हताम्, प्राग्रसरः, स्मृतः, असि, शकुन्तला, च, मूर्तिमती, सत्क्रिया, (आस्ते); तुल्यगुणम्, वधूवरम्, समानयन्, प्रजापतिः, चिरस्य, वाच्यम्, न, गतः ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—त्वम् = तुम, नः = हम लोगों के, अर्हताम् = पूज्य व्यक्तियों में, आदरणीय जनों में, प्राग्रसरः = अग्रसर, मुख्यतम, स्मृतः=कहे गये, माने गये, असि=हो, शकुन्तला=शकुन्तला, च=भी, मूर्तिमती=साक्षात्, शरीरधारिणी, सत्क्रिया=पूजा, (आस्ते=है); तुल्यगुणम् = समान गुणों वाले, वधूवरम्=वधू और वर को, स्त्री और पुरुष को, समानयन् = मिलाते हुए, प्रजापतिः = सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, चिरस्य=बहुत दिनों की (चली आ रही), वाच्यम् = निन्दा को, न = नहीं गतः=प्राप्त हुए हैं ॥ १५ ॥

टीका—(त्वमर्हतामिति)। त्वम् = राजा दुष्यन्तः, नः = अस्माकम्, अर्हताम्=

गौतमी—आर्य, किमपि वक्तुकामास्मि । न मे वचनावसरोऽस्ति । कथमिति ।

नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजनः ।
एकैकस्य च चरिते भणामि किमेकैकम् ॥१६॥

[अज्ज, किंपि वत्तुकाम म्हि । ण मे वअणावसरो अत्थि । कहंत्ति ।
णावेक्खिओ गुरुअणो इमाए तुए पुच्छिदो ण बन्धुअणो ।
एक्कक्कस्स च चरिए भणामि किं एक्कमेक्कस्स ॥]

योग्यानाम्, पूज्यानामिति यावत्, प्रकर्षेण अग्रे सरतीति प्राग्रसरः = मुख्यतमः, स्मृतः= कथितः असि = भवसि; वयं त्वां पूजनीयाग्रगण्यं जानीम इति भावः; शकुन्तला = मद्दुहिता, च=अपि, मूर्तिमती = शरीरधारिणी, सती पूज्या चासौ क्रिया सत्क्रिया = सत्कारः, पूजेति यावत्, आस्ते इति शेषः । अतस्त्वद्योग्येति भावः, यतः पूजा पूज्यमेवार्हतीति भावः। अत एव तुल्यगुणम्—तुल्याः = समानाः गुणाः = रूपादयः सद्वृत्तयश्च यस्य तादृशम्, अन्योन्यानुरूपगुणशालिनमित्यर्थः, वधूवरम्—वधूश्च वरश्च वधूवरौ तयोः समाहारः वधूवरम् = नवीनं मिथुनमित्यर्थः, समानयन् = संयोजयम्, प्रजापतिः = विधाता, चिरस्य = बहोः कालादनन्तरमित्यर्थः, ('चिराय चिररात्राय चिरस्येति चिरार्थकाः' इत्यमरः) वाच्यम् = अपवादम्, न गतः = न प्राप्तः, उत्तमया अनुत्तमः पुमान्, उत्तमेन च अधमा स्त्री मिलति, इत्येव विधेर्निन्दा । अत्रोत्प्रेक्षा समं काव्यलिङ्गं चालङ्काराः । वंशस्थं छन्दः ॥ १५ ॥

टिप्पणी—अर्हताम्—आठ दिक्पालों के अंश से उत्पन्न, धार्मिक प्रवृत्ति वाला, प्रजारक्षण में तत्पर राजा संसार के समस्त पूज्य व्यक्तियों मे श्रेष्ठ माना जाता है। पूज्यतम व्यक्तियों की सत्क्रिया (सत्कार) से अर्चना करना ही समीचीन है। राजा पूज्यतम है और शकुन्तला सत्क्रियारूप है। अतः शकुन्तला से राजा का सम्मान करना उचित ही है।

चिरस्य वाच्यम्—ब्रह्मा के मस्तक पर एक अतिप्रबल कलङ्क का टीका लगा हुआ है—बेमेल व्यक्तियों का विवाह कराना। संसार में देखने में आता है कि अत्यन्त सुन्दरी स्त्री की कुरूप पति से और कुरूप पत्नी का सुन्दर पति से विवाह हो जाता है। इसका कारण यह माना जाता था कि ब्रह्मा ने ऐसा ही विधान बनाया है। अतः बेमेल जोड़ी को देखकर लोग ब्रह्मा को दोष देते थे। किन्तु आज शकुन्तलता और दुष्यन्त की इस जोड़ी को देखकर सभी लोग ब्रह्मा को दोष न देकर उनकी प्रशंसा ही करेंगे। दोनों—शकुन्तला और दुष्यन्त-अपने समय के बेजोड़ स्त्री-पुरुष हैं। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि कालिदास के समय में विवाह के पूर्व स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को देख न सकते थे। राम भरोसे जो मिल जाय उसी के साथ हँसकर या रोकर जिन्दगी काटनी पड़ती थी।

गौतमी—माननीय, मैं कुछ कहने की इच्छा वाली हूँ। किन्तु मुझे बोलने का अवसर ही नहीं (मिल रहा) है। क्योंकि—

इस (शकुन्तला) द्वारा अपने गुरु-जन नहीं पूछे गये और तुम्हारे द्वारा भी (इसके) भाई-बन्धु नहीं पूछे गये। अतः (तुम दोनों के) परस्पर के इस आचरण पर तुम दोनों में से प्रत्येक को क्या कहूँ ? ॥ १६ ॥

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार, योग्य का योग्य से मेल होने से सम अलङ्कार तथा तीसरे चरण के चौथे चरण का कारण होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—वंशस्थ। छन्द का लक्षण—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' ॥ १५ ॥

व्युत्पत्तिः—अर्हताम्—√अर्ह + शतृ प्रशंसायाम् + विभक्त्यादिकार्यम्। निर्धारेऽत्र षष्ठी। प्राग्रसरः—प्र + अग्र + √सृ + ट कर्तरि + विभक्तिः। स्मृतः—√स्मृ + क्त कर्तरि + विभक्तिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—आपन्नसत्त्वा = गर्भिणी, सहधर्मचरणाय = साथ धर्माचरण के लिए। वक्तुकामा = कहने की इच्छा वाली, वचनावसरः = बोलने का अवसर ॥

टीका—तदिदानीमिति। आपन्नसत्त्वा—सत्त्वम् = प्राणिनम्, गर्भस्थं शिशुमित्यर्थः, आपन्ना = प्राप्ता इति आपन्नसत्त्वा = गर्भिणी, ('आपन्नसत्त्वा स्याद्गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः), सहधर्मचरणाय = अनया सह गार्हस्थ्योचितं कर्तव्यकलापं आचरितुमिति यावत्। वक्तुकामा = भाषणाभिलाषिणीत्यर्थः, वचनावसरः—वचनस्य = कथनस्य अवसरः = अवकाशः ॥

अन्वयः—अनया, गुरुजनः; न, अपेक्षितः; त्वया, बन्धुजनः, न, पृष्टः। च, एकैकस्य, चरिते, एकैकम्, किम्, भणामि ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—अनया = इस (शकुन्तला) के द्वारा, गुरुजनः = गुरु-जन, पिताजी आदि, न = नहीं, अपेक्षितः = पूछे गये; त्वया = तुम्हारे द्वारा, बन्धुजनः = (इसके) भाई-बन्धु, न = नहीं, पृष्टः = पूछे गये, सलाह लिये गये। च = अतः, एकैकस्य = परस्पर के, चरिते = आचरण पर, एकैकम् = प्रत्येक को, किम् = क्या, भणामि = कहूँ ? ॥ १६ ॥

टीका—नापेक्षित इति। अनया = एतया शकुन्तलयेत्यर्थः, गुरुजनः = कण्वप्रमुखः स्वपूज्यजनः, अस्मदादिरिति वा, न अपेक्षितः = न गणितः, गुरुजनापेक्षामकृत्वा स्वयमेव कर्तव्यं निर्णीतमित्यर्थः; त्वया = भवता राज्ञा दुष्यन्तेनेत्यर्थः, बन्धुजनः = बान्धवजनः, अस्या इति शेषः, न पृष्टः = शकुन्तलार्थे न याचितः। उभयोरप्यपराधाविष्करणम्। च = अतः, एकैकस्य = अन्योन्यस्य तृतीयनिरपेक्षस्येति भावः, चरिते = अनुष्ठिते कार्ये इति शेषः, एकैकम् = एकमेकम्, किं भणामि = किं ब्रवीमि, न किमपि वक्तुं पारयामीति भावः। अत्रैकः पर्यनुयोज्यो न भवतीत्यर्थः। अर्थापत्तिरलङ्कारः। आर्या जातिः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—गौतमी के इस कथन से प्रतीत होता है कि जिस समय ऋषिलोग कण्व

शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं नु खल्वार्यपुत्रो भणति? [किं णु क्खु अज्जउत्तो भणादि ?]

राजा—किमिदमुपन्यस्तम् ?

शकुन्तला—(आत्मगतम्). पावकः खलु वचनोपन्यासः। [पावओ क्खु वअणोवण्णासो।]

शार्ङ्गरवः—कथमिदं नाम ? भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां
जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते
प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥१७॥

का सन्देश राजा को सुना रहे थे उस समय राजा की मुखाकृति पर अस्वीकृति, अनभिज्ञता तथा घृणा की रेखाएँ उभर रही थीं। गौतमी ने इन रेखाङ्कित भावों को पढ़ लिया। अतः उसने इस श्लोक को कहा है।

इस श्लोक में अर्थापत्ति अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण—यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ १६ ॥

व्युत्पत्तिः—अपेक्षितः—अप + √ईक्ष् + क्त + विभक्तिकार्यम्।

पृष्टः—प्रच्छ् + क्त + विभक्त्यादिकार्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—आत्मगतम् = अपने आप, आर्यपुत्रः = आदरणीय पतिदेव, भणति = कहते हैं। उपन्यस्तम् = प्रस्तावित किया गया है, उपस्थित किया गया है। पावकः = अग्नि, वचनोपन्यासः = बात का आरम्भ। सुतराम् = बहुत अच्छी तरह, लोकवृत्तान्तनिष्णाताः = लोकः व्यवहार के पारङ्गत ॥

टीका—शकुन्तलेति। आत्मगतम् = स्वगतम्, आर्यपुत्रः—आर्यस्य = आदरणीयस्य श्वशुरस्य पुत्रः = सुतः, पतिदेवः इत्यर्थः, भणति = कथयति, उत्तरयति। उपन्यस्तम् = प्रस्तावितम्। अथवा इदं भवतां कथनं किम् उपन्यस्तम् = उपन्यासरूपम्, उपकथा कथनं किम् ? पावकः = अग्निः, अग्निरिव दाहकः इत्यर्थः, वचनोपन्यासः—वचनस्य = वाक्यस्य उपन्यासः = प्रस्तावः, वाक्यारम्भः इत्यर्थः। सुतराम् = सम्यक्, लोकवृत्तान्तनिष्णाताः—लोकवृत्तान्तस्य = लोकव्यवहारस्य निष्णाताः = पारङ्गताः।

टिप्पणी—आत्मगतम्—इसे स्वगत भी कहते हैं। इस प्रकार के कथन में किसी व्यक्ति से सम्बद्ध बात की जाती है उसकी ओर हाथ से आड़ कर लिया जाता

शकुन्तला—(अपने आप) अरे, (देखें) आर्यपुत्र क्या कहते हैं ?

राजा—यह क्या प्रस्तावित किया गया है ?

शकुन्तला—(अपने आप) वस्तुतः (इनकी) बात का आरम्भ अग्नि के तुल्य है।

शार्ङ्गरव—यह कैसे कह रहे हैं ? आप स्वयं ही लोक-व्यवहार के पारङ्गत हैं।

सधवा स्त्री यदि सर्वदा पितृ-गृह में ही रहती है, तो भले ही वह सती-साध्वी हो, किन्तु लोग उसका विपरीत अर्थ लगाते हैं (अर्थात् उसे व्यभिचारिणी समझते हैं)। अतः युवती के अपने बन्धु-बान्धव सर्वदा यही चाहते हैं कि, पति उसको चाहता हो चाहे न चाहता हो, वह पति के ही पास रहे ॥ १७ ॥

है। यह बात इस प्रकार की जाती है मानो और कोई सुन नहीं रहा है, पर इसे सुनते सभी हैं।

वचनोपन्यासः—बात का प्रारम्भ। उपन्यास का अर्थ है—प्रस्तुत करना। शकुन्तला के कहने का भाव है कि—राजा की बात आग की तरह भस्म करने वाली है।

कथमिदं०—आप यह क्या कह रहे हैं, यह कैसे हो सकता है ?

व्युत्पत्तिः—उपन्यस्तम्—उप + नि + √अस् + क्त + विभक्तिकार्यम्। उपन्यासः-उप + नि + √अस् + घञ् + विभक्तिः। सुतराम्—बहुत अधिक, सु + तर + आम्। निष्णाताः—नि + √स्ना + क्त + विभक्तिः ॥

अन्वयः—भर्तृमतीम्, ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम्, सतीम्, अपि, जनः, अन्यथा, विशङ्कते; अतः, स्वबन्धुभिः, प्रमदा, प्रिया, वा, अप्रिया, परिणेतुः, समीपे, ईष्यते ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—भर्तृमतीम् = जीवितपतिका, सधवा, ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम् = पितृगृह में ही सर्वदा रहने वाली, सतीम् = सती-साध्वी स्त्री को, अपि = भी, जनः = लोग, अन्यथा = विपरीत (अर्थात् व्यभिचारिणी), विशङ्कते = आशङ्का करते हैं, अर्थ लगाते हैं; अतः = इसलिये, स्वबन्धुभिः = अपने-अपने बन्धु-बान्धवों के द्वारा, प्रमदा = स्त्री, युवती, प्रिया = प्रिया हो, वा = अथवा, अप्रिया = अप्रिया हो, परिणेतुः = पति के, समीपे = पास में हो, ईष्यते = चाही जाती है ॥ १७ ॥

टीका—सतीमिति। भर्तृमतीम् = सधवाम्, विद्यमानधवामित्यर्थः, ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम्—ज्ञातीनाम् = बान्धवानाम् कुलम् = गृहम् ('कुलं जनपदे गृहे' इति विश्वः) एकः = केवलः संश्रयः = आश्रयस्थानम् यस्याः तथाविधाम्, सतीम् = साध्वीम्, अपि, जनः = लोकः, अन्यथा = अन्यप्रकारेण, दोषयुक्तत्वेनेत्यर्थः, विशङ्कते = सम्भावयति, अनौचित्यपरिहाराय कविना दोषादिपदत्यागेनान्यथापदं दत्तम्; अतः = अस्मात् कारणात्, स्वबन्धुभिः = वधूबन्धुभिः, प्रमदा—प्रकृष्टः = प्रबलः मदः = तारुण्यमदः यस्याः सा तादृशी, प्रमदा = स्त्रीमात्रमित्यर्थः, प्रिया = भर्तुरभिमता, वा = अथवा, अप्रिया = भर्तुरनभिमता, सेति शेषः,

राजा—किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा ?

शकुन्तला—(सविषादम् । आत्मगतम्) हृदय,
साम्प्रतं ते आशङ्का । [हिअअ, संपदं दे आसङ्का ।]

शार्ङ्गरवः—

किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा ?

राजा—कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः ?

शार्ङ्गरवः—

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥१८॥

राजा—विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि ।

परिणेतुः = पत्युः, समीपे = सन्निधाने, ईष्यते = प्राथ्यंते । शकुन्तला भवतः प्रिया स्यात् अप्रिया वाऽस्याः तवैव समीपे स्थितिः समीचीनेति भावः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसा काव्यलिङ्गं चालङ्कारौ । अर्थविशेषणं नामात्र नाटचालङ्कारः । वंशस्थं छन्दः ॥ १७ ॥

टिप्पणी—जनः···विशङ्कते—यदि कोई विवाहिता तरुणी वहुत दिनों तक अपने पितृ-गृह में ही निवास करती है तो लोग विविध शङ्काएँ करने लगते हैं। वे आपस में बातें करते हैं—(क) जानते हो इसका मन पति-गृह में क्यों नहीं लगता ? यह बहुत दिनों से ही गाँव या मुहल्ले के अमुक युवक से फँसी हैं। इसीलिये यह पति-गृह रहना पसन्द नहीं करती । (ख) लोग यह भी कहते हैं कि—यह दुश्चरित्र है। अतः इसका पति इसे अपने पास रखना पसन्द नहीं करता । आदि आदि ।

इस श्लोक से महाकवि के काल की स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर विशेष प्रकाश पड़ता है । पति के जीवित रहते उनका अपने पिता के घर निवास करना अनुचित माना जाता था। इसी भाव का श्लोक पद्मपुराण में भी मिलता हैः—'कन्या पितृगृहे नैव सुचिरं वासमर्हति। लोकापवादः सुमहान् जायते पितृवेश्मनि ॥' कामसूत्र में भी (३-१-४९-५०) ऐसा ही अभिप्राय अभिव्यक्त किया गया है।

शकुन्तला की स्थिति तुम्हारे पास होनी चाहिए, इस विशेष के स्थान पर सामान्य के कथन करने से यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार हैं । उत्तरार्ध के प्रति पूर्वार्ध के कारण होने से काव्यलिङ्ग है। इस श्लोक में वंशस्थ छन्द है। छन्द का लक्षण—("जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ॥" १७ ॥

व्युत्पत्तिः—ज्ञातिः—√ज्ञा+क्तिच् कर्तरि+विभक्तिः । अन्यथा—अन्य+थाल् (था) + विभक्तिलोपः । १७ ॥

शब्दार्थः—अत्र भवती = ये श्रीमतीजी, परिणीतपूर्वा = विवाह की गई हैं। पूर्व विवाहित हैं। आशङ्का = भय ॥

राजा—तो क्या मैंने इन श्रीमतीजी से पहले कभी विवाह किया है ?

शकुन्तला—(खेद के साथ, अपने ही आप) मन, तुम्हारी आशङ्का ठीक ही थी।

शार्ङ्गरव—क्या (आपको अपने द्वारा) किये गये कार्य के प्रति घृणा हो गई है ? अथवा धर्म के प्रति (आपकी) विमुखता हो गई ? अथवा (अपने द्वारा) किये गये कार्य का (जानबूझ कर) तिरस्कार किया जा रहा है ?

राजा—झूठी कल्पना वाला यह प्रश्न क्यों किया जा रहा है ?

शार्ङ्गरव—विपुल संपत्ति के कारण मतवाले व्यक्तियों में प्रायः ये विकार (अवगुण) बढ़ते ही हैं, (इसलिये ऐसा प्रश्न कर रहा हूँ) ॥ १८ ॥

राजा—मैं विशेषरूप से तिरस्कृत किया गया हूँ।

टीका—राजेति। अत्र भवती = सम्माननीया श्रीमती शकुन्तला, परिणीतपूर्वा—पूर्वं परिणीता = कृतविवाहेति पूर्वमुद्वाहिता। आशङ्का = उद्वेगः ॥

अन्वयः—किम्, कृतकार्यविद्वेषः, धर्मं प्रति, विमुखता, कृतावज्ञा ? ऐश्वर्यमत्तेषु, प्रायेण, अमी, विकाराः, मूर्च्छन्ति ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—किम् = क्या, कृतकार्यविद्वेषः = किये गये कार्य के प्रति घृणा हो गई है, धर्मं प्रति = धर्म के प्रति, विमुखता = विमुखता हो गई है, कृतावज्ञा = किये गये कार्य का (जानबूझ कर) तिरस्कार किया जा रहा है। ऐश्वर्यमत्तेषु = विपुल संपत्ति के कारण मतवाले व्यक्तियों में, प्रायेण = प्रायः, अमी = ये, इस तरह के, विकाराः = विकार, मूर्च्छन्ति = बढ़ते ही हैं ॥ १८ ॥

टीका—किमिति। किमिति प्रश्ने, कृतकार्यविद्वेषः—कृतम् = सम्पादितम् यत्कार्यम् = कृत्यम्, गान्धर्वो विवाह इत्यर्थः, तत्र विद्वेषः = अप्रीतिः; अरुचिरिति यावत्; अथवा धर्मं प्रति = कर्तव्यं प्रति, विमुखता = वैमुख्यं जातम्; अथवा—कृतावज्ञा—कृते = सम्पादितेऽनुभूते अवज्ञा = अनादरः जातः; ऐश्वर्यमत्तेषु—ऐश्वर्येण = सम्पत्त्या मत्ताः = विह्वलाः तेषु, सम्पदुद्धतेषु इत्यर्थः, प्रायेण = बाहुल्येन, अमी = एते, उक्ता इत्यर्थः, विकाराः = विरुद्धभावाः, मनोविकृतय इत्यर्थः, मूर्च्छन्ति = वर्द्धन्ते, ('मुर्च्छा मोहसमुच्छ्रयोः' इति कोशः)। अतस्तेषां प्रश्नानामनवकाशः सुसंगतः सुकरश्चेति शेषः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। त्रोटकं नाम गर्भसन्ध्यङ्गं चास्ति। आर्या छन्दः ॥ १८ ॥

टिप्पणी—मूर्च्छन्ति—मूर्च्छ धातु के दो अर्थ होते हैं—(१) मूर्छित होना और (२) बढ़ना। यहाँ बढ़ना ही अर्थ किया गया है। इसका ऐसा ही अर्थ रघुवंश में भी किया गया है—'न पादमोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य' (रघु० २।३४)। यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार तथा आर्या छन्द हैं। लक्षण के लिए देखिये श्लोक १-२,३ की टिप्पणी ॥ १८ ॥

व्युत्पत्तिः—कृत०—√कृ + क्त (त) + विभक्तिकार्यम्। मत्तेषु—√मद् + क्त (त) + विभक्तिः ॥ १८ ॥

गौतमी—जाते, मुहूर्तं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत् तेऽवगुण्ठनम्। ततस्त्वां भर्ताऽभिज्ञास्यति। (इति यथोक्तं करोति।) [जादे, मुहुत्तअं मा लज्ज। अवणइस्सं दाव दे ओउण्ठणं। तदो तुमं भट्टा अहिजाणिस्सदि।]

राजा—(शकुन्तलां निर्वर्ण्य। आत्मगतम्)

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥१९॥

(इति विचारयन् स्थितः।)

शब्दार्थः—विशेषेण = विशेषरूप से, गम्भीररूप से, अधिक्षिप्तः = तिरस्कृत किया गया, अपमानित किया गया। मुहूर्तम् = क्षण भर के लिए। अवगुण्ठनम् = घूँघट, अभिज्ञास्यति = पहचानेंगे॥

टीका—राजेति। विशेषेण = सुतराम्, अधिक्षिप्तः = तिरस्कृतः, अवमानित इत्यर्थः। मुहूर्तम् = क्षणम्। अवगुण्ठनम् = वक्त्रावरणम्, अभिज्ञास्यति = परिचेष्यति। इत आरभ्य षष्ठाङ्कसमाप्तिपर्यन्तमवमर्शसंधिः॥

टिप्पणी—विशेषेण—इस कथन के द्वारा खासकर मेरा अपमान हुआ है। शार्ङ्गरव की उक्ति सामान्य रूप से है, किन्तु राजा के कृत्य आदि की चर्चा के साथ होने से विशेषार्थक हो गई है। इस पूरे प्रसंग में राजा का चरित्र पूरी धीरता, गम्भीरता तथा सहिष्णुता के साथ उभर कर आया है। इतने कटु वाक्यों पर भी वह धैर्य नहीं छोड़ता, उत्तेजित नहीं होता। यहाँ राजा का आदर्श रूप सामने आया है।

अवगुण्ठनम्—इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल की स्त्रियाँ बाहर पर्दा किया करती थीं। भास ने भी ऐसा ही लिखा है—'देव्योऽवगुण्ठनमपनयामि।' (प्रतिमा)।

व्युत्पत्तिः—अधिक्षिप्तः—अधि + √क्षिप् + क्त + विभक्तिः।

अवगुण्ठनम्—अव + √गुण्ठ् + ल्युट् (यु = अन) + विभक्तिकार्यम्॥

अन्वयः—एवम्, उपनतम्, इदम्, अक्लिष्टकान्ति, रूपम् (मया), प्रथमपरिगृहीतम्, स्यात्, न वा, इति, अव्यवस्यन्, (अहम्), विभाते, भ्रमरः, अन्तस्तुषारम्, कुन्दम्, इव, न, च, खलु, परिभोक्तुम्, नैव, हातुम्, शक्नोमि॥ १९॥

शब्दार्थः—एवम् = इस प्रकार, उपनतम् = आया हुआ, प्राप्त हुआ, इदम् = यह, अक्लिष्टकान्ति = सुकोमल कान्ति से सम्पन्न, रूपम् = रूप, सौन्दर्य, (मया = मेरे द्वारा)

गौतमी—बेटी, क्षणभर के लिए लजाओ मत। जरा (तावत्) तुम्हारे घूँघट को हटाती हूँ। तब तुम्हारा पति तुम्हें पहचानेगा। (ऐसा कहकर वैसा करती है)

राजा—(शकुन्तला को ध्यान से देखकर, अपने आप)

इस प्रकार (स्वयं) आया हुआ यह सुकोमल कान्ति से सम्पन्न सौन्दर्य (मेरे द्वारा) पहले (विवाह करके) स्वीकार किया गया है अथवा नहीं, इसका निश्चय न कर पाते हुए (मैं) प्रातःकाल भौंरा जैसे भीतर तुहिनकणों से व्याप्त कुन्द फूल को न तो चूम सकता है और न छोड़ ही सकता है, उसी प्रकार न उपभोग करने और न परित्याग करने में ही समर्थ हो पा रहा हूँ॥ १९॥

(इस प्रकार विचार करता हुआ बैठा रहता है)

प्रथमपरिगृहीतम् = पहले (विवाह करके) स्वीकार किया गया, स्यात् = हो, न वा = अथवा नहीं, इति = इसका, अव्यवस्यन् = निश्चय न कर पाते हुए, (अहम् = मैं), विभाते = प्रातःकाल, भ्रमरः = भौंरा, अन्तस्तुषारम् = भीतर तुहिन कणों से व्याप्त, कुन्दम् = कुन्द फूल की, इव = तरह, न = न, च = तो, खलु = निश्चय ही, परिभोक्तुम् = उपभोग करने में, नैव = न तो, हातुम् = परित्याग करने में, शक्नोमि = समर्थ हो पा रहा हूँ॥ १९॥

टीका—इदमिति। एवम् = इत्थम्, उपनतम् = आगतम्, अयत्नप्राप्तमित्यर्थः, इदम् = एतत्, अक्लिष्टकान्ति—अक्लिष्टा = निर्दोषा, सुकोमलेति यावत्, कान्तिः = आभा यस्य तत्, अनेन प्रथमं तारुण्यं ध्वनितम्, रूपम् = सौन्दर्यम्, मयेति शेषः, प्रथमपरिगृहीतम्—प्रथमम् = पूर्वम् परिगृहीतम् = स्वीकृतम्, परिणीतमित्यर्थः, स्यात् = भवेत्, न वा = अथवा न परिगृहीतमित्यर्थः, इति = एतत्, अव्यवस्यन् = अनिर्धारयन्, अन्यतरपक्षत्वेन निश्चयम् अभजमानः, अहमिति शेषः, विभाते = प्रभाते, निशान्ते वा, भ्रमरः = द्विरेफः, अन्तस्तुषारम्—अन्तः = आभ्यन्तरे तुषारः, हिमम् यस्य तथाभूतम्, कुन्दम् = माघ्यम्, कुन्दपुष्पमित्यर्थः, इव = यथा, न च = न तु, खल्विति निश्चये अवधारणे वा, परिभोक्तुम् = सेवितुं स्वीकर्तुं वा, नैव = न च, हातुम् = मोक्तुम्, शक्नोमि = समर्थो भवामि। शिशिरे विकसितं तुषारव्याप्तं कुन्दपुष्पं भ्रमरो शिशिरत्वान्नाघ्रातुं शक्नोति न च सौरभेणाकृष्टः सन् मोक्तुमेव समर्थो भवति। तथैवाहमपि सुन्दरीं शकुन्तलां दृष्ट्वाऽधर्मभयेन न स्वीकर्तुं शक्नोमि न च सौन्दर्येणाकृष्टः सन् अस्वीकर्तुमपि पारयामीति भावः। उपमाऽलङ्कारः। संशयनामकं नाट्यलक्षणं चास्ति। मालिनी छन्दः॥ १९॥

टिप्पणी—भ्रमर इव—कुन्द माघ की कड़कती रात में विकसित होता है। इसीलिये उसे 'माघ्य' भी कहते हैं। रात्रि में खिलने से उसमें ओस की कणिकाएँ भर जाती है। प्रातःकाल उसकी मादक सुगन्ध से आकृष्ट होकर भौंरा उस पर बैठना चाहता है, किन्तु पास में पहुँचते ही उसका शरीर ठंड से सिकुड़ने लगता है। फलतः वह ऊपर उठ जाता है। किन्तु मोहक सुगन्ध से आकृष्ट होकर वह दूर भी नहीं जा पाता।

प्रतीहारी—(स्वगतम्) अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति? [अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं रूवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि ?]

शार्ङ्गरवः—भो राजन्, किमिति जोषमास्यते?

राजा—भोस्तपोधनाः, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये?

शकुन्तला—(अपवार्य) आर्यस्य परिणय एव सन्देहः। कुतः इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा? [अज्जस्स परिणए एव्व संदेहो। कुदो दाणिं मे दूराहिरोहिणी आसा ?]

ठीक यही अवस्था राजा की भी है। शकुन्तला के गर्भ में बच्चा है। यह किसका है इसका कोई प्रमाण नहीं। अतः राजा उसे स्वीकार करने में असमर्थ हैं। किन्तु शकुन्तला के चित्तोन्मादक शरीर पर छलछलाती लहराती बलखाती चढ़ती जवानी पर न्योछावर होता हुआ राजा उसे छोड़ने में भी हिचक रहा है, सिसक रहा है।—यही है इस श्लोक का मर्म है।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा मालिनी छन्द है। छन्द का लक्षण—'न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः॥ १६॥

व्युत्पत्तिः—परिगृहीतम्—परि+√ग्रह+क्त+विभक्तिकार्यम्।

परिभोक्तुम्—परि+√भुज्+तुमुन्। हातुम्—√हा+तुमुन्॥ १९॥

शब्दार्थः—धर्मापेक्षिता=धर्मनिष्ठता, धार्मिकता। सुखोपनतम्=अनायास प्राप्त हुए। अभिव्यक्तसत्त्वलक्षणाम्=प्रकट गर्भिणी के लक्षणों वाली, क्षेत्रिणम्=क्षेत्री, पति, प्रतिपत्स्ये=स्वीकार करूँगा। परिणये=विवाह में। दूराधिरोहिणी=दूर तक बढ़ी हुई, दूर तक चढ़ी हुई॥

टीका—प्रतिहारीति। धर्मापेक्षिता—धर्मम्=सनातनीं मर्यादाम् अपेक्षते=अनुसरतीति धर्मापेक्षी तस्य भावः धर्मापेक्षिता=धर्मनिष्ठा। सुखोपनतम्—सुखेन=अनायासेन उपनतम्=प्राप्तम्, अनायासलब्धमित्यर्थः, अभिव्यक्तसत्त्वलक्षणाम्—अभिव्यक्तम्=प्रस्फुटम् सत्त्वलक्षणम्=गर्भचिह्नम् यस्याः सा तथोक्ताम्, क्षेत्रिणम्—क्षेत्रम्=पत्नी ('क्षेत्रं पत्नीशरीरयोः' इत्यमरः) अस्यास्तीति क्षेत्री=अधिकारिकः पतिः तम्, आत्मानम्=स्वम्। "क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्" इतिशास्त्र-

प्रतिहारी—(अपने आप) स्वामी की धार्मिकता आश्चर्यजनक है। अनायास प्राप्त हुए ऐसे रूप को देखकर भला कौन दूसरा विचार करेगा ?

शार्ङ्गरव—हे राजन्, क्यों इस प्रकार मौन बैठे हैं ?

राजा—हे तपस्वियों, प्रयत्नपूर्वक सोचता हुआ भी मैं (चिन्तयन्नपि) इन श्रीमती को (विवाहरूप में) स्वीकार करने की बात नहीं स्मरण कर पा रहा हूँ। तो प्रकट गर्भिणी के लक्षणों वाली इनके प्रति अपने आपको क्षेत्री (पति) कल्पना करता हुआ (मानता हुआ) मैं कैसे इनको स्वीकार करूँगा ?

शकुन्तला—(मुख के बगल में हाथ से आड़ करके) पतिदेव को विवाह में ही सन्देह है। दूर तक चढ़ी हुई मेरी आशा अब कहाँ ? (अर्थात् मेरी महत्त्वाकांक्षा अब कहाँ ?)

वचनम्। प्रतिपत्स्ये = स्वीकरिष्यामि । परिणये = विवाहे । दूराधिरोहिणी—दूरम् = अत्यर्थम्, तत्र गत्वा महिषीपदं प्राप्स्यामीत्याद्याधिरोढुं शीलं यस्याः सा ॥

टिप्पणी—धर्मापेक्षिता—शकुन्तला का सौन्दर्य मरुस्थल को भी नन्दन वन बनाने की क्षमता रखता था। उसे देखकर मुनियों का भी धीरज खिसकने लगता था, देवताओं का लार टपकने लगता था, विचारवानों का विचार भागने लगता था। त्रिलोकसुन्दरी शकुन्तला के लिए लोग धर्म को वलिदान करने के लिए भी तैयार हो जाते थे। किन्तु महाराज दुष्यन्त ऐसी सुन्दरी को भी देखकर स्वीकार करने के लिए इसलिये नहीं तैयार हैं कि—अधर्म होगा। पाप लगेगा। यही कारण है कि प्रतिहारी उनकी धार्मिकता पर आश्चर्य कर रही है।

क्षेत्रिणम्—मिस्टर 'क' के खेत में मिस्टर 'ख' ने पहुँचकर बीज बो दिया। उससे पौधे निकले, बढ़े, पुष्पित और फलित हुए। मिस्टर 'क' ने उन्हें काटा, दाया और घर में रक्खा। उन्होंने ऐसा इसलिये किया कि खेत उनका था। अतः वे उनके मालिक बनें। पर बीज उनके न थे। यह दुनियाँ जानती थी। जिसका क्षेत्र (खेत) होता है; उसे क्षेत्री कहते हैं। स्त्री भी क्षेत्र है। उसे भी सींचा जाता है। उसमें भी बीज डाला जाता है। उससे भी पैदावार ली जाती है। अब यदि किसी की स्त्री में किसी दूसरे ने बीज बो दिया तो उसका परदेशी पति क्षेत्री होने के नाते बीज के फल (बालक) का पिता होगा। ऐसी सन्तान औरस न होकर क्षेत्रज कही जाती है। अतः राजा का अभिप्राय यह है कि पर पुरुष से गर्भिणी इसे मैं अपनी अर्धाङ्गिनी कैसे स्वीकार कर लूँ ?

दूराधिरोहिणी—शकुन्तला ने सोचा था—चक्रवर्ती महाराज की दुलारी रानी बनूँगी। वे समूची पृथिवी के अधिपति हैं, तो मैं उन पर अधिकार जमाऊँगी। उनके इशारे पर सारी दुनियाँ नाचती है, तो मैं अपने इशारे पर उन्हें नचाऊँगी। वे नाराज होते हैं तो दुनियाँ भयवश उनके पैरों पर पड़ती है। मैं नाराज होऊँगी तो वे भयभीत होकर पैरों पर गिरेंगे, मनायेंगे, जबर्दस्ती छाती से लगायेंगे। आदि-आदि आशाएँ-अभि-

शार्ङ्गरवः—मा तावत् ।

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः
सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः ।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं
पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥२०॥

शारद्वतः—शार्ङ्गरव, विरम त्वमिदानीम् । शकुन्तले, वक्तव्यमुक्तमस्माभिः । सोऽयमत्रभवानेवमाह । दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम् ।

शकुन्तला—(अपवार्य) इदमवस्थान्तरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन ? आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत् । (प्रकाशम्) आर्यपुत्र—(इत्यर्धोक्ते) संशयित इदानीं परिणये नैष समुदाचारः ।—पौरव, न युक्तं

लाषाएँ थीं शकुन्तला की । किन्तु यहाँ तो पासा ही पलट गया । दुष्यन्त शकुन्तला को रखने के लिए, जरा भी लिफ्ट देने के लिए तैयार नहीं हैं ।

अन्वयः—(त्वया), कृताभिमर्शाम्, सुताम्, अनुमन्यमानः, मुनिः, त्वया, विमान्यः, नाम; येन, मुष्टम्, स्वम्, अर्थम्, प्रतिग्राहयता, दस्युः, इव, (त्वम्), पात्रीकृतः, असि ॥ २० ॥

शब्दार्थः—(त्वया=तुम्हारे द्वारा), कृताभिमर्शाम्=बलात्कार की गई, जिसके साथ तुमने जबर्दस्ती उपभोग किया है ऐसी, सुताम्=पुत्री (के गान्धर्व विवाह) को, अनुमन्यमानः=अनुमति देने वाले, मुनिः=मुनि (कण्व), त्वया=तुम्हारे द्वारा, विमान्यः=क्या (किये जा रहे इस) अपमान के पात्र हैं ? नाम=यह क्रोध को सूचित करने के लिए यहाँ प्रयुक्त हुआ है; येन=जिसके द्वारा, मुष्टम्=चुराये हुए, स्वम्=अपने, अर्थम्=धन को, प्रतिग्राहयता=समर्पण करते हुए, दस्युः=चोर की, इव=तरह, (त्वम्=तुम), पात्रीकृतः=पात्र बनाये गये, असि=हो ॥ २० ॥

टीका—कृताभिमर्शेति । कृताभिमर्शाम्—कृतः=विहितः अवमर्शः=धर्षणम् बलात्कार इति यावत्, यस्याः सा तादृशीम्, त्वया कृतबलात्कारामित्यर्थः, अनेन सापराधकत्वं ध्वन्यते, सुताम्=पुत्रीम्, अनुमन्यमानः=अनुमोदमानः, मुनिः=महर्षिः कण्वः, त्वया=भवता, विमान्यः=किम् अवज्ञेयः, किं विमाननीयः, न विमाननीयः अपितु माननीय एवेति भावः, 'नाम' इति क्रोधे, अत्र काकुः प्रश्नबोधकः । 'केचित्तु निषेधमेव विधेयत्वेन मन्यन्ते'—तन्न समीचीनम्, निषेधनियोगस्य मध्यस्थेन राजकीयेन वा वक्तुमुचितत्वात् न मुनिपक्षीयैः । अत एव निर्वहणान्ते 'राजा—अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः ।'

शार्ङ्गरव—आप ऐसा न कहें;

(तुम्हारे द्वारा) वलात्कार की गई अपनी पुत्री (के गान्धर्व विवाह) को अनुमति देने वाले मुनि (कण्व) तुम्हारे द्वारा (किये जा रहे) क्या (इस) अपमान के पात्र हैं ? जिसके द्वारा चुराये गये अपने धन (शकुन्तला) को समर्पण करते हुए, चोर की तरह, (तुम) पात्र वनाये गये हो ॥ २० ॥

शारद्वत—शार्ङ्गरव, तुम अव चुप हो जाओ। शकुन्तला, जो कुछ कहना था, हम लोग कह चुके। आदरणीय यह महाराज इस प्रकार कह रहे हैं। इनको विश्वास दिलाने के लिए कोई उत्तर दो।

शकुन्तला—(मुँह दूसरी ओर फेरकर) उस प्रकार के प्रेम के ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाने पर याद दिलाने से क्या लाभ ? इस समय मैं शोचनीय अवस्था में आ पड़ी हूँ, अतः यह किया जा रहा है (अर्थात् स्मरण कराने के लिए उत्तर दिया जा रहा है)। आर्यपुत्र, (ऐसा आधा ही कहने पर) अभी (विवाह के) सन्देहयुक्त होने पर यह ('आर्य' सम्बोधन) उचित नहीं है। पुरुवंशी राजन्, पहले आश्रमभूमि

इति राघवभट्टाः। येन = एतादृशेन येन मुनिना, मुष्टम् = चोरितम्, स्वम् = स्वीयम्, अर्थम् = धनम्, प्रतिग्राहता = तदधीनं कारयता, पुरुषेणेवेति विशेषणेनैव विशेष्यलाभः, दस्युः इव = चौरः इव, त्वमिति शेषः, पात्रीकृतः अपात्रम् = अभाजनम् पात्रं सम्पद्यमानः कृतः इति पात्रीकृतः = पात्रत्वं प्रापितोऽसीत्यर्थः। पितरमवमत्य तदनुमतिमन्तरेण तत्कन्या त्वया बलाद् गृहीता। तथापि स महात्मा आत्मनः अवमाननामगणयित्वा तुभ्यमेव दस्युभूताय पुनः तां कन्यामर्पयति। अस्यां दशायामपि त्वं तस्यापमानं करोषीत्यौद्धत्यपराकाष्ठैवेत्यभिप्रायः। अत्र विषमोऽलङ्कारः। उपजातिर्वृत्तम् ॥ २० ॥

टिप्पणी—मुष्टं प्रतिग्राहयता—मिस्टर अ के घर चोरी हुई। एक चोर रात भर परिश्रम करके उनका बहुत-सा सामान उठा ले गया। दूसरे दिन पुलिस ने चोर को सामान सहित पकड़ा। मिस्टर 'अ' का सामान वापस दिलाया गया। पर वे बड़े दयालु हैं। उन्होंने चोर के ऊपर कृपा करते हुए कहा—'इस बेचारे ने रात भर श्रम किया है। अतः यह सारा सामान मैं इसे ही दे रहा हूँ।' अब यदि वह चोर उन सामानों को न ले तो यह मिस्टर अ का अपमान नहीं तो और क्या है ? यही दशा कण्व और दुष्यन्त की है। यही भाव यहाँ व्यक्त किया गया है।

इस श्लोक में विषम अलङ्कार और उपजाति छन्द है। छन्द का लक्षण—(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥) अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ २० ॥

व्युत्पत्तिः — कृताभिमर्शाम् — कृत + अभि + √मृश् + घञ् + टाप् + विभक्तिः। विमान्यः—वि + √मान् + णिच् + यत् कर्मणि + विभक्तिः ॥ २० ॥

शब्दार्थः—विरम = रुको, चुप हो जाओ। प्रत्ययप्रतिवचनम् = विश्वास दिलाने वाले उत्तर को। स्मारितेन = याद दिलाने से, स्मरण कराने से। शोचनीयः = धिक्का-

नाम ते तथा पुराश्रमपदे स्वभावोत्तानहृदयमिमं जनं समयपूर्वं प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम् । [इमं अवत्थन्तरं गदे तारिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण ? अत्ता दाणिं मे सोअणीओ त्ति ववसिदं एदं । अज्जउत्त---संसइदे दाणिं परिणए ण एसो समुदाआरो ।---पोरव, ण जुत्तं णाम दे तह पुरा अस्समपदे सहावुत्ताणहिअअं इमं जणं समअपुव्वं पतारिअ ईदिसेहिं अक्खरेहिं पच्चाचक्खिदुं ।]

राजा---(कर्णौ पिधाय) शान्तं पापम् ।

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम् ।
कूलंकषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ॥२१॥

रने का पात्र, मुझे अपने आपको ही धिक्कारना चाहिए । समुदाचारः = आचार-व्यवहार । स्वभावोत्तानहृदयम् = स्वभावतः निष्कपट, समयपूर्वम् = शपथपूर्वक, सौगन्ध खाकर, प्रतार्य = ठगकर ॥

टीका---शारद्वत इति । विरम = वचनाद्विरतो भव । प्रत्ययप्रतिवचनम्---प्रत्ययजनकम् = विश्वासोत्पादकम् प्रतिवचनम् = उत्तरमिति प्रत्ययप्रतिवचनं मध्यमपदलोपी तत्पुरुषः । स्मारितेन = स्मारणेन, भावे क्तः । शोचनीयः = धिक्करणीयः । 'शोधनीयः' इति समीचीनः पाठः । कलङ्कात् मोचनीय इति हेतोः प्रतिवचनप्रदाने मे प्रवृत्तिर्जायते नान्यथा निष्फलत्वात् । समुदाचारः = सद्व्यवहारः, आर्यपुत्र इति सम्बोधनपदम् वा सम्बोधनरूप आचारः । स्वभावोत्तानहृदयम्---स्वभावेन = प्रकृत्या उत्तानम् = स्फीतं प्रफुल्लमित्यर्थः, अकपटं वेति भावः, यस्य तथाविधम्, निसर्गसरलाशयमित्यभिप्रायः । 'स्वभावोत्तानहृदयम्' इत्यनेनात्मनोऽतिमुग्धत्वं तेन च परवञ्चनानभिज्ञत्वं परात्मवञ्चविवेकशून्यत्वं ध्वनितम् । इमं जनं समयपूर्वम् = संकेतपूर्वम्, गान्धर्वेण विवाहेनेत्यर्थः । 'गान्धर्वः समयान्मिथः' (याज्ञ० १।६१) इति स्मरणात् । अथ च समयपूर्वं शपथं कृतवानसीत्यर्थः । अथ च समयपूर्वम् = कालनियमपूर्वम् त्रिचतुरदिनमध्ये पञ्चदिनमध्ये वा पुरुषः प्रेष्यत इति प्रकारेण । अत एव वक्ष्यति (६।१२)---'एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम् । तावत्प्रिये मदवरोधगृहप्रदेशं नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥' इति । अथ च समयपूर्वम् = ज्ञानपूर्वं प्रतार्य । ('समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः) इति राघवभट्टाः । प्रतार्य = वञ्चयित्वा ॥

टिप्पणी---प्रत्ययप्रतिवचनम्---विश्वास दिलाने वाला उत्तर । प्रेमी-प्रेमिका के जीवन में, विशेष कर प्रेम की बढ़ती अवस्था में, कुछ ऐसे क्षण आते हैं, कुछ ऐसी घटनाएं घटती हैं, जिन्हें आजीवन याद किया जाता है । आजीवन उनकी चर्चा होती है । विरह

मैं स्वभावतः निष्कपट इस व्यक्ति को (अर्थात् मुझको) शपथपूर्वक ठगकर (अब) इस प्रकार के वाक्यों से तिरस्कार करना यह आपके लिए उचित नहीं है।

राजा—(कानों को ढ़ककर) पाप शान्त हो (अर्थात् ऐसा पापपूर्ण वचन मत कहो)।

जिस प्रकार किनारों को तोड़ने वाली नदी निर्मल जल को (कुलपित) तथा तट के वृक्ष को पतित कर देती हैं (अर्थात् गिरा देती हैं) उसी प्रकार क्या तुम (अपने) कुल को कलङ्कित तथा इस व्यक्ति को (अर्थात् मुझको) पतित करना चाहती हो ? ॥ २१ ॥

जीवन में भी उनका स्मरण सरसता ले आ देता है। यहाँ शारद्वत ऐसी ही घटना के याद दिलाने को कह रहा है।

शोचनीयः—मुझे अपने आपको ही धिक्कारना है। पाठभेद—शोधनीयः—यह पाठ अधिक अच्छा है। इसका भाव यही है कि उत्तर-प्रत्युत्तर देना यहाँ व्यर्थ है। यह पुराना प्रेमी तो बात करने का भी पात्र नहीं है। किन्तु मुझे अपने ऊपर लग रहे कलङ्क का परिमार्जन करना चाहिए। अतः उत्तर दे रही हूँ।

पौरव—यह साभिप्राय सम्बोधन है। इससे शकुन्तला का एक ओर क्रोध सूचित होता है तो दूसरी ओर दुष्यन्त को उनके पावन पुरुवंश की याद दिलाई जा रही है।

समयपूर्वम्—इसके कई अर्थ होते हैं। देखिये टीका।

व्युत्पत्तिः—प्रत्याख्यातुम्—प्रति+आ+√ख्या+तुमुन् (तुम्)।

अन्वयः—(यथा) कूलंकषा, सिन्धुः, प्रसन्नम्, अम्भः, च, तटतरुम्, इव, (तथा) किम्, (त्वम्), व्यपदेशम्, आविलयितुम्, च, इमम्, जनम्, पातयितुम्, ईहसे ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—(यथा = जैसे), कूलंकषा = किनारों को तोड़ने वाली, सिन्धुः = नदी, प्रसन्नम् = निर्मल, अम्भः = जल को, च = और, तटतरुम् = तट के वृक्ष को, इव = तरह (तथा), किम् = क्या, (त्वम् = तुम), व्यपदेशम् = कुल को, आविलयतुम् = मलिन करने के लिए, कलङ्कित करने के लिए, च = तथा, इमम् = इस, जनम् = व्यक्ति को, पातयितुम् = भ्रष्ट करने के लिए, पतित करने के लिए, ईहसे = चाहती हो ? ॥ २१ ॥

टीका—व्यपदेशमिति। (यथा = येन प्रकारेण), कूलंकषा—कूलम् = तटम् कषतीति = विदारयतीति कूलंकषा = नदी, प्रसन्नम् = निर्मलम्, अम्भः = जलम्, च = तथा, तटतरुम्—तटस्य = तीरस्य तरुम् = वृक्षम्, इव = यथा, यथा तटसंघर्षिणी नदी तटपातनेन निर्मलं जलं कलुषयति तटतरुञ्च पातयति, (तथा = तेनैव प्रकारेण), त्वमिति शेषः, किमिति प्रश्ने, व्यपदेशम् – व्यपदिश्यते = कीर्त्यते अनेनेति व्यपदेशः = कुलं तम्, आविलयितुम् = मलिनीकर्तुम्, च = तथा, इमम् = अमुम्, जनम् = व्यक्तिम्, मामित्यर्थः, पातयितुम् = पतितं कर्तुम्, ईहसे = चेष्टसे। अत्र नदीस्थानीया शकुन्तला, अम्भःस्थानीयं कुलं तटस्थानीयो राजेति बोध्यम्। अत्र समुच्चय उपमा चालंकारौ। आर्या जातिः ॥ २१ ॥

टिप्पणी—यहाँ पर शकुन्तला को नदी, शकुन्तला के कुल को निर्मल जल, तथा दुष्यन्त को तटवृक्ष के रूप में बतलाया गया है। कुछ लोग व्यपदेश का अर्थ 'दुष्यन्त

शकुन्तला—भवतु । यदि परमार्थतः परपरिग्रहशङ्किना त्वयैवं वक्तुं प्रवृत्तं तदभिज्ञानेनानेन तवाशङ्कामपनेष्यामि । [होदु । जइ परमत्थतो परपरिग्गहसंकिणा तुए एव्वं वत्तुं पउत्तं ता अहिण्णाणेण इमिणा तुह आसंकं अवणइस्सं ।]

राजा—उदारः कल्पः ।

शकुन्तला—(मुद्रास्थानं परामृश्य) हा धिक् ! अङ्गुलीयकशून्या मेऽङ्गुलिः । (इति सविषादं गौतमीमवेक्षते ।) [हद्धी । अंगुलीअअसुण्णा मे अंगुली ।]

गौतमी—नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमङ्गुलीयकम् । [णूणं दे सक्कावदारब्भन्तरे सचीतित्थसलिलं वन्दमाणाए पब्भट्टं अंगुलीअअं ।]

राजा—(सस्मितम्) इदं तत् "प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते ।"

शकुन्तला—अत्र तावद् विधिना दर्शितं प्रभुत्वम् अपरं ते कथयिष्यामि । [एत्थ दाव विहिणा दंसिदं पहुत्तणं अवरं दे कहिस्सं ।]

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम् ।

का कुल करते हैं । किन्तु उपमा पर जरा ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका अर्थ है—शकुन्तला का कुल । जल का सम्बन्ध नदी से होता है, न कि तट के वृक्ष से !

यहाँ समुच्चय तथा उपमा अलङ्कार है । प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या । लक्षण के लिए देखिये पीछे श्लोक १-२ की टिप्पणी ।। २१ ।।

व्युत्पत्तिः—व्यपदेशम्—वि + अप + √दिश् + घञ् + विभक्तिः । पातयितुम्—√पत् + णिच् + तुमुन् ।। २१ ।।

शब्दार्थः—परमार्थतः = वस्तुतः, सचमुच, परपरिग्रहशङ्किना = दूसरे की स्त्री की आशंका करने वाले, यह दूसरे की स्त्री है—ऐसी आशंका करने वाले, प्रवृत्तम् = आरम्भ किया गया, अभिज्ञानेन = पहचान के लिए दी गई वस्तु से, अपनेष्यामि = दूर करूँगी। उदारः = उत्तम, श्रेष्ठ, कल्पः = प्रस्ताव । परामृश्य = छूकर, टटोलकर, अङ्गुलीयकशून्या = अँगूठी से रहित । सविषादम् = खिन्नतापूर्वक ।।

टीका—शकुन्तलेति । परमार्थतः = यथार्थतः, परपरिग्रहशङ्किना—परस्य = अन्यस्य परिग्रहम् = कलत्रम् शङ्कते = आशङ्कते यस्तथाविधेन, परस्त्रियं सन्दिहानेनेत्यर्थः,

शकुन्तला—ठीक है। यदि वस्तुतः दूसरे की स्त्री की आशङ्का से (अर्थात् दूसरे की स्त्री समझकर) आपने ऐसा कहना आरम्भ किया है, तो इस अभिज्ञान (पहचान के लिए दी गई अँगूठी) से आपकी शङ्का का निवारण करूँगी।

राजा—(यह) श्रेष्ठ उपाय है।

शकुन्तला—(अँगूठी के स्थान को छूकर) हाय बड़ा कष्ट है। मेरी अँगुली अँगूठी से रहित है। (ऐसा कहकर उदासी के साथ गौतमी को देखती है)

गौतमी—निश्चय ही शक्रावतार तीर्थ में शचीतीर्थ के जल की वन्दना करते समय तुम्हारी अँगूठी गिर पड़ी होगी।

राजा—(मुस्कराहट के साथ) जो कहा जाता है कि—'स्त्री-जाति तत्काल उपाय सोचने वाली होती है'—वही यह है।

शकुन्तला—यहाँ अब विधाता ने अपना प्रभाव दिखलाया है, मैं दूसरी बात आपसे (स्मरण दिलाने के लिए) कहती हूँ।

राजा—अब सुनने लायक बातें ही अवशिष्ट हैं (अर्थात् अब तो केवल बातें ही सुनना बाकी रह गया है।)

प्रवृत्तम्=आरब्धम् अभिज्ञानेन—अभिज्ञायते=सम्यक् ज्ञायते अनेनेति अभिज्ञानम्=सम्यक् परिचायकं चिह्नम् तेन, अपनेष्यामि=निराकरिष्यामि। उदारः=मुख्यः, समीचीन इति यावत्, कल्पः=न्यायः, प्रस्ताव इति भावः, ('कल्पः स्यात् प्रत्यये न्याये' इति विश्वः)। परामृश्य=स्पृष्ट्वा, अङ्गुलीयकशून्या=अङ्गुलिमुद्राविरहिता। सविषादम्—विषादेन=खेदेन सहितं सविषादम्=सखेदम्॥

शब्दार्थः—नूनम्=निश्चय ही, शक्रावताराभ्यन्तरे=शक्रावतार तीर्थ में, प्रभ्रष्टम्=गिर पड़ी। प्रत्युत्पन्नमति=हाजिर जबाव, तत्काल उपाय सोचने वाली, स्त्रैणम्=स्त्री-समूह, स्त्री-जाति। विधिना=दैव के द्वारा, भाग्य के द्वारा, दर्शितम्=दिखलाया गया, प्रभुत्वम्=बल, प्रभाव, करामात॥

टीका—गौतमीति। नूनम्=अवश्यम्, शक्रावताराभ्यन्तरे—शक्रावतारस्य=शक्रावतारतीर्थस्य अभ्यन्तरे=मध्ये, प्रभ्रष्टम्=पतितम्, अङ्गुलेश्च्युतमित्यर्थः। प्रत्युत्पन्नमति—प्रत्युत्पन्ना=तात्कालिकी मतिः=प्रतिभा यस्य तत्, 'तात्कालिकी तु प्रतिभा प्रत्युत्पन्नमतिः स्मृता' इति प्रत्युत्पन्नमतिलक्षणं सुधाकरे, स्त्रैणम्=स्त्रीसमूहः स्त्रीजातिर्वा। विधिना=दैवेन भाग्येन वा, दर्शितम्=उपस्थापितम्, प्रभुत्वम्=सामर्थ्यम्॥

टिप्पणी—प्रत्युत्पन्नमति=हाजिरजवाव या कार्य के लिए तत्काल समाधान नापने उपस्थित करने वाली प्रतिभा को प्रत्युत्पन्नमति कहा जाता है।

स्त्रैणम्—स्त्री-समूह अथवा स्त्री-जाति॥

व्युत्पत्तिः—प्रभ्रष्टम्—प्र+√भ्रंश्+क्त+विभक्तिकार्यम्। स्त्रैणम्—स्त्री+नञ्+विभक्त्यादिकार्यम्॥

शब्दार्थः—श्रोतव्यम्=श्रवण करने लायक बातें, संवृत्तम्=अवशेष है। नलिनीपत्र-

शकुन्तला—नन्वेकस्मिन् दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते संनिहितमासीत्। [णं एक्कस्सिं दिअहे णोमालिआमण्डवे णलिणीपत्तभाअणगअं उअअं तुह हत्थे सण्णिहिदं आसि।]

राजा—श्रृणुमस्तावत्।

शकुन्तला—तत्क्षणे स मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः। त्वयायं तावत् प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन। न पुनस्तेऽपरिचयाद्धस्ताभ्याशमुपगतः। पश्चात् तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः। तदा त्वमित्थं प्रहसितोऽसि। सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। द्वावप्यत्रारण्यकाविति। [तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापंगो णाम मिअपोदओ उवट्ठिओ। तुए अअं दाव पढमं पिअउ त्ति अणुअम्पिणा उवच्छन्दिदो उअएण। ण उण दे अपरिचआदो हत्थब्भासं उवगदो। पच्छा तस्सिं एव्व मए गहिदे सलिले णेण किदो पणओ। तदा तुमं इत्थं पहसिदो सि। सव्वो सगन्धेसु विस्ससिदि। दुवेवि एत्थ आरण्णआ त्ति।]

राजा—एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः।

गौतमी—महाभाग, नार्हस्येवं मन्त्रयितुम्। तपोवन-

भाजनगतम् = कमलिनीपत्र (पुरइन) के दोने में रक्खा हुआ, सन्निहितम् = उपस्थित था, रक्खा था। पुत्रकृतकः = पुत्र की तरह पाला गया, दीर्घापाङ्गः = जिसकी आँख के कोने विशाल हैं ऐसा, मृगपोतक = हरिणशिशु। अनुकम्पिना = अनुकम्पा करने वाले, उपच्छन्दितः = बुलाया गया। हस्ताभ्याशम् = हाथ के पास, उपगतः = आया। प्रणयः = प्रेम। सगन्धेषु = एक प्रकार के सम्बन्धवालों पर, एक प्रकार के गुणवालों पर॥

राजेति। श्रोतव्यम् = श्रवणीयम्, संवृत्तम् = अवशिष्टमित्यर्थः, श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तमिति भवतीभिः कल्पनासहस्रं विधायालीकवचनोपन्यासः कर्तव्यः। स चेन्मया न श्रोतव्यो ममाश्रवणापराध एव स्यादिति प्रयोजनाभावेऽपि श्रवणमात्रे विधित्वं 'संवृत्त' पदद्योत्यमिति राघवभट्टाः। नलिनीपत्रभाजनगतम्—नलिनीपत्रेण = कमलिनीपर्णेन निर्मितं भाजनम् = पात्रमिति नलिनीपत्रभाजनं तत्र गतम् = वर्तमानम्, संनिहितम् = धृतम्, आसीत्। पुत्रकृतकः = पुत्रत्वेन परिगृहीतः, दीर्घापाङ्गः—दीर्घौ = आयतौ अपाङ्गौ नेत्रप्रान्तौ यस्य तथोक्तः, तदाख्यया प्रथित इत्यर्थः, मृगपोतकः = हरिणशावकः।

शकुन्तला—एक दिन (जब हम दोनों) नेवारी के मण्डप (निकुञ्ज) में थे, (उस समय) कमलिनी-पत्र (पुरइन) के दोने में रखा हुआ जल आपके हाथ में था।

राजा—हाँ, सुन रहा हूँ।

शकुन्तला—उसी समय मेरे द्वारा पुत्र की तरह पाला गया दीर्घापाङ्ग नामक हरिण-शिशु (वहाँ) आया। तब अनुकम्पा करने वाले आपके द्वारा 'यह पहले जल पी ले' ऐसा कहकर जल से (अर्थात् जल दिखलाकर), बुलाया गया। किन्तु आपसे परिचय न होने के कारण वह आपके हाथों के पास नहीं आया। बाद में उसी जल को जब मैंने ले लिया तब उसने प्रेम प्रदर्शित किया (अर्थात् उसे पी लिया)। उस समय आपने इस प्रकार हँसी की थी—'सभी अपने सहवासियों पर विश्वास करते हैं। तुम दोनों ही यहाँ जङ्गली हो।'

राजा—अपने कार्य को सिद्ध करने वाली स्त्रियों के इसी प्रकार के असत्यपूर्ण मधुर वचनों से कामुक-जन आकृष्ट किये जाते हैं।

गौतम—महोदय, आपका ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि तपोवन में पाला-

---

अनुकम्पिना = दयमानेन, उपच्छन्दितः = अभ्यर्थितः, आहूतो जलेनेत्यर्थः। हस्ताभ्याशम् = पाणिसमीपम्, उपगतः = प्राप्तः। प्रणयः = प्रेम, पानार्थमाग्रह इत्यर्थः, सगन्धेषु—समानः = एकः गन्धः = सम्बन्धः ('गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः) येषां ते सगन्धाः तेषु, स्वयूथ्येषु, विश्वसिति = आश्वासं गच्छति॥

टिप्पणी—श्रोतव्यम्—अब केवल सुनना ही भर बाकी रह गया है। यह शकुन्तला के ऊपर व्यंग्य है। अँगूठी दिखाने की बात समाप्त हुई। अब तो सुनना ही है। सुनाती जाओ बातें गढ़-गढ़कर।

शृणुमस्तावत्—इस कथन से शकुन्तला के ऊपर राजा का उपेक्षाभाव सूचित होता है। कोई प्रमाण न दे सकने पर शकुन्तला केवल मौखिक प्रमाणों से राजा को सन्तुष्ट करना चाहती है। किन्तु शाप के प्रभाव से राजा सब भूला हुआ है। अतः उसे शकुन्तला की सारी बातें गढ़ी हुई प्रतीत होती हैं।

सगन्धेषु—साथ रहने वालों पर, सम्बन्धियों पर। सम्बन्ध होने के कारण, एक स्थान पर रहने के कारण तथा एक जाति का होने से व्यक्ति आपस में सगन्ध कहे जाते हैं।

व्युत्पत्तिः—श्रोतव्यम्—√श्रु + तव्यत् + विभक्तिकार्यम्। संवृत्तम्—सम् + √वृत् + क्त + विभक्तिः। संनिहितम्—सम् + नि + धा + क्त + विभक्तिकार्यम्। आरण्यकौ—अरण्य + वुञ् (अक्) + प्रथमा द्विवचने विभक्तिकार्यम्॥

शब्दार्थः—एवमादिभिः = इसी प्रकार के आत्मकार्यनिर्वर्तिनीनाम् = अपने कार्य को सिद्ध करने वाली, अनृतमयवाङ्मधुभिः = असत्यपूर्ण मधुर वचनों से, आकृष्यन्ते = आकृष्ट किये जाते हैं। विषयिणः = कामुक जनः। महाभाग = महोदय, अर्हसि = योग्य हो, तपोवनसंवर्धितः = तपोवन में पाला-पोसा गया, अनभिज्ञः = अपरिचित, कैतवस्य = छल-कपट के लिए, छल-कपट से॥

टीका—राजेति। एवमादिभिः = एवंविधाभिः, आत्मकार्यनिर्वर्तिनीनाम्—आत्मकार्यस्य

संवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य । [महाभाअ, ण अरुहसि एव्वं मन्तिदुं । तवोवणसंवड्ढिदो अणभिण्णो अअं जणो कइदवस्स ।]

राजा—तापसवृद्धे,

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलुपोषयन्ति ॥२२॥

=स्वार्थस्य निर्वर्तिनीनाम्=संपादिकानां ललनानाम्, विशेषणादेव विशेष्यप्रतिपत्तिः, अनृतमयवाङ्मधुभिः—अनृतमयानि=असत्यबहुलानि—यानि वाचः=वचनानि एव मधूनि तैः, मधूराभिरनृतवाग्भिः, आकृष्यन्ते=बाध्यन्ते, वशीक्रियन्ते, विषयिणः=इन्द्रियसुखपराः, कामिन इत्यर्थः। महाभागः=महोदयः, अर्हसि=योग्योऽसि, तपोवनसंवर्धितः—तपोवने=तपोऽरण्ये संवर्धितः=वृद्धिं गमितः, अनभिज्ञः=अपरिचितः, कैतवस्य =कपटव्यवहारस्य ॥

टिप्पणी—तपोवनसंवर्धितः—वातावरण का प्रभाव, व्यक्तित्व के निर्माण में, सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है । तपोवन में पावन-चरित ऋषि-मुनि निवास करते हैं। उनके संसर्ग में पलने वाले प्राणी छल-प्रपञ्च से शून्य होते हैं । अतः शकुन्तला के असत्य भाषण आदि की संभावना बहुत कम है । यही है गौतमी के कथन का अभिप्राय।

अन्वयः—स्त्रीणाम्, अमानुषीषु, (अपि), अशिक्षितपटुत्वम्, संदृश्यते; याः, प्रतिबोधवत्यः, (तासाम्), किमुत, खलु, परभृताः, अन्तरिक्षगमनात्, प्राक्, स्वम्, अपत्यजातम्, अन्यैः, द्विजैः, पोषयन्ति ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—स्त्रीणाम्=स्त्रियों में, स्त्री-समूह के मध्य, अमानुषीषु=मनुष्यजाति से भिन्न स्त्रियों में, (अपि=भी), अशिक्षितपटुत्वम्=बिना सिखाये-पढ़ाये भी चालाकी, संदृश्यते =देखी जाती है । याः=जो, प्रतिबोधवत्यः=ज्ञानसंपन्न हैं; (तासाम्=उनका), किमुत=क्या कहना, खलु=ऐसी प्रसिद्धि है कि, परभृताः=कोयलें, अन्तरिक्षगमनात्= आकाश में उड़ने के, प्राक्=पूर्व, स्वम्=अपने, अपत्यजातम्=बच्चों का, अन्यैः= दूसरे, द्विजैः=पक्षियों (कौओं) से, पोषयन्ति= पालन करवाती हैं ॥ २२ ॥

टीका—स्त्रीणामिति । स्त्रीणाम्=वनितानां मध्ये, अमानुषीषु=मानुषव्यतिरिक्तासु, वञ्चकवागादिव्यवहाररहितास्वपीति भावः, अशिक्षितपटुत्वम्=अनुपदिष्टकौशलम्, संदृश्यते =अवलोक्यते; याः=याः स्त्रियः, प्रतिबोधवत्यः=ज्ञानसम्पन्नाः, वागादिव्यवहारकुशलाः

पोसा गया यह (शकुन्तलारूपी) जन छल-कपट से अनभिज्ञ है।

राजा—हे बूढ़ी तपस्विनी,

स्त्रियों के मध्य मनुष्य-जाति से भिन्न स्त्रियों में (भी) बिना सिखाये-पढ़ाये भी चालाकी देखी जाती है। जो ज्ञान-सम्पन्न (स्त्रियाँ) हैं, उनका क्या कहना ? ऐसी प्रसिद्धि है कि कोयलें आकाश में उड़ने के पूर्व अपने बच्चों का दूसरे पक्षियों (अर्थात् कौओं) से पालन करवाती हैं ॥ २२ ॥

इति भावः, सन्तीति शेषः, (तासां = तासां स्त्रीणाम्), किमुत = किं वक्तव्यम् ? खल्विति प्रसिद्धौ, परभृताः = कोकिलाः, परभृता इति साभिप्रायम्, अन्तरिक्षगमनात् = आकाशगमनात्, उड्डयनादित्यर्थः, प्राक् = पूर्वम्, स्वम् = स्वकीयम्, अपत्यजातम् = सन्तति-समूहम्, ('जातं जात्यौघजन्मसु' इति विश्वः), अन्यैः = अपरैः, द्विजैः = पक्षिभिः; काकैरित्यर्थः, पोषयन्ति = पालयन्ति । अतस्तपोवने वर्धितेयमपरिचिता कैतवस्येति भवत्याः कथनं न प्रामाण्यपदवीमधिरोहति । अत्र व्यतिरेकोऽप्रस्तुतप्रशंसाऽर्थान्तरन्यास-श्चालंकाराः । वसन्ततिलका छन्दः ॥ २२ ॥

टिप्पणी—तापसवृद्धे—यहाँ 'वृद्धा चासौ तपस्विनी' यह कर्मधारय समास होगा। 'कडाराः कर्मधारये' (२-२-३८) से वृद्ध का विकल्प से परनिपात होता है। 'वृद्धतापसी' यह प्रयोग अधिक होता है। गौतमी के लिए राजा के द्वारा यह सम्बोधन पद उनके क्रोध और झल्लाहट को सूचित करता है।

स्त्रीणामिति—इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का अन्वय इस प्रकार भी किया जा सकता है और कदाचित् यह अधिक समीचीन होगा—स्त्रीणाम्, अशिक्षितपटुत्वम्, अमानुषीषु, अपि, संदृश्यते,—आगे पूर्ववत् रहेगा। यहाँ स्त्रीणां का अर्थ किया जायेगा स्त्री सम्बन्धी।

अशिक्षितपटुत्वम्—इस प्रकार के वाक्य अन्यत्र भी प्रयुक्त मिलते हैं—(क) स्त्रियो हि नाम खल्वेताः निसर्गादेव पण्डिताः। पुरुषाणां तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते ॥ (मृच्छकटिक ४।१९), (ख) वयस्य, निसर्गनिपुणाः स्त्रियः (मालविकाग्निमित्र, अं० ३)।

अन्तरिक्ष०—अन्तः = द्यावापृथिव्योर्मध्ये ईक्ष्यते = अवलोक्यते इति। जो द्युलोक और पृथिवी के मध्य में दिखलाई पड़ता है, उसे अन्तरिक्ष कहते हैं। अन्तः ऋक्षाणि = नक्षत्राणि इति, जिसके मध्य में नक्षत्र दिखलाई पड़ते हैं।

अन्यैः—द्विजैः—प्रसिद्धि है कि कोयल का बच्चा जब अण्डे से बहर निकलता है तो वह उस बच्चे को ले जाकर कौए के घोसले में रख आती है। मूर्ख कौआ उसे अपना

शकुन्तला—(सरोषम्) अनार्य, आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि । क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते ? [अणज्ज, अत्तणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि ? को दाणिं अण्णो धम्मकञ्चुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदिं पडिवदिस्सदि ?]

राजा—(आत्मगतम्) सन्दिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते । तथा ह्यनया-

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने ।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥२३॥

बच्चा मानकर पालता-पोसता हूं। उड़ने की शक्ति होने पर कोयल का बच्चा वहां से उड़कर चला जाता है और कोयलों के झुण्ड में मिल जाता है।

स्त्रीणां पोषयन्ति—प्रो० काले ने इस श्लोक पर अपने अभिप्राय को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—कवि ने अप्रत्यक्षरूप से यहाँ शकुन्तला की उत्पत्ति की ओर भी संकेत किया है कि वह वेश्यापुत्री और अकुलीन है। अमानुषी तथा परभृता के द्वारा मेनका की ओर संकेत किया गया है। मेनका अप्सरा है, अतः वह अमानुषी है। वह एक वेश्या है, अतः दूसरों के द्वारा पालित होने से परभृता है। 'स्वमपत्यजातम्' से शकुन्तला का निर्देश किया गया है। 'प्रागन्तरिक्ष०' से शकुन्तला को पैदाकर मेनका के स्वर्ग-प्रस्थान की बात सूचित की गई है। 'अन्यैः द्विजैः' से महर्षि कण्व का संकेत किया गया है। द्विज का अर्थ ब्राह्मण भी होता है।

इस श्लोक में किमुत के द्वारा अधिकता का कथन होने से व्यतिरेक अलंकार है। शकुन्तला के स्थान पर संपूर्ण स्त्री-जाति की उक्ति से अप्रस्तुतप्रशंसा है। उत्तरार्ध विशेष से पूर्वार्ध-सामान्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है। प्रयुक्त छन्द वसन्ततिलका का लक्षण इस प्रकार है—

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ २२॥

व्युत्पत्तिः—प्रतिबोधवत्यः—प्रति + √बुध + घञ् + करणे + मतुप् + स्त्रीलिङ्ग विभक्तिकार्यम्। अन्तरिक्षः—अन्तर् + √ईक्ष् + घञ् + छान्दसो ह्रस्वः, विभक्तिकार्यम्। द्विजैः—द्विर्जाताः इति द्वि + √जन + ड-कर्तरि + विभक्तिः ॥ २२॥

शब्दार्थः—अनार्य = अभद्र, हृदयानुमानेन = हृदय के अनुमान से, हृदय की तरह। धर्मकञ्चुकप्रवेशिनः = धर्म के आवरण को धारण किये हुए, तृणच्छन्नकूपोपमस्य = तृणों से ढके हुए कुएँ के समान। अकैतवः = बनावट रहित, स्वाभाविक ॥

शकुन्तला—(क्रोधपूर्वक) अभद्र, अपने हृदय की ही तरह सबको देखते हो? इस समय कौन दूसरा व्यक्ति धर्म के आवरण को धारण किये हुए, (अतः) तृणों से ढके हुए कुएँ के समान तुम्हारा अनुकरण कर सकता है?

राजा—(अपने आप) इसका कोप बनावट-रहित सा प्रतीत हो रहा है, अतः मेरी बुद्धि को सन्देह में डाल रहा है। क्योंकि इसके द्वारा—

विस्मरण के कारण मेरे ही, एकान्त में घटित प्रणय-व्यापार को, अस्वीकार करने पर अति कोप के कारण अत्यन्त लाल आँखों वाली इस (शकुन्तला) के द्वारा टेढ़ी भौहों के चढ़ाने से मानो कामदेव का धनुष तोड़ दिया गया है ॥ २३ ॥

टीका—शकुन्तलेति। अनार्य = अभद्र, आत्मनः = स्वस्य, हृदयानुमानेन—हृदयस्य = चेतसः अनुमानेन = मानेन, यथा तव हृदयम् अभद्र तथाऽन्यस्यापीति अनुमानेनेत्यर्थः। धर्मकञ्चुकप्रवेशिनः—धर्मस्य = सदाचारस्य कञ्चुकम् = आवरणम् प्रविशतीति तस्य, धर्मावरणधारिणः, अतः तृणच्छन्नकूपोपमस्य—तृणैः = घासैः छन्नः = आच्छादितः यः कूपः स एव उपमा = उदाहरणम् यस्य तथाभूतस्य। यथा गभीरोऽन्धकाराच्छन्नश्च कूपस्तृणैश्छादितो भूतलमिव दृश्यते, तथैव पापात्मा त्वं धर्मावरणावृतः धार्मिक इव प्रतीयसे। नाहमीदृशी। अकैतवः = अकृत्रिमः, स्वाभाविक इत्यर्थः॥

टिप्पणी—अनार्य—राजा ने गंगा की तरह पावन तपस्विनी गौतमी का अपमान करते हुए शकुन्तला के चरित को कलंकित बतलाने का जो सभ्य प्रयास किया उससे शकुन्तला अपने धैर्य को खो बैठी और उसने दुष्यन्त को अनार्य कह डाला।

धर्मकञ्चुकप्रवेशिनः—आज की ही भाँति प्राचीन काल में धूर्त, वञ्चक तथा इसी तरह के अन्य असामाजिक तत्त्व धर्म का ढोंग रचाकर चन्दन-त्रिपुंड लगाकर, रामनामी ओढ़कर संन्यासी-ब्रह्मचारी का रूप धारण कर—समाज को ठगते थे, धोखा देते थे। शकुन्तला उसी तरह दुष्यन्त को बतला रही है।

तृणच्छन्न०—जंगली व्यक्ति सूअरों और हाथियों के आने-जाने वाले मार्ग में कुआँ खोदकर उसे इस प्रकार घास तथा टहनियों से ढँक देते हैं कि उन जानवरों को यह पता ही नहीं लग पाता कि यहाँ कोई गड्ढा भी है। जब वे उस पर से जाना चाहते हैं गिरकर नीचे चले जाते हैं। शिकारी उन्हें पकड़ लेते हैं। यही है तृणच्छन्न कूप की विशेषता। यही कारण है कि ढोंगी व्यक्तियों की तुलना इस कूप से की जाती है।

व्युत्पत्तिः—अनुकृतिम्—अनु + √कृ + क्तिन् + विभक्तिः॥

अन्वयः—विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ, मयि, एव, रहः, वृत्तम्, प्रणयम्, अप्रतिपद्यमाने, अतिरुषा, अतिलोहिताक्ष्या, अनया, कुटिलयोः, भ्रुवोः, भेदात्, स्मरस्य, शरासनम्, भग्नम्, इव॥ २३॥

(प्रकाशम्) भद्रे, प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम् । तथापीदं न लक्षये ।

शकुन्तला—सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि। याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता। [सुट्ठु दाव अत्त सच्छन्दचारिणी किदम्हि। जा अहं इमस्स पुरुवंसप्पच्चएण मुहमहुणो हिअअट्ठिअविसस्स हत्थब्भासं उवगद]।

(इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति।)

शार्ङ्गरवः—इत्थमात्मकृतमप्रतिहतं चापलं दहति।

शब्दार्थः—विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ = विस्मरण के कारण दारुण चित्तवाले, मयि = मेरे, एव = ही, रहः = एकान्त में, वृत्तम् = घटित, प्रणयम् = प्रणय-व्यापार को, अप्रतिपद्यमाने = अस्वीकार करने पर, अतिरुषा = अत्यन्त कोप के कारण, अतिलोहिताक्ष्या = अत्यन्त लाल आँखों वाली, अनया = इस (शकुन्तला) के द्वारा, कुटिलयोः = टेढ़ी, भ्रुवोः = भौंहों के, भेदात् = चढ़ाने से, वक्र करने से, स्मरस्य = कामदेव का, शरासनम् = धनुष, भग्नम् = तोड़ दिया गया, इव = मानो, सा ॥ २३ ॥

टीका—मय्येवेति। विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ—विगतम् = अपगतम् स्मरणम् = स्मृतिः यस्य तदत एव दारुणम् = कठिनम् यच्चित्तम् = हृदयम् तेन वृत्तिः = वर्तनम् यस्य तस्मिन्, विस्मरणेन = विस्मृत्या दारुणा = कठोरा चित्तवृत्तिः = मनोवृत्तिः यस्य तस्मिन् वा, मयि = मयि दुष्यन्ते इत्यर्थः. एवेत्येवकारेण कोपस्य तात्त्विकत्वं ध्वनितम्, रहः = एकान्ते, वृत्तम् = घटितम्, प्रणयम् = स्नेहम् अप्रतिपद्यमाने = अस्वीकुर्वति, अतिरुषा = अधिकक्रोधेन, अधिकक्रोधया वा, अतिलोहिताक्ष्या = अत्यारक्तनयनया, अनया = एतया शकुन्तलया, कुटिलयोः = स्वभावतः वक्रयोः, भ्रुवोः = भ्रुकुट्योः, भेदात् = भङ्गात्, भ्रूभङ्गादित्यर्थः, स्मरस्य = कामदेवस्य, शरासनम् = धनुः, भग्नमिव = त्रुटितमिवेत्युत्प्रेक्षा। अत्रोत्प्रेक्षा काव्यलिङ्गं चालङ्कारौ। वसन्ततिलका छन्दः ॥ २३ ॥

टिप्पणी—भ्रुवोः भेदात्—सुन्दरी नवयुवतियाँ एक बार जिस सहृदय पर देख दें, तिरछी दृष्टि डाल दें तो वह बेचारा जन-संकुल चतुष्पथ पर ही कलेजा थामकर बैठ जाता है। उसके कलेजे में भीषण टीस उठने लगती है। क्योंकि कामदेव ने उसके कलेजे को अपने त्रिभुवन-विजयी बाण का लक्ष्य बना लिया है। यह बाण कहाँ से आया? कैसा है? यह तो किसी ने देखा नहीं। अब सुनिये—रमणियों की टेढ़ी भौंहे ही कामदेव का धनुष हैं। उनका तिरछा कटाक्ष ही उसका अमोघ बाण है। जब कोई रमणी स्वभावतः टेढ़ी भौंहों को वक्र करती है तो प्रतीत होता है मानो कामदेव का धनुष ही टूट गया है।

(प्रकट रूप से) भलीमानस, दुष्यन्त का चरित सर्वत्र विख्यात है। तो भी (जैसा आप मुझे बतला रही हैं वैसा करने पर भी) नहीं देख पा रहा हूँ।

शकुन्तला—ठीक है, तो यहाँ मैं दुश्चरित्र (सिद्ध) कर दी गई हूँ, जो मैं पुरु-वंश के विश्वास से ऊपर से मीठे किन्तु भीतर विष भरे हुए इस (राजा) के हाथ के पास आ गई (हाथ में आ पड़ी)।

(ऐसा कहकर आँचल से मुख ढककर रोती है)

शार्ङ्गरव—अपने आप किया गया स्वच्छन्द चापल्य इसी प्रकार जलता है।

यहाँ उत्प्रेक्षा तथा अतिरुषा के लोहिताक्ष्या के कारण होने से काव्यलिंग अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका। लक्षण के लिए देखिये पीछे के श्लोक की टिप्पणी ॥ २३ ॥

व्युत्पत्तिः—वृत्तम्— √वृत् + क्त + विभक्त्यादिकार्यम्। भग्नम्— √भञ्ज् + क्त + विभक्तिः ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—प्रथितम् = विख्यात है। लक्षये = देख पा रहा हूँ। स्वच्छन्दचारिणी = दुश्चरित्र, कुलटा। मुखमधोः = मुख में है मधु जिसके ऐसे, मधुर मुख, ऊपर से मीठे, हृदयस्थितविषस्य = भीतर विष भरे हुए, हस्ताभ्याशम् = हाथ के पास। पटान्तेन = आँचल से, आवृत्य = ढककर।

टीका—प्रकाशमिति। प्रथितम् = प्रख्यातम्। लक्षये = अवलोकयामि, कृतेऽपि सूक्ष्मे विचारे नाहं स्मरामि स्वचरिते ईदृशं चरित्रविघातमिति। स्वछन्दचारिणी स्वच्छन्दम् = स्वातन्त्र्यमालम्ब्येत्यर्थः, चरति = विचरतीति स्वच्छन्दचारिणी = व्यभिचारिणी। मुख-मधोः—मुखे = आनने मधु = मधुरं वचनमित्यर्थः यस्यासौ तस्य, मधुरभाषिणः इत्यर्थः, हृदयस्थितविषस्य—हृदये = आभ्यन्तरे स्थितम् = भरितम् विषम् = गरलम् यस्यासौ तस्य, हस्ताभ्याशम् = करसमीपम्। पटान्तेन = अञ्चलेन, आवृत्य = आच्छाद्य ॥

टिप्पणी—स्वच्छन्दचारिणी—भ्रष्टचरित्रवाली वेश्या। शकुन्तला के कहने का भाव है कि मानो मैं स्वच्छन्दचारिणी वेश्या हूँ, जो आपके पास यह कहने आई हूँ कि कृपा-कर मुझे अपनी पत्नी-सी समझकर मेरे यौवन से खिलवाड़ करें, आनन्द लें और मुझे सम्पत्ति का भोग करने दें ॥

व्युत्पत्तिः—प्रथितम्— √प्रथ् + क्त + विभक्तिः। आवृत्य—आ + √वृत् + ल्यप् ॥

शब्दार्थः—इत्थम् = इसी प्रकार, आत्मकृतम् = अपने आप किया गया, अप्रतिहतम् = स्वच्छन्द, चापलम् = चापल्य, दहति = जलता है ॥

टीका—शार्ङ्गरव इति। इत्थम् = अनेनैव प्रकारेण, आत्मकृतम् = स्वविहितम्, अप्रतिहतम् = अनिरुद्धम्, स्वच्छन्दविहितमित्यर्थः, चापलम् = चञ्चलता, दहति = तापयति ॥

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥२४॥

राजा—अयि भोः, किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान् संयुत-दोषाक्षरैः क्षिणुथ ?

शार्ङ्गरवः—(सासूयम्) श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम्।
आ जन्मनः शाठ्यमशिक्षितो य-
स्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
परातिसन्धानमधीयते यै-
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥२५॥

अन्वयः—अतः, रहः, संगतम्, विशेषात्, परीक्ष्य, कर्तव्यम्; अज्ञातहृदयेषु, सौहृदम्, एवम्, वैरीभवति ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—अतः=इसीलिये, रहः=एकान्त का, संगतम्=सम्बन्ध, विशेषात्=विशेष रूप से, परीक्ष्य=परीक्षा करके, कर्तव्यम्=करना चाहिए; अज्ञातहृदयेषु=अज्ञात हृदयवाले व्यक्तियों में, सौहृदम्=प्रेम, एवम्=इसी प्रकार, वैरीभवति=दुःखदायी बन जाता है ॥ २४ ॥

टीका—अत इति । अतः=अस्मादेव कारणात्, रहः=एकान्ते, संगतम्=सम्मेलनम् मैत्र्यमिति यावत्, विशेषात्=विशेषरूपेण, परीक्ष्य=विविच्य, कर्तव्यम्=कार्यम्। यः एकान्ते संगतं विशेषात् परीक्ष्य कर्तव्यमित्यनुषज्यते। कुतः? अज्ञातहृदयेषु—अज्ञातम् =व्यवहारादिना अविदितम् हृदयम्=चेतः येषां ते तेषु, सौहृदम्=मैत्री, एवम्=बनेकं रूपेण, वैरीभवति=शत्रुतामापद्यते। अत्राप्रस्तुतप्रशंसाऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गं चाल-ङ्कारः। श्लोको वृत्तम् ॥ २४ ॥

टिप्पणी—परीक्ष्य—विवाह आदि संगति बड़ी सावधानी से परीक्षा करके ही करनी चाहिए। यदि गान्धर्व विवाह आदि एकान्त की संगति हो, जिसमें दो के अतिरिक्त तीसरा कुछ जान भी नहीं पाता है, तो विशेष सावधानी से कुल-प्रेम आदि की परीक्षा करनी चाहिए। अन्यथा परिणाम बड़ा कष्टदायक होता है। यहाँ शार्ङ्गरव के माध्यम से गान्धर्व विवाह के प्रति कालिदास ने अपना मत व्यक्त किया है। इस श्लोक से यह भी ज्ञात होता है कि इस नाटक के रचनाकाल तक इस देश में गान्धर्व विवाह की प्रथा समाप्त हो रही थी। लोग इसके दुष्परिणाम की भर्त्सना करने लगे थे।

इसीलिये एकान्त का (विवाह आदि) सम्बन्ध विशेष रूप से परीक्षा करके करना चाहिए। अज्ञात हृदयवाले व्यक्तियों में (किया गया) प्रेम इसी प्रकार दुःखदायी बन जाता है ॥ २४ ॥

राजा—अजी महानुभावों, पूज्या इन श्रीमती (शकुन्तला) पर विश्वास के कारण ही क्यों दोष भरे वचनों से हमें दुःखित कर रहे हो।

शाङ्गरव—(ईर्ष्यापूर्वक) सुना आप लोगों ने (यह) उलटी बात अथवा निकृष्ट उत्तर।

जिसने जन्म से लेकर आज तक धूर्तता को सीखा नहीं है, उस व्यक्ति का वचन अप्रामाणिक है, (और) जिनके द्वारा दूसरों को धोखा देना कला मानकर सीखा जाता है, वे प्रामाणिक वचन बोलने वाले हैं ? ॥ २५ ॥

यहाँ दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम-वर्णन के स्थान पर सामान्य प्रेम के वर्णन से अप्रस्तुत-प्रशंसा है। पूर्वार्ध विशेष का उत्तरार्ध सामान्य से वैधर्म्यपूर्वक समर्थन होने से अर्थान्तर-न्यास है। पूर्वार्ध के प्रति उत्तरार्ध के कारण होने से काव्यलिङ्ग है। छन्द का नाम अनुष्टुप् है ॥ २४ ॥

व्युत्पत्तिः—परीक्ष्य—परि + √ईक्ष् + ल्यप्। कर्तव्यम्—√कृ + तव्यत् + विभक्तिः। सौहृदम्—सुहृद् + अण् + विभक्त्यादिः ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—अत्रभवतीप्रत्ययात् = इन श्रीमती (शकुन्तला) पर विश्वास के कारण, संयुतदोषाक्षरैः = दोष भरे वचनों से, क्षिणुथ = क्षीण कर रहे हो, दुःखित कर रहे हो। अधरोत्तरम् = उलटी बात अथवा निकृष्ट उत्तर ॥

टीका—राजेति। अत्रभवतीप्रत्ययात् = पूज्याविश्वासात्। भवद्भियेयं पूज्यैव, तद्व-चनविश्वासादित्यर्थः। एवकारेण युक्त्यन्तरनिराशः। अस्मानिति पुरुवंशोत्पन्नान् सर्वधर्म-निष्ठान् इन्द्रादिभिरप्युपचारेण गृहीतानित्यादिधर्मशतं व्यनक्ति। संयुतदोषाक्षरैः—सम् = सम्यक् नत्वीषत्, युतः = संपृक्तः, न तु स्पृष्टो दोषो येषु तान्यक्षराणि येषु वचनेषु तैर्वचनैरिति विशेष्यमुन्नेयम्। क्षिणुथ = हिंस्थ। अधरोत्तरम्-अधरम् = हीनम् च तदुत्तरं चाधरोत्तरम्। स्वदोषज्ञानादिति भावः। ('अधरो दन्तवसनेऽनूर्ध्वे हीनेऽधरोऽन्यवत्' इति विश्वः) इति राघवभट्टाः।

टिप्पणी—अत्रभवती०—शकुन्तला के लिए यह शब्द व्यंग्यपूर्वक कहा गया है। इसका वास्तविक अभिप्राय है—भ्रष्टचरित्र इस स्त्री के कथन से ही आप लोग हमें दोषी ठहरा रहे हैं, यह ठीक नहीं है।

संयुत०—संयुताः दोषाः येषु तैः संयुतदोषैः बहुव्रीहिः, तादृशैः अक्षरैः, तत्पुरुषः। इसका अर्थ है—अनुचित वचनों से ॥

अन्वयः—यः, आ जन्मनः, शाठ्यम्, अशिक्षितः, तस्य, जनस्य, वचनम्, अप्रमाणम्, (तथा), यैः, परातिसन्धानम्, विद्या, इति, अधीयते, ते, किल, आप्तवाचः, सन्तु ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—यः = जिसने, आ जन्मनः = जन्म से लेकर आज तक, शाठ्यम् = धूर्तता को, अशिक्षितः = सीखा नहीं है, तस्य = उस, जनस्य = व्यक्ति का, वचनम् = वचन, अप्रमाणम् = अप्रामाणिक है; (तथा = और), यैः = जिनके द्वारा, परातिसन्धानम् = दूसरों

राजा—भोः सत्यवादिन्, अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम्। किं पुनरिमामतिसन्धाय लभ्यते ?

शार्ङ्गरवः—विनिपातः।

राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थ्यत इति न श्रद्धेयमेतत्।

शारद्वतः—शार्ङ्गरव, किमुत्तरेण। अनुष्ठितो गुरोः सन्देशः। प्रतिनिवर्तामहे वयम्। (राजानं प्रति)

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥२६॥

गौतमि, गच्छाग्रतः। (इति प्रस्थिताः।)

को धोखा देना, विद्या = विद्या, कला, इति = मानकर, अधीयते = सीखा जाता है; ते = वे, किल = संभवतः, आप्तवाचः = प्रामाणिक वचनवाले, सत्यवादी, सन्तु = हों, हैं ॥ २५ ॥

टीका—आ जन्मन इति। यः = यो जनः, आ जन्मनः = जन्मनः आरभ्य अद्य यावत्, शाठ्यम् = धूर्तताम्, अशिक्षितः = न पठितुमारब्धवान्, तस्य = तादृशस्य, जनस्य = व्यक्तेः, वचनम् = कथनम्, अप्रमाणम् = अप्रामाणिकम्, तथा = अपरञ्च, यैः = यैर्जनैः, परातिसन्धानम्—परस्य = अन्यस्य अतिसन्धानम् = वञ्चनम्, विद्येति = कलेति, विद्यारूपत्वेनेत्यर्थः, अधीयते = पठ्यते, ते = तादृशाः जना इत्यर्थः, किलेति संभावनायाम् ('किल शब्दस्तु वार्तायां संभाव्यानुनयार्थयोः' इति विश्वः) आप्तवाचः—आप्ता = प्रामाणिका वाक् = वचनम् येषां ते तादृशाः, सन्तु = भवन्तु। वनवासित्या अदृष्टकैतवायाः शकुन्तलायाः वचनं यदि कपटपूर्णमस्ति तर्हि किं सतताभ्यस्तछलस्य अनृतप्रवक्तुः तव वचनं प्रामाण्यपदवीमधिरोढुमर्हतीति प्रश्नाभिप्रायः। अप्रस्तुतप्रशंसा रूपकं चालङ्कारौ। 'शकुन्तला—सुष्ठु तावत्' इत्याद्येतदन्तेन द्रवो नामाङ्गमुपक्षिप्तम्। उपजातिर्वृत्तम् ॥ २५ ॥

टिप्पणी—आ जन्मनः—यह श्लोक व्यंग्य से भरपूर है। इसका भाव है कि कपट-वञ्चना के संसार से अपरिचित शकुन्तला का वचन ही प्रामाणिक है। दूसरों को ठगना और असत्य बोलना आप राजाओं का धर्म माना गया है। अतः आपका ही वचन मिथ्या है।

सामने स्थित शकुन्तला और दुष्यन्त के स्थान पर सामान्य रूप से कथन के कारण यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है। परातिसन्धान पर विद्या का अरोप किया गया है, अतः रूपक है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—उपजाति। छन्द का लक्षण—देखिये—१.१९ और २० ॥ २५ ॥

व्युत्पत्तिः—अशिक्षितः—अ + √शिक्ष + क्त + विभक्तिः। अतिसन्धानम्—अति + सम् + √धा + ल्युट् + विभक्त्यादिः ॥ २५ ॥

राजा—हे सत्यवादी, अच्छा, मानता हूँ कि ऐसा ही है (अर्थात् मैं ही झूठा हूँ)। किन्तु इस (स्त्री) को ठगकर क्या प्राप्त होगा (हमें) ?

शार्ङ्गरव—पतन (प्राप्त होगा)।

राजा—पुरुवंशी (अपना) पतन चाहते हैं—यह कथन विश्वास के योग्य नहीं है।

शारद्वत—शार्ङ्गरव, उत्तर (प्रत्युत्तर) से क्या लाभ ? गुरु का सन्देश कह दिया गया। हम लोग (अब) लौटते हैं। (राजा से)—

तो, यह आपकी पत्नी (हैं), इसको छोड़िये अथवा स्वीकार कीजिये। क्योंकि पत्नी पर (पति की) सब तरह की प्रभुता मानी गई है ॥ २६॥

गौतमी, चलो आगे-आगे।

(इस प्रकार सभी चल पड़े)

शब्दार्थः—अभ्युपगतम्=मानता हूँ, स्वीकार करता हूँ। अतिसन्धाय=ठगकर। विनिपातः=पतन। श्रद्धेयम्=विश्वास के योग्य ॥

टीका—राजेति। अभ्युपगतम्=स्वीकृतम्। अतिसन्धाय=प्रतार्य्य। विनिपातः= पतनम्, विध्वंस इत्यर्थः। श्रद्धेयम्=श्रद्धास्पदम्, विश्वास्यमित्यर्थः ॥

टिप्पणी—सत्यवादिन्—राजा का यह कथन उपहासगर्भित है।

विनिपातः—शार्ङ्गरव के कथन का अभिप्राय यह है कि एक भोली-भाली तरुणी को ठगने का पाप आपको भोगना ही पड़ेगा। उस पर यह लड़की मुनि कण्व की दुहिता है। इसके दुःख से मुनि का अन्तःकरण सन्तप्त होगा। इन सबका परिणाम तुम्हारे साथ तुम्हारे कुल को डुबा देने के अतिरिक्त भला और क्या होगा ?

व्युत्पत्तिः—अभ्युपगतम्—अभि+उप+√गम्+क्त+विभक्त्यादिः। अति-सन्धाय—अति+सम्+√धा+ल्यप् ॥

अन्वयः—तत्, एषा, भवतः, कान्ता, (अस्ति), एनाम्, त्यज, वा, गृहाण, वा, हि, दारेषु, (पत्युः), सर्वतोमुखी, प्रभुता, उपपन्ना ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—तत्=तो, एषा=यह, भवतः=आपकी, कान्ता=पत्नी, (अस्ति=है); एनाम्=इसको, त्यज=छोड़िये, वा=अथवा, गृहाण=स्वीकार कीजिये, वा=यह यहाँ पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है, हि=क्योंकि, दारेषु=पत्नी पर, (पत्युः=पतिकी), सर्वतोमुखी=सब तरह की, प्रभुता=प्रभुता, अधिकार, उपपन्ना=मानी गई है ॥ २६ ॥

टीका—तदिति। तत्=इत्युपसंहारे, एषा=इयम्, भवतः=श्रीमतस्तव, कान्ता= पत्नी, अस्तीति क्रियाध्याहारः, एनाम्=इमाम्, त्यज=परित्यागं कुरु, वा=अथवा, गृहाण=स्वीकुरु, वेति पादपूर्तौ, अर्थान्तरन्यासमाह—उपेति। हि=यतः, दारेषु= पत्न्याम्, पत्युरिति शेषः, सर्वतोमुखी=सर्वप्रकारा, त्यागे ताडने स्वीकारे दान इत्या-दीत्यर्थः, प्रभुता=स्वामित्वम्, उपपन्ना=युक्ता, स्वीकृता वा, तेन त्वं यथेच्छं कुर्विति भावः। अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २६ ॥

टिप्पणी—कान्ता—कान्ता का अर्थ है—प्रेम की गई स्त्री, प्रेयसी। गान्धर्व-विवाह प्रेम में अन्धा होकर किया जाता है। उस अवस्था की स्त्री या प्रेमिका को 'कान्ता' ही

शकुन्तला—कथमनेन कितवेन विप्रलब्धाऽस्मि? यूयमपि मां परित्यजथ? (इत्यनुप्रतिष्ठते) [कहं इमिणा किदवेण विप्पलद्ध म्हि? तुम्हे वि मं परिच्चअह?]

गौतमी—(स्थित्वा) वत्स शार्ङ्गरव, अनुगच्छतीयं खलु नः, करुणपरिदेविनी शकुन्तला। प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु? [वच्छ संगरव, अणुगच्छदि इअं क्खु णो करुणपरिदेविणी सउन्दला। पच्चादेसपरुसे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु?]

शार्ङ्गरवः—(सरोषं निवृत्य) किं पुरोभागे, स्वातन्त्र्यमवलम्बसे? (शकुन्तला भीता वेपते।)

शार्ङ्गरवः—शकुन्तले,

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥२७॥

तिष्ठ। साधयामो वयम्।

कहना अधिक उपयुक्त है। अग्नि को साक्षी बनाकर विवाहित स्त्री को पत्नी कहना समीचीन है। शारद्वत आदि आश्रमवासियों को इतना तो अवश्य ज्ञात था कि दुष्यन्त ने शकुन्तला से प्रेम-विवाह=गान्धर्व-विवाह किया है।

सर्वतोमुखी—इस कथन से कालिदास के समय में स्त्रियों की सामाजिक अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि के काल में स्त्रियों का अस्तित्व पुरुषों की कृपा, दया आदि पर निर्भर था। उनका अलग से कोई अस्तित्व न था।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है ॥ २६ ॥

व्युत्पत्तिः—कान्ता—√कम् + क्त + टाप् + विभक्त्यादिः। उपपन्ना—उप + √पद् + क्त + टाप् + विभक्त्यादिः। दारेषु—दारयन्ति = भेदयन्ति भ्रातॄन् इति—√दॄ + णिच् + घञ् कर्तरि + विभक्त्यादिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—कितवेन = धूर्त के द्वारा, विप्रलब्धा = ठगी गई। अनुप्रतिष्ठते = पीछे-पीछे चल देती है। अनुगच्छति = अनुगमन कर रही है, पीछे-पीछे आ रही है, करुणपरिदेविनी = हृदय पिघला देने वाला विलाप करती हुई। प्रत्यादेशपरुषे = तिरस्कार

शकुन्तला—अब क्या करूँ ? इस धूर्त के द्वारा ठगी गई हूँ। आप लोग भी (अब) मुझे छोड़ रहे हैं। (ऐसा कहकर उन लोगों के पीछे-पीछे चल देती है।)

गौतमी—(रुककर) बेटा शार्ङ्गरव, हृदय पिघलाने वाला विलाप करती हुई यह शकुन्तला हम लोगों के पीछे-पीछे आ रही है। पति के निष्ठुरतापूर्वक परित्याग कर देने पर मेरी प्यारी बिटिया (अब) क्या करे !

शार्ङ्गरव—(मुड़कर क्रोध के साथ) अरी ढीठ, क्या स्वातन्त्र्य का अवलम्बन कर रही हो ? (अर्थात् क्या मनमानी हो रही हो ?)

(शकुन्तला भय के मारे काँपती है)

शार्ङ्गरव—शकुन्तला, राजा जैसा कह रहे हैं, यदि तुम वैसी ही हो (तब) तुझ कुलटा से पिता का क्या (मतलब) ? और यदि अपने आचरण को पवित्र समझती हो (तो) पति-गृह में तुम्हारी दासता भी उचित है। (अतः यहीं रुको) ॥ २७ ॥

कर देने से अतिनिष्ठुर, अतिनिष्ठुरतापूर्वक तिरस्कार देने पर, पुत्रिका = प्यारी बिटिया, पुरोभागे = ढीठ, धृष्ट ॥

टीका—शकुन्तलेति। कितवेन = धूर्तेन, विप्रलब्धा = प्रतारिता, वञ्चितेति यावत्। अनुप्रतिष्ठते = अनुगच्छति। अनुगच्छति = अनुयाति, करुणपरिदेविनी—करुणम् = आर्तं यथा तथा परिदेवयते = विलपति इति तादृशी, ('विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः) प्रत्यादेशपरुषे—प्रत्यादेशेन = प्रत्याख्यानेन, तिरस्कारेणेत्यर्थः परुषे = निष्ठुरे, कठोरे इति यावत्, ('प्रत्यादेशो निराकृतिः' इत्यमरः) भर्तरि = पत्यौ, पुत्रिका = अनुकम्पनीया पुत्री। पुरोभागे = पुरः = अग्रे भजते = हठात् सेवते या सा पुरोभागा तत्सम्बुद्धौ, हे दोषदर्शिनि ॥

टिप्पणी—अनुप्रतिष्ठते—शकुन्तला को वहीं दुष्यन्त के समक्ष छोड़कर शारद्वत आदि आश्रम के लिए चल पड़े थे। शकुन्तला के सामने कोई मार्ग न था। अतः वह उन लोगों के पीछे-पीछे चल पड़ी ॥

व्युत्पत्तिः—विप्रलब्धा—वि + प्र + √लभ् + क्त + विभक्त्यादिः ॥

अन्वयः—शकुन्तले, क्षितिपः, यथा, वदति, यदि, त्वम्, तथा, असि, (तदा) उत्कुलया, त्वया, पितुः, किम्; अथ तु, आत्मनः, व्रतम्, शुचि, वेत्सि; (तर्हि) पतिकुले, तव, दास्यम्, अपि, क्षमम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—शकुन्तले = शकुन्तला, क्षितिपः = राजा, यथा = जैसा, वदति = कह रहे हैं, यदि = यदि, त्वम् = तुम, तथा = वैसी ही, असि = हो, (तदा = तब), उत्कुलया = कुलटा, त्वया = तुझसे, पितुः = पिता का, किम् = क्या (प्रयोजन) ? अथ तु = और यदि; आत्मनः = अपने, व्रतम् = व्रत को, आचरण को, शुचि = पवित्र, वेत्सि = समझती हो, (तर्हि = तो), पतिकुले = श्वसुरगृह में, तव = तुम्हारी, दास्यम् = चाकरी, दासता, अपि = भी, क्षमम् = उचित है ॥ २७ ॥

राजा—भोस्तपस्विन्, किमत्रभवतीं विप्रलभसे । कुतः

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव ।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥२८॥

शार्ङ्गरवः—यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद् विस्मृतो भवांस्तदा कथमधर्मभीरुः ?

राजा—(पुरोहितं प्रति) भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि ।

टीका—शार्ङ्गरवः शकुन्तलायाः पतिगृहवासमेव समर्थयति—यदीति। शकुन्तलेति गद्यादध्याहार्यम्, क्षितिपः=भूपालः, यथा=यत्, वदति=कथयति, यदि=चेत्, त्वम्=त्वं शकुन्तलेत्यर्थः, तथा=तेनैव रूपेण, असि=वर्तसे, तदेति शेषः, उत्कुलया—उत्=उत्क्रान्ता कुलात्=कुलमर्यादाया, कुलं वेति, तया, अतिक्रान्तकुलमर्यादयेर्थः, त्वया=शकुन्लयेत्यर्थः, पितुः=तातस्य कण्वस्येत्यर्थः, किम्=किं प्रयोजनम्, न किमपि प्रयोजनमिति भावः; अथ तु=अथ च, आत्मनः=स्वस्य, व्रतम्=नियमम्, शुचि=पवित्रम्, वेत्सि=जानासि, तर्हीति शेषः, पतिकुले-पत्युः=भर्तुः कुले=वंशे, तव=मम पुरतो वर्तमानायाः शकुन्तलायाः इत्यर्थः, दास्यम्=सेवाकर्म, अपि=च, क्षमम्=समीचीनम्। अतः आश्रमे तव पुनर्गमनं सर्वथाऽसमीचीनमिति भावः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः। अत्र प्ररोचनानामकं विमर्शसन्ध्यङ्गमस्ति । द्रुतविलम्वितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में शार्ङ्गरव ने दोनों वातों का उत्तर दे दिया है। उसका कथन है कि यदि तुम व्यभिचारिणी हो तो पिता के घर में, आश्रम में, जाना कथमपि उचित नहीं है। कोई भी पिता व्यभिचारिणी पुत्री को रखना पसन्द नहीं करता है। और यदि तुम अपने को सच्ची समझती हो तो भी वहाँ न जाकर पति-गृह में चाकरी करके पेट पालना अच्छा है।

यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार और द्रुतविलम्वित छन्द हैं। छन्द का लक्षण-'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' ॥२७॥

व्युत्पत्तिः—दास्यम्—√दा + ष्यञ् + विभक्तिः। क्षमम्—√क्षम्+ अच् + विभक्तिः ॥२७॥

अन्वयः—शशाङ्कः, कुमुदानि, एव, सविता, पङ्कजानि एव, बोधयति; हि, वशिनाम्, वृत्तिः, परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी, (भवति) ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—शशाङ्कः=चन्द्रमा, कुमुदानि=कुमुदों को, एव=ही, सविता=सूर्य, पङ्कजानि=कमलों को, एव=ही, बोधयति=खिलाता है; हि=क्योंकि, वशिनाम्=

राजा—हे तपस्वी, क्यों इन माननीया स्त्री को आप ठग रहे हैं ?

चन्द्रमा कुमुदों को ही तथा सूर्य कमलों को ही खिलाता है; क्योंकि जितेन्द्रियों की चित्तवृत्ति पराई स्त्री के संपर्क से विमुख (होती है) ॥ २८ ॥

शार्ङ्गरव—जब कि पहले की घटना को आप अन्य (कार्य या स्त्री) में आसक्त हो जाने से भूल गये हों तब अधर्म से डरने वाले कैसे कहे जा सकते हैं ?

राजा—(पुरोहित के प्रति) आपसे ही इस विषय में उचित-अनुचित पूछ रहा हूँ।

जितेंद्रियों की, वृत्तिः = चित्तवृत्ति, परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी = पराई स्त्री के आलिङ्गन से, संपर्क से विमुख, (भवति = होती है) ॥ २८ ॥

टीका—कुमुदानीति । शशाङ्कः = चन्द्रः, कुमुदानि = कैरवाणि, एव = नान्यदिति भावः, सविता = सूर्यः, पङ्कजानि = कमलानि, एव = नापराणीत्युभयत्रैवकारार्थः, बोधयति = विकासयति; हि = निश्चितम्, वशिनाम् = जितेन्द्रियाणाम्, वृत्तिः = वर्तनं चित्तवृत्तिर्वा, परपरिग्रहेति—परस्य = अन्यस्य परिग्रहः = आयत्तं वस्तु कलत्रं च तस्य श्लेषः = संपर्कः तस्मात् सम् = सम्यक् अतिशयेन पराङ्मुखी = निवर्तनशीला, '(परिग्रहः परिजने पत्न्याम्' इति विश्वः), भवतीति शेषः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसार्थान्तरन्यासतुल्ययोगिता चालङ्काराः । आर्या जातिः ॥ २८ ॥

टिप्पणी—विप्रलभसे—राजा के कहने का भाव यह है कि यदि आप यह सोचते हों कि अनुपम सुन्दरी शकुन्तला पर, आप लोगों के छोड़कर चले जाने के बाद, मैं आसक्त हो जाऊँगा । उसे अपने पास रख लूँगा । उससे प्यार करूँगा । उसके सौन्दर्य के जादू से मोहित हो जाऊँगा । तो यह सब भ्रम है । मैं सर्वदा परस्त्री से दूर रहने वाला व्यक्ति हूँ । उन्हें यहाँ छोड़कर आप धोखा दे रहे हैं ।

कुमुदान्येव—चाँदनी छिटने पर शरद् ऋतु की शुभ्र रातों में कुमुदिनी खिलती है, कमलिनी नहीं । सूर्य की प्रभा के फैलने पर केवल कमलिनी विकसित होती है, कुमुदिनी नहीं । इसका कारण है—जिसका जिससे सम्बन्ध है, वह उसी को प्रसन्न करता है, औरों को नहीं । यही है 'एव' का अभिप्राय ।

यहाँ पर शकुन्तला और दुष्यन्त के स्थान पर कुमुद शशाङ्क आदि का उल्लेख होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है । उत्तरार्ध के द्वारा पूर्वार्ध का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है । शशाङ्क और सविता—दोनों ही—अप्रस्तुत हैं । दोनों के बोधयति इस एक क्रिया से सम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता अलङ्कार है ।

यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम आर्या है । लक्षण के लिए देखिये—१—२, ३, १३ ॥ २८ ॥

व्युत्पत्तिः—वृत्तिः—√वृत् + क्तिन् + विभक्तिकार्यम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—पूर्ववृत्तम् = पहले की घटना को, अन्यसङ्गात् = अन्य (कार्य या स्त्री) में आसक्त हो जाने से, अधर्मभीरुः = अधर्म से डरने वाले । अत्र = इस विषय में, गुरुलाघवम् = उचित-अनुचित को ॥

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये ।
दारत्यागी भवास्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ॥२९॥

पुरोहितः--(विचार्य) यदि तावदेवं क्रियताम् ।

राजा--अनुशास्तु मां भवान् ।

पुरोहितः--अत्रभवती तावदा प्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु । कुत इदमुच्यते इति चेत्--त्वं साधुभिरादिष्टपूर्वः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति । स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति, अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि । विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयनमवस्थितमेव ।

राजा--यथा गुरुभ्यो रोचते ।

पुरोहितः--वत्से, अनुगच्छ माम् ।

टीका—शार्ङ्गरव इति । पूर्ववृत्तम्=पूर्वघटितां घटनाम्, अन्यसङ्गात्—अन्यस्मिन्=परस्मिन् कार्ये कलत्रे वा सङ्गात्=व्यापृतत्वात्, अधर्मभीरुः—अधर्मात्=पापात् परस्त्रीसंसर्गजनिताधर्मात् भीरुः=भयशीलः, अत्र=अस्मिन् विषये, ग्रहणे परित्यागे वेत्यर्थः, गुरुलाघवम्=उचितमनुचितञ्चेत्यर्थः ॥

टिप्पणी—अन्यसङ्गवत्—इसका दो अर्थ हो सकता है—(१) किसी सुन्दरी में आसक्त होने के कारण अथवा (२) किसी राजकार्य में अधिक फँस जाने के कारण। इसका एक तीसरा अर्थ भी हो सकता है——किसी शाप आदि के कारण विस्मृत हो जाने से ॥

गुरुलाघवम्—गुरु=अच्छा, उचित, लघु = बुरा, अनुचित । 'गुरुलाघवम्' यह प्रयोग पाणिनिव्याकरण संमत नहीं है फिर भी पतञ्जलि आदि ने इसका प्रयोग किया है। अतः इसका भी प्रयोग चलता है । गुरु च लघु च, गुरुलघु, विप्रतिषिद्धं० (पा०२-४-१३) से एकवचन । गुरुलघुनोः भावः ऐसा विग्रह करके अण् प्रत्यय करने पर 'गौरुलघवम्' यह रूप बनता । परन्तु भाष्य में प्रयोग के कारण 'उत्तरपद' को ही वृद्धि होती है, पूर्व को नहीं । इसका प्रयोग आर्ष ग्रन्थों में इस प्रकार मिलता है—'पर्यायशब्दानां गुरुलाघवचिन्ता नास्ति ।' (महाभाष्य) । 'विमृश्य गुरुलाघवम्' (रामायण ४।२।४, ४-३२-२), और 'आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम्' (मनु० ६।२९९) इत्यादि।

व्युत्पत्तिः—वृत्तम्—√वृत्+क्त+विभक्तिः । विस्मृतः—वि+√स्मृ+क्त+विभक्तिः ॥

अन्वयः—अहम्, मूढः, स्याम्, वा, एषा, मिथ्या, वदेत्, इति, संशये, दारत्यागी,

मैं विवेकहीन हो रहा हूँ, अथवा यह स्त्री असत्य भाषण कर रही है—इस प्रकार के सन्देह में स्त्री-परित्यागी बनूँ अथवा पराई स्त्री के स्पर्श से दूषित (बनूँ) ॥ २९ ॥

पुरोहित—(विचारकर) यदि यह बात है तो ऐसा कीजिए।

राजा—आप मुझे (कर्त्तव्य के लिए) आदेश दें।

पुरोहित—यह श्रीमती प्रसव होने तक हमारे घर में ठहरें। यदि यह पूछा जाय कि क्यों ? तो इस पर मेरा उत्तर है—'साधु जनों (ज्योतिषियों) ने पहले से ही आपको आदेश दिया है कि—'आप पहले ही चक्रवर्ती पुत्र पैदा करेंगे।' अब यदि मुनि (कण्व) का नाती चक्रवर्ती के लक्षण से युक्त होगा तो अभिनन्दन करके इस स्त्री को अन्तःपुर में प्रवेश कराइयेगा। और ऐसा नहीं हुआ तो इनका अपने पिता (कण्व) के पास जाना निश्चित ही है।

राजा—जैसा गुरुजन को अभीष्ट है (वैसा होगा)।

पुरोहित—बेटी, मेरे पीछे-पीछे आओ।

भवामि, आहो, परस्त्रीस्पर्शपांसुलः, (भवामि) ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—अहम् = मैं, मूढः = विवेकहीन, स्याम् = हो रहा हूँ; वा = अथवा, एषा = यह स्त्री, मिथ्या = असत्य, वदेत् = भाषण कर रही है, इति = इस प्रकार के, संशये = सन्देह में, दारत्यागी = स्त्री-परित्यागी, भवामि = बनूँ, आहो = अथवा, परस्त्रीस्पर्शपांसुलः = पराई स्त्री के स्पर्श से दूषित, (भवामि = बनूँ) ॥ २९ ॥

टीका—मूढ इति। अहम् = तव यजमानो दुष्यन्तः, मूढः = विवेकहीनः, स्याम् = भवेयम्; वा = अथवा, एषा = इयं स्त्री, मिथ्या = असत्यम्, वदेत् = भाषेत्, इति = इत्थम्, संशये = सन्देहे सति, दारत्यागी = पत्नी-परित्यागी, भवामि, आहो = अथवा, परस्त्रीस्पर्शपांसुलः—परस्त्रीस्पर्शेन = परकलत्रभोगेन पांसुलः = पुंश्चलः, पातकयुक्त इत्यर्थः, ('पांसुलः पुंश्चलः' इति विश्वः) भवामीति शेषः। राजा = भो सत्यवादिन्, इत्यादिनैतदन्तेन विरोधनामकमङ्गमस्ति। अनुष्टुप् छन्दः ॥ २९ ॥

टिप्पणी—दारत्यागी—राजा के कहने का भाव यह है कि यदि मैं विवेकहीन हो गया हूँ, इसके साथ किये गये विवाह का स्मरण नहीं कर रहा हूँ, तो इसे ग्रहण भी नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में पत्नी के परित्याग का पातक लगेगा। यदि मैंने इसके साथ विवाह किया हो तो। और यदि विवाह न किया हो और इसे पत्नी बनाकर रख लूँ तो परस्त्री के छूने का पातक लगेगा। अतः आप ही बतलाइये कि ऐसी स्थिति में क्या करना है ?

इसमें अनुष्टुप् छन्द है ॥ २९ ॥

व्युत्पत्तिः—मूढः—√मुह् + क्त + विभक्तिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—अनुशास्तु = आदेश दें। आ प्रसवात् = प्रसव होने तक। आदिष्टपूर्वः = पहले से ही आदेश दिये गये हो, पहले से ही बतलाये गये हो। मुनिदौहित्रः = मुनि (कण्व) का नाती, अभिनन्द्य = आदरपूर्वक, अभिनन्दन करके, शुद्धान्तम् = रनिवास में,

शकुन्तला—भगवति वसुधे, देहि मे विवरम्। [भअवदि वसुहे, देहि मे विवरं।]

(इति रुदती प्रस्थिता। निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च)

(राजा शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति।)

(नेपथ्ये)

आश्चर्यमाश्चर्यम्।

राजा—(आकर्ण्य) किं नु खलु स्यात्?

(प्रविश्य)

पुरोहितः—(सविस्मयम्) देव, अद्भुतं खलु संवृत्तम्।

राजा—किमिव?

पुरोहितः—देव, परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु—

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला
बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।

राजा—किं च?

पुरोहितः—

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारा-
दुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम॥३०॥

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति)

अन्तःपुर में॥

टीका—राजेति। अनुशास्तु=उपदिशतु। आ प्रसवात्=सन्तानोत्पत्तिं यावत्, आदिष्टपूर्वः—पूर्वम्=प्रथमेव आदिष्टः=कथित इति आदिष्टपूर्वः=पूर्वकालादेव कथितः। मुनिदौहित्रः—मुनेः=ऋषेः कण्वस्य दौहित्रः=पुत्रिसुतः, अभिनन्द्य=सादरं सत्कृत्य, शुद्धान्तम्=अन्तःपुरम्॥

टिप्पणी—आदिष्टपूर्वः—दुष्यन्त की जन्मकुण्डली और हथेली की रेखाओं को देखकर ज्योतिषियों ने बतलाया था कि—आपका पहला पुत्र होगा। वह चक्रवर्ती होगा।

तल्लक्षणोपेतः—चक्रवर्ती की हथेलियों तथा पैर के तलवों में वज्र, चक्र, कमल तथा शंख आदि के निशान होते हैं। ये ही चक्रवर्ती के लक्षण हैं।

व्युत्पत्तिः—अवस्थितम्—अव+√स्था+क्त+विभक्तिः॥

टिप्पणी—देहि मे विवरम्—आज भी स्त्रियाँ अत्यन्त दुःख की अवस्था में यह

शकुन्तला—भगवती पृथिवी मुझे अपने अन्दर स्थान दे। (इस प्रकार रोती हुई प्रस्थान करती है। पुरोहित तथा तपस्वियों के साथ वहाँ से चली गई)।

(शाप के कारण लुप्त स्मृतिवाला राजा शकुन्तला के ही विषय में सोचता रहता है।)

(पर्दे के पीछे)

आश्चर्य है! आश्चर्य है!

राजा—(सुनकर) अरे! क्या बात हो सकती है?

(प्रवेश करके)

पुरोहित—(आश्चर्यपूर्वक) महाराज, बड़े आश्चर्य की बात हो गई।

राजा—कैसी ?

पुरोहित—कण्व के शिष्यों के लौट जाने पर—

वह तरुणी अपने भाग्य को कोसती हुई हाथ उठाकर रोना आरम्भ की।

राजा—फिर क्या (हुआ) ?

पुरोहित—अप्सरातीर्थ (शचीतीर्थ) के पास स्त्री के आकार-प्रकार की एक ज्योति इसको उठाकर चली गई (अदृश्य हो गई) ॥ ३० ॥

(सभी आश्चर्य का अभिनय करते हैं)

कहती सुनी जाती हैं—'पृथिवी फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ।' ऐसा विचार अत्यन्त लज्जा की अवस्था में भी लोगों में आता है।

शापव्यवहित०—राजा को शकुन्तला के साथ गान्धर्व-विवाह की बात याद थी, किन्तु इस पर शाप के कारण विस्मरण का पर्दा पड़ा था॥

अन्वयः—सा, बाला, स्वानि, भाग्यानि, निन्दन्ती, बाहूत्क्षेपम्, क्रन्दितुम्, प्रवृत्ता, च, अप्सरस्तीर्थम्, आरात्, स्त्रीसंस्थानम्, एकम्, ज्योतिः, एनाम्, उत्क्षिप्य, जगाम च ॥ ३० ॥

शब्दार्थः—सा=वह, बाला=तरुणी, स्वानि=अपने, भाग्यानि=भाग्य को, निन्दन्ती=कोसती हुई, बाहूत्क्षेपम्=हाथ उठाकर, क्रन्दितुम्=रोने के लिए, रोना, प्रवृत्ता=प्रवृत्त हुई, आरम्भ की। च=यह पादपूर्ति के लिए है। अप्सरस्तीर्थम्=अप्सरा तीर्थ (शचीतीर्थ) के, आरात्=पास, स्त्रीसंस्थानम्=स्त्री के आकार-प्रकार की, एकम्=एक, ज्योतिः=ज्योति, चमक, एनाम्=इसको, उत्क्षिप्य=उठाकर, जगाम=चली गई ॥ ३० ॥

टीका—सा निन्दन्तीति। सा=त्वया साक्षात्कृता सेत्यर्थः, बाला=तरुणी, स्वानि=स्वकीयानि, भाग्यानि=अदृष्टानि, निन्दन्ती=अधिक्षिपन्ती, बाहूत्क्षेपम्—बाह्वोः=भुजयोः उत्क्षेपः=उर्ध्वानयनम् यस्मिन् तत् यथा स्यात्तथा, क्रियाविशेषणम्, क्रन्दितुम्=रोदितुम्, प्रवृत्ता=आरब्धवती, च; अप्सरस्तीर्थम्=शचीतीर्थम्, आरात्=समीपे, स्त्रीसंस्थानम्—स्त्रियाः=ललनायाः संस्थानम्=आकृतिरिव संस्थानम्=आकृतिः यस्य तथाविधम्,

राजा—भगवन्, प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव। किं वृथा तर्केणान्विष्यते विश्राम्यतु भवान्।

पुरोहितः—(विलोक्य) विजयस्व।

(इति निष्क्रान्तः।)

राजा—वेत्रवति, पर्याकुलोऽस्मि। शयनभूमिमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इत इतो देवः। [इदो, इदो देवो।]

(इति प्रस्थिता।)

राजा—

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मां हृदयम् ॥३१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

॥ पञ्चमोऽङ्कः ॥

एकम्=एकसंख्याविशिष्टम्, ज्योतिः=तेजः, एनाम्=मामनुगच्छन्तीं बालामित्यर्थः, उत्क्षिप्य=उत्थाप्य, जगाम=अदृष्टा जातेत्यर्थः। देवेन नीतापि स्त्र्याकारेणैवेति पर[illegible] षासंस्पर्शित्वं ध्वनितमित्यर्थद्योतनिकेति। अत्र समुच्चय उपमा चालङ्कारौ। शक्ति[illegible] विमर्शसन्ध्यङ्गं चास्ति। शालिनी छन्दः॥ ३०॥

टिप्पणी—आरात्—'आरात्' का अर्थ होता है—दूर, समीप ('आराद् दूर-समीपयोः' इत्यमरः)। अतः राघवभट्ट ने उक्त अर्थ के साथ ही एक दूसरा अर्थ दिया है—एक तेजोमयी मूर्ति दूर से ही शकुन्तला को उठाकर शचीतीर्थ को चली गई। किन्तु नाटक के अंतिम अङ्क में मरीच के कथन 'यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्' से ऊपर दिये गये अर्थ का ही समर्थन होता है। अतः वही सरल और उचित अर्थ है।

जगाम—तिरोहित हो गई। परोक्ष लिट् का यह प्रयोग यहाँ न होकर यदि 'तिरोऽभूत्' होता तो अधिक समीचीन था। कुछ पाण्डुलिपियों में यही पाठ स्वीकार किया गया है।

यहाँ दो च से क्रियाओं का संग्रह है। अतः समुच्चय अलङ्कार है। 'स्त्रीसंस्थानम्' में लुप्तोपमा है। नेपथ्ये से लेकर यहाँ तक विरोध की शान्ति होने से शक्ति दा[illegible] विमर्श सन्धि का अंग है। यहाँ अद्भुत रस की सत्ता है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—शालिनी। लक्षण:—'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' ॥ ३०॥

व्युत्पत्तिः—बाहूत्क्षेपम्—बाहु + उत् + √क्षिप् + णमुल् (अम्) + विभक्ति[illegible] उत्क्षिप्य—उत् + √क्षिप् + ल्यप् ॥ ३०॥

अन्वयः—कामम्, प्रत्यादिष्टाम्, मुनेः, तनयाम्, परिग्रहम्, न, स्मरामि; तु, बलवत्, दूयमानम्, हृदयम्, माम्, प्रत्याययति इव ॥ ३१॥

राजा—भगवन्, पहले भी हम लोगों के द्वारा वह (शकुन्तलारूप) वस्तु ठुकरा ही दी गई थी। (अब) व्यर्थ तर्क-वितर्क से उसे क्यों खोज रहे हैं? आप आराम करें।

पुरोहित—(ध्यान से देखकर) विजयी बनें। (ऐसा कहकर निकल गया)

राजा—वेत्रवती, मैं व्याकुल हो गया हूँ। (अतः) शयनगृह का मार्ग बतलाओ।

प्रतीहारी—महाराज, इधर से, इधर से (आवें)।

(ऐसा कहती हुई चल पड़ती है)

राजा—यद्यपि तिरस्कृत की गई मुनि (कण्व) की पुत्री (शकुन्तला) को (अपनी) पत्नी के रूप में (ग्रहण करने की बात को) नहीं स्मरण कर पा रहा हूँ, तथापि अत्यधिक खिन्न होता हुआ (मेरा) हृदय विश्वास-सा दिला रहा है (कि वह मेरी पत्नी ही है)॥ ३१॥

(इस प्रकार सभी निकल गये)

॥ पञ्चम अङ्क समाप्त ॥

शब्दार्थः—कामम्=यद्यपि, प्रत्यादिष्टाम्=तिरस्कृत की गई, मुनेः=मुनि (कण्व) की, तनयाम्=पुत्री को, परिग्रहम्=(अपनी) पत्नी के रूप में, न=नहीं, स्मरामि=स्मरण कर पा रहा हूँ; तु=तथापि, बलवत्=अत्यधिक, दूयमानम्=खिन्न होता हुआ, हृदयम्=(मेरा) हृदय, प्रत्याययति इव=विश्वास-सा दिला रहा है॥ ३१॥

टीका—काममिति। कामम्=यद्यपि, स्वीकृतिबोधकमव्ययमिति वा, काममतिशयेनेति राघवभट्टाः, प्रत्यादिष्टाम्=निराकृताम्, मुनेः=महर्षेः कण्वस्य, तनयाम्=पुत्रीं शकुन्तलामित्यर्थः, परिग्रहम्=पत्नीम्, न स्मरामि=न विभावयामि; तु=तथापि, पुनः वा, बलवत्=अधिकम्, दूयमानम्=पीडयमानम्, हृदयम्=अन्तःकरणम्, माम्=प्रत्याख्यातारं दुष्यन्तमित्यर्थः, प्रत्याययति इव=विश्वासमुत्पादयतीवेत्युत्प्रेक्षा। शकुन्तला मया परिणीतपूर्वेति मे चेतः स्वीकरोतीति भावः। अत्रोत्प्रेक्षा विभावनाऽनुमानं चालङ्काराः। प्रसङ्गनामकं विमर्शसन्ध्यङ्गं चास्ति। आर्या जातिश्च छन्दः॥ ३१॥

॥ इति रमाशङ्करत्रिपाठिविरचितायामभिज्ञानशाकुन्तलव्याख्यायां रमाख्यायां पञ्चमोऽङ्कः समाप्तः॥

टिप्पणीः—प्रत्याययति—शकुन्तला गायब हो गई है। कण्व के शिष्य वापस जा चुके हैं। किन्तु राजा का मन रह-रहकर उन्हें धिक्कार रहा है। कह रहा है—राजा तुमने अन्याय किया है। वह तुम्हारी परिणीता पत्नी है। आदि आदि।

यहाँ प्रत्याययतीव में इव के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। पीडा का कारण स्मरण है। किन्तु यहाँ स्मरण के न होने पर भी पीडा हो रही है। अतः विभावना अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या जाति। लक्षण के लिए देखिये—१।२, ३।१३॥ ३१॥

व्युत्पत्तिः—प्रत्यादिष्टाम्—प्रति+आ+√दिश्+क्त+टाप्+विभक्तिः। परिग्रहम्—परिगृह्यते इति—परि+√ग्रह्+अप् कर्मणि+विभक्तिः। प्रत्याययति—प्रति+√इ+णिच्+लट् ति॥ ३१॥

॥ समाप्तोऽयं पञ्चमोऽङ्कः॥

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद् बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च।)

रक्षिणौ—(ताडयित्वा) अरे कुम्भीरक, कथय कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमङ्गुलीयकं, समासादितम्? [अले कुम्भीलआ, कहेहि कहिं तुए एशे मणिबन्धणुक्किण्णणामहेए लाअकीअए अंगुलीअए शमाशादिए?]

पुरुषः—(भीतिनाटितकेन) प्रसीदन्तु भावमिश्राः, अहं नेदृशकर्मकारी। [पशीदन्तु भावमिश्शे। हगे ण ईदिशकम्मकाली।]

प्रथमः—किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः? [किं शोहणे बम्हणेत्ति कलिअ रण्णा पडिग्गहे दिण्णे?]

पुरुषः—शृणुतेदानीम्। अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः। [शुणध दाणिं। हगे शक्कावदालब्भंतरालवाशी धीवले।]

द्वितीयः—पाटच्चर, किमस्माभिर्जातिः पृष्टा? [पाडच्चला, किं अम्हेहिं जादी पुच्छिदा?]

शब्दार्थः—नागरिकः=नगर की रक्षा में नियुक्त, श्यालः=साला, राजा का साला, रक्षिणौ=दो सिपाही। कुम्भीरक=चोर, मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयम्=जड़ी हुई मणि पर खुदे हुए (राजा के) नाम से युक्त, अङ्गुलीयकम्=अंगूठी। भीतिनाटितकेन=भय का अभिनय करता हुआ, भावमिश्राः=मान्य आप लोग।

टीका—ततः प्रविशतीति। नागरिकः—नगरं रक्षति अथवा नगरे नियुक्तः इति नागरिकः=नगररक्षाधिकृतः, श्यालः=राजश्यालः, कोष्ठपाल इति यावत्, रक्षिणौ=प्रहरिणौ। कुम्भीरक=चोर, ('कुम्भीरको गण्डपदस्तस्करश्च मलिम्लुचः' इति नाममाला) मणिबन्धनेत्यादिः—मणेः=रत्नस्य बन्धनम्=सुवर्णेन प्रत्युप्तीकरणम्

षष्ठ अङ्क

(तदनन्तर नगर की रक्षा में नियुक्त राजा के साले तथा उनके पीछे बँधे हुए एक पुरुष को लिये हुए दो सिपाही प्रवेश करते हैं।)

दोनों सिपाही— (पीटकर) अरे चोर, बतलाओ जड़ी हुई मणि पर खुदे हुए नाम से युक्त यह राजा की अँगूठी तूने कहाँ पाई ?

पुरुष— (भय का अभिनय करता हुआ) आदरणीय आप लोग प्रसन्न हों, मैं ऐसे कार्य को नहीं करता।

पहला सिपाही—तो क्या 'तुम उत्तम ब्राह्मण हो' ऐसा सोचकर राजा के द्वारा (तुम्हें) दान दिया गया है ?

पुरुष—अब सुनें (जरा), मैं शक्रावतार नामक (तीर्थ) में रहने वाला मल्लाह हूँ।

दूसरा सिपाही—चोर, क्या हम लोगों के द्वारा जाति पूछी जा रही है ?

उत्कीर्णम्=व्यक्तीकृतम् नामधेयम्=नामाक्षराणीत्यर्थः यत्र तत्तथा, अङ्गुलीयकम्=अङ्गुलिमुद्रा। भीतिनाटितकेन—भीतेः=भयस्य नाटितम्=अभिनयः, भावेक्तः, तदेव भीतिनाटितकम्, स्वार्थे कन्, तेन सह, भावमिश्राः=मान्याः भवन्तः। 'मान्यो भावस्तु वक्तव्यः' इत्युक्तेर्भावेति संबोधनम्। असौ नीचः सुतरां ग्रामीण इति तेन 'मिश्र-पदं गौरवार्थमुक्तम्।' इति राघवभट्टाः॥

टिप्पणी—नागरिकः—नगर की रक्षा में नियुक्त अधिकारी। इसे कोष्ठपाल (कोतवाल) कहते थे। यह राजा का साला होता था। अतः 'श्याल' भी कहा जाता था। राष्ट्रीय भी इसे कहते थे। इसे ही कहीं-कहीं शकार भी लिखते हैं। शकारी बोली बोलने के कारण इसे शकार कहते थे।

कुम्भीरकः—चोर को कुम्भीरक भी कहते हैं। इस शब्द की निष्पत्ति दो तरह से होती है (१)—कु=पृथिवी (लक्षणा से दीवार) भिद्=तोड़ने वाला। यह शब्द निपातन से बनता है। (२) कुम्भीरक का अभिधेय अर्थ मगर है। उसके चोरी से प्राणियों को पकड़ने के कारण ही समान आचरण वाले चोर को भी कुम्भीरक कहते हैं।

मणिबन्धन०—सुवर्ण की अँगूठी में एक बहुमूल्य मणि जड़ा हुआ था। उसी मणि पर ही राजा का नाम खुदा हुआ था। प्राचीन काल में इस तरह की अँगूठी से मुहर लगाने का भी काम लिया जाता था।

व्युत्पत्तिः—नागरिकः—नगर+ठक् (इक्)+विभक्तिः।

रक्षिणी—√रक्ष्+णिनिः+विभक्त्यादिकार्यम्॥

शब्दार्थः—शोभनः=उत्तम; कुलीन, कलयित्वा=मानकर, प्रतिग्रहः=दान।

श्यालः—सूचक, कथयतु सर्वमनुक्रमेण। मैनमन्तरा प्रतिबधान। [सूअअ, कहेदु शव्वं अणुक्कमेण। मा णं अन्तरा पडिबन्धह।]

उभौ—यदावुत्त आज्ञापयति। कथय। [जं आवुत्ते आणवेदि। कहेहि।]

पुरुषः—अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि। [अहके जालुग्गालादिहिं मच्छबन्धनोवाएहिं कुडुम्बभलणं कलेमि।]

श्यालः—(विहस्य) विशुद्ध इदानीमाजीवः। [विसुद्धो दाणिं आजीवो।]

पुरुषः—

सहजं किल यद् विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥१॥
[शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकम्पामिदु एव्व शोत्तिए॥]

धीवरः=मल्लाह। पाटच्चर=चोर। प्रतिवधान=रोको, टोको॥

टीका—प्रथम इति। शोभनः=कुलीनः, उत्तमः, कलयित्वा=ज्ञात्वा; प्रतिग्रहः=दानम्। किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्त इति सोपहासम्। धीवरः=मत्स्यजीवी। पाटच्चर-पाटयन्=विदारयन् चरति=भ्रमतीति पाटच्चरः=चौरः तत्सम्बुद्धौ। प्रतिबधान=मैनं मध्ये प्रतिबन्धय॥

श्यालः—इसे कहीं राजश्याल, कहीं राष्ट्रीय और कहीं राष्ट्रीय श्याल कहा जाता था। मृच्छकटिक में इसे ही शकार कहा गया है, क्योंकि यह शकारी भाषा बोलता था।

आवुत्त—इसका शाब्दिक अर्थ है— जीजा जी, बहन के पति जी, किन्तु प्राचीन काल में लोग अपने बड़े अधिकारी को भी आवुत्त ही कहा करते थे। इसका कारण यह था कि प्राचीन काल में राजाओं की कई रखैल स्त्रियाँ हुआ करती थीं। इनके भाई आदि को प्रधान राजकीय पदों पर रक्खा जाता था। उनके भी साले आदि उनके अन्दर कार्य किया करते थे। ये सभी राजा को या बड़े अधिकारी को जीजा (आवुत्त) कहा करते थे। धीरे-धीरे बाद में यह शब्द केवल आदर का सूचक बन गया और व्यक्ति अधिकारियों को आवुत्त ही कहने लगे।

श्याल—सूचक, कहने दो सब क्रमशः। इसे बीच में मत टोको।

दोनों सिपाही—श्रीमान् जी, जैसी आपकी आज्ञा। (धीवर तू) कह।

पुरुष—मैं जाल—काँटा (वंशी) आदि मछली फँसाने के उपायों से परिवार का भरण-पोषण करता हूँ।

कोतवाल—(जोर से हँसकर) वस्तुतः बड़ी पवित्र आजीविका है।

पुरुष—निन्दित (भी) जो काम वस्तुतः वंश-परम्परा से चला आ रहा है, उसको निश्चय ही नहीं छोड़ना चाहिए। (यज्ञ में) पशुओं के हत्या रूपी कर्म में क्रूर वेदपाठी (वस्तुतः) कृपा से कोमल हृदयवाला ही (हुआ करता है)॥ १॥

सूचक—सूचक यह एक सिपाही का नाम है।

व्युत्पत्तिः—दत्तः—√दा + क्त + विभक्त्यादिः। पाटच्चरः—पाटयन् = विदारयन् चरतीति पाटच्चरः पृषोदरादित्वात्साधुः॥

शब्दार्थः—जालोद्गालादिभिः = जाल—काँटा (वंशी) आदि, मत्स्यबन्धनोपायैः = मछली फँसाने के उपायों से, कुटुम्बभरणम् = परिवार का भरण-पोषण, करोमि = करता हूँ। विशुद्धः = बड़ा पवित्र, आजीवः = आजीविका, जीने का साधन॥

टीका—पुरुष इति। जालोद्गालादिभिः—जालानि = आनायाश्च, उद्गालाश्च = बडिशानि चेति जालोद्गालम्, समाहारद्वन्द्वः, जातिरप्राणिनाम् (२।४।६) इत्यनेनैकवचनम्, जालोद्गालम् आदिः येषां तैः; मत्स्यबन्धनोपायैः—मत्स्यानाम् = मीनानाम् बन्धनस्य = ग्रहणस्य उपायैः = साधनैः, कुटुम्बभरणम्—कुटुम्बस्य = परिवारस्य, भरणम् = पालनम्, करोमि = विदधामि। विशुद्धः = पवित्रः, आजीवः = जीविका, जीवनोपायः, उपहास एषः। हिंसादिभिर्दुष्ट आजीव इत्यर्थः। पुरा हिंसाजीविका समाजे विनिन्दिताऽऽसीदित्यर्थः॥

टिप्पणी—विशुद्धः—यह कथन व्यङ्ग्यपूर्ण है। प्राचीन काल में जीवहिंसा करके जीविका चलाने वाली जातियाँ निन्दित समझी जाती थीं।

व्युत्पत्तिः—उद्गाल—उद् + √गृ + घञ् (अ) + वैकल्पिकः लकारः॥

अन्वयः—विनिन्दितम्, (अपि), यत्, कर्म, किल, सहजम्, तत्, खलु, न, विवर्जनीयम्; पशुमारणकर्मदारुणः, श्रोत्रियः, (वस्तुतः), अनुकम्पामृदुः, एव, (भवति)॥ १॥

शब्दार्थः—विनिन्दितम् = निन्दित, (अपि = भी), यत् = जो, कर्म = काम, किल = वस्तुतः, सहजम् = स्वाभाविक है, वंश-परम्परा से चला आ रहा है, तत् = उसको, खलु = निश्चय ही, न = नहीं, विवर्जनीयम् = छोड़ना चाहिए। पशुमारणकर्मदारुणः = (यज्ञ में) पशुओं के हत्या रूपी कर्म में क्रूर, श्रोत्रियः = वेदपाठी, (वस्तुतः = वास्तव में), अनुकम्पामृदुः = कृपा से कोमल हृदय वाला, एव = ही, (भवति = हुआ करता है)॥ १॥

श्यालः—ततस्ततः ? [तदो तदो ?]

पुरुषः—एकस्मिन् दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत् । तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयाय दर्शयन् गृहीतो भावमिश्रैः । मारयत वा मुञ्च वा । अयमस्यागमवृत्तान्तः । [एक्कश्शि दिअशे खण्डशो लोहिअमच्छे मए कप्पिदे जाव । तश्श उदलब्भन्तले एदं लदणभाशुलं अंगुलीअअं देक्खिअ पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअंते गहिदे भावमिश्शेहिं । मालेह वा मुंचेह वा । अअं शे आअमवुत्तंते ।]

श्यालः—जानुक, विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम् । अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम् । राजकुलमेव गच्छामः । [जाणुअ, विस्सगन्धी गोहादी मच्छबन्धो एव्व णिस्संअअं । अंगुलीअअदंसणं से विमरिसिदव्वं । राअउलं एव्व गच्छामो ।]

रक्षिणौ—तथा । गच्छ अरे गण्डभेदक । [तह । गच्छ अले गंडभेदअ ।]

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

टीका—सहजमिति । विनिन्दितम् = गर्ह्यम्, अपि, यत् कर्म = यत्कार्यं, किल = वस्तुतः, सहजम् = जन्मना सह जातम्, कुलक्रमागतमेवेत्यर्थः, तत् = तादृशं कर्मेत्यर्थः, न विवर्जनीयम् = नैव परित्याज्यम्; "येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः । तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न दूष्यति ।" इति शास्त्रवचनादिति भावः । पशुमारणकर्मदारुणः—पशुमारणकर्मणा = यज्ञकर्मणि पशुवधकार्येण, श्रोत्रियः = वेदविद् ब्राह्मणः, (श्रोत्रियच्छान्दसौ समावित्यमरः), वस्तुतः इति शेषः, खल्वितिदार्ढ्यें, अनुकम्पामृदुः—अनुकम्पया = दयया मृदुः = कोमलः, एव भवतीति । अत्रार्थान्तरन्यासोऽप्रस्तुतप्रशंसा विषमं चालंकाराः । सुन्दरी वृत्तम् ॥ १ ॥

टिप्पणी—सहजम्—यहाँ श्रीमद्भगवद्गीता की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है—'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' । (गीता १८।४८) तथा 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥' (गीता ३।३५) तथा गीता १८।४७ भी ।

इस श्लोक से यह प्रतीत होता है कि कालिदास के काल में यज्ञों में पशुबलि

कोतवाल—उसके वाद, उसके बाद (क्या हुआ)?

पुरुष—एक दिन एक रोहू मछली मेरे द्वारा टुकड़े-टुकड़े की गई। उसके पेट के भीतर रत्न से चमकती हुई यह अगूंठी मैंने देखी। बाद में मैं उसको वेंचने के लिए (बाजार में) दिखलाता हुआ आप लोगों के द्वारा पकड़ लिया गया। अब मुझे मारिये अथवा छोड़िये। यही इसके मिलने की कहानी है।

कोतवाल—जानुक, (इसके शरीर से) कच्चे मांस की वदबू आ रही है, अतः निःसन्देह यह गोह खाने वाला मल्लाह (धीवर) ही है। इसे यह अँगूठी कैसे मिली यही विचारणीय है। हम राजकुल ही चलते हैं।

दोनों सिपाही—ठीक है। चल रे गिरहकट।

(सभी घूमते हैं)

प्रचलित थी। समाज इस कार्य को आदर की दृष्टि से देखता था। वैदिक कर्मकाण्ड अभी, प्रायः, अपने पूर्वरूप में ही प्रचलित थे।

इस श्लोक में उत्तरार्ध विशेष के द्वारा पूर्वार्ध सामान्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है। विशेष धीवर के प्रस्तुत रहने पर भी पूर्वार्ध में सामान्यवर्णन के कारण अप्रस्तुत प्रशंसा है। अनुकम्पा करने वाले श्रोत्रिय के द्वारा पशुहत्या रूपी क्रूरकर्म करने के कारण विषम अलङ्कार है॥ १॥

व्युत्पत्तिः—सहजम्—सह + √जन् + ड (अ) + विभक्तिकार्यम्। विवर्जनीयम्—वि + √वृज् + अनीयर् + विभक्तिः॥ १॥

शब्दार्थः—खण्डशः = टुकड़े-टुकड़े, कल्पितः = किया गया। रत्नभासुरम् = रत्न से चमकती हुई, विक्रयाय = वेंचने के लिए। आगमवृत्तान्तः = मिलने की कहानी॥

टीका—पुरुष इति। खण्डशः = खण्डं-खण्डम्, खण्डस्य एकत्वमाश्रित्य वीप्सायां शस्, कल्पितः = सम्पादितः। रत्नभासुरम्—रत्नेन = मणिना भासुरम् = प्रकाशमानम्, विक्रयाय = विनिमयाय। आगमवृत्तान्तः—आगमः = प्राप्तिः तस्य वृत्तान्तः = कथानकम्॥

व्युत्पत्तिः—खण्डशः—खण्ड + शस् + विभक्त्यादिः। कल्पितः—√कृ + णिच् + क्त (त) + विभक्त्यादिः॥

शब्दार्थः—विस्रगन्धी = कच्चे मांस की गन्धवाला, गोधादी = गोह खाने वाला, मत्स्यवन्धः = मछली मारने वाला, मल्लाह। विमर्शयितव्यम् = विचारणीय है। गण्डभेदक = गाँठ काटने वाला, गिरहकट॥

टीका—श्याल इति। विस्रगन्धी-विस्रस्य = आममांसस्य, ('विस्रं स्यादामगन्धि यत्' इत्यमरः), गन्धः अस्ति यस्मिन् तथाविधः, गोधादी-गोधाम् अत्ति = खादति इति गोधादी = गोधाभक्षकः, मत्स्यबन्धः = धीवरः। विमर्शयितव्यम् = विवेचनीयम्। गण्डभेदक = ग्रन्थिच्छेदक॥

श्यालः—सूचक, इमं गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयतं यावदिदमङ्गुलीयकं यथागमनं भर्तुर्निवेद्य ततः शासनं प्रतीक्ष्य निष्क्रमामि। [सूअअ, इमं गोपुरदुआरे अप्पमत्ता पडिवालह जाव इमं अंगुलीअअं जहागमणं भट्टिणो णिवेदिअ तदो सासणं पडिच्छिअ णिक्कमामि।]

उभौ—प्रविशत्वावुत्तः स्वामिप्रसादाय। [पविशदु आवुत्ते शामिपशादश्श।] (इति निष्क्रान्तः श्यालः।)

प्रथमः—जानुक, चिरायते खल्वावुत्तः। [जाणुअ, चिलाअदि क्खु आवुत्ते।]

द्वितीयः—नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः। [णं अवशलोवशप्पणीआ लाआणो।]

प्रथमः—जानुक, स्फुरतो मम हस्तावस्य वधार्थं सुमनसः पिनद्धुम्। [जाणुअ, फुल्लन्ति मे हत्था इमश्श वहश्श शुमणा पिणद्धुं।] (इति पुरुषं निर्दिशति।)

टिप्पणी—विस्रगन्धी—कच्चे मांस की गन्धवाला। 'विस्रं स्यादामगन्धि यद्' अमरकोश के इस वचन के अनुसार विस्र शब्द का ही अर्थ है—आमगन्धी अर्थात् कच्चे मांस की गन्धवाला। अतः विस्रगन्धी में गन्ध शब्द अनावश्यक प्रतीत होता है। किन्तु महाकवि ने गन्ध शब्द का प्रयोग अर्थसारल्य के लिए किया है। अतः पुनरुक्ति दोष का प्रभाव कम हो जाता है।

गोधादी—गोह खाने वाला। गोधा का अर्थ जल में निवास करने वाला विशालकाय एक जीव भी होता है—'मकरगोधा शिशुमारप्रभृतयः'। कुछ लोग गोधादी के स्थान पर गोघाती का प्रयोग करते हैं। किन्तु अव्यवहारिक होने के कारण यह पाठ उपेक्षणीय है।

व्युत्पत्तिः—विस्रगन्धी—विस्र + गन्ध + इनि + विभक्तिः।
गोधादी—गोधा + √अद् + णिनि + विभक्तिः।
मत्स्यबन्धः—मत्स्य + √बन्ध् + अण् + विभक्तिकार्यम्॥

शब्दार्थः—गोपुरद्वारे = नगर-द्वार पर, अप्रमत्तौ = सावधान होकर, यथागमनम् = प्राप्ति के विवरण के साथ, शासनम् = आदेश को, प्रातीक्ष्य = लेकर, प्राप्त कर। स्वामिप्रसादाय = महाराज की कृपा प्राप्त करने के लिए॥

कोतवाल—सूचक, इस नगर-द्वार पर सावधान होकर इस (धीवर) की निगरानी करना। जब तक प्राप्ति के विवरण के साथ इस अंगूठी के विषय में महाराज से निवेदन करके और उनके आदेश को लेकर निकलता हूँ।

दोनों सिपाही—प्रवेश करें आप महाराज की कृपा प्राप्त करने के लिए।

(इस प्रकार कोतवाल निकल गया)

पहला सिपाही—जानुक, आदरणीय कोतवाल साहब विलम्ब कर रहे हैं।

दूसरा सिपाही—अरे, राजा लोग यथावसर मिलने के योग्य होते हैं।

पहला सिपाही—जानुक, इसके वध के लिए इसे फूलों की माला पहनाने के लिए मेरे दोनों हाथ फड़क रहे हैं। (ऐसा कहकर पुरुष की ओर इशारा करता है)

टीका—श्याल इति। गोपुरद्वारे=पुरद्वारन्तु गोपुरमित्यमरवचनात् गोपुरमेव द्वारं तस्मिन् नगरद्वारे इत्यर्थः, अप्रमत्तौ=अवहितौ, यथाऽयं न पलायते इति भावः, यथागमनम्—आगमनस्य=आगमनवृत्तान्तस्य अनतिक्रमो यथागमनम्, अव्ययीभावः, तदस्ति यस्मिन् कर्मणि तत् यथा तथा, मत्वर्थीयः अच्, निवेदनक्रियाविशेषणमिति, शासनम्=आदेशम्, प्रतीक्ष्य=गृहीत्वा। स्वामिप्रसादाय—स्वामिनः=महाराजस्य प्रसादः=अनुग्रहः तस्मै।

टिप्पणी—**यथागमनम्**—यह अंगूठी कब, कहाँ और कैसे मिली यह सब बतलाकर राजा को यह अँगूठी दिखलाऊँगा।

शब्दार्थः—चिरायते=विलम्ब कर रहे हैं। अवसरोपसर्पणीयाः=यथावसर मिलने के योग्य होते हैं, फुर्सत का समय देखकर ही राजाओं के पास जाया जाता है। स्फुरतः=फड़क रहे हैं, सुमनसः=फूलों की माला, फूल, पिनद्धुम्=पहनाने के लिये॥

टीका—प्रथम इति। चिरायते=विलम्बते। अवसरोपसर्पणीयाः—अवसरे=समये उपसर्पणीयाः=उपगम्य निवेदनीयाः। स्फुरतः= स्पन्देते, सुमनसः=पुष्पं पुष्पाणि वा, पुष्पमालामित्यर्थः, 'आप सुमनसो वर्षा अप्सरः सिकताः समाः' एते स्त्रियां बहुत्वे स्मृताः, पिनद्धुम्=बद्धुम्॥

टिप्पणी—**सुमनसः पिनद्धुम्**—प्राचीन काल में जो व्यक्ति अपराधी पाये जाते थे उन्हें फाँसी दी जाती थी। न्यायालय से फाँसी के स्थान तक अपराधी को करवीर आदि की लाल माला पहना कर ले जाते थे। यह माला वध का सूचक हुआ करती थी। इसी माला की ओर यहाँ सङ्केत है।

व्युत्पत्तिः—चिरायते—चिर इव आचरतीति। √चिर+क्यङ्+लटि विभक्ति-कार्यम्। पिनद्धुम्—अपि+√नह्+तुमुन्॥

पुरुषः—नार्हति भावोऽकारणमारणं भावयितुम्। [ण अलुहदि भावे अकालणमालणं भविदुं।]

द्वितीयः—(विलोक्य) एष नः स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्येतोमुखो दृश्यते। गृध्रबलिर्भविष्यसि, शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि। [एशे अम्हाणं शामी पत्तहत्थे लाअशाशणं पडिच्छिअ इदोमुहे देखीअदि। गिद्धबली भविश्शशि, शुणो मुहं वा देक्खिश्शशि।]

(प्रविश्य)

श्यालः—सूचक, मुच्यतामेष जालोपजीवी। उपपन्नः खल्वस्याङ्गुलीयकस्यागमः। [सूअअ, मुंचेदु एसो जालोअजीवी। उववण्णो क्खु से अंगुलीअअस्स आअमो।]

सूचकः—यथावुत्तो भणति। [जह आवुत्ते भणादि।]

द्वितीयः—एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः। [एशे जमशदणं पविशिअ पडिणिवुत्ते।]

(इति पुरुषं परिमुक्तबन्धनं करोति।)

शब्दार्थः—भावः—श्रीमान्, आप, भावयितुम् = प्राप्त कराने में, गृध्रबलिः = गीध का आहार, शुनः = कुत्ते का, जालोपजीवी = जाल से जीविका चलाने वाला, मल्लाह। उपपन्नः = सही है, ठीक है। यमसदनम् = यमराज के घर में, प्रतिनिवृत्तः = लौट आया है। परिमुक्तबन्धनम् = बन्धन से मुक्त॥

टीका—पुरुष इति। भावः = पूज्यो भवान्, भावयितुम् = प्रापयितुम्। गृध्रबलिः = गृध्रेभ्यो बलिः = उपहारः, गृध्राः तें मांसं भक्षयिष्यन्तीति भावः, शुनः = कुक्कुरस्य। जालोपजीवी—जालेन = पाशेन उपजीवति = जीविकां वर्तयति इति जालोपजीवी = धीवरः। उपपन्नः = युक्तः। यमसदनम्—यमस्य = मृत्योः सदनम् = गृहम्, प्रतिनिवृत्तः = प्रत्यागतः। परिमुक्तबन्धनम्—परिमुक्तम् = अपनीतम् बन्धनम् = पाशः यस्य तथाविधम्॥

गृध्रबलिः शुनः मुखम्—प्राचीन काल में नगर के बाहर वध्यस्थान हुआ करते थे। वहाँ अपराधियों को फाँसी दी जाती थी। मर जाने पर उन्हें फेंक दिया जाता था। गीध-कौवे शवों को खाते थे। यही है गृध्रबलि होना। कभी-कभी अपराध के भयानक होने पर अपराधी को जमीन में खड़ा गाड़ दिया जाता था। केवल सिर का ऊपरी भाग दिखलाई पड़ता था। शिर पर दही आदि रख दिया जाता था। फिर

पुरुष—मुझे बिना कारण के ही मारने का विचार करना आपके लिए उचित नहीं है।

दूसरा सिपाही—(देखकर) हाथ में पत्र लिये हुए यह हमारे स्वामी (कोतवाल साहब) राजा का आदेश लेकर इधर ही मुख करके आते हुए दिखलाई पड़ रहे हैं (अर्थात् राजा का आदेश लेकर इधर ही आ रहे हैं)। तू (अब) गीधों का आहार बनेगा अथवा कुत्ते का मुँह देखेगा (अर्थात् तुझे अब कुत्तों से नुचवाया जायगा अथवा मारकर फेंक दिया जायगा जिससे तुझे गीध खायेंगे)।

(प्रवेश करके)

कोतवाल—सूचक, जाल से जीविका चलाने वाले इस मल्लाह को छोड़ दिया जाय। इस अँगूठी के मिलने की बात सच है।

सूचक—जैसा श्रीमान् का आदेश।

दूसरा सिपाही—यह यमराज के घर में जाकर लौट आया है।

(इस प्रकार पुरुष को बन्धन से मुक्त कर देता है)

शिकारी कुत्ते छोड़कर ललकारे जाते थे। पलक मारते उस पापी की इहलीला समाप्त हो जाती थी।

जालोपजीवी—मल्लाह जाल से अपने पूरे परिवार का भरण-पोषण करता है। वह जलाशय में जाल डालता है। मछलियाँ फँसती हैं। वह उन्हें स्वयं खाता है। बाजार में बेंचता है। पैसे मिल जाते हैं। उनसे परिवार का खर्च चलता है। यदि उसके पास यह जाल न होता तो उसका पूरा परिवार जीविका के अभाव में यमराज का मेहमान बन जाता।

अङ्गुलीयकस्यागमः—दुर्वासा ने शकुन्तला को शाप दिया था—'जिसके लिए मेरा अपमान कर रही हो वह तुझे भूल जायगा।' किन्तु प्रियम्वदा की प्रार्थना पर उन्होंने पुनः कहा था—'निशानी के लिए प्रदत्त किसी आभूषण के दिखलाने से मेरा यह शाप समाप्त हो जायगा। वह व्यक्ति इसे पहचान लेगा।' अँगूठी के देखते ही राजा की मोह-निद्रा समाप्त हो गई। सारा वृत्तान्त सिनेमा की रील की भाँति उसकी आँखों के सामने दौड़ गया। शकुन्तला और गौतमी ने कहा था—'शायद शक्रावतार तीर्थ में अँगूठी गिर गई।' उस समय राजा ने इस पर कड़ा व्यंग्य-प्रहार किया था, किन्तु आज अँगूठी सामने आ गई। दुर्वासा का शाप छूट गया। राजा की बुद्धि निर्मल हो गई। उसे सब कुछ स्मरण हो आया। इसलिए राजा ने कोतवाल से कहा है—'अँगूठी मिलने की बात ठीक है। मल्लाह सही बोल रहा है।'

यमसदनम्—सिपाही के कहने का भाव यह है कि—'हम तो समझ रहे थे कि इतने महान् अपराध के लिए, बहुमूल्य अँगूठी की चोरी के लिए, इसे प्राणदण्ड की सजा मिलेगी। यह मरेगा। मरकर यमपुर जायेगा, क्योंकि पापी लोग यम की नगरी में जाते हैं, किन्तु यह तो छूट गया। अतः मानो यह मरकर जी गया है।'

पुरुषः—(श्यालं प्रणम्य) भर्तः, अथ कीदृशो मे आजीवः? [भट्टा, अह कीलिशे मे आजीवे ?]

श्यालः—एष भर्त्राङ्गुलीयकमूल्यसंमितः प्रसादोऽपि दापितः। [एसो भट्टिणा अङ्गुलीअअमुल्लसम्मिदो पसादो वि दाविदो।] (इति पुरुषाय स्वं प्रयच्छति।)

पुरुषः—(सप्रणामं प्रतिगृह्य) भर्तः, अनुगृहीतोऽस्मि। [भट्टा, अणुग्गहिद म्हि।]

सूचकः—एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः। [एशे णाम अणुग्गहे जे शूलादो अवदालिअ हत्थिक्कन्धे पडिट्ठाविदे।]

जानुकः—आवुत्त, पारितोषिकं कथयति, तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः संमतेन भवितव्यम्। [आवुत्त, पालिदोशिअं कहेदि तेण अंगुलीअएण भट्टिणो शम्मदेण होदव्वं।]

श्यालः—न तस्मिन् महार्हं रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि। तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः। मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्यश्रुनयन आसीत्। [ण तस्सिं महारुहं रदणं भट्टिणो बहुमदं त्ति, तक्केमि। तस्स दंसणेण भट्टिणो अभिमदो जणो सुमराविदो। मुहुत्तअं पकिदिगम्भीरो वि पज्जस्सुणअणो आसि।]

व्युत्पत्तिः—मारणम्—मृ + णिच् + ल्युट् (अन्) + विभक्तिः। प्रतीक्ष्य—प्रति + √ईक्ष् + ण्यत्। उपपन्नः—उप + √पद् + क्त + विभक्तिः। प्रविश्य—प्र + √विश् + ल्यप्॥

शब्दार्थः—आजीवः = जीविका। अङ्गुलीयकमूल्यसंमितः = अँगूठी के मूल्य के बराबर, प्रसादः = पुरस्कार। प्रतिगृह्य = लेकर, अनुगृहीतः = अनुकम्पित, कृतार्थ। शूलात् = शूली से, अवतार्य = उतारकर, हस्तिस्कन्धे = हाथी की पीठ पर, प्रतिष्ठापितः = बैठा दिया गया॥

टीका—पुरुषः इति। आजीवः = जीविका, कुटुम्बभरणोपायः। अङ्गुलीयकमूल्यसंमितः—अङ्गुलीयकस्य = अङ्गुलिमुद्रायाः मूल्येन संमितः = तुल्यः, प्रसादः = प्रीति-

पुरुषः—(कोतवाल को प्रणाम करके) मालिक, आज मेरी जीविका कैसे चलेगी ? अथवा अच्छा (अब) मेरी जीविका कैसी है ?

कोतवाल—यह महाराज ने अँगूठी के मूल्य के बराबर पुरस्कार भी दिया है।

पुरुष—(प्रणाम करते हुए लेकर) मालिक, कृतार्थ हो गया मैं।

सूचक—सही अर्थ में यह अनुग्रह है कि (यह) शूली (फांसी के तख्त पर) से उतारकर हाथी की पीठ पर बैठा दिया गया।

जानुक—श्रीमान् जी, पुरस्कार से यह सूचित होता है कि वह अँगूठी महाराज को अत्यन्त प्रिय है।

कोतवाल—मेरा यह अनुमान है कि उस अँगूठी में जड़ा गया बहुमूल्य रत्न महाराज को बहुत प्रिय नहीं है। (किन्तु) उसके देखने से महाराज को किसी अत्यन्त प्रिय व्यक्ति की याद हो आई है, (जिससे) स्वभावतः गम्भीर भी (वे) अश्रुपूरित नेत्र हो गये थे।

प्रदानम्। प्रतिगृह्य = गृहीत्वा, अनुगृहीतः = अनुकम्पितः। शूलात् = वधकीलकात्, अवतार्य = नीचैः आनीय, हस्तिस्कन्धे = हस्तिनः = गजस्य स्कन्धे = पीठे, प्रतिष्ठापितः = आसनासीनः कृतः॥

टिप्पणी—कीदृशः आजीवः—धीवर (मल्लाह) अँगूठी बेंचकर परिवार के लिए आज भोजन आदि का प्रबन्ध कर रहा था। अब उसकी अँगूठी ले ली गई है। अतः वह पूछ रहा है कि—'अब आज मेरी जीविका कैसे चलेगी ? हम लोग क्या खायेंगे ?' कुछ टीकाकारों ने धीवर के इस कथन को व्यंग्यपूर्ण मानकर इसे कोतवाल के उस व्यंग्य का सटीक उत्तर माना है, जिसमें उसने कहा था कि 'विशुद्ध इदानीमाजीवः'। किन्तु एक बड़े पुलिस अधिकारी पर धीवर जैसा तुच्छ व्यक्ति छींटाकसी करे यह बात ठीक नहीं जमती है। यदि कोई कहे कि मछली तो आज का खर्च चलाने के लिए उसके पास है ही। इस पर कहा जा सकता है कि—'एकस्मिन् दिवसे' आदि धीवर के कथन से तो यह स्पष्ट ही है कि मछली आज नहीं अपितु कई दिन पूर्व उसे मिली थी। आज वह खाली हाथ है। धीवर के इसी अर्थ को समझ कर ही कोतवाल ने आगे राजा के द्वारा अँगूठी का मूल्य देने की बात को कहा है।

व्युत्पत्तिः—मूल्यम्—मूलेन आनाम्यं मूल + यत् + विभक्तिः। प्रसादः—प्र + √सद् + घञ् + विभक्त्यादिकार्यम्। दापितः—मेरे द्वारा दिलवाया है। √दा + णिच् क्त + विभक्तिः॥

शब्दार्थः—पारितोषकम् = पुरस्कार। संमतेन = अत्यन्त प्रिय। महार्हम् = बहुमूल्य, बहुमतम् = बहुत प्रिय है। अभिमतः = अभीष्ट, अत्यन्त प्रिय। प्रकृतिगम्भीरः = स्वभावतः गम्भीर, पर्यश्रुनयनः = अश्रुपूरित नेत्र, आँसुओं से भरी हुई आँखवाले॥

सूचकः—सेवितं नामावुत्तेन। [शेविदं णाम आवुत्तेण।]

जानुकः—ननु भण। अस्य कृते मात्स्यिकभर्तुरिति। [णं भणाहि। इमश्श कए मच्छिआभत्तुणो त्ति।]

(इति पुरुषमसूयया पश्यति।)

पुरुषः—भट्टारक, इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु। [भट्टालक, इदो अद्धं तुम्हाणं शुमणोमुल्लं होदु।]

जानुकः—एतावद् युज्यते। [एत्तके जुज्जइ।]

श्यालः—धीवर, महत्तरस्त्वं प्रियवयस्यक इदानीं मे संवृत्तः। कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः। [धीवर, महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं मे संवुत्तो। कादम्बरीसक्खिअं अम्हाणं पढमसोहिदं इच्छीअदि। ता सोण्डिआपणं एव्व गच्छामो।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

। इति प्रवेशकः।

टीका—जानुक इति। पारितोषिकम्=पुरस्कारः। संमतेन=अभिमतेन। महार्हम्=बहुमूल्यम्, बहुमतम्=अतिप्रियम्। अभिमतः=अतिप्रियः। प्रकृतिगम्भीरः—प्रकृत्या=स्वभावेन गम्भीरः=गूढभावः, पर्यश्रुनयनः—पर्यश्रुणी=सजले नयने=नेत्रे यस्य तादृशः॥

टिप्पणी—पर्यश्रुनयनः—अँगूठी देखते ही राजा को शकुन्तला विषयक सारी बातें एक-एक कर याद आने लगीं। वे विह्वल हो उठे। उन्हें अफसोस हो रहा था अत्यन्त निष्ठुरता पूर्वक शकुन्तला के प्रत्याख्यान पर। उनकी आँखें बरबस छलछला उठीं।

व्युत्पत्तिः—अभिमतः—अभि + √मन् + क्त + विभक्तिः।

स्मारितः—स्मृ + णिच् + क्त + विभक्तिः॥

शब्दार्थः—सेवितम्=सेवा की गई है। मात्स्यिकभर्तुः=मल्लाहों के मालिक के लिए, मछुओं के मुखिया के लिए। असूयया=ईर्ष्यापूर्वक। सुमनोमूल्यम्=फूल का मूल्य, तुच्छमूल्य। महत्तरः=बहुत बड़े, प्रियवयस्यकः=प्रियमित्र। कादम्बरीसाक्षिकम्=मदिरा के समक्ष, मदिरा को साक्षी बनाकर, प्रथमसौहृदम्=पहली मित्रता। शौण्डिकापणम्=कलवार की दुकान पर, शराब की दुकान पर॥

टीका—सूचक इति। सेवितम्=सेवा दर्शितेत्यर्थः। मात्स्यिकभर्तुः—मत्स्येन जीवन्तीति मात्स्यिकाः=धीवराः तेषां भर्तुः=जातिप्रधानस्यास्य पुरुषस्य कृते

सूचक—आपके द्वारा वस्तुतः (महाराज की) सेवा की गई है।

जानुक—अरे यह कह कि मछुओं के इस मुखिया के लिए (आपके द्वारा महाराज की सेवा की गई है।)

(ऐसा कहकर धीवर को ईर्ष्यापूर्वक देखता है)

पुरुष—स्वामी, इसमें से आधा आप लोगों के लिए फूल का मूल्य हो (अर्थात् इसमें से आधा आप लोग लेलें)।

जानुक—यहाँ तक तो ठीक है।

कोतवाल—धीवर, तुम अब हमारे बहुत बडे प्रिय मित्र हो गये हो। हम लोगों की यह पहली मित्रता मदिरा को साक्षी बनाकर होनी चाहिए। तो शराब बेंचने वाले की दुकान पर ही (हम सब चलें)।

(इस प्रकार सभी निकल गये)

॥ प्रवेशक समाप्त ॥

सेवितमिति। धनप्राप्तिस्त्वेतन्निष्ठेति सेवनमेतदर्थमेव जातमिति भावः। असूयया = ईर्ष्यया। सुमनोमूल्यम्—सुमनसाम् = पुष्पाणाम् मूल्यम्। पुष्पमूल्यमिति विनयोक्तिः। महत्तरः = अतिशयेन महान्, इतरापेक्षया अतिशयः, प्रियवयस्यकः = प्रियमित्रम्, स्वार्थे कन्। कादम्बरीसाक्षिकम्—कुत्सितम् अम्बरम् = वस्त्रम् यस्य स कदम्बरः बलरामः तस्येयम् कादम्बरी = मदिरा साक्षिणी = प्रत्यक्षदर्शिनी यस्मिन् तथाविधम्, प्रथमसौहृदम् = प्रथमा मैत्री। शौण्डिकापणम्—शुण्डा = मदिरा पण्यम् = विक्रेयद्रव्यम् यस्य तस्य आपणम् = पण्यशालाम्॥

टिप्पणी—मात्स्यिकभर्तुः—राजा के पास आपके जाने से पुरस्कार तो इसे मिला। अतः कहना होगा कि इस धीवर के लिए आपने राजा की सेवा की है।

सुमनोमूल्यम्—पुरस्कार का आधा देने का प्रस्ताव करते हुए धीवर कह रहा है कि—'यह आप लोगों के लिए पुष्प का मूल्य है। यह तुच्छ भेंट आप लोगों के लिये है।' आज भी किसी बड़े आफिसर को घूस देने वाला यही कहता है कि—'यह पत्रं पुष्पं ग्रहण करने की कृपा करें। यह पान खाने के लिए है।' आदि आदि। यह धीवर का नम्र निवेदन है।

कादम्बरी०—इस स्थल से यह सूचना मिलती है कि भारत के सुदूर अतीत के पुलिस अधिकारी आज की ही भाँति घूसखोर तथा शराब आदि के व्यसनी थे।

प्रवेशक—विष्कम्भक की ही भाँति प्रवेशक भी भूत और भावी घटना का सूचक होता है। इसके पात्र निम्न श्रेणी के व्यक्ति होते हैं। इनकी भाषा प्राकृत होती है। साहित्यदर्पणकार ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा॥' (सा० द० ६-५७)॥

व्युत्पत्तिः—मात्स्यिकः—मत्स्य + ठक् (इक्) + विभक्तिः। महत्तरः—महान् + तरप् + विभक्तिः। कादम्बरी-कदम्बर + अण् + ङीप् + विभक्त्यादिः। शौण्डिक—शुण्डा + ठक् (इक्) + विभक्त्यादिः॥

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन सानुमती नामाप्सराः।)

सानुमती—निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनीयमप्सरस्तीर्थ-सांनिध्यं यावत् साधुजनस्याभिषेककाल इति । साम्प्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि । मेनकासंबन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला । तया च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वाऽस्मि । (समन्तादवलोक्य) किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते । अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं परिज्ञातुम्। किन्तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः। भवतु, अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये।

[णिव्वत्तिदं मए पज्जाअणिव्वत्तिणिज्जं अच्छरातित्थसण्णिज्झं जाव साहुजणस्स अभिसेअकालो त्ति । संपदं इमस्स राएसिणो उदन्तं पच्चखीकरिस्सं । मेणआसंबन्धेण सरीरभूदा मे सउन्दला । ताए अ दुहिदुणिमित्तं आदिट्ठपुव्व म्हि । किं णु क्खु उदुच्छवे वि णिरुच्छवारम्भं विअ राअउलं दीसइ । अत्थि मे विहवो पणिधाणेण सव्वं परिण्णादुं । किं दु सहीए आदरो मए माणइदव्वो । होदु, इमाणं एव्व उज्जाणपालिआणं तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पस्सवत्तिणी भविअ उवलहिस्सं ।]

(इति नाट्येनावतीर्य स्थिता।)

शब्दार्थः—आकाशयानेन=विमान से । पर्यायनिवर्तनीयम्=बारी-बारी से किये जाने वाला कार्य । अभिषेककालः=स्नान-समय । उदन्तम्=समाचार, हाल। दुहितृनिमित्तम्=बेटी के लिए । ऋतूत्सवे=वसन्त ऋतु के उत्सव के अवसर पर। निरुंत्सवारम्भम्=उत्सव के प्रारम्भ करने के कार्यों से विहीन। विभव=सामर्थ्य। प्रणिधानेन=ध्यान से। तिरस्करिणीप्रच्छन्ना=अन्तर्धान होने की विद्या से ढकी होती हुई॥

टीका—सानुमतीति । आकाशयानेन=वायुयानेनेत्यर्थः, आकाशे यत् यानं गमनं तेन । पर्यायनिर्वर्तनीयम्—पर्यायेण=यथाक्रमेण ('पर्यायोऽवसरे क्रमे' इत्यमरः।) निर्वर्तनीयम्=करणीयम्, अभिषेककालः—अभिषेकस्य=स्नानस्य कालः=समयः। तत्र गङ्गायामप्सरस्तीर्थं नाम तीर्थमस्ति । तत्र यावत्सज्जनस्नानकालमं

(तदनन्तर विमान से सानुमती नामक अप्सरा प्रवेश करती है)

सानुमती—सज्जनों के स्नान-समय तक अप्सरा तीर्थ में बारी-बारी से वहाँ उपस्थित रहने का जो क्रम है, उसे मैंने पूरा कर लिया है। अब इस राजर्षि (दुष्यन्त) के समाचार को ज्ञात करूँगी। मेनका से सम्बन्ध होने के कारण शकुन्तला मेरे शरीर-सदृश है। उस (मेनका) ने अपनी बेटी (शकुन्तला) के लिए पहले से ही मुझसे कहा है (कुछ करने के लिए)। (चारों ओर देखकर)। अरे, (वसन्त) ऋतु के उत्सव के अवसर पर भी राजकुल उत्सव के प्रारंभ करने के कार्यों से विहीन दिखलाई पड़ रहा है। ध्यान से सब कुछ जान लेने का सामर्थ्य मुझमें है। किन्तु सखी (मेनका) का सम्मान मुझे करना ही चाहिए। (अतः प्रत्यक्ष देखना चाहती हूँ)। ठीक है, अन्तर्धान होने की विद्या से अदृश्य होकर इन दोनों उद्यान-पालिकाओं के समीप जाकर (दुष्यन्त विषयक समाचार) ज्ञात करूँगी। (ऐसा कह-कर अभिनय पूर्वक उतरकर खड़ी हो जाती है)

कस्मिन् दिवस एकैकयाऽप्सरसा संनिहितया स्थातव्यमिति नियमः। तस्मिन् दिने सानुमत्या तत्कार्यं कृतमिति राघवभट्टाः। उदन्तम्=वार्ताम्, समाचारमिति लोके, ('वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्' इत्यमरः) दुहितृनिमित्तम्—दुहिता=पुत्री शकुन्तला निमित्तम्=प्रयोजनम् यस्मिन् कर्मणि तत् यथा तथा। ऋतूत्सवे—ऋतुः= प्रधानतया वसन्तः तस्य उत्सवः तस्मिन्; ऋतुप्राप्तौ य उत्सवस्तस्मिन्नित्यर्थः। निरुत्सवारम्भम्—निर्गतः=दूरीभूतः उत्सवारम्भः=उत्सवकार्यम्=यस्मात् तादृशम्। विभवः=शक्तिः, प्रणिधानेन=ध्यानेन। तिरस्करिणीप्रच्छन्ना—तिरस्करिण्या=अदृश्य-कारिण्या विद्यया, मन्त्रेणेति यावत्, प्रच्छन्ना=अलक्षितेत्यर्थः, उपलप्स्ये=ज्ञास्यामि॥

टिप्पणी—आकाशयानेन—याति अनेन=जिससे यात्रा की जाय, वायुयान। इसका अर्थ आकाशमार्ग भी हो सकता है। अप्सराओं में आकाशमार्ग से गमन करने की शक्ति होती है।

पर्याय०—अप्सरा तीर्थ में अप्सराओं की क्रमशः ड्यूटी यह देखने के लिए लगती थी कि स्नान के समय कहीं कोई दुर्घटना न हो जाय।

तिरस्करिणी०—तिरस्करिणी विद्या के द्वारा प्रयोक्ता मन्त्र पढ़कर अदृश्य हो जाता है। वह सबको देख सकता है, किन्तु अन्य लोग उसे नहीं देख सकते। यह शक्ति अप्सरा आदि सभी देवयोनियों को प्राप्त है।

व्युत्पत्तिः—यानेन—√या+ल्युट्+विभक्त्यादिः। पर्याय०—परि+√इ+घञ् +विभक्तिः। प्रत्यक्षी०—प्रति+अक्षि+टच् (अ)+अभूततद्भावे च्विः। आदरः—आ+√दृ+अप् (अ)+विभक्तिः॥

(ततः प्रविशति चूताङ्कुरमवलोकयन्ती चेटी।
अपरा च पृष्ठतस्तस्याः।)

प्रथमा—
आताम्रहरितपाण्डुर जीवित सत्यं वसन्तमासस्य।
दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गल त्वां प्रसादयामि ॥२॥
[आतम्महरिअपंडुर जीविद सत्तं वसन्तमासस्स।
दिट्ठो सि चूदकोरअ उदुमंगल तुमं पसाएमि ॥२॥]

द्वितीया—परभृतिके, किमेकाकिनी मन्त्रयसे?
[परहुदिए, किं एआइणी मन्तेसि?]

प्रथमा—मधुकरिके, चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति। [महुअरिए, चूदकलिअं देक्खिअ उन्मत्तिआ परहुदिआ होदि।]

द्वितीया—(सहर्षं त्वरयोपगम्य) कथमुपस्थितो मधुमासः? [कहं उवट्ठिदो महुमासो?]

प्रथमा—मधुकरिके, तवेदानीं काल एष मदविभ्रमगीतानाम्। [महुअरिए, तव दाणिं कालो एसो मदविब्भमगीदाणं।]

अन्वयः—आताम्रहरितपाण्डुर, वसन्तमासस्य, सत्यम्, जीवितम्, चूतकोरक, दृष्टः, असि; ऋतुमङ्गल, त्वाम्, प्रसादयामि ॥ २ ॥

शब्दार्थः—आताम्रहरितपाण्डुर=कुछ लाल-हरे एवं श्वेत वर्णवाले, वसन्तमासस्य=वसन्त मास के, चैत मास के, सत्यम्=सच्चे, जीवितम्=जीवन, चूतकोरक=हे आम के बौर, दृष्टः=देख लिये गये, असि=हो; ऋतुमङ्गल=हे ऋतु के मङ्गलरूप, त्वाम्=तुम्हें, प्रसादयामि=प्रसन्न करती हूँ, प्रणाम करती हूँ ॥ २ ॥

टीका—आताम्रेति। आताम्रहरितपाण्डुर—हे आ=ईषत् ताम्र=ताम्रवर्ण हरित=श्यामल पाण्डुर=शुभ्र, त्रिभिरपि वर्णैः किञ्चिन्मिश्र इत्यर्थः, वसन्तमासस्य=प्रथमस्य वासन्तिकमासस्य चैत्रस्येत्यर्थः, जीवितम्=जीवनम्, हे चूतकोरक=हे आम्रमुकुल, दृष्टः=अवलोकितः, असि=वर्तसे; हे ऋतुमङ्गल—ऋतोः=वसन्तस्य कालस्य मङ्गल=प्रथम-सूचकत्वात् मङ्गलारम्भभूत, त्वाम्=भवन्तम्, प्रसादयामि=प्रणमामि। ममानेन प्रणामेन त्वं प्रसन्नो भवेत्यर्थः। आर्या जातिः ॥ २ ॥

टिप्पणी—वसन्तमासस्य—चैत्र और वैशाख को वसन्त मास या वसन्त ऋतु

(तदनन्तर आम्रमञ्जरी को देखती हुई एक दासी प्रवेश करती है, उसके पीछे-पीछे एक दूसरी दासी भी प्रवेश करती है।)

पहली—कुछ लाल-हरे एवं श्वेत वर्णवाले, चैत मास के सच्चे जीवन, हे आम के बौर (मेरे द्वारा तुम) देख लिये गये हो (अर्थात् मैंने तुम्हें देख लिया है)। हे ऋतु के मङ्गलरूप (मैं) तुम्हें प्रणाम करती हूँ॥ २॥

दूसरी—परभृतिका, क्या अकेली गुनगुना रही हो ?

पहली—मधुकरिका, आम्र-मञ्जरी को देखकर कोकिला (परभृतिका) मतवाली हो उठती है।

दूसरी—(प्रसन्नतापूर्वक शीघ्रता से पास में जाकर) क्या आ गया मधुमास (चैत्रमास) ?

पहली—मधुकरिका, अब तुम्हारे मादक विलासों और गीतों का यही मौसम है।

कहते हैं। यहाँ वसन्तमासस्य का अर्थ है—चैत्रमास, क्योंकि वही इस ऋतु का प्रथम मास है। 'मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू' (यजुर्वेद १३-२५)॥

इस श्लोक में आर्या जाति है। आर्या का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥ २॥

व्युत्पत्तिः—दृष्टः—√दृश्+क्त+विभक्त्यादिकार्यम्॥ २॥

शब्दार्थः—परभृतिके=हे परभृतिका, एकाकिनी=अकेली। मधुकरिके=हे मधुकरिका, चूतकलिकाम्=आम्र-मञ्जरी को, उन्मत्त=मतवाली। परभृतिका=कोयल, त्वरया=शीघ्रता से, उपगम्य=पास में जाकर। उपस्थितः=आ गया। मदविभ्रमगीतानाम्=मादक विलासों और गीतों का।

टीका—द्वितीयेति। हे परभृतिके=परभृतिका इति प्रथमाया नाम तत्सम्बोधने रूपम्, एकाकिनी=असहाया। हे मधुकरिके=मधुकरिका इति द्वितीयाया नाम तत्सम्बोधने रूपम्, चूतकलिकाम्—चूतस्य=आम्रस्य कलिकाम्=मुकुलपूर्णां मञ्जरीम्, उन्मत्ता=मदविह्वला, परभृतिका=प्रथमा दासी, छलात्कोकिलेत्यर्थः, त्वरया=शीघ्रगत्या, उपगम्य=पार्श्वे गत्वा। मदविभ्रमगीतानाम्—मदेन=मत्ततया यानि विभ्रमगीतानि=विलासगीतानि तेषाम्॥

टिप्पणी—परभृतिका—परभृतिका और मधुकरिका ये दोनों दो सखियों के नाम हैं। कवि ने किसी खास अभिप्राय से इन नामों का प्रयोग किया है। इन दोनों के दो-दो अर्थ हैं। प्रथम तो ये दोनों दो दासियों के नाम हैं, दूसरा परभृतिका का अर्थ कोयल है और मधुकरिका का अर्थ भ्रमरी है। चैत्र के महीने में कोयलें और भ्रमरियाँ—दोनों ही मतवाली हो फुदकती फिरती हैं। यहाँ दोनों नामों का प्रयोग श्लिष्ट अर्थ में अर्थात् द्व्यर्थक किया जा रहा है।

व्युत्पत्तिः—दृष्ट्वा—√दृश्+क्त्वा। उपस्थितः—उप+√स्था+क्त+विभक्तिकार्यम्॥

द्वितीया—सखि, अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि। [सहि, अवलम्ब मं जाव अग्गपादट्ठिआ भविअ चूदकलिअं गेण्हिअ कामदेवच्चणं करेमि।]

प्रथमा—यदि ममापि खल्वर्धमर्चनफलस्य। [जइ मम वि क्खु अद्धं अच्चणफलस्स।]

द्वितीया—अकथितेऽप्येतत् संपद्यते। यत एकमेव नौ जीवितं द्विधास्थितं शरीरम्। (सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुरं गृह्णाति।) अये, अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसवोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभिर्भवति। (इति कपोतहस्तकं कृत्वा)

त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे।
पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव॥३॥

(इति चूताङ्कुरं क्षिपति)

[अकहिदे वि एदं संपज्जइ। जदो एक्कं एव्व णो जीविदं दुधाट्ठिदं शरीरं। अए, अप्पडिबुद्धो वि चूदप्पसवो एत्थ बन्धणभंगसुरभी होदि।

तुमं सि मए चूदंकुर दिण्णो कामस्स गहीदधणुअस्स।
पहिअजणजुवइलक्खो पंचाब्भहिओ सरो होहि॥३॥]

शब्दार्थः—अवलम्बस्व=पकड़ लो, सहारा दे दो, अग्रपादस्थिता=अगले पैर पर खड़ी हुई, पंजों के बल पर खड़ी हुई। कामदेवार्चनम्=कामदेव की पूजा को। अकथिते=विना कहे। अप्रतिबुद्धः=विना खिला हुआ, बन्धनभङ्गसुरभिः=बन्धन (वृन्त) के टूटने पर सुगन्ध दे रहा है।

टीका—द्वितीयेति—अवलम्बस्व=धारय, अग्रपादस्थिता—अग्रयोः=पुरःप्रान्तवर्ति पादयोः=चरणयोः स्थिता। कामदेवार्चनम्—कामदेवस्य अर्चनम्=पूजनम्। अकथिते=अभणिते। अप्रतिबुद्धः=अस्फुटितः, बन्धनभङ्गसुरभिः—बन्धनस्य=वृन्तस्य भङ्गेन=त्रुटनेन सुरभिः=सौरभयुक्तः॥

टिप्पणी—द्विधास्थितं शरीरम्—परभृतिका और मधुकरिका दोनों घनिष्ठ सखियाँ हैं। एक के बिना दूसरी न तो प्रसन्न रह सकती है, न जीवित ही रह सकती है। वस्तुतः उनके पारस्परिक व्यवहारों को देखकर यह कहा जा सकता है कि केवल उनके शरीर मात्र दो हैं, प्राण तो एक ही है।

दूसरी—सखी जब तक मैं अगले पैर पर खड़ी होकर आम की मञ्जरी को तोड़कर कामदेव की पूजा करती हूँ, तब तक जरा मुझे सहारा दो।

पहली—यदि पूजा के फल का आधा (भाग) मुझे भी (मिले तो सहारा दूँगी)।

दूसरी—बिना कहे भी यह होता क्योंकि हम दोनों का प्राण एक ही है, केवल शरीर भर दो हैं। (सखी के शरीर का सहारा लेकर खड़ी होकर आम की मञ्जरी को तोड़ती है।) अरे, बिना खिला हुआ भी यह आम का बौर बन्धन (वृन्त) के टूटने पर सुगन्ध दे रहा है। (इस प्रकार बौर तोड़कर हाथों को कपोताकार रूप में जोड़कर)

हे आम के बौर, तुम मेरे द्वारा धनुर्धारी कामदेव के लिए दिये गये हो (अर्थात् मैंने तुम्हें धनुर्धारी कामदेव को अर्पित किया है)। (तुम) परदेश गए हुए व्यक्तियों की तरुणियों को बींधने वाले तथा (कामदेव) के पाँचों बाणों में सबसे श्रेष्ठ बाण होओ ॥ ३ ॥)

कपोतहस्तकम्—हाथ जोड़ने की यह एक कला है। दोनों हाथों की पाँचों अंगुलियों के छोर एक दूसरे से मिले हों। हथेली का मध्य भाग दूर रखकर मूल मिला दिया जाता है। यह है हाथों को कपोत के आकार का बनाना अर्थात् हाथ जोड़ना। इसका लक्षण संगीतरत्नाकर में इस प्रकार है—'कपोतोऽसौ करो यत्र श्लिष्टमूलाग्रपार्श्वकः प्रणामे गुरुसंभाषे' इति ॥

व्युत्पत्तिः—प्रबुद्धः—प्र + √बुध् + क्त कर्तरि + विभक्तिकार्यम् ॥

अन्वयः—हे चूताङ्कुर, त्वम्, मया, गृहीतधनुषे, कामाय, दत्तः, असि; पथिकजनयुवतिलक्ष्यः, पञ्चाभ्यधिकः, शरः, भव ॥ ३ ॥

शब्दार्थ :—हे चूताङ्कुर=हे आम के बौर, त्वम्=तुम, मया=मेरे द्वारा, गृहीतधनुषे=धनुर्धारी, कामाय=कामदेव के लिए, दत्तः=दिये गये, असि=हो; पथिक-जन-युवतिलक्ष्यः=परदेश गये हुए व्यक्तियों की तरुणियों को बींधने वाले, पञ्चाभ्यधिकः=पाँचों बाणों में सबसे श्रेष्ठ, शरः=बाण, भव=होओ ॥ ३ ॥

टीका—त्वमसीति। हे चूताङ्कुर—चूतस्य=आम्रस्य अङ्कुरः=मञ्जरी तत्सम्बुद्धौ, त्वं मया=तव प्रथमदर्शनहर्षितया सख्या, गृहीतधनुषे—गृहीतम्=आदत्तम् धनुः=कोदण्डः येन तस्मै तादृशाय, गृहीतचापस्य, धनुर्धरस्येत्यर्थः, कामाय=मनोभवाय, दत्तः=अर्पितः, असि; त्वं पथिकेत्यादिः—पथिक-जनानाम्=विदेशगतानाम् युवतयः=तरुण्यः, प्रोषितपतिका इत्यर्थः, लक्ष्याणि=शरव्याणि यस्य तथाभूतः, पञ्चाभ्यधिकः—पञ्चानाम् अभ्यधिकः=विशिष्टः, शरः=बाणः, भव=भवितुमर्हसीति तात्पर्यम्। आर्या जातिः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—गृहीतधनुषे—गृहीतं धनुः येन तस्मै, बहु०। इसमें बहुव्रीहि समास होने के कारण 'धनुषश्च' (५।४।१३२) से समासान्त अनङ् होने पर 'गृहीतधन्वने' यह रूप बनना चाहिए था। किन्तु यदि हम समासान्त अनङ् विधि को अनित्य मान

(प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपितः ।)

कञ्चुकी—मा तावत् अनात्मज्ञे ! देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्गं किमारभसे ?

उभे—(भीते) प्रसीदत्वार्यः । अगृहीतार्थे आवाम्। [पसीददु अज्जो । अग्गहीदत्थाओ वअं ।]

कञ्चुकी—न किल श्रुतं युवाभ्यां यद् वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभिः पत्रिभिश्च। तथाहि—

चूतानां चिरनिर्गताऽपि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत् कोरकावस्थया ।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ॥४॥

लें तो उक्त रूप भी बन सकता है। अन्य कतिपय कवियों ने भी ऐसा प्रयोग किया है—'अश्वत्थामा करधृतधनुः' (वेणीसंहार ३।२३), 'धृतधनुषं रघुनन्दनं स्मरामि' (उत्तरराम० ५—४) ॥

पञ्चाभ्यधिकः—कामदेव को पञ्चसायक भी कहते हैं। क्योंकि उसके पाँच बाण हैं। ये सभी बाण पुष्प के हैं। अतः उसे पुष्पसायक भी कहा जाता है। इन पुष्पों के नाम इस प्रकार हैं—(१) अरविन्द (लाल कमल), (२) अशोक, (३) आम्र, (४) नवमल्लिका (नेवारी), तथा (५) नीला कमल—'अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका । नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥'

इस श्लोक के छन्द के लक्षण के लिए देखिये—१-२,३ ॥३॥

व्युत्पत्तिः—पथिक०—पथिन्+ष्कन्+विभक्त्यादिकार्यम् ॥३॥

शब्दार्थः—अपटीक्षेपेण=पर्दा हटाकर, कुपितः=क्रुद्ध । अनात्मज्ञे=अपना भी ख्याल न करने वाली, मूर्ख, प्रतिषिद्धे=रोक दिये जाने पर, आम्रकलिकाभङ्गम्=आम की कली को तोड़ना। अगृहीतार्थे=बात ज्ञात नहीं है। वासन्तिकैः=वसन्त ऋतु में फूलने वाले, पत्रिभिः=पक्षियों के द्वारा ॥

टीका—प्रविश्येति। अपटीक्षेपेण=तिरस्करिणीतिरस्कारेणेत्यर्थः, 'नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो निर्गमोऽपि च' इत्युक्तेरत्र कञ्चुकिनः सूचनाभावादपटीक्षेपेण प्रवेशः, नेपथ्यरङ्ग-मञ्चयोरन्तराले दत्तं पटमनपसार्य इत्यर्थः इति यावत्, कुपितः=क्रुद्धः। अनात्मज्ञे—आत्मानम्=स्वम् न जानाति=अवगच्छतीति तत्सम्बुद्धौ—हे अनात्मज्ञे=हे अविदे

(पर्दा हटाकर प्रवेश करके क्रोधपूर्वक)

कञ्चुकी—अरी मूर्ख, ऐसा न कर । महाराज के द्वारा वसन्तोत्सव के रोक दिये जाने पर तुम आम की कली को क्यों तोड़ रही हो ?

दोनों—(भयभीत होकर) श्रीमान् जी प्रसन्न हों । हम दोनों को यह बात ज्ञात नहीं थी ।

कञ्चुकी—क्या तुम दोनों ने नहीं सुना है कि वसन्त ऋतु में फूलने वाले वृक्षों के द्वारा और उन पर आश्रय लेने वाले पक्षियों के द्वारा भी महाराज की आज्ञा शिरोधार्य की गई है। जैसे कि—

आम की बहुत दिनों से निकली हुई भी कली (मञ्जरी) अपने पराग को नहीं धारण कर रही है। कुरबक, जो कि खिलने के लिए तैयार है, वह भी कली की हालत में ही वर्तमान है। शिशिर ऋतु के बीत जाने पर भी पुरुष कोयलों की आवाज (अभी) गले में हीं रुकी है। अनुमान करता हूँ, कामदेव भी भयभीत होकर तरकस से आधे निकाले हुए बाण को रोक ले रहा है ॥ ४ ॥

स्वकारिणि, प्रतिषिद्धे=निषिद्धे, निवारिते इत्यर्थः, आम्रकलिकाभङ्गम्—आम्रकलिकायाः= आम्रमञ्जर्याः भङ्गम्=त्रोटनम् । अगृहीतार्थे—अगृहीतः=अज्ञातः अर्थः=वसन्तोत्सवप्रतिषेधाभिप्रायः याभ्यां तथाभूते । वासन्तिकैः=एतत्कालोद्गतपुष्पैः, पत्रिभिः= पक्षिभिः । चेतनैस्तु प्रमाणीकृतमेव । अचेतनैरपीत्यपि शब्दार्थः । शासनम्=आज्ञा ॥

टिप्पणी—अपटीक्षेपेण—नाट्यशास्त्र का नियम है कि बिना पूर्व सूचना के किसी भी पात्र का प्रवेश नहीं होता है। सूचना के बाद पर्दा उठता है तब पूर्व सूचित पात्र स्टेज पर प्रवेश करता है। किन्तु कभी-कभी कोई पात्र बिना पूर्व सूचना के ही तथा बिना पर्दा उठे ही, अपने हाथ से पर्दा बगल हटाकर, स्टेज पर आ जाते हैं, इसे अपटीक्षेप कहते हैं ।

वसन्तोत्सव—इसे होलिकोत्सव भी कहा जाता था। आज की ही भाँति अतीत काल में भी वसन्तोत्सव महीनों मनाया जाने वाला त्यौहार था। रत्नावली में इस उत्सव का विशिष्ट रूप वर्णित है ।

व्युत्पत्तिः—कुपितः—√कुप्+क्त+विभक्त्यादिः । भङ्गम्—√भञ्ज्+घञ्+ विभक्त्यादिः । वासन्तिकैः—यह प्रयोग वैदिक है । वसन्त+ठञ् (इक्)+ विभक्त्यादिः । लोक में वासन्तः बनता है 'सन्धिवेलादि०' (४।३।१६) से अण् होता है ॥

अन्वयः—चूतानाम्, चिरनिर्गता, अपि, कलिका, स्वम्, रजः, न, बध्नाति; कुरबकम्, यदपि, सन्नद्धम्, तत्, कोरकावस्थया, स्थितम्; शिशिरे, गते, अपि पुंस्कोकिलानाम्, रुतम्, कण्ठेषु, स्खलितम्; शङ्के, स्मरः, अपि, चकितः, तूणार्धकृष्टम्, शरम्, संहरति ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—चूतानाम्=आम की, चिरनिर्गता=बहुत दिनों से निकली हुई,

उभे—नास्ति सन्देहः। महाप्रभावो राजर्षिः। [णत्थि संदेहो। महाप्पहाओ राएसी।]

प्रथमा—आर्य, कति दिवसान्यावयोर्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलं प्रेषितयोः। इत्थं च नौ प्रमदवनस्य पालनकर्म समर्पितम्। तदागन्तुकतयाऽश्रुतपूर्वं आवाभ्यामेष वृत्तान्तः। [अज्ज, कदि दिअहाइं अम्हाणं मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणीपाअमूलं पेसिदाणं। इत्थं अ णो पमदवणस्स पालणकम्म समप्पिदं। ता आअन्तुअदाए अस्सुदपुव्वो अम्हेहिं एसो वुत्तन्तो।]

कञ्चुकी—भवतु। न पुनरेवं प्रवर्तितव्यम्।

अपि=भी, कलिका=कली (मंजरी), स्वम्=अपने, रजः=पराग को, न=नहीं, बध्नाति=बाँध रही है, धारण कर रही है; कुरवकम्=कुरबक, यदपि=जो कि, सन्नद्धम्=खिलने के लिए तैयार है, तत्=वह, कोरकावस्थया=कली की हालत में ही, स्थितम्=वर्तमान है; शिशिरे=जाड़े के, शिशिर ऋतु के, गते=बीत जाने पर, अपि=भी, पुंस्कोकिलानाम्=पुरुष कोयलों की, रुतम्=कूक, आवाज, कण्ठेषु=गलों में, स्खलितम्=रुकी हुई है; शङ्के=अनुमान करता हूँ, स्मरः=कामदेव, अपि=भी, चकितः=भयभीत होकर, तूणार्धकृष्टम्=तरकस से आधे निकाले हुए, शरम्=बाण को, संहरति=रोक ले रहा है ॥ ४॥

टीका—चूतानामिति। चूतानाम्=आम्राणाम्, चिरनिर्गता—चिरम्=दीर्घकालम् निर्गता=निःसृता, अपि=च, शिशिरप्रान्तोद्भिन्नापीत्यर्थः, कलिका=मञ्जरीति जात्यभिप्रायेणैकवचनम्, 'कलिका' शब्दो बाधितमुख्यार्थोऽभिनवोद्गतसाधर्म्यान्मिञ्जरीं लक्षयति। अविकसितत्वं च फलं ज्ञेयम्। स्वम्=स्वकीयम्, आत्मीयमिति यावत्, अत्यावश्यकत्वं ध्वनितम्, रजः=परागम्; न बध्नाति=न दृष्टं करोतीत्यर्थः, न प्रकटयतीति यावत्। यथा काचन बाला प्रौढतया रजोदर्शनं न यातीति समासोक्तिरपि। कुरवकम्=शोणकुरण्टकं पुष्पमिति जातावेकवचनम्, ('तत्र शोणे कुरबकः' इत्यमरः, यदपि=यच्च, यद्यपीति वा, सन्नद्धम्=वृन्ताद्बहिर्निगतम्, तत्, कोरकावस्थया=कलिकावस्थया, स्थितम्=वर्तमानमास्ते। शिशिरे=हिमे, गते=व्यतीते, अपि=च, वसन्तारम्भसमये प्रारम्भेऽपीत्यर्थः, पुंस्कोकिलानाम्=पुंसां कोकिलानाम्, कोकिलपुरुषाणा-मित्यर्थः, रुतम्=शब्दितम्, कूजितमिति यावत्, कण्ठेषु=गलेषु, स्खलितम्=प्रतिहत-

दोनों—कोई सन्देह नहीं है। राजर्षि (दुष्यन्त) बड़े प्रभावशाली हैं।

पहली—आर्य, कई दिन हुए हम दोनों को महाराज के साले मित्रावसु ने महारानी के चरणों के पास भेजा था। इस प्रकार (यहाँ) हमें इस प्रमदवन की सुरक्षा का कार्य सौंपा गया है। अतः नवागन्तुक होने के कारण हम लोगों के द्वारा यह वृत्तान्त पहले नहीं सुना गया था।

कञ्चुकी—ठीक है। फिर ऐसा मत करना।

तथाऽस्फुटः कोकिलस्वरो जात इत्यर्थः। शङ्के=मन्ये, स्मरः=कामः, अपि=च, चकितः=भीतः सन्, तूणार्धकृष्टम्=तूणीरादर्धनिष्कासितम्, शरम्=बाणम्, संहरति=पुनः तूणे एव स्थापयतीत्यर्थः। अत्रोत्प्रेक्षा काव्यलिङ्गं विशेषोक्तिश्चालङ्काराः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ ४ ॥

टिप्पणी—चूतानाम्—वसन्त ऋतु के प्रारम्भ होते ही आम्रमञ्जरियाँ पराग से परिव्याप्त हो जाती हैं। कुरवक का फूल खिलखिला कर खिल उठता है। चारों दिशाएँ कोयल की कूक से ध्वनित हो उठती हैं। ये ही सब कामदेव के बाण हैं। आम्रमञ्जरियों की छटा, कुरवक की बहार और कोयलों की कूक सूखी लकड़ियों को हरी बना देता है, फूलों से उनमें अनुराग भर देता है। अचेतन की जब यह अवस्था है तो फिर जो चेतन हैं, युवक हैं, हृदयवाले हैं, कामिनी के कमनीय नयन-बाणों से कभी घायल हो चुके हैं, उनका क्या कहना।

इस श्लोक में शङ्के के कारण उत्प्रेक्षा, कारण रूप चिरनिर्गतत्व आदि के होने पर भी कार्य पराग आदि के न होने से विशेषोक्ति तथा प्रथम तीन चरण के कामदेव के बाण संहार में कारण होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित। छन्द का लक्षण—

'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४ ॥

व्युत्पत्तिः—निर्गत०—निर्+√गम्+क्त+विभक्तिः। सन्नद्धम्—सम्+√नह्+क्त+विभक्तिः। स्खलितम्—√स्खल्+क्त+विभक्तिः ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—महाप्रभावः=बड़े प्रभावशाली हैं। राष्ट्रियेण=राजा के साले, महाराज के साले, भट्टिनीपादमूलम्=महारानी के चरणों के पास। आगन्तुकतया=नवागन्तुक होने के कारण, अश्रुतपूर्वः=पहले नहीं सुना गया। प्रवर्तितव्यम्=करना। कौतूहलम्=उत्कण्ठा, श्रोतव्यम्=सुनने लायक हो। प्रतिषिद्धः=रोका गया है ॥

टीका—उभे इति। महाप्रभावः—महान्=विशिष्टः प्रभावः=प्रतापः यस्य तादृशः। राष्ट्रियेण=नगराध्यक्षेण, राजश्यालेनेत्यर्थः, ('राजश्यालस्तु राष्ट्रियः' इत्यमरः) भट्टिनीपादमूलम्—भट्टिन्याः=स्वामिन्याः पादयोः=चरणयोः मूलम्=तटम्, पार्श्वमित्यर्थः। आगन्तुकतया=अचिरागमनेन हेतुनेत्यर्थः, अश्रुतपूर्वः=पूर्वं न श्रुतः इत्यर्थः।

उभे—आर्य, कौतूहलं नौ। यद्यनेन जनेन श्रोतव्यं कथयत्वार्यः किंनिमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः प्रतिषिद्धः। [अज्ज, कोदूहलं णो। जइ इमिणा जणेण सोदव्वं कहेदु अज्जो किंणिमित्तं भट्टिणा वसन्तुस्सवो पडिसिद्धो।]

सानुमती—उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः। गुरुणा कारणेन भवितव्यम्। [उस्सवप्पिआ क्खु मणुस्सा। गुरुणा कारणेण होदव्वं।]

कञ्चुकी—बहुलीभूतमेतत् किं न कथ्यते। किमत्रभवत्योः कर्णपथं नायातं शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम्?

उभे—श्रुतं राष्ट्रियमुखाद् यावदङ्गुलीयकदर्शनम्। [सुदं रट्ठिअमुहादो जाव अंगुलीअदंसणं।]

कञ्चुकी—तेन ह्यल्पं कथयितव्यम। यदैव खलु स्वाङ्गुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात् प्रत्यादिष्टेति। तदाप्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः। तथाहि—

प्रवर्तितव्यम्=आचरितव्यम्। कौतूहलात्=उत्कण्ठावशात्, श्रोतव्यम्=श्रवणयोग्यम्। प्रतिषिद्धः=निषिद्धः॥

टिप्पणी—नास्ति सन्देहः—एम० आर० काले महाशय का कथन है कि यह उक्ति सानुमती की होनी चाहिये। वही राजा को राजर्षि कहती है। (देखिये पीछे)। दासियाँ राजा को महाराज, देव या भर्ता कहती हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि यदि इस उक्ति को हम दोनों दासियों की उक्ति मानें तो आगे प्रथमा दासी का कथन ठीक नहीं होगा। क्योंकि दो के द्वारा प्रारम्भ कथन की पूर्ति एक करे—यह ठीक नहीं है।

कति दिवसानि—यहाँ व्यतीतानि या गतानि का अध्याहार किया गया है। अर्धर्चादि गण में दिवस शब्द की गणना की जाने से इसके रूप पुंलिङ्ग और नपुंसक—दोनों—लिङ्गों में चलते हैं।

भट्टिनी—रूपक की भाषा में दासियाँ पट्टरानी को स्वामिनी और अन्य रानियों को भट्टिनी कहती थीं।

व्युत्पत्तिः—कति—किम् + डति (अति) + इम् इत्यस्य लोपे + विभक्त्यादिकार्यम्। राष्ट्रियः—राष्ट्र + घ (इय्) + विभक्तिः। प्रतिषिद्धः—प्रति + √षिध् + क्त + विभक्तिः॥

दोनों—आर्य, हमें उत्कण्ठा है। यदि हम लोगों को सुनने लायक हो तो आप बतलावें कि किस कारण से स्वामी के द्वारा वसन्तोत्सव रोका गया है।

सानुमती—मानव उत्सव पसन्द करनेवाले होते हैं। (अतः वसन्तोत्सव को रोकने में कोई) महान् कारण होना चाहिए।

कञ्चुकी—यह वात चारों ओर फैल गई है, तो क्यों न कही जायगी। क्या शकुन्तला के परित्याग के कारण होनेवाली जन-निन्दा की बात आप लोगों के कान तक नहीं पहुँची है ?

दोनों—हम लोगों ने राज्य-श्यालक के मुख से अँगूठी देखने तक की बात सुनी है।

कञ्चुकी—तव तो थोड़ा ही कहना अवशिष्ट है। ज्योंही अपनी अँगूठी को देखने से महाराज ने स्मरण किया कि वस्तुतः मैंने उन सम्माननीया शकुन्तला से एकान्त में विवाह किया था और अज्ञानवश उनका परित्याग कर दिया है। तभी से ही महाराज पश्चात्ताप से तप रहे हैं। जैसे कि—

शब्दार्थः—उत्सवप्रियाः = उत्सव पसन्द करनेवाले। गुरुणा=महान्। बहुलीभूतम्=बहुत लोगों तक पहुँच गई है, चारों ओर फैल गई है। शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम्=शकुन्तला के परित्याग के कारण होनेवाली जन-निन्दा की बात। यावदङ्गुलीयकदर्शनम्=अँगूठी देखने तक ।।

टीका—सानुमतीति। उत्सवप्रियाः—प्रियः=अभीष्टः उत्सवः=आमोदावसरः येषां तं तादृशाः, 'वा प्रियस्ये'त्यनेन वार्तिकेण वैकल्पिकोऽत्र प्रियशब्दस्य पूर्वनिपातः, अतः प्रियोत्सवाः इत्यपि भवति। गुरुणाः=महता। बहुलीभूतम्—अबहुलं बहुलं भूतमिति बहुलीभूतम्=बहुशः प्रचरद्रूप इत्यर्थः। शकुन्तलेत्यादिः—शकुन्तलायाः प्रत्यादेशात्=निराकरणात् यत् कौलीनम्=जनप्रवादः, राज्ञो लोकवाद इत्यर्थः, ('स्यात् कौलीनं लोकवादे' इत्यमरः)। अङ्गुलीयकदर्शनम्—अङ्गुलीयकस्य=अङ्गुलिमुद्रायाः दर्शनम्=अवलोकनम्, यावत् ।।

टिप्पणी—प्रत्यादेशकौलीनम्—दुष्यन्त ने गर्भवती शकुन्तला का तिरस्कारपूर्वक परित्याग कर दिया। प्रजा में काना-फूसी शुरू हुई। जरूर राजा ने तपस्विनी की इज्जत खराब की होगी। वह अब गर्भवती है। राजा ने उसका परित्याग कर दिया है। यह बहुत अनुचित बात है। राजा ऊपर से ही धार्मिक और भला मालूम पड़ता है। भीतर से बड़ा दुष्टाशय है। आदि-आदि लोक-निन्दा चारों ओर फैल रही थी।

व्युत्पत्तिः—उत्सवः—उत्+√सू+अप्+विभक्तिः।

कौलीनम्—कुलीनस्य भावः कौलीनम्, कुलीन+अण्+विभक्त्यादिकार्यम् ।।

शब्दार्थः—अल्पम्=थोड़ा, कथयितव्यम्=कहना अवशिष्ट है। स्वाङ्गुलीयकदर्शनात्=अपनी अँगूठी को देखने से, ऊढपूर्वा=पहले विवाह की गई, रहसि=एकान्त में, मोहात्=अज्ञानवश ।।

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः ।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तः पुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ॥५॥

टीका—कञ्चुकीति। अल्पम्=नातिदीर्घम्, कथयितव्यम्=वक्तव्यम्। स्वाङ्गुलीयकदर्शनात्—स्वाङ्गुलीयकस्य=स्वस्याः अङ्गुलिमुद्रायाः दर्शनात्=साक्षात्कारात्, ऊढपूर्वा—पूर्वम्=पुरा ऊढा=कृतविवाहेति ऊढपूर्वा=कृतविवाहा, रहसि=एकान्ते, मोहात्=अज्ञानात्। अत्र मे इति मया। तथा च वामनः (काव्या० सू० ५।२।१०)—'तेमेशब्दौ निपातौ त्वयामयेत्यर्थे' इति ॥ यदैव स्मृतं देवेन तदाप्रभृतीत्यन्वयः ॥

अन्वयः—रम्यम्, द्वेष्टि; यथा पुरा, प्रकृतिभिः, प्रत्यहम्, न, सेव्यते; उन्निद्रः, एव, शय्याप्रान्तविवर्तनैः, क्षपाः, विगमयति; यदा, दाक्षिण्येन, अन्तःपुरेभ्यः, उचिताम्, वाचम्, ददाति, तदा, गोत्रेषु, स्खलितः, (सन्), चिरम्, व्रीडाविलक्षः, च, भवति ॥ ५॥

शब्दार्थः—रम्यम्=मनोहर वस्तुओं को, द्वेष्टि=देखना भी नहीं पसन्द करते हैं; यथा पुरा=पहले की तरह, प्रकृतिभिः=प्रजाजनों के द्वारा, प्रत्यहम्=प्रतिदिन, न=नहीं, सेव्यते=सेवित किये जाते; उन्निद्रः=जागते हुए, एव=ही, शय्याप्रान्तविवर्तनैः=पलंग के किनारों पर करवटें बदल कर ही, क्षपाः=रात्रियों को, विगमयति=विताते हैं; यदा=जब, दाक्षिण्येन=शिष्टता के कारण, अन्तःपुरेभ्यः=अन्तःपुर की स्त्रियों को, उचिताम्=उचित, वाचम्=वचन, उत्तर, ददाति=देते हैं, तदा=तब, गोत्रेषु=नामोच्चारण में, स्खलितः (सन्)=गलती कर देने पर, अर्थात् भूल से शकुन्तला का नाम ले लेने पर, चिरम्=बहुत देर तक, व्रीडाविलक्षः=लज्जा से व्याकुल, च=यह पादपूर्ति के लिए है, भवति=हो जाते हैं ॥ ५ ॥

टीका—रम्यमिति। स राजा रम्यम्=मनोहारि, सुखकरमिति यावत्, स्रक्चन्दनचन्द्रपादादिकमिति भावः, द्वेष्टि=नाद्रियते, चक्षुषापि न पश्यतीत्यर्थः। रसेषु विरक्तो देवः इति भावः। यथा पुरा=प्रागिव, प्रकृतिभिः=प्रजाजनैः, प्रधानपुरुषैः मन्त्र्यादिभिरित्यर्थो वा, प्रत्यहम्=प्रतिदिनम्, न सेव्यते=नोपास्यते। न कुत्रापि राजकार्येऽभिरमते तस्य मन इति भावः। उन्निद्रः—उत्=उत्गता निद्रा=स्वापः यस्य तादृशः, निद्राशून्य इत्यर्थः, एव, शय्याप्रान्तविवर्तनैः—शय्यायाः=पर्यङ्कस्य प्रान्तेषु=अवसानभागेषु विवर्तनानि=परिलुण्ठनानि तैः, क्षपाः=निशाः, न तु निशायाः, विगमयति=विरुद्धं यथा स्यात्तथाऽतिवाहयति। न तु गच्छति। यदा=यस्मिन्नवसरे, दाक्षिण्येन=अत्यन्तानुरोधेन, उदारतया वा, समानुरागत्वेन वा। अनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथित इति साहित्यदर्पणमिति भावः। अन्तःपुरेभ्यः=देवीभ्यः, अत्रोपचारात् अन्तःपुर इति अन्तःपुरस्थवाचि, उचिताम्=प्रार्थनानुरूपाम्, वाचम्=वाणीम्, ददाति=वदति, ताभिः सह आलपतीति भावः; तदा=तस्मिन् समये, गोत्रेषु=नामसु, ('गोत्रं तु नाम्नि च' इत्यमरः), स्खलितः सन्=अन्यस्याः नाम्नि

वे मनोहर वस्तुओं को देखना भी नहीं पसन्द करते हैं। पहले की तरह (अब) प्रजाजनों के द्वारा प्रतिदिन नहीं सेवित किये जाते (अर्थात् पहले की तरह अब प्रजाजनों को प्रतिदिन दर्शन नहीं देते)। जागते हुए ही पलंग के किनारों पर करवटें बदलकर रात्रियों को बिताते हैं। जब शिष्टता के कारण अन्तःपुर की स्त्रियों को उचित उत्तर देते हैं तब नामोच्चारण में गलत कर देने पर बहुत देर तक लज्जा से व्याकुल हो जाते हैं ॥५॥

उच्चरितव्ये कृतशकुन्तलानामग्रहः सन्, चिरम्=दीर्घकालम्, व्रीडाविलक्षः—व्रीडया=लज्जया विलक्षः—विगतं लक्ष्यं यस्य तथाविधः, विलक्षः=विह्वलः इत्यर्थः, च, भवति=जायते। अत्र पर्यायोक्तं समुच्चयः काव्यलिङ्गं चालङ्काराः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

टिप्पणी—प्रकृतिभिः—प्रकृति शब्द के दो अर्थ होते हैं—प्रजा और मन्त्री। यहाँ दोनों ही अर्थ हो सकते हैं। अधिकतर टीकाकारों ने दूसरा अर्थ ही स्वीकार किया है। किन्तु यहाँ इसका प्रथम अर्थ ही प्रसंगानुकूल और व्यावहारिक है। यदि राजा मंत्रियों से न मिले तो सारा राज-काज ही ठप पड़ जायगा। अतः वह उनसे मिलना, उन्हें सलाह देना नहीं बन्द कर सकता है। वास्तविकता यह है—प्राचीन समय में राजा घन्टे दो घण्टे अपनी खुली सभा में बैठते थे। साहित्यिक परिचर्चाएँ, शास्त्रार्थ तथा वादविवाद चला करते थे। उसी समय यथावसर प्रजावर्ग राजा का दर्शन करता था, अपनी फरियाद सुनाता था और फिर राजा का निर्णय शिरोधार्य कर अपने घर सिधारता था। राजा का मानसिक धरातल आजकल उलझा हुआ है, संसार का कुछ उसे मनोरम नहीं लग रहा है। अतः प्रजा को दर्शन देना, सभा में बैठना नियमितरूप से नहीं चल पा रहा है। यही है प्रथम चरण के उत्तरार्द्ध का अभिप्राय।

व्रीडाविलक्षः—आजकल शकुन्तला का भूत राजा के सिर पर नाच रहा है। उसकी बड़ी-बड़ी कमलपत्र-जैसी आँखें, साभिमान छाती फोड़कर निकले हुए विशाल स्तन, गोले-गोले मोटे दलकते नितम्ब, चाँद जैसा मुख, मक्खन से बना हुआ चमेली लता की तरह शरीर—ये सब राजा की आँखों के सामने हर क्षण नाच रहे हैं। दिल-दिमाग सब कुछ शकुन्तलामय हो गया है। वह रानियों के बीच बैठता है। रानियाँ कुछ प्रस्ताव करती हैं। वह नाम ले-लेकर उनके प्रस्तावों का उत्तर देता है। कभी-कभी वह सुभद्रा, रोहिणी आदि रानियों को शकुन्तला कहकर उत्तर दे बैठता है। रानियाँ अवाक् हो उसका मुख देखने लगती हैं। उसे अपनी गलती का भान होता है। कुछ देर के लिए झेंप जाता है। आखिर ठहरा तो वह उच्चकुल का ही।

इस श्लोक में पर्यायोक्त, समुच्चय एवं काव्यलिंग अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥ ५ ॥

व्युत्पत्तिः—रम्यम्—√रम् + यत् + विभक्तिः। दाक्षिण्येन—दक्षिण + ष्यञ् + विभक्त्यादिकार्यम् ॥ ५ ॥

सानुमती—प्रियं मे । [पिअं मे ।]

कञ्चुकी—अस्मात् प्रभवतो वैमनस्यादुत्सवः प्रत्याख्यातः ।

उभे—युज्यते । [जुज्जइ ।]

(नेपथ्ये)

एतु एतु भवान् । [एदु एदु भवं ।]

कञ्चुकी—(कर्णं दत्त्वा) अये, इत एवाभिवर्तते देवः। स्वकर्मानुष्ठीयताम् ।

उभे—तथा । [तह ।] (इति निष्क्रान्ते ।)

(ततः प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेषो राजा विदूषकः प्रतीहारी च ।)

कंचुकी—(राजानमवलोक्य) अहो, सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम् । एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः। तथा हि—

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः ।
चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥६॥

शब्दार्थः—प्रभवतः = प्रबल, वैमनस्यात् = उद्वेग के कारण, प्रत्याख्यातः = तिरस्कृत किया गया है, रोक दिया गया है ।

टीका—कञ्चुकीति । प्रभवतः=समर्थात् अधिकादित्यर्थः, वैमनस्यात्=उद्वेगात्, मनस्तापादित्यर्थः, प्रत्याख्यातः=तिरस्कृतः, प्रतिषिद्धः ॥

टिप्पणी—प्रभवतः—यह वैमनस्य का विशेषण है । कुछ लोगों ने इसका अर्थ 'राजा' किया है, जो असंगत है । इस वाक्य में कर्ता 'देवेन' गुप्त है। स्वकर्म०—कञ्चुकी ने यह दोनों दासियों के लिए कहा है । पीछे 'प्रविश्यापटीक्षेपेण' से लेकर यहाँ तक द्युति नामक विमर्श-सन्धि का अङ्ग है। साहित्यदर्पण (६–१०४) में द्युति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता द्युतिः ।' यहाँ दासियों को डराया धमकाया गया है ।

व्युत्पत्तिः—वैमनस्यात्—विकृतं मनः, तस्य भावः, विमनस् + ष्यञ् + विभक्त्यादिः । प्रत्याख्यातः—प्रति + आ + √चक्ष् + क्त, चक्ष् इत्यस्य ख्यादेशे + विभक्त्यादिः ॥

सानुमती—मेरे लिए प्रिय है (यह समाचार)।

कञ्चुकी—इस प्रबल उद्वेग के कारण उत्सव रोक दिया गया है।

दोनों—ठीक ही है।

(पर्दे के पीछे)

आप आवें—आवें (इधर से)।

कञ्चुकी—(कान लगाकर) अरे, महाराज इधर ही आ रहे हैं। (तो जाओ) अपना काम करो।

दोनों—अच्छा। (इस प्रकार दोनों निकल गईं)

(तदनन्तर पश्चात्ताप के योग्य वेष धारण किये हुए राजा, विदूषक तथा प्रतिहारी प्रवेश करते हैं)

कञ्चुकी—(राजा को देखकर) वाह, सुन्दर आकृतिवालों की सभी अवस्थाओं में, मनोहरता विद्यमान रहती है। इस तरह उत्कण्ठित होते हुए भी महाराज देखने में सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं। जैसे कि—

विशिष्ट अलङ्कारों से (अपने को) सजाने-सँवारने की विधि का परित्याग किये हुए, बाईं कलाई में पहने गये एक ही सुवर्णनिर्मित कंकण को धारण किये हुए, उच्छ्वासों से अधिक लाल पड़ गये ओठवाले, चिन्ता के कारण (रातभर) जागते रहने से अत्यन्त लाल नेत्रोंवाले (महाराज), शाण पर खरादे गये बहुमूल्य रत्न की तरह, कृश होने पर भी अपने तेज की महत्ता से (दुर्बल) नहीं दिखलाई पड़ रहे हैं॥ ६॥

शब्दार्थः—पश्चात्तापसदृशवेषः=पश्चात्ताप के योग्य वेष धारण किये हुए। रमणीयत्वम्=मनोहरता, आकृतिविशेषाणाम्=सुन्दर आकृतिवालों की। उत्सुकः=उत्कण्ठित, प्रियदर्शनः=देखने में सुन्दर॥

टीका—ततः प्रविशतीति। पश्चात्तापसदृशवेषः—पश्चात्=अनन्तरम् तापः=मानसिकी पीडा, कर्मधारयः, पश्चात्तापेन सदृशः=योग्यः वेषः=वस्त्रादिरचना यस्य सः तादृशः। रमणीयत्वम्=मनोहरत्वम्, आकृतिविशेषाणाम्=विशिष्टाकृतीनाम्। उत्सुकः=उत्कण्ठितः, प्रियदर्शनः—प्रियम्=मनोहारि दर्शनम्=दृष्टिविषयता यस्य तादृशः॥

टिप्पणी—सर्वास्ववस्थासु—महाकवि कालिदास ने ऐसा ही भाव अपनी अन्य कृतियों में व्यक्त किया है—(क) किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् (शाकु० १—२०)। (ख) अहो सर्वास्ववस्थासु अनवद्यता रूपस्य। (माल० अंक २)।

व्युत्पत्तिः—रमणीयत्वम्—√रम्+णिच्+अनीयर+रमणीय+त्व+विभक्तिः॥

अन्वयः—प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः, वामप्रकोष्ठार्पितम्, एकम्, एव, काञ्चनम्, वलयम्, बिभ्रत्, श्वासोपरक्ताधरः, चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनः, (देवः), संस्कारोल्लिखितः, महामणिः, इव, क्षीणः, अपि, आत्मनः, तेजोगुणात्, (कृशः), न, आलक्ष्यते॥ ६॥

शब्दार्थः—प्रत्यादिष्ट—विशेष—मंडनविधिः=विशिष्ट अलङ्कारों से सजाने-

सानुमती—(राजानं दृष्ट्वा) स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति। [ठाणे क्खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स किदे सउन्दला किलम्मदि त्ति ।]

राजा—(ध्यानमन्दं परिक्रम्य)

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम् ।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम् ॥७॥

सँवारने की विधि का परित्याग किये हुए, वामप्रकोष्ठार्पितम् = बाईं कलाई में पहने गये, एकम् = एक, एव = ही, काञ्चनम् = सुवर्णनिर्मित, वलयम् = कंकण को, बिभ्रत् = धारण किये हुए, श्वासोपरक्ताधरः = उच्छ्वासों से अधिक लाल पड़ गये ओठवाले, चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनः = चिन्ता के कारण (रातभर) जागते रहने के कारण अत्यन्त लाल नेत्रोंवाले, (देवः = महाराज), संस्कारोल्लिखितः = शाण पर खरादे गये, महामणिः इव = बहुमूल्य रत्न की तरह, क्षीणः = कृश होने पर अपि = भी, आत्मनः = अपने, तेजोगुणात् = तेज की महत्ता से, (कृशः = दुर्बल), न = नहीं, आलक्ष्यते = दिखलाई पड़ रहे हैं ॥ ६ ॥

टीका—प्रत्यादिष्टेति। प्रत्यादिष्टेत्यादिः—प्रत्यादिष्टः = निराकृतः विशेषमण्डनस्य = हारकेयूरकुण्डलादिभिरलङ्करणस्य विधिः = धारणविधिरनुष्ठानं वा येन तादृशः, वामप्रकोष्ठार्पितम्—वामे प्रकोष्ठे = मणिवन्धोर्ध्वभागे अर्पितम् = दत्तम्, एकमेव काञ्चनम् = सौवर्णम् वलयम् = कटकम्, 'वलयम्' इत्येकवचनं द्वितीयस्य वोढुमसामर्थ्यात्, बिभ्रत् = धारयन्; श्वासोपरक्ताधरः—श्वासेन = विरहित्वादुष्णोच्छ्वासेन उपरक्तः = पाटलः न तु रूक्षोऽधरः = निम्नौष्ठः यस्य स तादृशः, चिन्तेत्यादिः—चिन्तया = शकुन्तलागतया चिन्तयेत्यर्थः, यत् जागरणम् = निद्राराहित्यम् तेन प्रताम्रे = आरक्ते नयने = नेत्रे यस्य तथाभूतः; देव इत्यत्र योज्यम्; संस्कारोल्लिखितः—संस्कारे = शाणे उल्लिखितः = उद्घर्षितः, महामणिरिव = बहुमूल्यं रत्नमिव, क्षीणः = कृशः, अपि, आत्मनः = स्वस्य, तेजोगुणात् = दीप्तिप्रभावात्, कृश इति शेषः, न आलक्ष्यते = न प्रतीयते। अत्रोपमा-स्वभावोक्तिश्चालङ्कारौ शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ ६ ॥

टिप्पणी—वामप्रकोष्ठ०—एक प्रकोष्ठ में, विशेषकर वामप्रकोष्ठ में, कंकण पहनना राजा की विक्षिप्तता को सूचित करता है।

नालक्ष्यते—शरीर से निकलते हुए तेज के कारण उनकी शारीरिक दुर्बलता नहीं प्रतीत हो रही है। इस श्लोक में चार कामदशाओं का वर्णन किया गया है—प्रत्यादिष्ट० के द्वारा विषयनिवृत्ति, चिन्ता० के द्वारा चिन्ता, जागरण० के द्वारा निद्रा का अभाव तथा क्षीण० के द्वारा तनुता। कामदशाएँ दस हुआ करती हैं—नयनप्रीतिः प्रथमं

सानुमती—(राजा को देखकर) तिरस्कार के द्वारा अपमानित की गई भी शकुन्तला जो इस राजा के लिए दुःखित रहती है, वह उचित ही है।

राजा—(ध्यान में मग्न शनैः-शनैः चारों ओर घूमकर)

पहले मृगलोचनी प्रिया के द्वारा जगाया जाता हुआ भी सुप्त यह अभागा हृदय अब पश्चात्ताप के दुःख के लिए जागा है॥ ७॥

चित्तासङ्गस्ततोऽथ सकल्पः। निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः। उन्मादो मूर्च्छा इत्येताः स्मरदशा दशैव स्युरित्याचक्षते॥ (उज्ज्वलनीलमणि)।

इस श्लोक में उपमा एवं स्वभावोक्ति अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण:—

'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्'॥ ६॥

व्युत्पत्तिः—प्रत्यादिष्ट०—प्रति + आ + √दिश् + क्त + विभक्त्यादिः। प्रतान्त०—प्र + √तम् + क्त + विभक्तिः॥ ६॥

अन्वयः—प्रथमम्, सारङ्गाक्ष्या, प्रियया, प्रतिबोध्यमानम्, अपि, सुप्तम्, इदम् हतहृदयम्, सम्प्रति, अनुशयदुःखाय, विबुद्धम्॥ ७॥

शब्दार्थः—प्रथमम् = पहले, सारङ्गाक्ष्या = मृगलोचनी, प्रियया = प्रिया के द्वारा, प्रतिबोध्यमानम् = जगाया जाता हुआ, अपि = भी, सुप्तम् = सुप्त, सोया हुआ, इदम् = यह, हतहृदयम् = अभागा हृदय, सम्प्रति = अब, अनुशयदुःखाय = पश्चात्ताप के दुःख के लिए, विबुद्धम् = जागा है, होश में आया है॥ ७॥

टीका—प्रथममिति। प्रथमम् = पूर्वम्, आश्रमादत्र शकुन्तलागमनकाले, सारङ्गाक्ष्या—सारङ्गः = हरिणः तस्येक्षणे = लोचने, इवेक्षणे यस्यास्तया, प्रियया = प्रेयस्या शकुन्तलया, प्रतिबोध्यमानम् = जागर्यमाणम्, विविधरूपेण स्मरणार्थं प्रेर्यमाणम्, अपि = च, सुप्तम् = मोहमुपागतम्, इदम् = एतत्, मदीयमित्यर्थः, हतहृदयम्—हतम् = भाग्यवञ्चितम् हृदयम् = मानसम्, सम्प्रति = अधुना, अनुशयदुःखाय—अनुशयस्य = पश्चात्तापस्य दुःखाय = कष्टाय, विबुद्धम् = जागरितम् चैतन्यमागतम्। अत्र विशेषोक्ति-विभावना चालङ्कारौ। आर्या जातिः॥ ७॥

टिप्पणी—स्थाने खलु—कहीं अत्यन्त सुन्दरी से आपकी आँखें चार-चार हुईं। एक दूसरे से हार गये। अपना सर्वस्व निछावर कर बैठे। मौके-बेमौके शारीरिक मजा भी लिया गया। संयोग से दोनों को अलग, बहुत दूर अलग जाकर रहना पड़ा। आप तो सुन्दरी के वियोग में बेचैन हो तड़प रहे हैं। किन्तु उधर नये स्थान पर सुन्दरी ने अपना नया संसार बसाना शुरू किया है। आपकी भेंट को उसने एक आकस्मिक संयोग माना। उसकी दशा का पता लगाकर जब आपके मित्र ने यह सूचना दी कि वह तो नये मित्रों के परिवेश में मजा ले रही है। तब आपको और आपके दोस्तों को भी यही प्रतीत होगा कि—'आपका उस सुन्दरी के लिए छटपटाना बेवकूफी के

सानुमती—नन्वीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि। [णं ईदिसाणि तवस्सिणीए भाअहेआणि।]

विदूषकः—(अपवार्य) लङ्घित एष भूयोऽपि शकुन्तलाव्याधिना। न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यतीति। [लंघिदो एषो भूओ वि सउन्दलावाहिणा। ण आणे कहं चिकिच्छिदव्वो भविस्सदि त्ति।]

कञ्चुकी—(उपगम्य) जयतु जयतु देवः। महाराज, प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः। यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराजः।

राजा—वेत्रवति, मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।

अलावा और कुछ नहीं है। किन्तु शकुन्तला और दुष्यन्त की हालत ठीक इसके विपरीत है। वे अब एक दूसरे के लिए तड़प रहे हैं। मर रहे हैं।

अनुशय०—पहले तो शकुन्तला बार-बार यही कहती रही कि मैं आपकी हूँ। आपने मेरे हृदय और शरीर—दोनों पर अधिकार किया था। उसने तमाम प्रमाण भी पेश किया था। किन्तु दुर्वासा के शाप के वशीभूत दुष्यन्त ने एक भी न माना और उसे वापस कर दिया। किन्तु स्मरण होने पर, मोह भाग जाने पर अब दुष्यन्त कलेजा फाड़-फाड़कर शकुन्तला के लिए तड़प रहा है। यही यहाँ का भाव है।

श्लोक में विशेषोक्ति तथा विभावना अलङ्कार एवं आर्या छन्द है॥ ७॥

व्युत्पत्तिः—सुप्तम्—√सुप् + क्त + विभक्तिः। विबुद्धम्—वि + √बुध् + क्त + विभक्त्यादिः॥ ७॥

शब्दार्थः—तपस्विन्याः = बेचारी के, भागधेयानि = भाग्य। लङ्घितः = आक्रान्त किये गये, वश में किये गये। चिकित्सितव्यः = चिकित्सा के योग्य, इलाज किया जाय। प्रत्यवेक्षिताः = निरीक्षण कर ली गई हैं, सावधानी से देख ली गई हैं, प्रमदवनभूमयः = प्रमदवन की जगहें, क्रीडा-उपवन की भूमियाँ। यथाकामम् = अपनी इच्छा के अनुसार॥

टीका—सानुमतीति। तपस्विन्याः = अनुकम्पार्हायाः, ('तपस्वी चानुकम्पार्हः' इत्यमरः), भागधेयानि = भाग्यानि। लङ्घितः = आक्रान्तः। शकुन्तलाव्याधिना—शकुन्तलायाः सकाशाद्यो व्याधिस्तेन, अथवा रूपकम्—शकुन्तलैव व्याधिरुद्वेगदायित्वात्। चिकित्सितव्यः = प्रतिविधेयः। प्रत्यवेक्षिताः = निपुणमवलोकिताः। राज्ञो निःश

सानुमती—उस बेचारी का भाग्य ही ऐसा है (आपके हृदय का इसमें क्या दोष ?) ।

विदूषक—(हाथ की आड़ में मुँह करके) यह फिर शकुन्तला की बीमारी से आक्रान्त किये गये (अर्थात् इन्हें फिर शकुन्तला का बुखार चढ़ा) । पता नहीं कैसे इनका इलाज होगा ।

कञ्चुकी—(पास में जाकर) महाराज विजयी बनें, विजयी बनें । महाराज, प्रमदवन की भूमियाँ सावधानी से देख ली गई हैं । अब महाराज, अपनी इच्छा के अनुसार, आमोद-प्रमोद के स्थानों पर चल सकते हैं ।

राजा—वेत्रवती, मेरी तरफ से मन्त्री श्रीमान् पिशुन से कहो कि—'(रात्रि में) देर तक जागते रहने के कारण आज धर्मासन पर बैठना मेरे लिए संभव नहीं है । आपने पुरवासियों का जो कार्य देख लिया हो उसे पत्र पर चढ़ाकर भेज दें ।'

सञ्चारार्थं प्रत्यवेक्षणमिति नीतिः । प्रमदवनभूमयः—प्रमदवनस्य=मधुरक्रीडोद्यानस्य भूमयः=स्थानानि । यथाकामम्—कामम्=इच्छाम् अनतिक्रम्येति यथाकामम्= स्वेच्छम् ॥

टिप्पणी—भागधेयानि—भाग्य और भाग शब्द समानार्थक हैं । भाग, नाम और रूप शब्दों से स्वार्थ में धेय प्रत्यय लगता है ।

प्रत्यवेक्षिताः—आज की ही भाँति प्राचीन काल में भी जब राजा आदि बड़े व्यक्ति किसी स्थान पर पधारने की इच्छा करते थे तो पहले उस स्थान की सावधानी से छान-बीन कर ली जाती थी । इस पूर्व निरीक्षण से शत्रुओं को किसी प्रकार का अवसर न मिल पाता था ।

प्रमदवन०—यह वन रनिवास के सन्निकट ही हुआ करता था । इसमें सर्वसाधारण को जाने की अनुमति न थी । अन्तःपुर की सुन्दरियाँ इसमें विहार किया करती थीं । राजा भी जब-तब इसका आनन्द लेता था ॥

व्युत्पत्तिः—चिकित्सितव्यः—किती संज्ञाने √कित् + सन् + तव्य + विभक्तिः । प्रत्यवेक्षिताः—प्रति + अव + √इक्ष् + क्त + विभक्त्यादिः ॥

शब्दार्थः—अमात्यम् = मन्त्री । चिरप्रबोधात् = देर तक जागते रहने के कारण, संभावितम् = संभव है, अध्यासितुम् = बैठना । पौरकार्यम् = पुरवासियों का कार्य, पत्रम् = कागज पर, आरोप्य = चढ़ा कर ॥

टीका—राजेति । अमात्यम्—अमा=समीपे तिष्ठतीति अमात्यः=मन्त्री तम् । चिरप्रबोधात्—चिरम् = चिरेकालं प्रबोधात् = जागरणात्, चिरकालेन प्रबोधनाज्जागरणादिति राघवभट्टव्याख्यानन्तूपेक्षणीयमेवेति । संभावितम् = शक्यसम्भवम्, अध्यासितुम्= अलङ्कर्तुम् । पौरकार्यम् = पुरवासिनां कार्यम्, पत्रम् = लेखनपट्टम्, आरोप्य = स्थाप्य, लिखित्वा ॥

टिप्पणी—चिरप्रबोधात्—रात्रि में देर तक जागते रहने के कारण कोई भी दिमागी कार्य करना राजा के लिए आज संभव न था । अतः ऐसा कहला रहे हैं ।

पत्रम्—इससे यह प्रतीत होता है कि कवि के काल में प्रजाजनों के वाद-विवाद

प्रतीहारी—यद्देव आज्ञापयति। [जं देवो आणवेदि।]
(इति निष्क्रान्ता।)

राजा—वातायन, त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः।)

विदूषकः—कृतं भवता निर्मक्षिकम्। साम्प्रतं शिशिरातपच्छेदरमणीयेऽस्मिन् प्रमदवनोद्देश आत्मानं रमयिष्यसि। [किदं भवदा णिम्मच्छिअं। संपदं सिसिरातवच्छेअरमणीए इमस्सिं पमदवणुद्देसे अत्ताणं रमइस्ससि।]

राजा—वयस्य, रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति यदुच्यते तदव्यभिचारि वचः। कुतः—

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना
मम च मुक्तमिदं तमसा मनः।
मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता
धनुषि चूतशरश्च निवेशितः ॥८॥

को सुनकर मन्त्री लिखता था और उस पर राजा उसकी सहायता से निर्णय देता था। कभी-कभी निर्णय का यह कार्य राजा अकेले भी करता था।

व्युत्पत्तिः—अमात्यम्—अमा + त्य + विभक्तिः। संभावितम्—सम् + √भू + णिच् + क्त + विभक्तिः॥

शब्दार्थः—निर्मक्षिकम्=मक्खियों से भी रहित अर्थात् पूर्ण एकान्त। शिशिरातपच्छेदरमणीये—ठण्ड और गर्मी के अभाव के कारण मनोहर। रन्ध्रोपनिपातिनः=छिद्र में आ पड़ते हैं, अनर्थाः=विपत्तियाँ, अर्थात् विपत्तियाँ विपत्तियों में आती हैं। अव्यभिचारि = अपवादरहित अर्थात् सर्वथा सत्य॥

टीका—विदूषक इति। निर्मक्षिकम्—मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्=नास्ति मक्षिकापि यत्र तादृशं निर्जनमिति भावः, स्थानमिति शेषः। शिशिरातपच्छेदरमणीये—शिशिरः=शीतः आतपः=ग्रीष्मः इति द्वौ ऋतू तयोः छेदः=अभावः, अथवा अन्तरालं वसन्त इति यावत्, तेन रमणीये=मनोहरे। नाप्यत्यन्तं शिशिरं नाप्यातपः। रन्ध्रोपनिपातिनः—रन्ध्रेषु=छिद्रेषु, दुःसमयेष्वित्यर्थः, उपनिपतन्ति=समीपस्थाः भवन्तीति। 'छिद्रेष्वनर्थाः बहुलीभवन्ती'ति पञ्चतन्त्रोक्तिः। अनर्थाः=विपत्तयः। अव्यभिचारि=सत्यम्, अपवादरहितमिति यावत्॥

टिप्पणी—रन्ध्रोपनिपातिनः—यह एक मुहावरा है। इसका अर्थ है—'विपत्तियाँ विपत्तियों में ही आती हैं।' इस प्रकार की अन्य उक्तियाँ पञ्चतन्त्र तथा नीतिशतक आदि में देखी जा सकती हैं॥

प्रतिहारी—महाराज जैसी आज्ञा दे रहे हैं (वैसी ही करूँगी)। (ऐसा कहकर निकल गई)

राजा—वातायन, तुम भी अपनी ड्यूटी को अलङ्कृत करो (अर्थात् तुम भी जाकर अपना काम करो)।

कञ्चुकी—महाराज जैसी आज्ञा दे रहे हैं (वैसा ही करूँगा) (ऐसा कहकर निकल गया)।

विदूषक—आपने पूर्ण एकान्त कर दिया। अब ठण्ड और गर्मी के अभाव के कारण मनोहर इस प्रमदवन के प्रदेश में अपने आपको बहलाइये।

राजा—मित्र, 'विपत्तियाँ विपत्तियों में आती हैं' यह जो कहावत है वह सर्वथा सत्य वचन है। क्योंकि—

हे मित्र, मुनि-पुत्री (शकुन्तला) के प्रति प्रणय की याद के अवरोधक मोह ने मेरे इस मन को छोड़ दिया है तथा प्रहार करने वाले कामदेव ने धनुष पर आम्रमञ्जरीरूप बाण को भी चढ़ा लिया है ॥ ८ ॥

अन्वयः—सखे, मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना, तमसा, मम, इदम्, मनः, मुक्तम्; च, प्रहरिष्यता, मनसिजेन, धनुषि, चूतशरः, च, निवेशितः ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—सखे = हे मित्र, मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना—मुनी-पुत्री (शकुन्तला) के प्रति प्रणय की याद के अवरोधक, तमसा = मोह ने, मम = मेरे, इदम् = इस, मनः = मन को, मुक्तम् = छोड़ दिया है, च = तथा, प्रहरिष्यता = प्रहार करनेवाले, मनसिजेन = कामदेव ने, धनुषि = धनुष पर, चूतशरः = आम्रमञ्जरीरूप बाण को, च = भी, निवेशितः = चढ़ा लिया है। ८ ॥

टीका—मुनीति। सखे = हे मित्र, मुनिसुतेत्यादिः—मुनिसुतायाम् = कण्वदुहितरि शकुन्तलायाम्, राज्ञो मुनिसुतात्वेन प्रत्यभिज्ञानात्तथोक्तिः, यः प्रणयः = प्रेमा तस्य स्मृतिः = स्मरणम् तस्याः रोधिना = अवरोधकेन, तमसा = मोहेन, मम = तस्याः रहसि परिणेतुः दुष्यन्तस्य, इदम् = एतत्, पश्चात्तापमुपगतमित्यर्थः, मनः = चेतः, मुक्तम् = त्यक्तम्, च = तथा, प्रहरिष्यता = प्रहारं कुर्वता, मनसिजेन = कामेन, धनुषि = चापे, चूतशरः = आम्रमञ्जरीबाणः, च = अपि, निवेशितः = स्थापितः। मम तद्वियोगो वसन्तकालश्च प्रादुरभूदित्यर्थः। चावेककालत्वं धोययतः। अत्र समुच्चयोऽलङ्कारः। द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

टिप्पणी—मुक्तमिदम्—अँगूठी देखते ही दुष्यन्त का मोह दूर हो गया। उसे शकुन्तला के साथ की गई एक-एक बातें याद आने लगीं। उसका मन वियोगाग्नि में झुलसने लगा। इसी समय वसन्त ऋतु का आगमन हुआ। आम्रमंजरियाँ लोगों के मन को उत्कण्ठित करने लगीं। यही है काम का दुष्यन्त के ऊपर धनुष चढ़ाना।

इस श्लोक में समुच्चय अलङ्कार तथा द्रुतविलम्बित छन्द है। छन्द का लक्षण—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' ॥ ८ ॥

व्युत्पत्तिः—मुक्तम्—√मुच् + क्त + विभक्तिः। प्रहरिष्यता—प्र + √हृ + लृट् + शतृ तृतीयैकवचने रूपम्। निवेशितः—नि + √विश् + क्त + विभक्त्यादिः ॥ ८ ॥

विदूषकः—तिष्ठ तावत् । अनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पबाणं नाशयिष्यामि । [चिट्ठ दाव । इमिणा दण्डकट्ठेण कन्दप्पबाणं णासइस्सं ।]

(इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूताङ्कुरं पातयितुमिच्छति ।)

राजा—(सस्मितम्) भवतु । दृष्टं ब्रह्मवर्चसम् । सखे, क्वोपविष्टः प्रियायाः किञ्चिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टिं विलोभयामि ।

विदूषकः—नन्वासन्नपरिचारिका चतुरिका भवता सन्दिष्टा । माधवीमण्डप इमां वेलामतिवाहयिष्ये । तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति । [णं आसण्णपरिआरिआ चदुरिआ भवदा संदिट्ठा । माहवीमण्डवे इमं वेलं अदिवाहिस्सं । तहिं मे चित्तफलअगदं सहत्थलिहिदं तत्तहोदीए सउन्दलाए पडिकिदिं आणेहि त्ति ।]

राजा—ईदृशं हृदयविनोदनस्थानम् । तत्तमेव मार्गमादेशय ।

विदूषकः—इत इतो भवान् । [इदो इदो भवं ।]

(उभौ परिक्रामतः । सानुमत्यनुगच्छति ।)

विदूषकः—एष मणिशिलापट्टकसनाथो माधवीमण्डप उपहाररमणीयतया निःसंशयं स्वागतेनेव नौ प्रतीच्छति । तत् प्रविश्य निषीदतु भवान् । [एसो मणिसिलापट्टअसणाहो माहवीमण्डवो उवहाररमणिज्जदाए णिस्संसअं साअदेण विअ णो पडिच्छदि । ता पविसिअ णिसीददु भवं ।]

(उभौ प्रवेशं कृत्वोपविष्टौ)

शब्दार्थः—दण्डकाष्ठेन=डण्डे की लकड़ी से, डण्डे से, कन्दर्पबाणम्=काम के बाण को । ब्रह्मवर्चसम्=ब्रह्मतेज । आसन्नपरिचारिका=समीपवर्तिनी सेविका । अतिवाहयिष्ये=बिताऊँगा । चित्रफलकगताम्=चित्रपट पर अंकित, प्रतिकृतिम्=चित्र को, फोटो को, प्रतिमा को ॥

टीका—विदूषक इति । दण्डकाष्ठेन—काष्ठरूपेण दण्डेन, कन्दर्पबाणम्—

विदूषक—रुकिये तो थोड़ा। इस डण्डे से काम के बाण को विनष्ट कर देता हूँ। (ऐसा कहकर दण्डे को उठाकर आम्रमञ्जरी को मारकर गिरा देना चाहता है।)

राजा—(मुस्कराकर) बस। देख लिया ब्रह्मतेज। मित्र, कहाँ बैठकर प्रिया का कुछ अनुकरण करनेवाली लताओं पर आँखों को लगाकर आनन्दित करूँ?

विदूषक—अरे, समीपवर्तिनी सेविका चतुरिका को आपने सन्देश दिया है कि—'माधवी लता के मण्डप में इस बेला को बिताऊँगा। वहीं मेरे द्वारा अपने हाथ से चित्रपट पर अंकित आदरणीया शकुन्तला की फोटो ले आओ।'

राजा—ऐसी मन बहलाने की जगह है। तो उसी मार्ग को बतलाओ।

विदूषक—इधर से, इधर से आप (आवें)।

(दोनों ही चारों ओर घूमते हैं। सानुमती उनके पीछे-पीछे जाती है।)

विदूषक—यह मणिमय शिलापट्ट से अलङ्कृत माधवी लता का मण्डप (फूलों के) उपहार से मनोहर होने के कारण निःसन्देह मानो स्वागत-प्रदान करता हुआ हम लोगों को बुला रहा है। तो (इसमें) प्रवेश करके आप बैठें।

(दोनों प्रवेश करके बैठ गये)

कन्दर्पस्य=कामस्य बाणम्=शरम्, शररूपां मञ्जरीमित्यर्थः, कन्दर्पव्याधिमिति राघवभट्टाभिमतः पाठः। ब्रह्मवर्चसम्—ब्रह्मणः=ब्राह्मणस्य वर्चः=तेजः ('तेजः-पुरीषयोर्वर्चः' इत्यमरः), ब्रह्मतेजः इत्यर्थः। आसन्नपरिचारिका—आसन्ना=समीपचारिणी परिचारिका=चेटी। परिचारिकालक्षणं मातृगुप्ताचार्यैरुक्तम्—'संवाहने च गन्धे च तथा चैव प्रसाधने। तथाभरणसंयोगमाल्यसंग्रथनेषु च। विज्ञेया नामतः सा तु नृपतेः परिचारिका॥' इति। अतिवाहयिष्ये=व्यतीतां करिष्यामीत्यर्थः। चित्रफलकगताम्—चित्रफलके=चित्रपटे गताम्=चित्रिताम्, प्रतिकृतिम्=प्रतिमाम्, चित्रमिति यावत्॥

टिप्पणी—कन्दर्पबाणम्—आम की मंजरियाँ सहृदय व्यक्ति के मन में काम की आग सुलगाने में प्रवीण हैं। इन्हें देखते ही तरुण व्यक्ति का मन कामाकुल हो उठता है। यही कारण है कि इन्हें काम का बाण कहा जाता है। वैसे भी आम्र-मञ्जरी काम के बाणों में गिनी जाती है।

व्युत्पत्ति:—ब्रह्मवर्चसम्—ब्रह्मणः वर्चः तत्पुरुषसमासे 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः' (५।४।७८) इत्यनेन अच्+विभक्त्यादिः। विलोभयामि—वि+√लुभ्+णिच्+लटि विभक्तिकार्यम्॥

शब्दार्थः—हृदयविनोदस्थानम्=मन बहलाने की जगह। अनुगच्छति=पीछे-पीछे जाती है। मणिशिलापट्टसनाथः=मणिमय शिलापट्ट से अलङ्कृत, प्रतीच्छति=स्वागत कर रहा है, स्वागतपूर्वक बुला रहा है, बुला रहा है।

टीका—राजेति। हृदयविनोदस्थानम्—हृदयस्य=संतप्तमनसः विनोदस्थानम्=खेदोपशमप्रदेशः। अनुगच्छति=अनुसरति। मणिशिलापट्टसनाथः—मणिशिलायाः=मणिमयशिलायाः पट्टेन=फलकेन सनाथः=अलङ्कृतः, प्रतीच्छति=परिगृह्णाति, सादरं प्रत्युद्गच्छतीवेत्यर्थः॥

टिप्पणी—ईदृशम्—यह माधवीलतामण्डप के लिए प्रयुक्त हुआ है। कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार लिया है—'अब मेरे लिए ऐसे ही मनोरञ्जन के साधन हैं।'

सानुमती—लतासंश्रिता द्रक्ष्यामि तावत् सख्याः प्रतिकृतिम् । ततोऽस्या भर्तुर्बहुमुखमनुरागं निवेदयिष्यामि। [लदासंस्सिदा देक्खिस्सं दाव सहीए पडिकिदिं । तदो से भत्तुणो बहुमुहं अणुराअं णिवेदइस्सं ।]

(इति तथा कृत्वा स्थिता ।)

राजा—सखे, सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्तान्तम् । कथितवानस्मि भवते च । स भवान् प्रत्यादेशवेलायां मत्समीपगतो नासीत् । पूर्वमपि न त्वया कदाचित् संकीर्तितं तत्रभवत्या नाम । कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम् ।

विदूषकः—न विस्मरामि । किन्तु सर्वं कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थं इत्याख्यातम्। मयाऽपि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम् । अथवा भवितव्यता खलु बलवती । [ण विसुमरामि । किंतु सव्वं कहिअ अवसाणे उंण तुए परिहासविअप्पओ एसो ण भूदत्थो त्ति आचक्खिदं। मए वि मिप्पिण्डबुद्धिणा तह एव्व गहीदं । अहवा भविदव्वदा क्खु बलवदी ।]

सानुमती—एवमेवैतत् । [एव्वं णेदं ।]

राजा—(ध्यात्वा) सखे, त्रातुयस्व, माम् ।

विदूषकः—भोः, किमेतत् । अनुपपन्नं खल्वीदृशं त्वयि। कदापि सत्पुरुषाः शोकवास्तव्या न भवन्ति । ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः । [भो, किं एदं । अणुववण्णं क्खु ईदिसं तुइ। कदा वि सप्पुरिसा सोअवत्तव्वा ण होन्ति । णं पवादे वि णिक्कम्पा गिरीओ ।]

शब्दार्थः—लतासंश्रिता=लता में तिरोहित होकर, प्रतिकृतिम्=चित्र को। बहु-मुखम्=अनेक प्रकार से प्रकट । प्रथमवृत्तान्तम्=पहली घटनाएँ । प्रत्यादेशवेलायाम्=वापस करने के समय, प्रत्याख्यान के समय, परित्याग के समय । संकीर्तितम्=लिया था, कहा था । कच्चित्=शायद ॥

टीका—सानुमतीति। लतासंश्रिता—लतां लतायां वा संश्रिता=आश्रिता, लतादि

सानुमती—सम्प्रति लता में तिरोहित होकर सखी (शकुन्तला) के चित्र को देखूँगी। फिर उसके पति के अनेक प्रकार से प्रकट हुए अनुराग को उसे बतलाऊँगी।

(ऐसा कहकर लता में तिरोहित होकर खड़ी होती है)

राजा—मित्र, अब शकुन्तला के विषय की समूची पहली घटनाएँ याद हो रही हैं। और आपसे तो (उसी समय) कहा भी था। उसके परित्याग के समय आप मेरे पास नहीं थे। किन्तु पहले भी कभी आपने उन आदरणीया (शकुन्तला) का नाम नहीं लिया था। शायद हमारी तरह आप भी भूल गये थे?

विदूषक—मैं भूला नहीं हूँ। किन्तु सब कुछ कहकर अन्त में फिर आपने कहा था कि यह सब हँसी की बात है, सत्य बात नहीं है। अत्यन्त मोटी बुद्धिवाले मैंने भी वैसा ही समझ लिया था। अथवा (यों कहिए कि) होनी निश्चय ही प्रबल होती है। (अतः जो होना था वह हुआ)।

सानुमती—यह ऐसा ही है।

राजा—(ध्यान कर) मित्र, बचाओ मुझे।

विदूषक—अजी, यह क्या ? तुम्हारे विषय में यह सब निश्चय ही अनुचित है। कभी भी सत्पुरुष शोक के पात्र नहीं होते हैं। निश्चय ही आँधी में भी अडिग रहते हैं पर्वत।

च्छितेत्यर्थः, प्रतिकृतिम्=चित्रम्। बहुमुखम्—बहूनि=अनेकानि मुखानि=द्वाराणीत्यर्थः यस्य तादृशं शतधारं स्रवन्तमित्यर्थः, अनेकप्रकारमिति यावत्। प्रथमवृत्तान्तम्=प्रथम-मिलनकाले घटिताः घटना इत्यर्थः। प्रत्यादेशवेलायाम्—प्रत्यादेशस्य=प्रत्याख्यानस्य वेलायाम्=समये संकीर्तितम्=कथितम्। कच्चित्=कदाचित्॥

टिप्पणी—कथितवानस्मि—दुष्यन्त का शकुन्तला से जब प्रणय-व्यापार आरम्भ हो रहा था उसी समय उन्होंने विदूषक से इसकी चर्चा की थी। (देखिये पृ० ११० से आगे)। किन्तु विदूषक शकुन्तला को देखने के पूर्व ही राजधानी वापस चला आया था। पाँचवें अंक में जिस समय शकुन्तला राजा के पास आती है, उससे पूर्व ही विदूषक हंसपदिका के पास भेज दिया गया था। अन्यथा पीछे की घटनाओं को स्मरण करने में वह राजा की कुछ मदद करता।

शब्दार्थः—विस्मरामि=भूला था, भूला हूँ। परिहासविजल्पः=हँसी की बात, भूतार्थः=सत्य, यथार्थ। मृत्पिण्डबुद्धिना= मिट्टी के लोंदे की तरह बुद्धि वाले, अत्यन्त मोटी बुद्धिवाले। भवितव्यता=होनी, होनहार। अनुपपन्नम्=अनुचित, अयोग्य। शोकवास्तव्याः=शोक के आधार, शोक के पात्र। प्रवाते=आँधी में, निष्कम्पाः= अडिग, गिरयः=पर्वत॥

टीका—विदूषक इति। विस्मरामि=विस्मृतो भवामि। परिहासविजल्पः—परिहासे परिहासस्य वा विजल्पः—विविधः जल्पः=मिथ्या वाक्यरचना, भूतार्थः= यथार्थः। मृत्पिण्डबुद्धिना—मृदः=मृत्तिकायाः=पिण्डः=चयः इव सूक्ष्मदर्शनविमूढा

राजा—वयस्य, निराकरणविक्लवायाः प्रियायाः समवस्थामनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि । सा हि—

इतः प्रत्यादेशात् स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे ।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत् सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥९॥

बुद्धिः=मतिः यस्य तथाविधेन अडमतिना इत्यर्थः । भवितव्यता=अवश्यम्भाविनी दैवगतिरित्यर्थः । अनुपपन्नम्=अयोग्यम्, असमीचीनम् । शोकवास्तव्याः—शोकस्य वास्तव्याः=वासस्थानानि, बाहुलकादधिकरणे तव्यत् आदिवृद्धिश्च, न भवन्ति। 'शोकवक्तव्याः' इति राघवभट्टस्वीकृते पाठे तु शोके जातेऽन्येन वक्तव्या न भवन्तीत्यर्थः। अप्रस्तुतप्रशंसा । प्रवाते—प्रकृष्टे=बलवतीत्यर्थः वाते=वायौ, निष्कम्पाः=कम्पनशून्याः, गिरयः=पर्वताः ॥

टिप्पणी—शोकवास्तव्याः—शोक के घर, शोक के आश्रय । संसार का शायद ही कोई ऐसा प्राणी हो जो शोकाकुल न हुआ हो। किन्तु विदूषक के कहने का भाव यह है कि आप जैसे बड़े लोगों का शोक से अभिभूत होना, चेहरे पर शोक की रेखाएं खिचना; उसकी स्पष्ट झलक दीख पड़ना—यह सब ठीक नहीं है ।

व्युत्पत्तिः—भवितव्यता—√भू+तव्यत्+तल्+टाप् ।

अनुपपन्नम्—अन्+उप्+√पद्+क्त+विभक्त्यादिः ॥

शब्दार्थः—वयस्य=मित्र, निराकरणविक्लवायाः=परित्याग के कारण विह्वल, समवस्थाम्=अवस्था को, दशा को, अनुस्मृत्य=याद करके, बलवत्=अत्यन्त, अशरणः=असहाय ॥

टीका—राजेति । वयस्य=मित्र, निराकरणविक्लवायाः—निराकरणेन=प्रत्याख्यानेन विक्लवायाः=विह्वलायाः, समवस्थाम्=दशाम्, अतिदीनां दशामित्यर्थः, अनुस्मृत्य=ध्यात्वा, बलवत्=अत्यर्थम्, अशरणः=असहायः ।

टिप्पणी—अवस्थामनुस्मृत्य—सोचिये—सजधज कर, दूल्हन बनकर शकुन्तला जब आश्रम से दुष्यन्त के पास चली थी तो उसके हृदय में कैसे-कैसे अरमान उठे होंगे—प्रियतम से मिलूंगी। देखते ही वे प्रसन्न हो उठेंगे। ललक कर अगवानी करेंगे । जीवन धन्य-धन्य हो उठेगा। आदि-आदि । किन्तु दुष्यन्त के यहाँ कुछ और ही अप्रत्याशित घटना घटी । उन्होंने उसे स्वीकार करने से बेदर्द हो इन्कार कर दिया। वह मुनियों के पीछे-पीछे आश्रम के लिए चली। शार्ङ्गरव ने डाटकर उसे वापस कर दिया। वह बिलख पड़ी। कहाँ जाय, क्या करे ?. बस उसकी इसी दशा की ओर यहाँ संकेत है ।

राजा—मित्र, परित्याग के कारण विह्वल प्रियतमा (शकुन्तला) की (तात्कालिक) अवस्था को याद करके अत्यन्त असहाय हो गया हूँ। क्योंकि वह—

यहाँ से अस्वीकार कर देने के कारण अपने साथ आये व्यक्तियों के अनुसरण में प्रवृत्त हुई (अर्थात् स्वजनों के पीछे-पीछे चली)। गुरु के समान गुरु-शिष्य (शार्ङ्गरव) के 'रुको' ऐसा डाटकर कहने पर रुक गई। (उस समय उसने) आँसुओं के प्रवाह से मलिन दृष्टि को फिर एक बार मुझ क्रूर पर जो डाला वह विष से बुझे हुए तीर के नोक की तरह मुझे जला रहा है ॥ ९ ॥

अन्वयः—इतः, प्रत्यादेशात्, स्वजनम्, अनुगन्तुम्, व्यवसिता; गुरुसमे, गुरुशिष्ये, तिष्ठ, इति, उच्चैः, वदति (सति), स्थिता; (तदा, सा), बाष्पप्रसरकलुषाम्, दृष्टिम्, पुनः, मयि, क्रूरे, यत्, अर्पितवती; तत्, सविषम्, शल्यम्, इव, माम्, दहति ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—इतः=यहाँ से, प्रत्यादेशात्=अस्वीकार कर देने के कारण, स्वजनम्=अपने साथ आये व्यक्तियों के, अनुगन्तुम्=अनुसरण में, प्रवृत्ता=प्रवृत्त हुई; तत्पर हुई, गुरुसमे=गुरु के समान, गुरुशिष्ये=गुरु-शिष्य के, तिष्ठ=रुको, इति=ऐसा, उच्चैः=जोर से, डाटकर, वदति (सति)=कहने पर, स्थिता=रुक गई, (तदा=उस समय, सा=उसने); बाष्पप्रसरकलुषाम्=आँसुओं के प्रवाह से मलिन, दृष्टिम्=दृष्टि को, आँख को, पुनः=फिर, मयि=मुझ, क्रूरे=क्रूर पर, यत्=जो, अर्पितवती=डाली, दी; तत्=वह, सविषम्=विष से बुझे हुए, शल्यम्=तीर के नोक की, इव=तरह, माम्=मुझे, दहति=जला रहा है ॥ ९ ॥

टीका—इत इति। इतः=अस्मात् स्थानात् मत्तो वा, प्रत्यादेशात्=निराकरणात्, मयाऽस्वीकारादित्यर्थः, स्वजनम्=शार्ङ्गरवादिकम्, अनुगन्तुम्=अनुयातुम्, व्यवसिता=प्रयत्नं कुर्वाणा, उद्युक्तेत्यर्थः; गुरुसमे=गुरुतुल्ये, गुरुशिष्ये—गुरोः=पितुः कण्वस्य शिष्यस्तस्मिन्, शार्ङ्गरवे इत्यर्थः, तिष्ठ=अत्रैव स्थिता भव, इति=इत्थम्, उच्चैः=तारस्वरेण, वदति=कथयति सति, स्थिता=गतिनिवृत्ता जाता। तदा सेति शेषः, बाष्पप्रसरकलुषाम्—बाष्पस्य=अश्रुणः प्रसरः=आधिक्यम् तेन कलुषाम्=आविलाम्, दृष्टिम्=नेत्रम्, पुनः=मुहुः, मयि क्रूरे=कठिने मयि, हृदयहीने मयीत्यर्थः, यत्, अर्पितवती=दत्तवती, निक्षिप्तवती, तत्=तदृष्ट्यर्पणमित्यर्थः, सविषम्=विषाक्तम्, शल्यम्=शरम्, वस्तुतः शराग्रम्, इव=यथा, माम्=प्रत्याख्यातारं दुष्यन्तमित्यर्थः, दहति=भस्मसात्करोति। अत्रोपमाऽलङ्कारः। शिखरिणी छन्दः ॥ ९ ॥

टिप्पणी—स्थिता—निर्णय सागर के संस्करण में 'मुहुः' पाठ है। किन्तु इस पाठ के रखने पर शकुन्तला की ढिठाई सिद्ध होती है जो अभीप्सित नहीं है। स्थिता से यह सिद्ध होता है कि गुरुतुल्य गुरुशिष्य के डाटने पर वह रुक गई।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा शिखरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी ॥ ९ ॥

सानुमती—अहो, ईदृशी स्वकार्यपरता । अस्य सन्तापेनाहं रमे । [अम्महे, ईदिसी स्वकज्जपरदा । इमस्स संदावेण अहं रमामि ।]

विदूषकः—भोः, अस्ति मे तर्कः केनापि तत्रभवत्याकाशचारिणा नीतेति । [भो, अत्थि मे तक्को केण वि तत्तहोदी आआसचारिणा णीदे त्ति ।]

राजा—कः पतिदेवतामन्यः परामर्ष्टुमुत्सहेत ? मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवानस्मि । तत्सहचारिणीभिः सखी ते हृतेति मे हृदयमाशङ्कते ।

सानुमती—संमोहः खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोधः । [संमोहो क्खु विम्हअणिज्जो ण पडिबोहो ।]

विदूषकः—यद्येवमस्ति खलु समागमः कालेन तत्रभवत्या । [जइ एव्वं अत्थि क्खु समाअमो कालेण तत्तहोदीए ।]

राजा—कथमिव ?

विदूषकः—न खलु मातापितरौ भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयतः । [ण क्खु मादापिदरा भत्तुविओअदुक्खिअं दुहिदरं चिरं देक्खिदुं पारेन्ति ।]

व्युत्पत्तिः—अनुगन्तुम्—अनु + √गम् + तुमुन् । व्यवसिता—वि + अव + √षो + क्त + टाप् + विभक्त्यादिः । स्थिता—√स्था + क्त + टाप् ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—स्वकार्यपरता=अपना कार्य सिद्ध करने की भावना, स्वार्थपरता । रमे=रमण कर रही हूँ; प्रसन्न हो रही हूँ । तर्कः=अनुमान, आकाशसञ्चारिणा=आकाश में विचरण करने वाले, आकाशचारी । पतिदेवताम्=पतिव्रता को, जन्मप्रतिष्ठा=जन्मस्थान, जन्मदात्री, तत्सहचारिणीभिः=उसकी सखियों के द्वारा ।

टीका—सानुमतीति । स्वकार्यपरता—स्वस्य=निजस्य कार्यं स्वकार्यं तत् परम्=अत्यन्तमभीष्टम् यस्याः सा स्वकार्यपरा तस्याः भावः, स्वार्थनिष्ठतेत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः । रमे=सुखमनुभवामि मम सन्तोष इत्यर्थः । तर्कः=अनुमानम्, आकाशसञ्चारिणा—आकाशे=गगने सञ्चरति=विचरतीति तेन, केनापि देवयोनिविशेषेणेत्यर्थः । पतिदेवताम्—पतिः=भर्ता देवता=आराध्यः यस्याः सा ताम्, पतिव्रतामित्यर्थः; जन्मप्रतिष्ठा=जन्मस्थानम्, ('प्रतिष्ठा जन्ममात्रके' इति विश्वः), तत्सहचारिणीभिः—तस्याः=मेनकायाः सहचारिणीभिः=सखीभिः ॥

सानुमती—ओह, ऐसी ही स्वार्थपरता होती है कि मैं इसके सन्ताप से प्रसन्न हो रही हूँ।

विदूषक—अजी, मेरा तो ऐसा अनुमान है कि—उन आदरणीया (शकुन्तला) को कोई आकाशचारी ले गया है।

राजा—पतिव्रता को कौन दूसरा छूने की हिम्मत कर सकता है ? मेनका तुम्हारी सखी (शकुन्तला) की जन्मदात्री है—ऐसा मैंने सुना है। उसी की सखियों के द्वारा तुम्हारी सखी ले जाई गई है—ऐसी मेरे हृदय की आशङ्का है।

सानुमती—(राजा का शकुन्तला को) भूलना ही आश्चर्यजनक है, स्मरण करना (आश्चर्यजनक) नहीं है।

विदूषक—यदि ऐसी बात है तो उन आदरणीया (शकुन्तला) से यथासमय आपका मिलन होगा।

राजा—कैसे ?

विदूषक—माता-पिता पुत्री को बहुत दिनों तक पति के वियोग से दुःखित देख ही नहीं सकते हैं।

टिप्पणी—स्वकार्यपरता—लोक में स्वार्थपरता के कतिपय उदाहरण प्रतिदिन मिलते हैं। सानुमती यह देखने आई है कि क्या कभी दुष्यन्त शकुन्तला की याद भी करता है ? किन्तु याद की बात कौन कहे ? दुष्यन्त शकुन्तला के लिए छटपटा रहा है, बेहोश हो रहा है, मर रहा है। यह देखकर उसे महान् सन्तोष हो रहा है। वह सोच रही है कि इसकी व्यग्रता जैसे-जैसे बढ़ेगी वैसे-वैसे यह शकुन्तला के अन्वेषण में तत्पर एवं व्यग्र होगा। यही है उसकी स्वकार्यपरता।

केनापि—इससे यह संकेत दिया गया है कि शकुन्तला अभी मरी नहीं है। उसके मिल जाने की संभावना है।

सख्याः—मित्र की पत्नी भी मित्र ही होती है। ऐसा प्रयोग कालिदास ने अनेक स्थानों पर किया है।

तत्सह०—वस्तुतः शकुन्तला को मेनका ही उठाकर अन्तर्धान हो गई थी। यह बात आगे सातवें अंक में स्पष्ट होगी।

व्युत्पत्तिः—देवताम्—देव + तल् + टाप् + विभक्तिः। परामर्ष्टुम्—परा + √मृश् + तुमुन्। प्रतिष्ठा—प्रति + √स्था + अङ् + टाप्॥

शब्दार्थः—संमोहः = भूलना, विस्मयनीयः = आश्चर्यजनक, प्रतिबोधः=स्मरण। समागमः=मिलन, कालेन = समयानुसार, यथासमय। भर्तृवियोगदुःखिताम् = पति के वियोग से दुःखित, दुहितरम् = पुत्री को, बिटिया को, चिरम् = बहुत दिनों तक॥

राजा—वयस्य,

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु
क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम् ।
असन्निवृत्यै तदतीतमेते
मनोरथा नाम तटप्रपाताः ॥१०॥

टीका—सानुमतीति । संमोहः = मतिभ्रमो मुग्धदशा वा, विस्मयनीयः = चमत्करणीयः, प्रतिबोधः = ज्ञानम्, स्मरणमिति यावत् । समागमः = मेलनम्, कालेन = समयेन, यथाकालमित्यर्थः । भर्तृवियोगदुःखिताम्—भर्तुः = पत्युः वियोगेन दुःखिता = पीडिता ताम्, दुहितरम् = पुत्रीम्, चिरम् = बहुकालम् ।

टिप्पणी—विस्मयनीयः—शकुन्तला का सौन्दर्य अद्भुत था । उसमें उसका उमड़ता यौवन चार चाँद लगा रहा था । देखने वाला युवक उस सौन्दर्य की पूजा में अपना सर्वस्व चढ़ाकर, अपने रूप, रङ्ग और जवानी का हवन कर अपना हृदय न्योछावर कर देता था । उस युवक के लिए क्या यह संभव है कि वह कभी इस सौन्दर्य को, सौन्दर्य के मंदिर इस देवी को और अपनी इस पूजा को भूल जाय ? कथमपि नहीं, कदापि नहीं । यही तो सानुमती यहाँ कह रही है ।

व्युत्पत्तिः—संमोहः—सम् + √मुह् + घञ् + विभक्तिः ।
प्रतिबोधः—प्रति + √बुध् + घञ् + विभक्त्यादिः ।
द्रष्टुम्—√दृश् + तुमुन् + विभक्त्यादिः ॥

अन्वयः—तत्, स्वप्नः, नु; माया, नु; मतिभ्रमः, नु; तावत्फलम्, एव, क्लिष्टम्, पुण्यम्, नु; असन्निवृत्त्यै, अतीतम्; एते, मनोरथाः, नाम, तटप्रपाताः ॥१०॥

शब्दार्थः—तत् = वह, स्वप्नः = स्वप्न था, नु = क्या ?, यह विकल्पार्थक अव्यय है; माया = माया थी, नु = क्या ?; मतिभ्रमः = बुद्धि-भ्रम था, नु = क्या ?; तावत्फलम् = उतना फलवाला, एव = ही, क्लिष्टम् = नष्टप्राय, अत्यल्प, पुण्यम् = पुण्य था, नु = क्या ?; असन्निवृत्त्यै = पुनः वापस न आने के लिए, अतीतम् = चला गया; एते = ये, मनोरथाः = मनोरथ, नाम = यह अलीक (मिथ्या) अर्थ का बोधक अव्यय है; तटप्रपाताः = किनारे के पतन के समान हैं ॥१०॥

टीका—पुनः शकुन्तलाप्राप्तेरसम्भाव्यतां प्रतिपादयन्नाह—स्वप्न इति । तत् = शकुन्तलालक्षणं वस्तु तस्याः सम्मिलनरूपं वस्तु वा, स्वप्नः = निद्रावस्थायां विषयानुभवः, न्विति वितर्के, निद्रावस्थायां तद्दृष्टं किमिति प्रश्नाभिप्रायः; माया नु = ऐन्द्रजालिकव्यापारः किम् ?, मतिभ्रमः नु = बुद्धेर्भ्रमविश्वासः किम् ?, तावत्फलम्—तावत् = तत्परिमाणम् फलम् = परिणामः यस्य तादृशम्, यावान् व्यवहारः संभाषणादिर्जातः तावदेव फलं यस्य तदित्यर्थः, एवेति निर्धारणे, क्लिष्टम् = अत्यल्पम्, सम्प्रति क्षीणमित्यर्थः, पुण्यम् = सत्कर्म, नु = किम् ?, पूर्वजन्मनि अत्यल्पमेवाचरितं पुण्यमित्यर्थः । सन्देहा-

राजा—मित्र, वह (शकुन्तला का मिलन) स्वप्न था क्या ? वह माया थी क्या ? (मेरा) वह बुद्धि-भ्रम था क्या ? वह उतना ही फलवाला नष्टप्राय (मेरा) पुण्य था क्या ? वह पुन: वापस न आने के लिए चला गया। (भविष्य में मिलन के) ये हमारे मिथ्या मनोरथ (बरसाती नदी के) किनारे के पतन के समान हैं (जो कभी फिर नहीं उठते हैं) ॥१०॥

ङ्कारः। असन्निवृत्त्यै—न सन्निवृत्तिः=पुनरागमनम् इति असन्निवृत्तिः तस्यै, पुनर्निवर्तनाभावायेत्यर्थः, अतीतम्=गतम्। एते=इमे, त्वयोच्यमानाः मया वा आशासमानाः इति भावः, मनोरथाः=अभिलाषाः, नामेत्यलीके, अलीका मनोरथा इत्यर्थः, तटप्रपाताः—तटस्य=तीरस्य प्रपातः=पतनम् इव प्रपातः येषां तादृशाः सन्ति। राघवभट्टास्तु एवं व्याख्यां कुर्वन्ति—'ते तटप्रपाता इति भिन्नरूपकम्। यथा वर्षासमये नद्यादेस्तटा ओघेन पीड्यमाना अहमहमिकया पतन्ति। एकः पतति तदुपर्यन्यस्तदुपरीतर। एवं मनोरथानामेके, विलीयन्तेऽन्य उत्पद्यन्ते तेऽपि विलीयन्ते तदितरे उत्पद्यन्ते इत्यर्थः।' इति। परञ्च 'मनोरथानामतटप्रपाताः' इत्येव पाठः समीचीनः। विवेकस्तु टिप्पण्यां द्रष्टव्यः। अत्र सन्देहः काव्यलिङ्गं चालङ्कारो स्तः। अत्र प्ररोचना नाम विमर्शसन्ध्यङ्गं संशयनामकं नाट्यलक्षणं च वर्तते। उपजातिर्वृत्तम् ॥ १० ॥

टिप्पणी—स्वप्नो नु—अँगूठी मिलने पर दुर्वासा के शाप का प्रभाव समाप्त हुआ। राजा को पहले की सारी बातें एक-एक करके याद आने लगीं। शकुन्तला-मिलन की घटना उसके सामने नाचने लगी। इस पर वह चार विकल्प करता है। वह पहले विकल्प को दूसरे विकल्प से काटते जाता है। उसके ये चार विकल्प हैं—(क)-क्या शकुन्तला का मिलन स्वप्न था ? किन्तु वह स्वप्न कैसे हो सकता है, क्योंकि उस समय मैं सोया हुआ नहीं था। जाग रहा था। (ख)-तो क्या वह कोई जादू था ? यह भी संभव नहीं है, क्योंकि मेरे ऊपर किसी जादूगर का जादू कामयाब नहीं हो सकता। (ग)-तो क्या यह मेरी बुद्धि का भ्रम था ? नहीं, उस समय के सारे व्यवहार सही रूप में मुझे याद हैं। अतः इसे बुद्धि का भ्रम भी नहीं कहा जा सकता है। (घ)-तो क्या यह मेरा कोई अत्यल्प पुण्य था जिसके स्वल्प फल के भोग के लिये थोड़े समय तक उसका सहवास मुझे प्राप्त हुआ था ? अन्त में राजा इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मेरा पुण्य ही अल्प था। अतः थोड़े काल तक ही उसका सहवास मुझे मिल सका।

मनोरथा नाम तटप्रपाताः—वर्षा ऋतु में जब नदियाँ उमड़ कर बहती हैं तब उनके ऊँचे-ऊँचे तट ढहते हैं। वे फिर कभी लौटकर अपने स्थान पर नहीं आते। नदी की धारा में ही विलीन हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार शकुन्तला से मिलन के मेरे मनोरथ अब पुनः सत्य नहीं होंगे। वे हमेशा के लिए काल के कराल गाल में प्रविष्ट हो गये हैं। मनोरथानामतटप्रपातः—कुछ पुस्तकों में यह पाठ स्वीकार किया गया है। वस्तुतः यही पाठ अधिक समीचीन है। अतट का अर्थ है—तटरहित,

विदूषकः—मैवम् । नन्वङ्गुलीयकमेव निदर्शनमवश्यंभाव्यचिन्तनीयः समागमो भवतीति । [मा एव्वं । णं अंगुलीअअं एव्वं णिदंसणं अवस्संभावी अचिन्तणिज्जो समाअमो होदि त्ति ।]

राजा—(अङ्गुलीयकं विलोक्य) अये, इदं तावदसुलभस्थानभ्रंशि शोचनीयम् ।

तव सुचरितमङ्गुलीय नूनं
प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन ।
अरुणनखमनोहरासु तस्या-
श्च्युतमसि लब्धपदं यदङ्गुलीषु ॥११॥

खड़ी ऊबड़-खाबड़ ढालवाला, ढलवा चट्टान आदि। प्रपात का अर्थ है—पतन, गिरना। अतट=खड़ी ऊबड़-खाबड़ ढालवाली ऊँचाई से ही गिरना लोकप्रसिद्ध एवं विख्यात है। इसी को औघट या अवघट से गिरना कहते हैं। गिरने की भीषणता को सूचित करने के लिए यह प्रयोग किया जाता है। अतट या अवघट से गिरने का अर्थ है—हाथ-पैर टूट जाना, शरीर का चकनाचूर हो जाना, प्राण का बचना असंभव हो जाना आदि। राजा के कहने का भाव है कि जिस प्रकार अतट से गिरने पर प्राणी का जीना असम्भव हो जाता है उसी प्रकार शकुन्तला के मिलन के सम्वन्ध में हमारे मनोरथों की अवस्था हैं, वे चकनाचूर हो गये हैं। प्रथम अर्थ लोक-प्रचलित नं होने से तथा कल्पना के विलष्ट होने से दूर की कौड़ी लाना ही कहा जायगा।

इस श्लोक में प्रथम दो पंक्तियों में शुद्ध सन्देह होने से सन्देह अलङ्कार है। पहली दो पंक्तियाँ असन्निवृत्ति में कारण हैं, अतः काव्यलिंग है। इस श्लोक में प्रयुक्त उपजाति छन्द के लक्षण के लिए देखिये—२।७ तथा ५।२० की टिप्पणी ॥१०॥

व्युत्पत्तिः—क्लिष्टम्—√क्लिश् + क्त + विभक्त्यादिः ॥ १० ॥

शब्दार्थः—निदर्शनम् =उदाहरण, प्रमाण, अवश्यंभावी =अवश्य होने वाला, होनहार, अचिन्तनीयः = अचानक घटित होने वाला, समागमः =मिलन । असुलभस्थानभ्रंशि =दुर्लभ स्थान से गिर जाने वाली, पतित, शोचनीयम् =शोच्य है ॥

टीका—विदूषक इति। निदर्शनम् =उदाहरणम्, अवश्यम्भावी =अवश्यमेव भविता पदार्थः, अचिन्तनीयः =अप्रतर्क्यः, समागमः =लाभः, असुलभस्थानभ्रंशि—न सुलभम् असुलभम् =दुर्लभम् तच्च तत्स्थानं च तस्माद्भ्रंशः =पतनम् अस्यास्ति तत्, शकुन्तलाङ्गुलिभ्रंशीत्यर्थः, अत एव शोचनीयम् =शोकविषयः ॥

टिप्पणी—निदर्शनम्—विदूषक के कहने का भाव यह है कि होनहार अवश्य

विदूषक—ऐसा मत कहिए। अजी, यह अँगूठी ही इस बात का उदाहरण है कि अवश्य होने वाला मिलन अचानक ही घटित होता है।

राजा—(अँगूठी को देखकर) ओह, दुर्लभ स्थान से गिर जाने वाली यह अँगूठी अब शोचनीय हो गई है।

हे अँगूठी, तुम्हारा पुण्य मेरे (पुण्य की) तरह निश्चय ही अत्यन्त क्षीण हो गया है, यह परिणाम से ही प्रतीत हो रहा है, जो कि (तुम) लाल नाखूनों से मनोहर उस (शकुन्तला) की अँगुलियों में स्थान प्राप्त कर (फिर) गिर पड़ी हो॥ ११॥

घटित होता है। जिस प्रकार अँगूठी का मिलना अवश्यम्भावी था। अतः वह अचानक मिल ही गई। इसी प्रकार शकुन्तला भी कभी न कभी कहीं न कहीं मिल ही जायगी।

असुलभस्थानभ्रंशि—शकुन्तला आभूषणों का भी आभूषण थी। अत्यन्त पुण्य उदय होने पर ही कोई आभूषण उसके किसी अंग पर स्थान पा सकता था। संयोग से अँगूठी उसकी उँगली में स्थान पा चुकी थी। वह अब वहाँ से गिर गई है। अतः शोचनीय है।

व्युत्पत्तिः—निदर्शनम्—निदर्श्यते अनेन इति, नि + √दृश् + ल्युट् + विभक्तिः। अवश्यम्भावी—अवश्यं भवतीति, अवश्यम् + √भू + णिनि + विभक्त्यादिः। शोचनीयम्—√शुच् + अनीयर् + विभक्तिः॥

अन्वयः—हे अङ्गुलीय, तव, सुचरितम्, मम, (सुचरितम्), इव, नूनम्, प्रतनु, (इति), फलेन, विभाव्यते, यत्, अरुणनखमनोहरासु, तस्याः, अङ्गुलीषु, लब्धपदम् (सत्), च्युतम्, असि॥ ११॥

शब्दार्थः—हे अङ्गुलीय = हे अँगूठी, तव = तुम्हारा, सुचरितम् = पुण्य, मम = मेरे, (सुचरितम् = पुण्य की), इव = तरह, नूनम् = निश्चय ही, प्रतनु = अत्यन्त क्षीण हो गया है। (इति = यह), फलेन = परिणाम से, विभाव्यते = प्रतीत हो रहा है, यत् = जो कि, अरुणनखमनोहरासु = लाल नाखूनों से मनोहर, तस्याः = उस (शकुन्तला) की, अङ्गुलीषु = अँगुलियों में, लब्धपदम् (सत्) = स्थान प्राप्त कर, च्युतम् = गिर पड़ी, असि = हो॥ ११॥

टीका—तवेति। हे अङ्गुलीय = हे अङ्गुलिमुद्रे, तव = भवत्याः, सुचरितम् = पुण्यम्, मम = दुष्यन्तस्येत्यर्थः, सुचरितमिति शेषः, इव = यथा, नूनम् = निश्चितम्, प्रतनु = अल्पम्, इति = एतत्, फलेन = परिणामेन, तस्याः अङ्गुलिस्थानात् पतनरूपेण परिणामेनेत्यर्थः, विभाव्यते = ज्ञायते; यत् = यस्मात्, अरुणनखमनोहरासु—अरुणैः = रक्तैः नखैः, मनोहरासु = मनोरमासु, तस्याः = विजितत्रिभुवनसुन्दर्याः मयि निर्व्याजमनुरक्तायाः पुरः परिस्फुरन्त्याः इव, अङ्गुलीषु = कररुहेषु, लब्धपदं (सत्)—लब्धम् = प्राप्तम् पदम् = स्थानम् येन तथाविधं सत्, च्युतम् = भ्रष्टम्, असि = वर्तसे। अङ्गुलीष्वत्र

सानुमती—यद्यन्यहस्तगतं भवेत् सत्यमेव शोचनीयं भवेत्। [जइ अण्णहत्थगदं भवे सच्चं एव्व सोअणिज्जं भवे ।]

विदूषकः—भोः, इयं नाममुद्रा केनोद्घातेन तत्रभवत्या हस्ताभ्याशं प्रापिता ? [भो, इअं णाममुद्दा केण उग्घादेण तत्तहोदीए हत्थाब्भासं पाविदा ?]

सानुमती—ममापि कौतूहलेनाकारित एषः। [मम वि कोदूहलेण आआरिदो एसो ।]

राजा—श्रूयताम् । स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति ।

विदूषकः—ततस्ततः ? [तदो तदो ?]

राजा—पश्चादिमां मुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम् ।
तावत् प्रिय मदवरोधगृहप्रवेशं
नता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥१२॥

तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम् ।

पुरुषाङ्गुलीयस्य स्थूलत्वात् कदाचित् कनिष्ठिकायां तत्र शिथिलं सदन्याङ्गुलौ तत्रापि तथाविधमितराङ्गुल्यामिति बहुवचनाभिप्रायः । प्रेमातिशयेन वा सर्वाङ्गस्पृष्टिकेव सर्वाङ्गुलीषु निक्षेपः । यद्वा विरहातिकृशतया मुकुलीकृतासु पञ्चस्वङ्गुलीषु विन्यासाद्बहु-वचनोपपत्तिः । तथा चाभियुक्ताः—'तस्याः किञ्चित्सुभग ! तदभूत्तानवं त्वद्वियोगे येनाकस्माद्वलयपदवीमङ्गुलीयं प्रयाति' इति । इति राघवभट्टाः । अत्रानुमानं काव्यलिङ्गं समासोक्तिश्चालङ्काराः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ११ ॥

टिप्पणी—फलेन विभाव्यते—तुम्हारा पुण्य क्षीण हो चुका है। यह बात उसकी अँगुली से तुम्हारे पतनरूप परिणाम से ज्ञात हो रही है। यदि तुम्हारे पुण्य न क्षीण हुए होते तो तुम उस विश्वसुन्दरी की अँगुली से अभी न गिरते ।

इस श्लोक में अनुमान काव्यलिङ्ग समासोक्ति अलङ्कार तथा पुष्पिताग्रा छन्द है। छन्द का लक्षण—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो । युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' ॥११॥

व्युत्पत्तिः—च्युतम्—√च्यु+क्त अथवा √च्युत्+क+विभक्तिकार्यम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—अन्यहस्तगतम् =दूसरे के हाथ में पड़ती, शोचनीयम् =शोक

सानुमती—यदि दूसरे के हाथ में पड़ती तो वस्तुतः शोक का विषय होती। (किन्तु तुम्हारे हाथ में आ जाने से यह शोचनीय नहीं रह गई है)।

विदूषक—अजी, यह नामाङ्कित अँगूठी किस प्रसङ्ग से उन आदरणीया (शकुन्तला) के हाथ में पहनाई गई थी ?

सानुमती—यह (विदूषक) भी मेरी जिज्ञासा से प्रेरित हुआ है (अर्थात् मेरी ही तरह इसे भी यह जानने की इच्छा हुई है)।

राजा—सुनो ! अपने नगर (हस्तिनापुर) के लिए प्रस्थान करने वाले मुझे प्रिया (शकुन्तला) ने आँखों में आँसू भरकर कहा—'कितने दिनों में आप (मेरे पास) अपना समाचार भेजेंगे ?'

विदूषक—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

राजा—तदनन्तर इस अँगूठी को उसकी अँगुली में पहनाते हुए मेरे द्वारा वह कही गई (अर्थात् मैंने उससे कहा)।

हे प्रिये, प्रतिदिन एक-एक मेरे नाम के अक्षरों को गिनो। जब तक अन्तिम अक्षर पर पहुँचोगी, तब तक मेरे रनिवास तक पहुँचाने वाला व्यक्ति तुम्हारे पास उपस्थित हो जायगा ॥१२॥

और वह कार्य कठोर हृदयवाले मेरे द्वारा अज्ञानवश नहीं किया गया।

विषय। नाममुद्रा=नामाङ्कित अँगूठी, उद्घातेन=प्रसंग से, हस्ताभ्यासम्=हाथ के निकट, हाथ में। कौतूहलेन=कुतूहलता से, उत्कण्ठा से, जानने की इच्छा से, आकारितः=प्रेरित हुआ है। प्रतिपत्तिम्=समाचार को। प्रत्यभिहिता=कही गई ॥

टीका—सानुमतीति। अन्यहस्तगतम्—अन्यस्य=त्वदतिरिक्तस्य कस्यचिदन्यस्य हस्ते=करे गतम्=पतितम्, शोचनीयम्=शोकविषयः। नाममुद्रा—मुद्रयते अनया इति मुद्रा, नाम्नो मुद्रा नाममुद्रा=उत्कीर्णनामाक्षरम् अङ्गुरीयकम्, उद्घातेन=प्रसंगेन, हस्ताभ्यासम्—हस्तस्य=करस्य अभ्यासम्=समीपम्, कौतूहलेन=जिज्ञासयेत्यर्थः, आकारितः=व्यापारितः। प्रतिपत्तिम्=प्रवृत्तिम्, समाचारमिति यावत्, ('प्रतिपत्तिः प्रवृत्ती स्यात्' इति धरणिः)। प्रत्यभिहिता=कथिता ॥

अन्वयः—हे प्रिये, दिवसे दिवसे, एकैकम्, मदीयम्, नामाक्षरम्, गणय; यावत्, अन्तम्, गच्छसि; तावत्, मदवरोधगृहप्रवेशम्, नेता, जनः, तव, समीपम्, उपैष्यति, इति ॥१२॥

शब्दार्थः—हे प्रिये=हे प्रेयसि, दिवसे दिवसे=प्रतिदिन, एकैकम्=एक-एक, मदीयम्=मेरे, नामाक्षरम्=नाम के अक्षरों को, गणय=गिनो; यावत्=जब तक, अन्तम्=अन्त को, अन्तिम अक्षर पर, गच्छसि=पहुँचोगी, तावत्=तब तक, मदवरोधगृहप्रवेशम्=मेरे रनिवास में प्रवेश तक, नेता=पहुँचाने वाला, ले जाने वाला, जनः=व्यक्ति, तव=तुम्हारे, समीपम्=पास, उपैष्यति=उपस्थित हो जाएगा, इति=यही ॥१२॥

टीका—एकैकमिति। हे प्रिये=हे प्रेयसि, दिवसे दिवसे=प्रतिदिनम्, एकैकम्=

सानुमती—रमणीयः खल्ववधिर्विधिना विसंवादितः। [रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसंवादिदो।]

विदूषकः—कथं धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्यस्योदराभ्यन्तर आसीत् ? [कहं धीवलकप्पिअस्स लोहिअमच्छस्स उदलब्भन्तले आसि ?]

राजा—शचीतीर्थं वन्दमानायाः सख्यास्ते हस्ताद् गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम्।

विदूषकः—युज्यते। [जुज्जइ।]

सानुमती—अत एव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये सन्देह आसीत्। अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते। कथमिवैतत् ? [अदो एव्व तवस्सिणीए सउन्दलाए अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो परिणए संदेहो आसि। अहवा ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणं अवेक्खदि। कहं विअ एदं ?]

राजा—उपालप्स्ये तावदिदमङ्गुलीयकम्।

विदूषकः—(आत्मगतम्) गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम्। [गहीदो णेण पन्था उम्मत्तआणं।]

एकम् एकम्, मदीयम् =मामकम्, नामाक्षरम्—नाम्नः अक्षरम् =वर्णम्, गणय= गणनां कुरु; यावत् =यावत्कालम्, अन्तम् =अवसानम्, गच्छसि =प्राप्नोसि; यावद्गणनासमाप्तिरित्यर्थः; त्रिचतुरैर्दिनैरितिभावः; तावत् =तावत्कालम्, मदवरोधगृहप्रवेशम्—मम अवरोधगृहस्य =अन्तःपुरभवनस्य प्रवेशम् =प्रवेशद्वारम्, नेता =प्रापयिता, जनः= व्यक्तिः, तव =भवत्याः, समीपम् =पार्श्वम्, उपैष्यति =अभिगमिष्यति, इति इत्थं मयापि प्रत्यभिहितेति सम्बन्धः। पर्यायोक्तमलङ्कारः। वसन्ततिलकाऽत्र छन्दः ॥१२॥

टिप्पणी—नामाक्षराणि—दुष्यन्त का नाम अँगूठी पर खुदा था। इस नाम में पाँच अक्षर हैं। अतः 'पाँच दिन के भीतर तुम्हारे पास हस्तिनापुर से कोई न कोई आयेगा'—यह राजा का अभिप्राय है।

यहाँ सीधे-सीधे स्पष्टरूप से पाँच दिन न कहकर अप्रत्यक्षरूप से कहने के कारण पर्यायोक्त अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका। छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥१२॥

सानुमती—निश्चय ही मनोहर अवधि को भाग्य ने बिगाड़ दिया (अर्थात् यह बड़ी सुन्दर अवधि थी, किन्तु भाग्य ने इसे पूरा न होने दिया)।

विदूषक—कैसे (यह अँगूठी) मल्लाह के द्वारा काटी गई रोहित मछली के पेट के भीतर पहुँची ?

राजा—शची-तीर्थ की वन्दना करती हुई तुम्हारी सखी (शकुन्तला) के हाथ से यह गङ्गा के प्रवाह में गिर गई थी।

विदूषक—यह सम्भव है।

सानुमती—इसीलिये अधर्म से डरने वाले इस राजर्षि को बेचारी शकुन्तला के साथ विवाह में ही सन्देह हो गया था। अथवा, इस प्रकार का (उत्कट) अनुराग भी (वैवाहिक) निशानी की अपेक्षा रखता है, यह कहाँ तक ठीक है ?

राजा—अब मैं इस अँगूठी को (ही) उलाहना दूँगा।

विदूषक—(अपने आप) अब इन्होंने पागलों का रास्ता पकड़ा है।

व्युत्पत्तिः—मदीयम्—अस्मद् + छ, मदादेशः + विभक्त्यादिकार्यम्। यावत्—यद्+मतुप् +आत्वम् +विभक्त्यादिः। नेता—√नी + तृच् + विभक्त्यादिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—रमणीयः=मनोहर, सुन्दर, अवधिः = अवधि, समय-सीमा, विधिना = विधाता ने, भाग्य ने, विसंवादितः = बिगाड़ दिया, विरुद्ध कर दिया। धीवरकल्पितस्य=मल्लाह के द्वारा काटी गई, उदराभ्यन्तरे=पेट के भीतर। गङ्गास्रोतसि = गङ्गा के प्रवाह में, परिभ्रष्टम् =गिर गई थी ॥

टीका—सानुमतीति—रमणीयः =मनोहरः, अवधिः =समयसीमा, विधिना = दैवेन शापलक्षणेन च, विसंवादितः =विपर्यासितः। धीवरकल्पितस्य—धीवरेण कल्पितस्य =खण्डितस्य, उदराभ्यन्तरे—उदरस्य अभ्यन्तरे =मध्ये। गङ्गास्रोतसि—गङ्गायाः =सुरसरितः स्रोतसि =प्रवाहे, परिभ्रष्टम् =पतितम्, च्युतमित्यर्थः ॥

शब्दार्थः—तपस्विन्याः =बेचारी के, अधर्मभीरोः =अधर्म से डरने वाले, परिणये =विवाह में। अभिज्ञानम् =निशानी, पहचान का चिह्न। उपालप्स्ये = उलाहना दूँगा। उन्मत्तानाम् =पागलों का ॥

टीका—सानुमतीति—तपस्विन्याः =वराक्याः, अधर्मभीरोः—अधर्मात् =पापात् भीरोः =भीतस्य, परिणये =विवाहे। अभिज्ञानम्—अभिज्ञायते =परिचीयते इत्यभिज्ञानम्। उपालप्स्ये = तिरस्करिष्यामि। उन्मत्तानाम् = उन्मादपदवीम-विरूढानाम् ॥

टिप्पणी—उन्मत्तानाम्—असम्बद्ध बात एवं व्यवहार करना उन्माद का लक्षण है। यह काम की आठवीं दशा है। काम की दस दशाएँ ये हैं:—अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः। अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः। मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह ॥ (सा० दर्पण ३-२५०-२६०)।

राजा—(अङ्गुलीयकं विलोक्य) मुद्रिके,
कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं
करं विहायासि निमग्नमम्भसि ?

अथवा—
अचेतनं नाम गुणं न लक्षये-
न्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥१३॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) कथं बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि।
[कहं बुभुक्खाए खादिदव्वो म्हि ।]

राजा—प्रिये, अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन ।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता)

चतुरिका—इयं चित्रगता भट्टिनी । [इअं चित्तगदा भट्टिणी ।]
(इति चित्रफलकं दर्शयति ।)

अन्वयः—बन्धुरकोमलाङ्गुलिम्, तम्, करम्, विहाय, कथम्, नु, अम्भसि, निमग्नम्, असि; अथवा, नाम, अचेतनम्, गुणम्, न, लक्षयेत्; मया, एव, कस्मात्, प्रिया, अवधीरिता ॥१३॥

शब्दार्थः—बन्धुरकोमलाङ्गुलिम् = मनोहर एवं कोमल अङ्गुली वाले, तम् = उस, करम् = हाथ को, विहाय = छोड़कर, कथम् = कैसे, नु = यह प्रश्नसूचक अव्यय है, अम्भसि = जल में, निमग्नम् = बूड़ी हुई, असि = हो, अर्थात् बूड़ी हुई थी, अथवा = अथवा, नाम = यह प्रसिद्ध है कि, अचेतनम् = निर्जीव वस्तु, गुणम् = गुण को, न = नहीं, लक्षयेत् = देखें, देख पावें, मया = मेरे द्वारा, एव = ही, कस्मात् = क्यों, प्रिया = प्रियतमा, अवधीरिता = तिरस्कृत की गई ? ॥१३॥

टीका—कथमिति । बन्धुरकोमलाङ्गुलिम्—बन्धुराः = सुन्दराः 'बन्धुरं सुन्दरं रम्ये' इति विश्वः, कोमलाः = मृदवः अङ्गुलयः यत्र तम्, तम् = रक्तोत्पलच्छविसदृशं मृदुलं मया वारंवारं स्वहृदये न्यस्तमित्यर्थः, करम् = हस्तम्, विहाय = त्यक्त्वा, कथम् = कस्मात्, न्विति प्रश्ने, अम्भसि = जले, निमग्नम् = ब्रुडितम्, असि = आसीः; अथवा = वा, नामेति प्रसिद्धौ, अचेतनम् = निर्जीवं वस्तु, गुणम् = सौन्दर्यादिकं प्रेमादिकं च न लक्षयेत् = न द्रष्टुं शक्नुयात्, न वीक्षते इत्यर्थः, किन्तु, मया = चेतनेनैव, कस्मात् = केन हेतुना, प्रिया = प्रियतमा शकुन्तला, अवधीरिता = तिरस्कृता, न तु लब्धा, त्यक्तायाः पुनर्ग्रहणे महापुरुषस्यानौचित्यप्रसङ्गात् । अत्र विभावना समासोक्तिरर्थान्तरन्यासश्चालङ्काराः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ १३ ॥

(अँगूठी को देखकर) हे अँगूठी,

मनोहर एवं कोमल अँगुली वाले उस हाथ को छोड़कर कैसे (तुम) जल में बूड़ी हुई थी ? अथवा यह प्रसिद्ध है कि निर्जीव वस्तु गुणों को नहीं देख पाते, किन्तु मेरे द्वारा ही क्यों प्रियतमा तिरस्कृत की गई ? ॥१३॥

विदूषक—(अपने आप) क्या भूख मुझे खा जायेगी ? (अर्थात् मुझे भीषण भूख जला रही है) ।

राजा—प्रिये, बिना कारण के ही परित्याग करने के कारण पश्चात्ताप से सन्तप्त हृदयवाले इस (दुष्यन्त-रूप) व्यक्ति को फिर से दर्शन देकर कृतार्थ करो ।

(हाथ में चित्रपट्ट लिये हुई पर्दा हटाकर प्रवेश करके)

चतुरिका—यह चित्र-लिखित स्वामिनी हैं । (ऐसा कहकर चित्र-पट्ट दिखलाती है ।)

टिप्पणी—अवधीरिता—राजा कह रहा है कि–'यदि निर्जीव पदार्थ गुणों का सम्मान नहीं करते तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है । किन्तु मैं तो चेतन प्राणी हूं । मैंने ही प्रियतमा का तिरस्कार क्यों किया ?' राजा यहाँ तिरस्कार करने की बात कह रहा है, परित्याग करने की बात नहीं । क्योंकि महान् व्यक्ति एक बार परित्याग करके फिर उसी का ग्रहण नहीं करते हैं ।

यहाँ तिरस्कार के कारण के न रहने पर भी तिरस्कार करने के कारण विभावना है। अचेतन अँगूठी में चेतन व्यक्ति का आरोप करके उसके डूबने का वर्णन होने से समासोक्ति है । तीसरे चरण में सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन किये जाने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

इसमें प्रयुक्त छन्द वंशस्थ का लक्षण है—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' ॥ १३ ॥

व्युत्पत्तिः—बन्धुर—बन्ध + उरच् । अवधीरिता—अव + √धीर् + क्त + टाप् + विभक्त्यादिः ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—बुभुक्षया = भूख के द्वारा, खादितव्यः = खाने का पात्र । अकारण-परित्यागानुशयतप्तहृदयः = बिना कारण के ही परित्याग करने के कारण पश्चात्ताप से सन्तप्त हृदयवाले ॥

टीका—विदूषक इति । बुभुक्षया—भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा तयाऽतिप्रबलया भोक्तुमिच्छया, खादितव्यः = भक्षितव्यः । अतिपीडितोऽहं क्षुधा । प्रतीयते क्षुन्मां खादिष्यति । अकारणेत्यादिः—अकारणे = कारणाभावे परित्यागः = तिरस्कारः तेन हेतुना तप्तम् = पश्चात्तापेन पीडितम् हृदयम् = चेतः यस्यासौ तादृशः, परित्यागेनानुशयदग्धहृदय इत्यर्थः ॥

शब्दार्थः—अपटीक्षेपेण = हाथ से पर्दा हटाकर, चित्रफलकहस्ता = हाथ में चित्र-पट्ट लिये हुई । चित्रगता = चित्र-लिखित, भट्टिनी = महारानी, स्वामिनी ।

विदूषकः—(विलोक्य) साधु वयस्य । मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः । स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु । [साहु वअस्स । महुरावत्थाणदंसणिज्जो भावाणुप्पवेसो । क्खलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्णअप्पदेसेसु ।]

सानुमती—अहो, एषा राजर्षेनिपुणता । जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति । [अम्मो, एसा राएसिणो णिउणदा । जाणे सही अग्गदो मे वट्टदि त्ति ।]

राजा—

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ॥१४॥

मधुरावस्थानदर्शनीयः =सुन्दर रीति से अवयव-विन्यास के कारण दर्शनीय, भावानुप्रवेशः =भावों का सञ्चार, स्खलतीव =फिसल-सी रही है, रुक-सी रही है ।

टीका—प्रविश्येति । अपटीक्षेपेण—अपट्याः =जवनिकायाः क्षेपेण =अपसारणेन यद्वा पट्याः =जवनिकायाः क्षेपम् =अपसारणम् अकृत्वा प्रविश्य । चित्रफलकहस्ता—चित्रफलकम् =चित्रपट्टम् हस्ते =करे यस्याः सा तादृशी । चित्रगता =चित्रनिर्मिता, भट्टिनी =स्वामिनी, शकुन्तलेत्यर्थः । मधुरावस्थानदर्शनीयः—मधुरेण =मनोहरेण अवस्थानेन =विन्यासेन, कुशलालेखनेन इति यावत् दर्शनीयः=अवलोकनीयः, सुस्पष्टमालक्ष्यो वा, भावानुप्रवेशः—भावानाम् =प्रेमादीनाम् अनुप्रवेशः =आविर्भावः, स्खलतीव = निपतति इव ॥

टिप्पणी—स्खलति—चित्र में शकुन्तला के अङ्गों का उतार-चढ़ाव इतनी सुन्दरता से बनाया गया है कि मानो देखने वाले की आँख ऊपर से फिसलकर नीचे की ओर गिरने लगती है ।

राजा अहो इति । कई संस्करणों में '(इति चित्रफलकं दर्शयति)' के बाद कुछ अधिक पाठ दिया गया है । वह इस प्रकार है—

राजा—'अहो, रूपमालेख्यस्य;
दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं लीलाञ्चितभ्रूलतं
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाभिषिक्ताधरम्
कर्कन्घूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखं
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम् ॥'

अन्वयः—दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलम्, लीलाञ्चितभ्रूलतम्, दन्तान्तःपरिकीर्णहास-

विदूषक—(देखकर) मित्र, बहुत अच्छा है। सुन्दर रीति से अवयव-विन्यास के कारण भावों का सञ्चार दर्शनीय है। ऊँचे-नीचे स्थानों पर मेरी दृष्टि फिसल-सी रही है।

सानुमती—राजर्षि (दुष्यन्त) की (चित्र-निर्माण की) यह निपुणता आश्चर्य-जनक है। मुझे अनुभव हो रहा है मानो मेरी सखी (शकुन्तला) मेरे सामने विद्यमान है।

राजा—चित्र में जो कुछ अच्छा नहीं है, वह सब फिर से ठीक से बनाया जा रहा है। तो भी उस (शकुन्तला) का सौन्दर्य रेखाओं द्वारा, थोड़ा ही प्रकट किया जा सका है॥ १४॥

किरणज्योत्स्नाभिषिक्ताधरम्, कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरम्, विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्न-कान्तिद्रवम्, तस्याः, तत्, एतत्, मुखम् चित्रे, अपि आलपति, इव॥

राजा—चित्र का सौन्दर्य आश्चर्यजनक है—

बड़े-बड़े तथा अपाङ्ग तक फैले हुए दोनों नेत्रों से अलङ्कृत, विलासपूर्वक चलती हुई भ्रू-लताओं वाला, दाँतों के मध्य फैले हुए हास के किरणों के प्रकाश से व्याप्त अधरवाला, बदरीफल (बेर) की कान्ति की तरह रक्त अधरोष्ठ से युक्त, विलास से सुशोभित तथा स्पष्ट परिलक्षित लावण्य रस वाला, उस प्रियतमा का पूर्वानुभूत यह मुख चित्र में भी बोल-सा रहा है॥

राजर्षेनिपुणता—कविकुलशेखर कालिदास अपने नायक की कला में प्रवीणता दिखलाने के लिए 'मालविकाग्निमित्र' आदि में भी चित्रनिर्माण तथा सङ्गीत की पटुता आदि दिखलाने के लिए ऐसे प्रसङ्गों को उपस्थित करते हैं।

अन्वयः—चित्रे, यत्, साधु, न, स्यात्; तत् तत्, अन्यथा, क्रियते; तथापि, तस्याः, लावण्यम्, रेखया, किञ्चित्, अन्वितम्॥ १४॥

शब्दार्थः—चित्रे = चित्र में, यत् = जो कुछ, साधु = अच्छा, न = नहीं, स्यात् = है, तत् = वह, तत् = वह, अन्यथा = दूसरे ढंग से, फिर से ठीक, क्रियते = बनाया जा रहा है, अर्थात् बना रहा हूँ, तथापि = तो भी, तस्याः = उसका, लावण्यम् = सौन्दर्य, रेखया = रेखाओं द्वारा, किञ्चित् = थोड़ा ही, अन्वितम् = अनुकृत किया जा सका है, प्रकट किया जा सका है॥ १४॥

टीका—यदिति। चित्रे = आलेख्यकर्मणि, यत् = यत्कार्यम् अङ्गं वा, साधु = उत्कृष्टम्, न स्यात् = नास्तीत्यर्थः, तत् तत् = तत्सर्वमसाधु रूपमित्यर्थः, अन्यथा = सुष्ठु शोभनम्, क्रियते = विधीयते, मयेतिशेषः, इति कर्तृपदमध्याहार्यम्, तथापि = उत्कर्ष-करणेऽपि, संमार्ज्य संमार्ज्य भूयो भूयो लिख्यमानेऽपि, तस्याः = प्रियायाः शकुन्तलायाः, लावण्यम् = सौन्दर्यम्, रेखया = आलेख्येन, तूलिकाविहितया रेखयेत्यर्थः, किञ्चित् = स्वल्पम्, न तु साकल्येन, अन्वितम् = अनुकृतम्। विधातुर्लोकातिशायिनं मम मनुष्यस्य तूलिका कथमनुकर्तुं शक्नोतीत्यभिप्रायः। पथ्यावक्त्रं छन्दः॥ १४॥

सानुमती—सदृशमेतत् पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्यान-वलेपस्य च । [सरिसं एदं पच्छादावगुरुणो सिणेहस्स अणवलेवस्स अ ।]

विदूषकः—भोः, इदानीं तिस्रस्तत्रभवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः । कतमाऽत्र तत्रभवती शकुन्तला ? [भो, दाणिं तिण्हिओ तत्तहोदीओ दीसन्ति । सव्वाओ अ दंसणी-आओ । कदमा एत्थ तत्तहोदी सउन्दला ?]

सानुमती—अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोघदृष्टिरयं जनः । [अणभिण्णो क्खु ईदिसस्स रूवस्स मोहदिट्ठी अअं जणो ।]

राजा—त्वं तावत् कतमां तर्कयसि ?

विदूषकः—तर्कयामि यैषा शिथिलबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेनोद्भिन्नस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्यां बाहुभ्या-मवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य चूतपादपस्य पार्श्वे ईषत्परिश्रान्ते-वालिखिता सा शकुन्तला । इतरे सख्याविति । [तक्केमि जा एसा सिढिलबन्धणुव्वन्तकुसुमेण केसन्तेण उब्भिण्णस्सेअबिन्दुणा वअणेण विसेसदो ओसरिआहिं बाहाहिं अवसेअसिणिद्धतरुण-पल्लवस्स चूअपाअवस्स पासे इसिपरिस्सन्ता विअ आलिहिदा सा सउन्दला । इदराओ सहीओ त्ति ।]

टिप्पणी—रेखया···अन्वितम्—दुष्यन्त चित्रनिर्माण में प्रवीण है। उसकी कलाकारिता पर विदूषक और सानुमती मुग्ध हैं। फिर भी उसका कहना है कि यद्यपि मैंने इस चित्र के बनाने में कई अंश बार-बार मिटा कर बनाया है। किन्तु फिर भी शकुन्तला का सौन्दर्य थोड़ा ही उभर सका है। शकुन्तला के सौन्दर्य की उत्कृष्टता बतलाने की यह एक कला है।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है। छन्द का लक्षण :—युजोश्चतुर्थतो येन पथ्या-वक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ १४ ॥

व्युत्पत्तिः—लावण्यम्—लवण + ष्यञ् + विभक्त्यादिकार्यम् । अन्वितम्—अनु-√इ + क्त + विभक्तिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—पश्चात्तापगुरोः—पश्चात्ताप के कारण बढ़े हुए, अनवलेपस्य = अभिमान-शून्यता के, निरभिमान के। कतमा = इनमें से कौन । मोघदृष्टिः = निष्फलदृष्टि वाला ।

सानुमती—पश्चात्ताप के कारण बढ़े हुए प्रेम तथा अभिमानशून्यता के अनुरूप ही यह (वक्तव्य) है।

विदूषक—अजी, सम्प्रति (इसमें) तीन आदरणीया युवतियाँ दिखलाई पड़ रही हैं। सभी देखने लायक हैं। इनमें श्रीमती शकुन्तला कौन हैं ?

सानुमती—निष्फल दृष्टिवाला यह व्यक्ति इस तरह के (अनुपम) रूप से अनभिज्ञ ही है।

राजा—अच्छा, तुम इनमें किसको (शकुन्तला) समझते हो ?

विदूषक—मेरा अनुमान है कि ढीली चोटी से पुष्प बिखेरनेवाले केशपाश से युक्त, उभरी हुई पसीने की बूँदों वाले मुख से अलङ्कृत, अत्यधिक झुई हुक बाहुओं से युक्त जो यह सींचने से हरे-भरे नवीन पत्तों वाले आम्र-वृक्ष के पास कुछ थकी हुई सी चित्रित है, वह शकुन्तला है।

टीका—सानुमतीति । पश्चात्तापगुरोः—पश्चात्तापेन = अनुशयेन गुरोः = वृद्धिङ्गतस्य, अनवलेपस्य = अनभिमानस्य। कतमा = आसु का। मोघदृष्टिः—मोघा = निष्फला दृष्टिः = दर्शनं नेत्रमिति यावत् यस्यासौ तादृशः।

टिप्पणी—अनवलेपस्य—राघवभट्ट ने अनवलेप का अर्थ निर्दोष अर्थात् स्वाभाविक किया है। ऐसी स्थिति में यह स्नेहस्य का विशेषण बनेगा। तब इसका अर्थ होगा—'पश्चात्ताप के कारण बढ़े हुए स्वाभाविक स्नेह के यह अनुरूप ही है।'

मोघदृष्टि :—नेत्र का फल है—अच्छे बुरे की पहचान। विदूषक यह नहीं समझ पा रहा है कि इनमें शकुन्तला कौन है। अतः उसका नेत्र निरर्थक है, निष्फल है। शकुन्तला तो अरबों में एक है। वह अँधेरे में भी पहचानी जा सकती है॥

शब्दार्थः—तर्कयामि = अनुमान करता हूँ, शिथिलबन्धनोद्वान्तकुसुमेन = जिसकी ढीली चोटी से पुष्प गिर रहे हैं ऐसे, केशान्तेन = केशपाश से युक्त, उद्भिन्नस्वेदबिन्दुना = उभरी हुई पसीने की बूंदों वाले, वदनेन = मुख से अलंकृत, विशेषतः = विशेष रूप से, अत्यधिक, अपसृताभ्याम् = झुकी हुई, बाहुभ्याम् = बाहुओं से युक्त, अवसेकस्निग्धतरुपल्लवस्य = सींचने से हरे-भरे नवीन पत्तों वाले, ईषत्परिश्रान्ता = कुछ थकी हुई॥

टीका—विदूषक इति। तर्कयामि = अनुमिनोमि, शिथिलेत्यादिः—शिथिलेन = श्लथेन बन्धनेन उद्वान्तानि = च्युतानि कुसुमानि = पुष्पाणि यस्मात् तेन, केशान्तेन = केशपाशेन, उद्भिन्नस्वेदबिन्दुना—उद्भिन्नाः = उद्गताः स्वेदबिन्दवः = घर्मजलकणाः यस्मिन् तादृशेन, वदनेन = आननेन, विशेषतः = अधिकम्, अपसृताभ्याम् = नतांसाभ्याम्, बाहुभ्याम् = भुजाभ्याम्, उपलक्षितेति शेषः, अवसेकेत्यादिः—अवसेकेन = सेचनेन स्निग्धाः = मसृणाः तरुपल्लवाः = नवपत्राणि यस्य तादृशस्य, चूतपादपस्य = आम्रवृक्षस्य, पार्श्वे, ईषत् = किञ्चित्, परिश्रान्ता = जातश्रमा, आलिखिता सा शकुन्तला॥

टिप्पणी—शिथिलेत्यादिः—दुष्यन्त ने आश्रम में शकुन्तला को सर्वप्रथम उस समय देखा था जब वह आश्रम के वृक्षों को सखियों के साथ सींच रही थी। उस समय वह श्रान्त-सी थी। उसकी चोटी ढीली पड़ गई थी। अतः उसमें लगाये गये पुष्प रह-रह कर गिर रहे थे। उसके मुख पर पसीने की बूंदें छलछला आई थीं। उसकी कोमल

राजा—निपुणो भवान्। अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्।
स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्णिकोच्छ्वासात् ॥१५॥
चतुरिके, अर्धलिखितमेतद् विनोदस्थानम्। गच्छ, वर्तिकां तावदानय।

चतुरिका—आर्य माधव्य, अवलम्बस्व चित्रफलकं यावदागच्छामि। [अज्ज माढव्व, अवलम्ब चित्तफलअं जाव आअच्छामि।]

राजा—अहमेवैतदवलम्बे। (इति यथोक्तं करोति)।
(निष्क्रान्ता चेटी।)

बाहें थक कर झुक-सी गई थीं। वह आम्र के पास खड़ी लता-सी प्रतीत हो रही थी। उसके इसी सौन्दर्य पर दुष्यन्त, नहीं-नहीं हस्तिनापुर का अधिपति भारत-सम्राट् दुष्यन्त अपने आप को न्यौछावर कर बैठा था। शाप के प्रभाव के समाप्त होने पर दुष्यन्त ने इसी दृश्य को अपनी कूची और कला का विषय बनाया था, उरेहा था ॥

शब्दार्थः—निपुणः = अत्यन्त चतुर, प्रवीण, अत्र = इस (चित्र) में, भावचिह्नम् = सात्त्विक भावों की निशानी ॥

टीका—राजेति। निपुणः = अभिज्ञः, विशेषवित् इत्यर्थः। अत्र = अस्मिन् चित्रे, भावचिह्नम्—भावेन = सात्त्विकभावेन कृतं चिह्नम् = लक्षणं भावचिह्नम्। मध्यमपदलोपी समासः। तावच्चिह्नमिति पाठे तु सुबोधमेव ॥

टिप्पणी—भाव०—प्रियतमा या प्रियतम को याद कर, छूकर अथवा देखकर प्रियतम या प्रियतमा को पसीना आ जाना, आँखों में अश्रु आ जाना, रोमाञ्च हो जाना आदि सात्त्विक भाव का आविर्भाव कहा गया है ॥

अन्वयः—रेखाप्रान्तेषु, मलिनः, स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशः, दृश्यते; च, इदम्, कपोलपतितम्, अश्रु, वर्णिकोच्छ्वासात्, दृश्यम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—रेखाप्रान्तेषु = चित्रपट के किनारे किनारे, मलिनः = धूमिल, स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशः = पसीने से युक्त अँगुलियों का रखना, दृश्यते = दिखलाई पड़ रहा है; च = तथा, इदम् = यह, कपोलपतितम् = (चित्रगत शकुन्तला के) गालों पर गिरा हुआ, अश्रु = आँसू, वर्णिकोच्छ्वासात् = रंग के फूल जाने से, दृश्यम् = देखा जा सकता है ॥ १५ ॥

टीका—स्विन्नेति। रेखाप्रान्तेषु—रेखायाः = चित्रपटस्य प्रान्तेषु = पार्श्वदेशेषु, मलिनः = कलुषः, स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशः—स्विन्नाः = सस्वेदाः या अङ्गुलयः = करशाखाः

राजा—आप अत्यन्त चतुर हैं। इस (चित्र) में मेरे सात्विक भावों की निशानी है।

चित्रपट के किनारे किनारे धूमिल, पसीने से युक्त अँगुलियों का निशान दिखलाई पड़ रहा है। तथा यह (चित्रगत शकुन्तला के) गालों पर गिरा हुआ आँसू, रंग के फूल जाने से देखा जा सकता है॥ १५॥

चतुरिका, मेरे मनोरञ्जन का यह साधन अधूरा ही चित्रित हुआ है। तो जाओ ब्रश ले आओ।

चतुरिका—आदरणीय माधव्य जी, पकड़िये चित्रपट्ट को, जब तक मैं आती हूँ।

राजा—मैं ही इसे पकड़ता हूँ। (ऐसा कह कर चित्रपट्ट को पकड़ता है)

(चेरी निकल गई)

तासां विनिवेशः=स्थितिः, दृश्यते=लक्ष्यते। चित्रनिर्माणकाले मयि भावोदयो जातः। भावोदयादङ्गुलयो सस्वेदाः जाताः। हस्तेन चित्रपटे गृहीते तत्प्रान्तेषु तासां चिह्नानि जातानि द्रष्टुं शक्यन्ते इति भावः। च=तथा, इदम्=एतत्, कपोलपतितम्—कपोले=गण्डे पतितम्=भ्रष्टम्, लिखिताकृतिकपोलप्राप्तमित्यर्थः, अश्रु=नेत्रजलम्, वर्णिकोच्छ्वासात्—वर्णिकस्य=रङ्गस्य उच्छ्वासः=उच्छूनता तस्मात्, दृश्यम्=द्रष्टुं शक्यम्। वर्णिकोच्छ्वासात् जलसम्पर्कः। जलञ्च मन्नेत्रात् च्युतम्। तेनापि भावोदयानुमानम्। अत्रानुमानालङ्कारः। आर्या छन्दः॥ १५॥

टिप्पणी—स्विन्नाङ्गुलि०—वियोगी कामुक व्यक्ति की दशा बड़ी विचित्र होती है। उत्तेजना की अवस्था में उसका शरीर जलने लगता है। अङ्गों से पसीना आने लगता है। आँखों से आँसू टपकने लगते हैं। दुष्यन्त अपनी प्रियतमा का चित्र बना रहे थे। उनकी अँगुलियाँ पसीना से तर हो गई थीं। अतः जहाँ किनारे पर उँगलियाँ रक्खी गई थीं वहाँ निशान बन गये थे। वे शकुन्तला का मुख एकटक देख रहे थे। अतः आँखों से आँसू टपक कर गालों पर गिर पड़े। आँसू पड़ने से वहाँ का रंग कुछ फूल आया था।

वर्णिकोच्छ्वासात्—वर्णिका और वर्णक का अर्थ होता है—रंग। निर्णयसागर ने 'वर्तिकोच्छ्वासात्' यह पाठ माना है। इसका अर्थ है—चित्रपट के लेप के फूल जाने से।

इस श्लोक में सात्त्विक भावों के चित्रों के द्वारा राजा का शकुन्तला के प्रति प्रेमाधिक्य है—यह अनुमान होता है। अतः यहाँ अनुमानालङ्कार है। छन्द के लक्षण के लिये देखिये श्लोक १।२-३ की टिप्पणी॥ १५॥

व्युत्पत्तिः—स्विन्नः—√स्विद्+क्त+विभक्त्यादिः। विनिवेशः वि+नि+√विश्+घञ्+विभक्त्यादिः॥ १५॥

शब्दार्थः—विनोदस्थानम्=मनोरञ्जन का साधन। वर्तिकाम्=ब्रश को, अवलम्बस्व=पकड़िये। अवलम्बे=पकड़ता हूँ। यथोक्तम्=जैसा कहा गया है वैसा। निष्क्रान्ता=निकल गई॥

राजा—(निःश्वस्य) अहं हि—

साक्षात् प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं
चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः ।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य
जातः सखे प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम् ॥१६॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) एषोऽत्रभवान् नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां संक्रान्तः । (प्रकाशम्) भोः, अपरं किमत्र लेखितव्यम् ? [एसो अत्तभवं णदिं अदिक्कमिअ मिअतिण्हिआं संकन्तो । भो,अवरं किं एत्थ लिहिदव्वम् ?]

सानुमती—यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालेखितुकामो भवेत् । [जो जो पदेसो सहीए मे अहिरूवो तं तं आलिहिदुकामो भवे ।]

टीका—विनोदस्थानम्–विनोदस्य = मनोरञ्जनस्य स्थानम् = आश्रयभूतं वस्तु । वर्तिकाम् = तूलिकाम् ।

चतुरिकेति । अवलम्बस्व = धारय । अवलम्बे = धारयामि । यथोक्तम् = यथा पूर्वं कथितं तथा । निष्क्रान्ता = निर्गता, रङ्गमञ्चाद्बहिर्गतेत्यर्थः ॥

अन्वयः—सखे, पूर्वम्, साक्षात्, उपगताम्, प्रियाम्, अपहाय, पुनः, चित्रार्पिताम्, इमाम्, बहुमन्यमानः, (अहम्, तथा, संवृत्तः, यथा), पथि, निकामजलाम्, स्रोतोवहाम्, अतीत्य, मृगतृष्णिकायाम्, प्रणयवान्, जातः, (अस्मि) ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—सखे = मित्र, पूर्वम् = पहले, साक्षात् = स्वयम्, उपगताम् = पास में आई हुई, प्रियाम् = प्रियतमा को, अपहाय = छोड़ कर, पुनः = अब, फिर, चित्रार्पिताम् = चित्रनिर्मित, इमाम् = इसको, बहुमन्यमानः = बहुत समझता हुआ, (अहम् = मैं, तथा = वैसा ही, संवृत्तः = बन गया हूँ, यथा = जैसे), पथि = मार्ग में, निकामजलाम् = जल से भरी हुई, स्रोतोवहाम् = सरिता को, अतीत्य = छोड़ कर, लाँघ कर, मृगतृष्णिकायाम् = मृगमरीचिका में, प्रणयवान् = प्रेम करने वाला, जातः = हो गया, (अस्मि = हूँ) ॥ १६ ॥

टीका—साक्षादिति । सखे = मित्र, पूर्वम् = अव्यवहितसमये, न तु कालान्तरे। अन्यथोपगतामिति प्रकृतिप्रत्ययार्थेनार्थपौनरुक्त्यं स्यात् । साक्षात् = प्रत्यक्षेण, ('साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः' इत्यमरः), उपगताम्—उप = समीपे गताम् = प्राप्ताम्, प्रियाम् = प्रियतमाम्, शकुन्तलामित्यर्थः, अपहाय = अवगणय्य, न तु त्यक्त्वा; त्यक्तस्य पुनरुपादाने महापुरुषस्यानौचित्यप्रसङ्गात्, पुनः = मुहुः, अनन्तरमित्यर्थः, चित्रार्पिताम्—चित्रे = प्रतिकृतौ अर्पिताम् = लिखिताम्, इमाम् = पुरतो दृश्यमानाम्, बहुमन्यमानः = अत्यादरेणावलोकमानः, अहं तथा संवृत्तो यथेति योज्यम्, पथि = मार्गे, निकामजलाम्—

राजा—(लम्बी साँस लेकर)

मित्र, पहले स्वयं पास में आई हुई प्रियतमा (शकुन्तला) को छोड़ कर, अब चित्रनिर्मित इसको (ही) बहुत समझता हुआ मैं (वैसा ही बन गया हूँ, जैसे) मार्ग में जल से भरी हुई सरिता को छोड़ कर मृगमरीचिका में प्रेम करने वाला हो गया (हूँ) ॥१६॥

विदूषक—(अपने आप) यह श्रीमान् जी नदी पार करके मृगतृष्णा में प्रविष्ट हो गये हैं। (प्रकट रूप से) अजी, और क्या इसमें लिखना है ?

सानुमती—जों-जों स्थान हमारी सखी (शकुन्तला) को पसन्द हैं, उसको-उसको यह चित्रित करने के इच्छुक हो सकते हैं।

निकामम्=प्रभूतम् जलम्= सलिलम् यस्यां सा ताम्, संपूर्णोदकामित्यर्थः, स्रोतोवहाम्=वहतीति वहः, स्त्रीलिङ्गे वहा, स्रोतसाम्=प्रवाहानाम् वहा स्रोतोवहा=नदी ताम्, अथ च यतो निकामजलामतः स्रोतोवहां प्रवहद्रूपामिति वा योज्यम्; अतीत्य=अतिक्रम्य, मृगाणाम् = हरिणानाम् तृष्णा=पिपासा मृगतृष्णा, सा अस्ति अस्मिन् इति मृगतृष्णा, सैव मृगतृष्णिका तस्यां मृगतृष्णिकायाम् = मरुमरीचिकायाम्, प्रणयवान्=प्रीतियुक्तः, जातः=संवृत्तः, अस्मीति शेषः। अत्रनिदर्शनालङ्कारः। वसन्ततिलका छन्दः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—प्रणयवान्=प्रेमयुक्त। प्रणय शब्द का पाठ सुखादिगण में है। अतः मत्वर्थ में 'सुखादिभ्यश्च' (५-२-१३१) से इनि प्रत्यय होगा। इनिप्रत्यान्त रूप प्रणयिन् होगा। प्रथमा के एक वचन में प्रणयी बनेगा। अतः इसको वैदिक प्रयोग ही समझना चाहिए। कालिदास ने प्रणयिन् और प्रणयवत् दोनों ही रूपों का प्रयोग किया है। 'अङ्काश्रयप्रणयिनः' (शा० ७-१७), 'प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं' (रघु० ९-३१), 'सा हि प्रणयवती' (रघु० ११-५७) आदि ॥

मृगतृष्णिकायाम्—इसे मरुमरीचिका या मृगतृष्णा भी कहा जाता है। प्रचण्ड गर्मी के दिनों में कुछ दूर देखने पर सूर्य की लपलपाती किरणें जल की लहरों की भाँति हिलती हुई प्रतीत होती हैं। प्यासा हरिण उसे पानी समझ कर दौड़ पड़ता है। वहाँ पहुँचने पर उसे वह कल्पित जलधाराएँ कुछ और दूर प्रतीत होती हैं। फलतः वह दौड़ते-दौड़ते मर ही जाता है। इसे ही मरुमरीचिका आदि शब्दों से कहा जाता है।

इस श्लोक में पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध उपमा के रूप में समाप्त होते हैं, अतः निदर्शन अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका। छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।।' १६ ॥

व्युत्पत्तिः—अतीत्य—अति+√इ+ल्यप्। प्रणयवान्—प्र+√नी+अच् करणे प्रणयः, प्रणय+मतुप्+विभक्त्यादिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—अतिक्रम्य = लाँघकर, संक्रान्तः =प्रविष्ट हो गये हैं। लेखितव्यम् = लिखना है, चित्रित करना है। अभिरूपः =अभीष्ट, पसन्द ॥

टीका—विदूषक इति। राजानं मनसि उपहसन् विदूषको विचारयति—अतिक्रम्य = अतीत्य, संक्रान्तः =प्रविष्टः। लेखितव्यम्=चित्रितव्यम्। अभिरूपः =अभिप्रेतः ॥

राजा—श्रूयताम्,

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥१७॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) यथाहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्बकूर्चानां तापसानां कदम्बैः । [जह अहं देक्खामि पूरिदव्वं णेण चित्तफलअं लम्बकुच्चाणं तावसाणं कदम्बेहिं ।]

राजा—वयस्य, अन्यच्च । शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृतमस्माभिः ।

विदूषकः—किमिव ? [किं विअ ?]

सानुमती—वनवासस्य सौकुमार्यस्य विनयस्य च यत्सदृशं भविष्यति । [वणवासस्स सोउमारस्स विणअस्स अ जं सरिसं भविस्सदि ।]

अन्वयः—सैकतलीनहंसमिथुना, मालिनी, स्रोतोवहा, कार्या; ताम्, अभितः, निषण्णहरिणाः, गौरीगुरोः, पावनाः, 'पादाः, (कार्याः); शाखालम्बितवल्कलस्य, तरोः, अधः, कृष्णमृगस्य, शृङ्गे, वामनयनम्, कण्डूयमानाम्, मृगीम्, च, निर्मातुम्, इच्छामि ॥ १७ ॥

शब्दार्थ :—सैकतलीनहंसमिथुना = जिसके वालुकामय तट पर सुखपूर्वक हंस की जोड़ी बैठी हुई है ऐसी, मालिनी = मालिनी एक नदी का नाम है, स्रोतोवहा = नदी, कार्या = बनानी है; ताम् = उसके, अभितः = दोनों ओर, निषण्णहरिणाः = बैठे हुए हैं हरिण जिनमें ऐसे, गौरीगुरोः = हिमालय के पावनाः = पवित्र, पादाः = तलहटी के प्रदेश, (कार्याः = बनाने हैं); शाखालम्बितवल्कलस्य = डालियों में (सूखने के लिए) लटक रहे हैं वल्कल जिसके ऐसे, तरोः = वृक्ष के, अधः = नीचे, कृष्णमृगस्य = काले हरिण के, शृङ्गे = सींग में, वामनयनम् = बाईं आँख को, कण्डूयमानाम् = खुजलाती हुई, मृगीम् = हरिणी को, निर्मातुम् = बनाने के लिये, इच्छामि = चाहता हूँ ॥ १७ ॥

टीका—कार्येति । अनेन पद्येन आश्रयस्थं पूर्वानुभूतं तदानींतनमुद्दीपनं विभाववर्गं स्मरति । ते च स्मृताः संभ्रमप्रवासहेतुकं विरहमेव पोषयन्तीति राघवभट्टाः । सैकतलीन-

राजा—सुनिये—

जिसके बालुकामय तट पर सुखपूर्वक हंस की जोड़ी बैठी हुई है, ऐसी मालिनी नदी बनानी है। उसके दोनों ओर हिमालय के पवित्र तलहटी के प्रदेश बनाने हैं, जिनमें हिरण बैठे हुए हैं। डालियों में (सूखने के लिये) लटक रहे हैं वल्कल जिसमें ऐसे वृक्ष के नीच काले हरिण के सींग में बाईं आँख को खुजलाती हुई हरिणी को बनाना चाहता हूँ ॥ १७ ॥

विदूषक—(अपने आप) जैसा मैं समझता हूँ कि यह इस चित्र को लम्बी दाढ़ी वालों के झुण्डों से भर देंगे।

राजा—मित्र, और यह करना है। शकुन्तला को जो आभूषण प्रिय थे। उन्हें मैं यहाँ बनाना भूल गया हूँ।

विदूषक—वह कैसा (आभूषण) ?

सानुमती—वनवास, सुकुमारता तथा सुशीलता के जो अनुरूप होगा।

हंसमिथुना—सैकते=बालुकामये पुलिने लीनम्=सुखासीनम् हंसमिथुनम्=मरालयुगलम् यस्याः सा तादृशी, मालिनी=एतन्नामिका, स्रोतोवहा=नदी, कार्या=लेखितव्या। ताम्=मालिनीं नदीम्, अभितः=पार्श्वतः, अभितो योगे द्वितीया, निषण्णहरिणाः—निषण्णाः=उपविष्टाः हरिणाः मृगाः येषु तथाविधाः, गौरीगुरोः—गौर्य्याः=पार्वत्याः गुरोः=जनकस्य हिमालयस्य, पावनाः=पवित्राः, पादाः=प्रत्यन्तपर्वताः, कार्याः इति शेषः; शाखालम्बितवल्कलस्य—शाखासु आलम्बितानि=बल्कलानि=वृक्षत्वचः यस्य तादृशस्य, तरोः=वृक्षस्य, अधः=तले, कृष्णमृगस्य=कृष्णहरिणस्य, शृङ्गे=विषाणे, वामनयनम्=वामनेत्रम्, कण्डूयमानाम्=निकषन्तीम्, मृगीम्=हरिणीम्, च=अपि, निर्मातुम्=कर्तुम्, इच्छामि=वाञ्छामि। तुल्ययोगिता स्वभावोक्तिश्चालङ्कारौ। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ १७ ॥

टिप्पणी—हंसमिथुना०—बालुकामय तट पर हंस की जोड़ी का चित्रण, कलकल बहती नदी का अङ्कन, पर्वत की सूनी तलहटी का निर्माण तथा सघन शीतल वृक्ष की छाया में बैठे हरिण को पौरुष-प्रदर्शन के लिए उकसाती हरिणी का चित्रण—ये सब भीषण कामोत्तेजक हैं। एक विरही व्यक्ति इन बातों को देख कर अपूर्व सुख का अनुभव करता है। ऊपर वर्णित बातें आश्रम-निवास के प्रसंग में दुष्यन्त के द्वारा देखी गई थीं, अनुभव की गई थीं। वह इन्हीं मधुर प्रसंगों को यहाँ बनाना चाहता है।

यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण—"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" ॥ १७ ॥

व्युत्पत्तिः—कार्या—√कृ + ण्यत् + टाप् + विभक्तिः। सैकत—सिकता + अण् + विभक्त्यादिः। पावनाः—√पू + णिच् + ल्युट् + विभक्त्यादिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—पश्यामि=समझता हूँ, पूरितव्यम्=भरना है, भर देंगे, लम्बकूर्चानाम्=लम्बी दाढ़ी वालों के, कदम्बैः=झुण्डों से। प्रसाधनम्=सजावट, आभूषण ॥

राजा—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥१८॥

विदूषकः—भोः, किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमावार्य चकितचकितमेव स्थिता। (सावधानं निरूप्य दृष्ट्वा) आः, एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनकमलमभिलङ्घते मधुकरः। [भो, किं णु तत्तहोदी रत्तकुवलअपल्लवसोहिणा अग्गहत्थेण मुहं आवारिअ चइदचइदा विअ ट्ठिआ। आ, एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणकमलं अहिलङ्घेदि महुअरो।]

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः।

टीका—विदूषकः इति। पश्यामि=अनुमिनोमि, पूरितव्यम्=भरितव्यम्, लम्बकूर्चानाम्=दीर्घश्मश्रूणां तापसानाम्, कदम्बैः=समूहैः। प्रसाधनम्=अलङ्करणम्॥

टिप्पणी—प्रसाधनमभिप्रेतम्—दुष्यन्त ने अपनी कामलीला के प्रसङ्ग में देखा था कि शकुन्तला अपने आप को सुलभ साधनों से सजाती खूब है। उन्हें शकुन्तला की वह सजावट अत्यधिक मोहक लगी थी जिसे वे आगे के श्लोक में वर्णित करते जा रहे हैं।

अन्वयः—हे सखे, कर्णार्पितबन्धनम्, आगण्डविलम्बिकेसरम्, शिरीषम्, न, कृतम्; वा, स्तनान्तरे, शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम्, मृणालसूत्रम्, न, रचितम्॥ १८॥

शब्दार्थः—हे सखे=हे मित्र, कर्णार्पितबन्धनम्=कान में लगा हुआ वृन्तवाला, आगण्डविलम्बिकेसरम्=गालों तक लटकते हुए केसरवाला, शिरीषम्=शिरीष का फूल, न=नहीं, कृतम्=बनाया गया है; वा=और, स्तनान्तरे=स्तनों के बीच में, शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम्=शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों की तरह कोमल, मृणालसूत्रम्=कमल-नाल का हार, न=नहीं, रचितम्=बनाया गया है॥ १८॥

टीका—कृतमिति। हे सखे=हे मित्र, कर्णार्पितबन्धनम्—कर्णे=श्रोत्रे अर्पितम्=आरोपितम् बन्धनम्=वृन्तम् यस्य तत् तादृशम्, आगण्डविलम्बिकेसरम्—गण्डम्=कपोलम् अभिव्याप्य=मर्यादीकृत्य इति आगण्डम्=आकपोलम् विलम्बिनः=लम्बमानाः

राजा—हे मित्र, कान में लगा हुआ वृन्तवाला, गालों तक लटकते हुए केसरवाला शिरीष का फूल नहीं बनाया गया है और स्तनों के बीच में शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों की तरह कोमल कमल-नाल का हार नहीं रचा गया है ॥ १८ ॥

विदूषक—अजी क्या बात है कि आदरणीया यह श्रीमती जी लाल कमल के पत्ते की तरह शोभायमान हाथ के अगले हिस्से से (अर्थात् हाथ की अँगुलियों से) मुख को ढक कर अत्यन्त घबराई हुई सी खड़ी हैं। (सावधानी से विचार कर और देखकर) ओह, यह राड़ का बेटा, फूलों के रस का चोर भौंरा इन श्रीमती जी के मुखकमल पर आक्रमण कर रहा है।

राजा—रो इस ढीठ को रोको।

केसराः = किञ्जल्काः यस्य तत् तथोक्तम्। एतेन केवलं कर्णं न भूषयति, अपि तु गण्डमपीति व्यज्यते। शिरीषम्=शिरीषपुष्पम्, न कृतम् = न रचितम्। 'शिरीष' पदेन कोमलत्वं ध्वनयताऽन्यत्तदयोग्यमिति तस्याः सौकुमार्यं व्यज्यते। वा=तथा, स्तनान्तरे—स्तनयोः= पयोधरयोः अन्तरे=मध्ये, शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम्—शरदः=शरदर्तोः चन्द्रस्य=निशाकरस्य मरीचयः = किरणाः तद्वत् कोमलम् = सुकुमारम्, मृणालसूत्रम्—बिसमालिका, न रचितम् =न चित्रितम्। स्तनयोर्मध्ये मृणालसूत्रस्यैव समावेशयोग्यत्वं निर्दिष्टम्। एतेन स्तनयोरतिपीवरतया परस्परोत्पीडनत्वम्, तेनालिङ्गनयोग्यत्वम्, तेन च तदप्राप्त्या स्वस्याधन्यत्वादि व्यज्यते। अत्र समुच्चय उपमा चालङ्कारौ। वंशस्थं छन्दः ॥ १८ ॥

टिप्पणी—मृणालसूत्रम्—इस कथन से स्तनों की विशालता तथा परस्पर सटा होना सूचित किया गया है।

यहाँ दो क्रियाओं के संग्रह के कारण क्रिया-समुच्चय अलङ्कार है। शरच्चन्द्र० में लुप्तोपमा है। इसमें प्रयुक्त छन्द का लक्षण है :—

"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" ॥ १८ ॥

व्युत्पत्तिः—कृतम्—√कृ+क्त+विभक्तिः। रचितम्—√रच्+णिच् चुरादिः +क्त+विभक्त्यादिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—रक्तकुवलयपल्लवशोभिना =लाल कमल के पत्ते की तरह शोभायमान, अग्रहस्तेन =हाथ के अगले हिस्से से, अँगुलियों से, चकितचकितेव =अत्यन्त घबराई हुई सी। दास्याः पुत्रः =राड़ का बेटा, दासी का बेटा, यह एक प्रकार की गाली है। कुसुमरसपाटच्चरः =फूलों के रस का चोर ॥

टीका—विदूषक इति। रक्तकुवलयेत्यादिः—रक्तकुवलयस्य =रक्तकमलस्य पल्लवः =पत्रम् तद्वच्छोभिना =सुन्दरेण यद्वा रक्तौ कुवलयपल्लवौ तद्वच्छोभिना, अग्रहस्तेन =हस्ताग्रेण, अङ्गुलिसमूहेनेत्यर्थः, चकितचकितेव =भीतभीतेव। दास्याः पुत्रः = दुर्विनीतः, आक्रोशे निन्दायां षष्ठ्याः अलुक्, कुसुमरसपाटच्चरः=पुष्पमधुचौरः ॥

टिप्पणी—रक्तकुवलय—रक्त माने लाल, कुवलय नीले कमल को कहते हैं। अतः

विदूषकः—भवानेवाविनीतानां शासिताऽस्य वारणे प्रभविष्यति। [भवं एव्व अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि।]

राजा—युज्यते। अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे, किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि?

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥१९॥

सानुमती—अद्याभिजातं खल्वेषवारितः। [अज्ज अभिजादं क्खु एसो वारिदो।]

विदूषकः—प्रतिषिद्धाऽपि वामैषा जातिः। [पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी।]

राजा—एवं भोः, न मे शासने तिष्ठषि? श्रूयतां तर्हि सम्प्रति—

यह वाक्य ठीक नहीं प्रतीत होता। किन्तु यहाँ कुवलय का अर्थ है—कमल, सामान्य कमल। अतः कोई विसङ्गति नहीं होती॥

शब्दार्थः—धृष्टः=ढीठ। अविनीतानाम्=दुष्टों के, वारणे=निवारण में, प्रभविष्यति=समर्थ होंगे। कुसुमलताप्रियातिथे=पुष्पलता के प्रिय अतिथि॥

टीका—राजेति। धृष्टः=दुष्टः, राज्ञस्तु तद्देश एव तिष्ठामीति बुद्ध्या नन्वित्याद्युक्तिः। विदूषकस्तु चित्रगतस्य वारयितुमशक्यत्वादिति सोल्लुण्ठं स्वभावोक्तिमाह- भवानेव अविनीतानाम्=दुष्टानाम्, वारणे=निवारणे, प्रभविष्यति=समर्थो भविष्यति। कुसुमलताप्रियातिथे—अत्र कुसुमग्रहणं लतायाः सद्भावसूचनार्थम्। कुसुमयुक्ता लता कुसुमलतेति मध्यमपदलोपी समासः। तस्याः अपि प्रियोऽतिथिर्न तु साधारणोऽतिथिस्तस्य सम्बोधनम्॥

अन्वयः—(त्वयि), अनुरक्ता, एषा, मधुकरी, तृषिता, कुसुमनिषण्णा सती, अपि, भवन्तम्, प्रतिपालयति; त्वया, विना, न खलु, मधु, पिबति॥ १९॥

शब्दार्थः—(त्वयि=आप पर), अनुरक्ता=अनुरक्त, एषा=यह, मधुकरी=भ्रमरी, तृषिता=प्यासी होकर, कुसुमनिषण्णा सती=फूल पर बैठी हुई, अपि=भी, भवन्तम्=आपकी, प्रतिपालयति=प्रतीक्षा कर रही है; त्वया=तुम्हारे, विना=विना, न खलु=नहीं ही, मधु=पुष्परस को, पिबति=पी रही है॥ १९॥

टीका—एषेति। त्वयीत्यध्याहार्यम्, अनुरक्ता=अनुरागिणी, एषा=इयम्,

विदूषक—आप ही दुष्टों के शासक हैं। अतः आप ही इसके निवारण में समर्थ होंगे।

राजा—ठीक है। हे पुष्पलता के प्रिय अतिथि, तुम इस (शकुन्तला के मुखकमल) के चारों ओर चक्कर काटने का कष्ट क्यों उठा रहे हो ?

(आप पर) अनुरक्त यह भ्रमरी प्यासी होकर फूल पर बैठी हुई भी आपकी प्रतीक्षा कर रही है। तुम्हारे विना पुष्प-रस को नहीं ही पी रही है ॥ १९ ॥

सानुमती—इस समय यह (भ्रमर) बहुत शिष्ट ढङ्ग से रोका गया है (राजा के द्वारा)।

विदूषक—रोकने पर भी यह (भ्रमर) जाति विपरीत ही काम करने वाली होती है।

राजा— अच्छा ऐसी बात है, तू मेरे आदेश में नहीं हो (अर्थात् तू मेरा आदेश नहीं मान रहे हो) ? तो अब यह सुन लो—

मधुकरी = भ्रमरी, तृषिता = पिपासिता, कुसुमनिषण्णा सती = पुष्पोपविष्टा सती, सती = विद्यमाना पतिव्रता चेति, अपि = च, भवन्तम् = प्रेमास्पदं त्वामित्यर्थः, प्रतिपालयति = प्रतीक्षते, त्वया विना खल्विति दार्ढ्ये, मधु = पुष्परसम्, न पिबति = नैवाचामति। अनेन तस्यास्तत्र प्रेमातिशयो व्यज्यते। अत्र समासोक्तिरलङ्कारः। आर्या जातिः ॥ १९ ॥

टिप्पणी—भवन्तम्—इसका सम्बन्ध अनुरक्ता तथा प्रतिपालयति—दोनों से ही हो सकता है।

यहाँ भ्रमर और भ्रमरी में नायक-नायिका का के व्यवहार का आरोप होने से समासोक्ति अलङ्कार है। छन्द के लक्षण के लिये देखिये—१।२,३ ॥ १९ ॥

व्युत्पत्तिः—प्रतिपालयति—प्रति + √पाल् + णिच् + विभक्त्यादिकार्यम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—अभिजातम् = उचित ढंग से, शिष्ट ढङ्ग से, वारितः = रोका गया। प्रतिषिद्धा = रोकी गई, रोकने पर, वामा = विपरीत काम करने वाली, उल्टा काम करने वाली। शासने = आदेश में ॥

टीका—सानुमतीति। अभिजातम् = श्रेष्ठकुलानुरूपम्, ('न्याये कुलीनबुधयोरभिजातपदं विदुः' इति शाश्वतः), वारितः = निषिद्धः। प्रतिषिद्धा = निवारिता, वामा = विपरीताचरणा। शासने = आदेशे ॥

टिप्पणी—अभिजातम्—सड़क के बीचोबीच रिक्सा जा रहा था। उसके पीछे से या सामने से एक रिक्सा आया। रिक्सा वाले ने कहा—हट साले अबे। बात समाप्त हुई। दोनों आगे बढ़ गये। फिर एक कुलीन व्यक्ति अपनी टैक्सी चलाता आया। उसने रिक्सावाले से कहा—भाई जरा बचके चलो। और वह आगे बढ़ गया। टैक्सी चालक का कथन उचित तथा कुलीन था। इसी को आभिजात्य कहते हैं।

वामा—मुख पर या कान के बगल में आते भ्रमर को रोकिये। वह बार-बार आपके पास आयेगा। यह मक्खी जाति का स्वभाव ही होता है।

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु ।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद् भ्रमर प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥२०॥

विदूषकः—एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति? (प्रहस्य । आत्मगतम्) एष तावदुन्मत्तः । अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः । (प्रकाशम्) भोः, चित्रं खल्वेतत् । [एव्वं तिक्खणदण्डस्स किं ण भाइस्सदि ? एसो दाव उम्मत्तो । अहं पि एदस्स संगेण ईदिसवण्णो विअ संवुत्तो । भो, चित्तं क्खु एदं ।]

राजा—कथं चित्रम् ?

सानुमती—अहमपीदानीमवगतार्था । किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येषः । [अहं पि दाणिं अवगदत्था । किं उण जहालिहिदाणुभावी एसो ।]

राजा—वयस्य, किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ?

अन्वयः—हे भ्रमर, अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयम्, मया, रतोत्सवेषु, सदयम्, एव, पीतम्, प्रियायाः, बिम्बाधरम्, चेत्, स्पृशसि, त्वाम्, कमलोदरबन्धनस्थम्, कारयामि ॥ २० ॥

शब्दार्थः—हे भ्रमर=हे भौंरा, अक्लिष्ट-बाल-तरु-पल्लव-लोभनीयम्=किसी के द्वारा न छुए गये नवोद्गत तरुपल्लव की तरह मनोहर, मया=मेरे द्वारा, रतोत्सवेषु=सम्भोगानन्द के समय, सदयम्=दयापूर्वक, एव=ही, पीतम्=पिया गया, प्रियायाः=प्रियतमा का, बिम्बाधरम्=रक्ताधरोष्ठ, चेत्=यदि, स्पृशसि=छुओगे, त्वाम्=तुझे, कमलोदरबन्धनस्थम्=कमल के मध्यभाग रूपी कारागार में बन्द, कारयामि=करवा दूँगा ॥ २० ॥

टीका—अक्लिष्टेति । हे भ्रमर=हे द्विरेफ, कामुक इति, अक्लिष्टः=केनापि न मृदितः=नूतनः यस्तरुः=वृक्षः तस्य पल्लवः अचिरोद्गतं पत्रम् तद्वल्लोभनीयम्=मनोहरम् सुन्दरमिति यावत्, एतेन कोमलत्वलौहित्यातिशयो व्यज्यते । मया=त्वत्सौन्दर्यवशीभूतेन दुष्यन्तेनेत्यर्थः, रतोत्सवेषु=सुरतोत्सवेषु, सदयम्=सानुकम्पम्, एव पीतम्=चुम्बितमित्यर्थः, न तु निर्दयं तद्दष्टम्, प्रियायाः=प्रेयस्याः बिम्बाधरम्=बिम्बसदृशमधरं बिम्बाधरमिति मध्यमपदलोपी समासः । कमलोदरबन्धनस्थम्—कमलस्य उदरम्=अभ्यन्तरम् एव बन्धनम्=कारागारः तत्स्थं तत्र बद्धमित्यर्थः, कारयामि । अनेन सूर्यस्यापि निजाज्ञाकारित्वं ध्वन्यते । अत्रातिशोक्तिः समासोक्तिश्चालङ्कारौ । वसन्ततिलका छन्दः ॥ २० ॥

टिप्पणी—बिम्बाधरम्—बिम्ब एक जङ्गली फल होता है पकने पर यह अत्यन्त

हे भ्रमर, किसी के द्वारा न छुए गये नवोद्गत तरुपल्लव की तरह मनोहर तथा मेरे द्वारा सम्भोगानन्द के समय दयापूर्वक ही पिया गया प्रियतमा का रक्ताधरोष्ठ यदि तुम छुओगे तो कमल के मध्यभागरूपी कारागार में बन्द करवा दूँगा ॥ २० ॥

विदूषक—इस प्रकार कठोर दण्ड देने वाले आपसे यह क्यों नहीं डरेगा ? (हँस कर, अपने आप) यह अब पागल हो गये हैं। मैं भी इनके साथ के कारण इसी प्रकार का हो गया हूँ। (प्रकट रूप से) अजी, यह तो चित्र है (न कि वास्तविक दृश्य)।

राजा—क्या चित्र है ?

सानुमती—मैं भी अब यथार्थ को समझ सकी हूँ। जैसा चित्र में लिखा है, उसी प्रकार अनुभव करने वाले इस राजा का तो कहना ही क्या है ?

राजा—मित्र, यह कैसी ईर्ष्या-वृत्ति का प्रदर्शन किया तुमने ?

मधुर लाल होता। युवतियों का अधर लाल होना प्रशस्त माना जाता है, न कि काला कलूटा।

यहाँ स्वाभाविक बन्धन को अपने प्रयोजन का विषय बनाने से अतिशयोक्ति तथा भ्रमर में प्रतिनायक का आरोप होने से समासोक्ति है। राजा की घोषणा होने के कारण यहाँ व्यवसाय नामक विमर्शसन्धि का अङ्ग है ॥ २० ॥

व्युत्पत्तिः—क्लिष्टः—√क्लिश् + क्त + विभक्त्यादिः।

लोभनीयम्—√लुभ् + अनीयर् + विभक्तिः।

पीतम्—√पा + क्त + विभक्त्यादिः ॥ २० ॥

शब्दार्थः—तीक्ष्णदण्डस्य = कठोर दण्ड देने वाले। उन्मत्तः = पागल। ईदृशवर्णः = इसी प्रकार का। अवगतार्था = यथार्थ को समझ सकी हूँ। यथालिखितानुभावी = जैसा चित्र में लिखा है उसी प्रकार अनुभव करने वाले। पौरोभाग्यम् = दोषदर्शी, बुराई ढूँढने वाला, ईर्ष्यावृत्ति ॥

टीका—विदूषक इति। तीक्ष्णदण्डस्य—तीक्ष्णः = कठोरः दण्डो यस्य तस्य, उग्रशासनस्येत्यर्थः, शेषविवक्षयात्र षष्ठी। उन्मत्तः = विक्षिप्तः। ईदृशवर्णः—ईदृशः = एतादृशः वर्णः = रूपम् यस्य तथाविधः। अवगतार्था—अवगतः = ज्ञातः अर्थः = वस्तु यया तादृशी, चित्रमिति ज्ञानं ममाप्यधुना जातमित्यर्थः। यथालिखितानुभावी—यथा-लिखितम् = लिखितानुरूपम् अनुभवति = ध्यायति यस्तादृशः। पौरोभाग्यम्—पुरोभागिनः = दुष्कर्मनिरतस्य ('दोषैकदृक् पुरोभागी' इत्यमरः) कार्यम् = अपकार्यमित्यर्थः ॥

टिप्पणी—सहशिक्षा की कक्षा में किसी मनचले युवक ने दूसरे की प्रेयसी से छेड़-छाड़ कर दी। शिकायत मिलने पर अध्यक्ष महोदय ने दण्ड दिया—'तुम्हें २,३ लड़कियों के साथ दो घण्टे एक रूम में बन्द रहना पड़ेगा।' ठीक ऐसा ही दण्ड राजा भ्रमर को दे रहा है। कमल के भीतर तन्मय होकर रसास्वाद करते-करते उसमें बन्द हो जाना भ्रमर के लिये कष्टकारक नहीं सुखदायक कार्य है। अतः विदूषक व्यंग्य बोल रहा है कि—'इस तरह कठोर दण्ड देने वाले आपसे तो अवश्य भ्रमर डर जायेगा।'

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥२१॥
(इति बाष्पं विहरति ।)

सानुमती—पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः ।
[पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो ।]

राजा—वयस्य, कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि ?
प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥२२॥

अवगतार्था—दुष्यन्त की ही भाँति सानुमती भी, अभी तक तन्मय होकर चित्र को साक्षात् शकुन्तला समझ रही थी ।

पौरोभाग्यम्—चित्र को चित्र बतला कर विदूषक ने धृष्टता की है । उसका आनन्द भग्न किया है । यही उसकी पुरोभागिता=दोषदर्शिता=धृष्टता है ॥

अन्वयः—तन्मयेन, हृदयेन, साक्षात्, इव, दर्शनसुखम्, अनुभवतः, मे, स्मृतिकारिणा, त्वया, कान्ता, पुनरपि, चित्रीकृता ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—तन्मयेन=तल्लीन, हृदयेन=चित्र से, साक्षात्=प्रत्यक्ष की, इव=तरह, दर्शनसुखम्=दर्शन के सुख का, अनुभवतः=अनुभव करने वाले, मे=मुझे, स्मृतिकारिणा=स्मरण करा देने वाले, त्वया=तुम्हारे द्वारा, कान्ता=प्रियतमा, पुनरपि=फिर से, चित्रीकृता=चित्रित कर दी गई ॥ २१ ॥

टीका—दर्शनेति । तन्मयेन=शकुन्तलामयेन, हृदयेन=चेतसा, करणे तृतीया, साक्षादिव=प्रत्यक्षमिव, दर्शने=अवलोकने सुखम्=आनन्दम्, अनुभवतः=उपलभमानस्य, मे=मम, स्मृतिकारिणा=इदं चित्रमिति स्मरणं कृतवता, त्वया=भवता, पौरोभाग्यं भजमानेन विदूषकेनेत्यर्थः, कान्ता=प्रियतमा, पुनरपि=भूयोऽपि, चित्रीकृता=आलेख्यस्था कृता । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । आर्या जातिः ॥ २१ ॥

टिप्पणी—चित्रीकृता—दुष्यन्त शकुन्तला के चित्र को देखते-देखते उसमें इतना रम गया कि वह उसे चित्र न प्रतीत होकर सत्य प्रतीत होने लगा । फिर विदूषक ने याद दिलाई—'श्रीमान् जी यह तो चित्र है । इसमें सत्य जैसा व्यवहार करना उपहासास्पद है ।' यह सुन कर दुष्यन्त फिर सही अवस्था में आ गये । पर उनका आनन्द भग्न हो गया । अब उन्हें सत्य शकुन्तला न प्रतीत होकर यह शकुन्तला का चित्र ज्ञात होने लगा । मजा भंग हो गया । यही विदूषक के द्वारा शकुन्तला का चित्रित किया जाना है।

इसमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा आर्या जाति है ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—पूर्वापरविरोधी=आगे और पीछे की बातों में तालमेल न रखने वाला, बीहड़ । अविश्रान्तदुःखम्=अनवरत वेदना को ॥

तल्लीन चित्त से प्रत्यक्ष की तरह दर्शन के सुख का अनुभव करने वाले मुझे स्मरण करा देने वाले तुम्हारे द्वारा प्रियतमा फिर से चित्रित कर दी गई ॥ २१ ॥

(ऐसा कह कर आँसू बहाता है)

सानुमती—यह विरह का मार्ग आगे और पीछे की बातों से तालमेल न रखनेवाला अतः अपूर्व होता है।

राजा—मित्र, मैं क्यों इस प्रकार अनवरत वेदना का अनुभव कर रहा हूँ।

रात भर जागरण के कारण उस (शकुन्तला) का स्वप्न में मिलन रुक गया है और आँसू चित्रनिर्मित भी इस (शकुन्तला) को देखने नहीं देते हैं ॥ २२ ॥

टीका—सानुमतीति। पूर्वापरविरोधी—पूर्वस्य=प्रथमावस्थायाः अपरस्य=अन्यस्य उत्तरावस्थायाश्चेत्यर्थः यो विरोधः=विपरीतता तद्वान्, पूर्वं सहसा शकुन्तलायाः प्रत्याख्यानमधुना तदर्थः शोकातिशयोऽयमेव पूर्वापरविरुद्धता। राघवभट्टास्त्वेवं व्याख्यान्ति—'पूर्वं चित्रस्य चित्रत्वेन ज्ञानम्, पुनस्तस्योन्मादावस्थायां सत्यत्वेन ज्ञानम्, पुनरपि चित्रत्वेन ज्ञानमिति पूर्वापरविरोधः।' अविश्रान्तदुःखम्—अविश्रान्तम्=अनवरतम् दुःखम्=वेदनाम् ॥

टिप्पणी—पूर्वापरविरोधी—राघवभट्ट ने इसका भाव यह लिखा है कि राजा पहले चित्र को चित्र समझता है, फिर उन्मादवश उसे वास्तविक शकुन्तला समझता है और अब अन्त में उसे पुनः चित्र समझता है। यही है पूर्वापरविरोधिता। जीवानन्द विद्यासागर एवं काले महाशय आदि इसका भाव इस प्रकार बतलाते हैं—जब शकुन्तला स्वयं राजा के पास आई तब उन्होंने उसे ठुकरा दिया और अब उसके लिये पश्चात्ताप कर रहे हैं, हो रहे हैं। यही है पूर्वापरविरोधिता। किन्तु राघवभट्ट का ही मत अधिक समीचीन है। 'पूर्वापरविरोधी' विरहमार्ग का विशेषण है। प्रथम बार जब राजा ने शकुन्तला का परित्याग किया था उस समय विरह की बात ही न थी। राजा शकुन्तला को अपनी प्रेयसी जानता-मानता ही न था। अतः विरह होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर उस बात का आज की विरह अवस्था की बात से कोई संबन्ध ही नहीं है। अतः राघवभट्ट का ही मत समीचीन है॥

अन्वयः—प्रजागरात्, तस्याः, स्वप्ने, समागमः, खिलीभूतः; तु, बाष्पः, चित्रगताम्, अपि, एनाम्, द्रष्टुम्, न, ददाति ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—प्रजागरात्=रातभर जागरण के कारण, तस्याः=उस (शकुन्तला) का, स्वप्ने=स्वप्न में, समागमः=मिलन, खिलीभूतः=खिसक गया, रुक गया; तु=और, बाष्पः=आँसू, चित्रगताम्=चित्रनिर्मित, अपि=भी, एनाम्=इस (शकुन्तला) को, द्रष्टुम्=देखने, न=नहीं, ददाति=देते हैं ॥ २२ ॥

टीका—प्रजागरादिति। प्रजागरात्=रात्रौ जागरणात्, तस्याः=पूर्वमुपभुक्तायाः, शकुन्तलायाः, स्वप्ने=निद्रायाम्, समागमः=संगमः, खिलीभूतः=निरुद्धः, तु=पुनः, बाष्पः=अश्रुप्रवाहः, चित्रगताम्=चित्रार्पिताम्, अपि=च, एनाम्=शकुन्तलामित्यर्थः,

सानुमती—सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः। [सव्वहा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं सउन्दलाए।]

(प्रविश्य)

चतुरिका—जयतु जयतु भर्ता। वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थितास्मि। [जेदु जेदु भट्टा। वट्टिआकरण्डअं गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिदम्हि।]

राजा—किं च ?

चतुरिका—स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः। [सो मे हत्थादो अन्तरा तरलिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति सबलक्कारं गहीदो।]

विदूषकः—दिष्ट्या त्वं मुक्ता। [दिट्ठिआ तुमं मुक्का।]

चतुरिका—यावद् देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा। [जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता।]

राजा—वयस्य, उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च। भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु।

विदूषकः—आत्मानमिति भण। (चित्रफलकमादायोत्थाय च) यदि भवानन्तःपुरकूटवागुरातो मोक्ष्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दायय। [अत्ताणं त्ति भणाहि। जइ भवं अन्तेउरकूडवागुरादो मुञ्चीअदि तदो मं मेहप्पडिच्छन्दे पासादे सद्दावेहि।] (इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः।)

द्रष्टुम् =अवलोकयितुम्, न ददाति। अत्र विरोधनं नाम विमर्शसन्धेरङ्गमस्ति। हेतुरलङ्कारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम्॥ २२॥

टिप्पणी—प्रजागरात्—दुष्यन्त को रात में नींद हराम थी। वे सो न सकते थे। अतः स्वप्न में भी शकुन्तला का दर्शन कर अपना जीवन सफल न कर पाते थे।

बाष्पः—जागरण की अवस्था में शकुन्तला के चित्र के सामने आते ही दुष्यन्त की आँखों में आँसू का सागर उमड़ पड़ता था। अतः वे उसकी प्रतिकृति भी न देख पाते थे।

इस आशय के भावों को महाकवि ने अन्यत्र भी व्यक्त किया है—(क) त्वामालिख्य ……अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे……(मेघदूत २-४५), (ख) मत्संभोगः कथनमुपनयेत् स्वप्नजोऽपीति निद्रामाकांक्षन्ती…(मेघ० २-३१) (ग) कथमुपलभे

सानुमती—(वस्तुतः इस कथन से) तुमने शकुन्तला के परित्याग का दुःख सब तरह से धो दिया हैं।

(प्रवेश करके)

चतुरिका—जय हो, जय हो स्वामी की। ब्रश और रंग आदि की पेटी को लेकर मैं इधर की ओर आ रही थी।

राजा—फिर क्या हुआ ?

चतुरिका—उसे मेरे हाथ से बीच में ही तरलिका के द्वारा अनुगमन की जाती हुई महारानी वसुमती ने 'मैं ही इसे महाराज के पास पहुँचाऊँगी' ऐसा कह कर जबर्दस्ती छीन लिया।

विदूषक—सौभाग्य से तुम छूट गई।

चतुरिका—जब तक महारानी के शाखा में फँसे हुए दुपट्टे को तरलिका छुड़ाने लगी, तब तक मेरे द्वारा अपनी शरीर बचा ली गई। (अर्थात् मैं भाग कर चली आई)।

राजा—मित्र, महारानी आ रही हैं और वह (इस समय) अत्यधिक मान के कारण गर्वीली हैं। (अतः) आप इस चित्र की रक्षा करें।

विदूषक—यह कहो कि—'मेरी रक्षा करो'। (चित्रपट्ट लेकर और उठ कर) यदि आप अन्तःपुर के कूट जाल से मुक्त हो जाइएगा तो मुझे 'मेघप्रतिच्छन्द' नामक महल में पुकारना। (ऐसा कह कर जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाता हुआ निकल गया)।

निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्। (विक्रमो० २-१०), (घ) स्वप्नेऽपि दुर्लभमहो तव दर्शनं मे चञ्चच्चकोरनयनेऽस्मि यतो विनिद्रः (विक्र०) ॥

इस श्लोक में रात्रिजागरण तथा बाष्प इन दोनों हेतुओं का अपने कार्य अनिद्रा और अदर्शन के साथ अभेदरूप से वर्णन होने के कारण विरोध नामक विमर्शसन्धि का अङ्ग है। इसमें हेतु अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ २२ ॥

व्युत्पत्तिः—प्रजागरात्—प्र + √जागृ + अप् + विभक्तिः। समागमः—सम् + आ + √गम् + घञ् + विभक्तिः। द्रष्टुम्√दृश् + तुमुन् ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—प्रमार्जितम् = मिटा दिया गया, धो दिया गया, प्रत्यादेशदुःखम् = परित्याग का दुःख। वर्तिकाकरण्डकम् = ब्रश और रंग आदि की पेटी को, इतोमुखम् = इधर की ओर। अन्तरा = बीच में, सबलात्कारम् = जबर्दस्ती ॥

टीका—सानुमतीति। प्रमार्जितम् = प्रोञ्छितम्, प्रत्यादेशदुःखम्—प्रत्यादेशस्य = परित्यागस्य दुःखम् = कष्टम्। वर्तिकाकरण्डकम् = तूलिकावर्णकादिभाण्डम्, इतोमुखम्-इतः = अस्यां दिशि मुखम् = आननम् यस्मिन् कर्मणि यथा तथा। अन्तरा = मार्गमध्ये, सबलात्कारम्—बलात्कारेण = बलप्रयोगेन सहितम्, सबलमित्यर्थः ॥

शब्दार्थ :—दिष्टया = सौभाग्य से। विटपलग्नम् = शाखा में फँसे हुए, उत्तरीयम् = दुपट्टे को, निर्वाहितः = बचा ली गई, आत्मा = अपनी शरीर। बहुमान-गर्विता = अत्यधिक मान के कारण गर्वीली। प्रतिकृतिम् = फोटो को। अन्तःपुरकूटवागुरातः = रनिवास के कूटजाल से, मेघप्रतिच्छन्दे = मेघप्रतिच्छन्द नामक, प्रासादे = महल में, शब्दापय = पुकारना ॥

सानुमती—अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसंभावनामपेक्षते शिथिलसौहार्द इदानीमेषः। [अण्णसंकन्तहिअओ वि पढमसंभावणं अवेक्खदि सिढिलसोहदो दाणिं एसो।]

(प्रविश्य पत्रहस्ता)

प्रतीहारी—जयतु जयतु देवः। [जेदु जेदु देवो।]

राजा—वेत्रवति, न खल्वन्तरा दृष्टा त्वया देवी।

प्रतीहारी—अथ किम् ? पत्रहस्तां मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता। [अह इं ? पत्तहत्थं मं देक्खिअ पडिणिउत्ता।]

राजा—कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति।

प्रतीहारी—देव, अमात्यो विज्ञापयति—अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोतु—इति। [देव, अमच्चो विण्णवेदि। अत्थजादस्स गणणाबहुलदाए एक्कं एव्व पोरकज्जं अवेक्खिदं तं देवो पत्तारूढं पच्चक्खीकरेदु त्ति।]

टीका—विदूषक इति। दिष्ट्या=सौभाग्येन। विटपलग्नम्—विटपे=वृक्षशाखायाम् लग्नम्=आसक्तम्, उत्तरीयम्=ऊर्ध्ववस्त्रम्, निर्वाहितः=पलाय्य रक्षितः, आत्मा=स्वशरीरम्। बहुमानगर्विता—बहुमानेन=इयद्दिनं मया प्रदत्तेन सम्मानेन गर्विता=जातगर्वा। प्रतिकृतिम्=शकुन्तलाप्रतिमाम्। अन्तःपुरेति—अन्तःपुरस्य=लब्धप्रवा तत्रस्थायाः देव्याः या कूटवागुरा=मायारूपं जालम् ततः। निर्णयसागरपुस्तके 'अन्तःपुरकालकूटात्' इति पाठः; मेघप्रतिच्छन्दे=मेघप्रतिच्छन्दनामनि, प्रासादे=राजभवने, शब्दापय=आकारयेत्यर्थः॥

टिप्पणी—आत्मानम्—'आत्मानम्' का अर्थ राजा और विदूषक दोनों ही हो सकते हैं। यदि महारानी चित्र को राजा के पास देख लेती तो निश्चय ही वह उनकी दुर्दशा कर देती। यदि यह चित्र विदूषक के पास से पकड़ा जाता तो विदूषक की खासी विदाई होती। किन्तु विदूषक यहाँ इसे राजा के लिये ही कह रहा है।

व्युत्पत्ति.—निर्वाहितः—निर्+√वह+णिच्+क्त कर्मणि+विभक्त्यादिकार्यम्॥

शब्दार्थः—अन्यसंक्रान्तहृदयः=दूसरी स्त्री में आसक्त मनवाला, प्रथमसंभावनाम्=पूर्वप्रणय को, अपेक्षते=मानता है, रक्षा करता है, शिथिलसौहार्दः=शिथिल प्रेमवाला। अन्तरा=रास्ते में, बीच में॥

टीका—सानुमतीति। अन्यसंक्रान्तहृदयः—अन्यस्याम्=अपरस्याम्, शकुन्तलायामित्यर्थः, संक्रान्तम्=आसक्तम् हृदयम्=चेतः यस्य तादृशः, प्रथमसम्भावनाम्—प्रथमा=प्राक् कृता या सम्भावना=सत्क्रिया, पूर्वं प्रदर्शिता या बहुमत्यां प्रीतिः इत्यर्थं,

सानुमती—दूसरी स्त्री (शकुन्तला) में आसक्त मनवाला भी यह राजा पूर्व प्रणय की रक्षा करता है। सम्प्रति यह (वसुमती के प्रति) शिथिल प्रेम वाला हो गया है अर्थात् वसुमती के प्रति अब इसका प्रेम कम हो गया है।

(हाथ में पत्र ली हुई प्रवेश करके)

प्रतीहारी—जय हो, जय हो महाराज की।

राजा—वेत्रवती, तुमने मार्ग में महारानी (वसुमती) को नहीं देखा है ?

प्रतीहारी—और क्या ? (अर्थात् दिखलायी पड़ी थीं)। किन्तु मुझे हाथ में पत्र ली हुई देख कर वापस हो गईं।

राजा—कार्य को समझनेवाली (महारानी) मेरे (राजकीय) कार्य में विघ्न नहीं डालती हैं।

प्रतीहारी—महाराज, मन्त्री निवेदन करते हैं कि—'(कररूप में प्राप्त) द्रव्य-समूह की गणना की अधिकता के कारण (आज) एक ही नागरिककार्य देखा गया है। वह (इस) पत्र में चढ़ा हुआ है। महाराज इसे देख लें।'

ताम्, अपेक्षते=मानयति, शिथिलसौहार्दः—शिथिलम्=स्वल्पीभूतम् सौहार्दम्=प्रेम यस्य तादृशः। अन्तरा=मध्ये, वर्तमन इति शेषः॥

टिप्पणी—अन्यसंक्रान्तः—दुष्यन्त की विह्वलता को देखकर सानुमती ने यह जान लिया है कि अब राजा अपना पूरा प्रेम शकुन्तला को प्रदान करता है। वसुमती के प्रति अब इसका पहले जैसा प्रेम नहीं रह गया है। किन्तु कुलीनतावश यह अब भी पूर्व प्रणय के कारण महारानी के प्रति शिष्ट बना रहना चाहता है।

शब्दार्थः—कार्यज्ञा=कार्य को समझने वाली, कार्योपरोधम्=कार्य में विघ्न को, परिहरति=बचा देती है। अर्थजातस्य=द्रव्य-समूह की, रुपये-पैसे की, पौरकार्यम्=नागरिक कार्य॥

टीका—राजेति। कार्यज्ञा—कार्यम्=आवश्यकं कृत्यम् जानातीति कार्यज्ञा=राजकार्यविशेषज्ञा, कार्योपरोधम्=कार्यव्याघातम्, परिहरति=त्यजति। राजकार्यस्य विघ्नजननमसमीचीनमिति मत्वा निर्वर्तिता देवीति भावः। अर्थजातस्य=द्रव्यसमूहस्य, पौरकार्यम्=नागरिककार्यम्॥

टिप्पणी—कार्यज्ञा—महारानी को व्यक्तिगत और सामूहिक कार्य का अन्तर ज्ञात है। वह राज्य-कार्य में किसी भी तरह का विघ्न नहीं करना चाहती। यह उसकी कुलीनता और महानता है।

अर्थजातस्य—इससे प्रतीत होता है कि महाकवि के समय में राजा प्रजा से द्रव्य के रूप में कर लेता था। उस द्रव्य की गणना महामन्त्री की उपस्थिति में हुआ करती थी।

पौरकार्यम्—इससे यह भी विदित होता है कि न्याय का कार्य महामन्त्री देखता था। वह अन्तिम निर्णय के लिए मुकदमे का निष्कर्ष राजा के सामने रखता था। अन्तिम निर्णय देना राजा का कार्य था।

राजा—इतः पत्रं दर्शय। (प्रतिहार्युपनयति)।

राजा—(अनुवाच्य) कथम्? समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। वेत्रवति, बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।

प्रतीहारी—देव, इदानीमेव साकेतकस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते। [देव, दाणिं एव्व साकेदअस्स सेट्ठिणो दुहिआ णिव्वुत्तपुंसवणा जाआ से सुणीअदि।]

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ। एवममात्यं ब्रूहि।

प्रतीहारी—यद् देव आज्ञापयति। [जं देवो आणवेदि।]
(इति प्रस्थिता।)

राजा—एहि तावत्।

प्रतीहारी—इयमस्मि। [इअं म्हि।]

राजा—किमनेन सन्ततिरस्ति नास्तीति।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥२३॥

शब्दार्थः—अनुवाच्य = पढ़कर। समुद्रव्यवहारी = समुद्र के द्वारा व्यापार करने वाला, सार्थवाहः = व्यापारियों का मुखिया, नौव्यसने = नौका-दुर्घटना में, विपन्नः = मर गया। अनपत्यः = निःसन्तान, तपस्वी = बेचारा। राजगामी = राजा को प्राप्त होना चाहिए। अनपत्यता = निःसन्तानता। आपन्नसत्त्वा = गर्भिणी॥

टीका—राजेति—अनुवाच्य = पठित्वा। समुद्रव्यवहारी—समुद्रेण = सागरेण व्यवहरति = पणते, क्रयविक्रयकर्म कुरुते इत्यर्थः, यस्तथाविधः, सार्थवाहः—सार्थान् = वणिक्समूहान् वाहयति = प्रापयति देशान्तरान्तराणि यस्तथाविधः, नौव्यसने—नावः = पोतस्य व्यसनम् = विपत्, जलमज्जनमिति यावत्, तस्मिन्। विपन्नः = मृतः। अनपत्यः = निःसन्तानः, तपस्वी = वराकः। राजगामी—राजानम् = देशशासकं गच्छति = मिलतीति राजगामी। अनपत्यता = सन्ततिराहित्यम्। आपन्नसत्वा—सत्वम् = जीवम् आपन्ना = अधिगतेति आपन्नसत्वा = गर्भिणी॥

राजा—पत्र मुझे दिखाओ। (प्रतिहारी पत्र देती है)

(पढ़कर) यह क्या ? समुद्र के द्वारा व्यापार करने वाला धर्ममित्र नामक व्यापारियों का मुखिया नौका-दुर्घटना में मर गया। वह बेचारा निःसन्तान है। अतः उसका धन-संग्रह राजा को प्राप्त होना चाहिए। यह अमात्य ने लिखा है। निश्चय ही निःसन्तान होना महान् कष्टकारक है। वेत्रवती, उस व्यक्ति के पास प्रभूत सम्पत्ति थी। अतः उसकी बहुत-सी स्त्रियाँ होनी चाहिए। पता लगाया जाय शायद उसकी स्त्रियों में कोई गर्भिणी हो।

प्रतीहारी—महाराज, सुनने में आ रहा है कि अयोध्या के निवासी सेठ की पुत्री, जिसका पुंसवन संस्कार अभी-अभी हुआ है, इसकी पत्नी है।

राजा—तो गर्भस्थ बालक पैतृक धन का अधिकारी है। जाओ, ऐसा मन्त्री से कह दो।

प्रतीहारी—जैसी महाराज की आज्ञा।

(ऐसा कहकर चल पड़ती है)

राजा—जरा इधर आओ।

प्रतीहारी—यह उपस्थित हूँ।

राजा—इससे क्या मतलब कि सन्तान है अथवा नहीं है ?

प्रजाजन जिस-जिस स्नेही भाई-बन्धुओं से वियुक्त होते हैं, पापकार्य के अलावा दुष्यन्त (अर्थात् मैं) वह-वह है, यह घोषित कर दिया जाय॥ २३॥

टिप्पणी—बहुपत्नीकेन—इस स्थल के पढ़ने से विदित होता है कि प्राचीन काल में जो व्यक्ति अधिक सम्पन्न होते थे वे कई विवाह करते थे। बहुत पत्नियाँ रखना उस समय एक फैशन था।

शब्दार्थः—साकेतकस्य=अयोध्या के निवासी, श्रेष्ठिनः=सेठ की, दुहिता=पुत्री, निर्वृत्तपुंसवना=जिसका पुंसवन संस्कार हुआ है, की गई पुंसवन संस्कारवाली, जाया=पत्नी। पित्र्यम्=पैतृक, रिक्थम्=धन को॥

टीका—प्रतीहारीति। साकेतकस्य—साकेते=अयोध्यायाम् भवः वसति वा साकेतकः तस्य, अयोध्यानिवासिन इत्यर्थः। श्रेष्ठिनः=वणिजः, दुहिता=पुत्री, निर्वृत्तपुंसवना-निर्वृत्तम्=सम्पन्नम् पुंसवनम्=गर्भाधानात् तृतीये मासि कर्तव्यः संस्कारविशेषः यस्याः सा तादृशी, जाया=पत्नी। पित्र्यम्=पैतृकम्, रिक्थम्=धनम्, ('रिक्थं धनं वसु' इत्यमरः)॥

टिप्पणी—निर्वृत्तपुंसवना—पुंसवन संस्कार प्रसिद्ध १६ संस्कारों में दूसरा है। यह तीसरे महीने में किया जाता है। इस संस्कार से व्यक्ति पुत्र की ही उत्पत्ति की कामना करते हैं।

व्युत्पत्तिः—पित्र्यम्—पितुः इदम्—पितृ+यत्, रीङ् आदेशः+विभक्तिकार्यम्। रिक्थम्—√रिच् + थक् + विभक्त्यादिः। सन्ततिः—सम् + √तन् + क्तिन्+विभक्ति-कार्यम्॥

अन्वयः—प्रजाः, येन, येन, स्निग्धेन, बन्धुना, वियुज्यन्ते, पापात् ऋते, दुष्यन्तः, तासाम्, सः, सः, (अस्ति), इति, घुष्यताम्॥ २३॥

शब्दार्थः—प्रजाः=प्रजाजन, येन=जिस, येन=जिस, स्निग्धेन=स्नेही, बन्धुना=

प्रतीहारी—एवं नाम घोषयितव्यम् । (निष्क्रम्य । पुनः प्रविश्य) काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम्। [एव्वं णाम घोसइदव्वं । काले पवुट्ठं विअ अहिणन्दिदं देवस्स सासणम् ।]

राजा—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य) एवं भोः, संततिच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने सम्पदः परमुपतिष्ठन्ते । ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः ।

प्रतीहारी—प्रतिहतममङ्गलम् । [पडिहदं अमंगलं ।]

राजा—धिङ् मामुपस्थितश्रेयोऽवमानिनम् ।

सानुमती—असंशयं सखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा । [असंसअं सहिं एव्व हिअए करिअ णिन्दिदो णेण अप्पा ।]

राजा—संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी
त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा ।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय
वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा ॥२४॥

भाई-बन्धुओं से, वियुज्यन्ते=वियुक्त होते हैं, पापाद् ऋते=पापकार्य के अलावा, दुष्यन्तः=दुष्यन्त्, अर्थात् मैं, सः=वह, सः=वह, (अस्ति=है), इति=यह, घुष्यताम्=घोषित कर दिया जाय ॥ २३ ॥

टीका—येनेति । प्रजाः=जनाः, येन येन स्निग्धेन=प्रियेण, बन्धुना=स्वजनेन, वियुज्यन्ते=वियुक्ताः भवन्ति, पापादृते=पापसम्बन्धं विहायेत्यर्थः, स्त्रीणां भर्तृत्वेन विनेति भावः, दुष्यन्तः=शासकलक्षणोऽयं जन इत्यर्थः, तासाम्=प्रजानाम्, सः सः, अस्तीति शेषः, इति=इत्थम्, घुष्यताम्=विज्ञाप्यताम् । अत्र साहाय्यनामको नाट्यालङ्कारोऽस्ति । अनुष्टुप् छन्दः ॥ २३ ॥

टिप्पणी—पापादृते—किसी का पिता मर गया । दुष्यन्त ने उस युवक का भरण-पोषण पिता की तरह किया । किसी का भाई मर गया दुष्यन्त ने भाई की भाँति उसकी सहायता की । किन्तु यदि किसी युवती या स्त्री का पति मर जाय और वह चाहे कि राजा उसके साथ पति का सा व्यवहार करे तो यह बात न थी । क्योंकि यह पापकर्म था । यही है इस श्लोक का भाव ।

इसमें सहाय्य नामक नाट्य अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है ॥ २३ ॥

प्रतिहारी—ठीक है ऐसा ही घोषित किया जायगा (निकल कर। फिर प्रवेश करके) महाराज का घोषणा (प्रजा के द्वारा), समय पर हुई वर्षा की तरह, अभिनन्दित की गई है। (अर्थात् महाराज की घोषणा का प्रजा ने हार्दिक अभिनन्दन किया है)।

राजा—(लम्बी गरम साँस छोड़कर) ओह इस प्रकार सन्तति के अभाव के कारण निराश्रित कुलों की सम्पत्तियाँ वंश के व्यक्ति के मर जाने पर दूसरे को प्राप्त हो जाती हैं। मेरे भी मर जाने पर पुरुवंश की लक्ष्मी की यही हालत होगी।

प्रतिहारी—अमङ्गल विनष्ट हो (अर्थात् ऐसा अमङ्गलवचन न कहें)।

राजा—आए हुए। (शकुन्तलारूप) कल्याण का तिरस्कार करने वाले मुझे धिक्कार है।

सानुमती—निश्चय ही सखी (शकुन्तला) को ही मन में रखकर इन्होंने अपनी निन्दा की है।

राजा—उचित समय पर बीज बोई गई (अतः) महान् फल को देने में समर्थ पृथिवी की तरह, ऋतुकाल की समाप्ति पर गर्भाधान की गई (अतः) महान् पुत्ररूप परिणाम को देने में समर्थ वंश की आधारभूत अर्द्धाङ्गिनी, अपने आपके (उसमें) संरोपित कर देने पर भी, मेरे द्वारा परित्याग कर दी गई। यह कुत्सित कार्य है (नाम) ॥२४॥

व्युत्पत्तिः—प्रजाः—प्र + √जन् + ड + टाप् + विभक्त्यादिकार्यम्।

स्निग्धेन—√स्निह् + क्त + विभक्त्यादिकार्यम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—प्रवृष्टमिव = वर्षा की तरह, अभिनन्दितम् = स्वागत किया गया है। संततिच्छेदनिरवलम्बानाम् = सन्तति के अभाव के कारण निराश्रित। उपस्थितश्रेयोऽवमानिनम् = आए हुए कल्याण का तिरस्कार करने वाले॥

टीका—प्रतीहारीति। प्रवृष्टमिव = अपेक्षितसमये प्रवर्षणमिव, अभिनन्दितम् = समादृतम्। सन्ततिच्छेदनिरवलम्बानाम्—सन्ततीनाम् = सन्तानानाम् छेदे = विरहे निरवलम्बानाम् = निराश्रितानाम्। उपस्थितश्रेयोऽवमानिनम्—उपस्थितम् = प्राप्तम् यत् श्रेयः = सगर्भशकुन्तलारूपं कल्याणम् अवमन्यते = निराकरोतीति तथोक्तम्॥

टिप्पणी—ममाप्यन्ते वृत्तान्तः—निर्णयसागर ने इस पाठ के स्थान में ऐसा पाठ स्वीकार किया है—"ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रीरकाल इवोप्तबीजा भूरेवं वृत्ता।"

इसका अर्थ है—अनवसर में बीज डाली गई पृथिवी की तरह मेरे भी मर जाने पर पुरुवंश की लक्ष्मी की ऐसी ही दशा होगी।

अन्वयः—काले, उप्तबीजा, अतः, महते, फलाय, कल्पिष्यमाणा, वसुन्धरा, इव, काले, उप्तबीजा, (अतः), महते, फलाय, कल्पिष्यमाणा, कुलप्रतिष्ठा, धर्मपत्नी, आत्मनि, संरोपिते, अपि, मया, त्यक्ता, नाम ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—काले = उचित समय पर, उप्तबीजा = बीज बोई गई, (अतः = इसलिये), महते = महान्, फलाय = फलको, कल्पिष्यमाणा = देने में समर्थ, वसुन्धरा = पृथिवी की, इव = तरह, काले = ऋतुकाल की समाप्ति पर, उप्तबीजा = गर्भाधान की गई

सानुमती—अपरिच्छिन्नेदानीं ते सन्ततिर्भविष्यति। [अपरिच्छिण्णा दाणिं दे संददी भविस्सदि।]

चतुरिका—(जनान्तिकम्) अये, अनेन सार्थवाहवृत्तान्तेन द्विगुणोद्वेगो भर्ता। एनमाश्वासयितुं मेघप्रतिच्छन्दादार्यं माधव्यं गृहीत्वागच्छ। [अए, इमिण सत्थवाहवुत्तन्तेण दिउणुव्वेओ भट्टा। णं अस्सासिदुं मेहप्पडिच्छन्दादो अज्जं माढव्वं गेण्हिअ आअच्छेहि।]

प्रतीहारी—सुष्ठु भणसि। [सुट्ठु भणासि।]

(इति निष्क्रान्ता।)

राजा—अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः। कुतः—

अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति।

(अतः = इसलिये), महते = महान्, फलाय = पुत्ररूप परिणाम को, कल्पिष्यमाणा = देने में समर्थ, कुलप्रतिष्ठा = वंश की आधारभूत, धर्मपत्नी = अर्द्धाङ्गिनी, आत्मनि = अपने आपके, संरोपिते = संरोपित कर देने पर, गर्भ में स्थापित कर देने पर, अपि = भी, मया = मेरे द्वारा, त्यक्ता = परित्याग कर दी गई, नाम = यह कुत्सा को सूचित करने वाला अव्यय है ॥ २४ ॥

टीका—संरोपित इति। काले = अपेक्षिते समये, उप्तबीजा—उप्तानि = आहितानि बीजानि यस्यां तथाभूता, अतः, महते = प्रभूताय, फलाय = परिणामाय; फलोत्पत्तये इत्यर्थः, कल्पिष्यमाणा = प्रभविष्यन्ती क्लृपियोगे सम्पद्यमाने चतुर्थी, वसुन्धरा = रत्नगर्भा। पृथ्वी, इव = यथा, काले = ऋतुकालपरिसमाप्तौ, उप्तबीजा—उप्तम् = निहितम् बीजम् = वीर्यम् यस्यां सा तादृशी, अतः महते = बृहते, फलाय = पुत्ररूपाय फलाय, कल्पिष्यमाणा = सम्भविष्यन्तीत्यर्थः, कुलप्रतिष्ठा—कुलस्य = वंशस्य प्रतिष्ठा = आलम्बनस्वरूपा, वसुन्धरायामपि योज्यमेतत्, 'द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे। समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरिदम् ॥' इति प्रागुक्तेः। धर्मपत्नी = अर्द्धाङ्गिनी, आत्मनि = स्वस्मिन्, संरोपिते = पुत्रगर्भे उत्पादिते, अपि = च, 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (आ० गृह्य० १।१५) तथा 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इति श्रुतिवचनम्, मया = स्वयं राज्ञा दुष्यन्तेन, न चान्येन, त्यक्ता = तिरस्कृता नामेति कुत्सायामव्ययपदम् ('नाम प्राकाश्यसंभाव्यक्रोधोपगमकुत्सने' इत्यमरः)। अत्रोपमा काव्यलिङ्गं चालङ्कारो उपजातिर्वृत्तम् ॥ २४ ॥

सानुमती—अब तुम्हारी वंश-परम्परा अविच्छिन्न होगी।

चतुरिका—(मुख के बगल में हाथ से आड़ कर एक ओर) अरे, सार्थवाह के इस वृत्तान्त से स्वामी की व्याकुलता दूनी हो गई है। इनको सान्त्वना प्रदान करने के लिये मेघप्रतिछन्द नामक प्रासाद से माधव्य को लेकर आओ।

प्रतिहारी—ठीक कह रही हो।(ऐसा कहकर निकल गई)

राजा—ओह, दुष्यन्त के (अर्थात् मेरे) पितर संशय में पड़ गये हैं। क्योंकि—

टिप्पणी—संरोपितेऽप्यात्मनि—भारत के वैदिक तथा धार्मिक साहित्य की मान्यता है कि—पुत्र पिता से अभिन्न होता है। पिताही पुत्र के रूप में जन्म लेता है। वह अपना ही गर्भ के रूप में आधान करता है।

समय से बीज का वपन करना महान् फल का कारण है, अतः काव्यलिङ्ग है। शकुन्तला को पृथिवी के तुल्य बतलाया गया है, अतः उपमा है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है, उपजाति। लक्षण के लिये देखिये—२-७, ५-५ ॥ २४ ॥

व्युत्पत्तिः—संरोपिते—सम् + √रुह् + णिच् + क्त + विभक्तिकार्यम्। कल्पिष्यमाणा—√क्लृप् + लृट् + शानच् + टाप् + विभक्तिकार्यम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—अपरिच्छिन्ना=अविच्छिन्न, सन्ततिः=वंश-परम्परा। द्विगुणोद्वेगः=दूनी व्याकुलतावाले, जिसकी व्याकुलता दूनी हो गई है। संशयम्=सन्देह पर, आरूढाः=चढ़ गये हैं, पिण्डभाजः=पितरलोग ॥

टीका—सानुमतीति। अपरिच्छिन्ना=विच्छेदरहिता, सन्ततिः=वंशपरम्परा। द्विगुणोद्वेगः—द्विगुणः=समधिक इत्यर्थः उद्वेगः=व्याकुलता यस्यासौ तादृशः। संशयम्=सन्देहम्, अतः परम् अस्माकं पिण्डलोपः भविष्यति इति सन्देहम् आरूढाः=गताः, पिण्डभाजः—पिण्डम् = श्राद्धीयमन्नम् अर्हन्तीति तथोक्ताः, पितर इत्यर्थः ॥

अपरिच्छिन्ना—सानुमती को यह ज्ञात है कि शकुन्तला गर्भवती है। अतः कह रही है कि अब तुम्हारी वंशपरम्परा अविच्छिन्न रहेगी।

टिप्पणी—संशयमारूढाः—पितरों को पिण्डदान किया जाता है। इससे वे पितृलोक में सबल तथा सशक्त होते हैं। किन्तु जिस वंश में अब आगे पुत्र आदि होने की संभावना नहीं होती, उस वंश के पितर सन्देह में पड़ जाते हैं कि अब आगे पिण्ड आदि मिलेगा अथवा नहीं। सम्प्रति यही अवस्था दुष्यन्त के पितरों की है।

व्युत्पत्तिः—अपरिच्छिन्ना—अ + परि + √छिद् + क्त + विभक्त्यादिः। आरूढाः—आ + √रुह् + क्त + विभक्त्यादिः ॥

अन्वयः—अत, अस्मात्, परम्, नः, कुले, यथाश्रुति, संभृतानि; निवपनानि, कः,

नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥२५॥
(इति मोहमुपगतः ।)

चतुरिका—(ससंभ्रममवलोक्य) समाश्वसितु समाश्वसितु भर्ता। [समस्ससदु समस्ससदु भट्टा।]

सानुमती—हा धिक् हा धिक् । सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषमनुभवति । अहमिदानीमेव निर्वृतं करोमि। अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखाद् यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथाऽनुष्ठास्यन्ति यथाचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताभिनन्दिष्यतीति । तद् युक्तमेतं कालं प्रतिपालयितुम् । यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि।
[हद्धी हद्धी । सदि क्खु दीवे ववधाणदोसेण एसो अन्धआरदोसं अणुहोदि । अहं दाणिं एव्व णिव्वुदं करेमि । अहवा सुदं मए सउन्दलं समस्सासअन्तीए महन्दजणणीए मुहादो जण्णभाओस्सुआ दवा एव्व तह अणुचिट्ठिस्सन्ति जह अइरेण धम्मपदिणिं भट्टा अहिणन्दिस्सदि त्ति। ता जुत्तं एदं कालं पडिपालिदुं। जाव इमिणा वुत्तन्तेण पिअसहिं समस्सासेमि ।]

(इत्युद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता ।)

नियच्छति, इति, नूनम्, पितरः, प्रसूतिविकलेन, मया, प्रसिक्तम्, उदकम्, धौताश्रुशेषम्, पिबन्ति ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—बत=यह खेदसूचक अव्यय है, अस्मात्=इस (दुष्यन्त) के, परम्=बाद, नः=हमारे, कुले=वंश में, यथाश्रुति=वेदोक्त विधि से, संभृतानि=तैयार किये गये, निवपनानि=श्राद्ध तथा तर्पण को, कः=कौन, नियच्छति=प्रदान करेगा, इति=यह सोचकर, नूनम्=निश्चय ही; पितरः=पितर लोग, प्रसूतिविकलेन=सन्तान-रहित, मया=मेरे द्वारा, प्रसिक्तम्=दिये गये, उदकम्=जल को, धौताश्रुशेषम्=आँसुओं को धोने से अवशिष्ट, पिबन्ति=पीते हैं ॥ २५ ॥

टीका—अस्मात्परमिति । बतेति खेदे, अस्मात्=एतस्माद् दुष्यन्तात्, परम्=अनन्तरम्, नः=अस्माकम्, कुले=वंशे, यथाश्रुति—श्रुतिम्=वेदान् अनतिक्रम्येति यथाश्रुति=वेदानुकूलम् ; संभृतानि=बहूपकरणयुक्तानि, निवपनानि=श्रद्धादीनि, ('पितृदानं निवापः स्यात्, इत्यमरः), कः=को जनः, नियच्छति=ददाति ? दास्यतीत्यर्थः, इति=इति विचार्येति भावः, नूनम्=निश्चितम्, पितरः=पितृलोकं गताः पूर्वजाः, प्रसूतिविकलेन=पुत्ररहितेन, मया=दुष्यन्तेनेत्यर्थः, प्रसिक्तम्=दत्तम्, उदकम्=जलम्, तिलमिश्रितं जलमित्यर्थः, धौताश्रुशेषम्—धौतानि=प्रक्षालितानि

खेद की बात है कि—'इस (दुष्यन्त) के बाद हमारे वंश में वेदोक्त विधि से तैयार किये गये श्राद्ध तथा तर्पण को कौन प्रदान करेगा ?' यह सोच कर निश्चय ही पितर लोग सन्तान-रहित मेरे द्वारा दिये गये जल के आँसुओं को धोने से अवशिष्ट, भाग को (ही) पीते हैं ॥ २५ ॥

(ऐसा कहकर मूर्छित हो जाता है)

चतुरिका—(घबराहट के साथ देखकर) आश्वस्त हों, आश्वस्त हों स्वामी।

सानुमती—हाय धिक्कार है, हाय धिक्कार है। दीपक के रहने पर भी आवरण के दोष के कारण यह अन्धकार के दोष का अनुभव कर रहा है। मैं अभी ही (इसे शकुन्तला का समाचार बतलाकर) सुखी कर देती हूँ। अथवा सुना है मैंने शकुन्तला को धैर्य बँधाती हुई इन्द्र की माता (अदिति) के मुख से कि यज्ञभाग के लिए उत्सुक देव लोग ही वैसा (उपाय) करेंगे जिससे शीघ्र ही धर्मपत्नी (शकुन्तला) को स्वामी स्वागतपूर्वक स्वीकार करेंगे। तो इस समय की प्रतीक्षा करना ही ठीक होगा। तो तब तक इस वृत्तान्त से प्रिय सखी (शकुन्तला) को आश्वस्त करूँगी।

(ऐसा कहकर उद्भ्रान्तक नृत्य के साथ निकल गई।)

अश्रूणि=नेत्रजलानि येन तस्मात् शेषम्=अवशिष्टम् यथा स्यात्तथा, पिबन्ति=आचामन्ति। अत्रोत्प्रेक्षा काव्यलिङ्गं चालङ्कारौ। छलनं नाम विमर्शसन्ध्यङ्गं चापि वर्तते। वसन्ततिलका छन्दः ॥ २५ ॥

टिप्पणी—धौताश्रुशेषम्—दुष्यन्त पितरों को जल आदि देता है। वे रो कर इसे ग्रहण करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि दुष्यन्त के बाद वंश का लोप हो रहा है। अतः हमें जल आदि न मिलेगा। तर्पण में प्राप्त जल से वे पहले आँसू धोते हैं। फिर बचे जल को पीते हैं।

इस श्लोक में 'नूनम्' के द्वारा उत्प्रेक्षा की गई है। पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध का कारण है। अतः काव्यलिंग भी है। यहाँ प्रयुक्त छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ २५ ॥

व्युत्पत्तिः—निवपनानि—नि+√वप्+ल्युट्+विभक्तिः।

प्रसिक्तम्—प्र+सिच्+क्त विभक्त्यादिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—व्यवधानदोषेण=आवरण के दोष के कारण, अन्धकारदोषम्=अज्ञान के दुष्परिणाम को, अन्धकार के दोष को। निर्वृतम्=खेदरहित, सुखी। उद्भ्रान्तकेन=उद्भ्रान्तक नृत्य के साथ।

टीका—सानुमतीति। व्यवधानदोषेण—व्यवधानम्=देशान्तरेण अपवरकादिना वा अन्तरालम् स च एव दोषस्तेन, अन्धकारदोषम्=मोहलक्षणम् दोषम्। निर्वृतम्=सुखितम्, विगतक्लेशमित्यर्थः। उद्भ्रान्तकेन—उद्भ्रान्तकनाम्नोप्लुतिकरणेन। तल्लक्षणं संगीतसुधानिधौ—'पूर्वं दक्षिणमङ्घ्रिमुत्थापयित्वात्र कुञ्चयेत्। वामं शीघ्रं भ्रमेणावर्तमुद्भ्रान्तकं विदुः ॥ देशीविदां तु केषाञ्चिद्बाह्यभ्रमरिका मता ॥ इति ॥

टिप्पणी—दीपे—पुत्र कुल का दीपक होता है। यहाँ शकुन्तला के पुत्र सर्वदमन की ओर संकेत है।

(नेपथ्ये)

अब्रह्मण्यम् । [अब्बम्हणं ।]

राजा—(प्रत्यागतचेतनः, कर्णं दत्त्वा) अये, माधव्यस्येवार्तस्वरः । कः कोऽत्र भोः ?

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—(ससंभ्रमम्) परित्रायतां देवः संशयगतं वयस्यम् । [परित्ताअदु देवो संसअगदं वअस्सम् ।]

राजा—केनात्तगन्धो माणवकः ?

प्रतीहारी—अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपितः । [अदिट्ठरूवेण केन वि सत्तेण अदिक्कमिअ मेहप्पडिच्छन्दस्स पासादस्स अग्गभूमिं आरोहिदो ।]

राजा—(उत्थाय) मा तावत् । ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः । अथवा—

अहन्यहन्यात्मन एव ताव-
ज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।
प्रजासु कः केन पथा प्रयाती-
त्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ॥२६॥

शब्दार्थः—अब्रह्मण्यम् = महान् भय है । प्रत्यागतचेतनः = चेतना में आकर, आर्तस्वरः = चीख, करुणक्रन्दन । संशयगतम् = संकट में फँसे हुए । आत्तगन्धः = अभिभूत, तिरस्कृत । अदृष्टरूपेण = दृष्टिगोचर न होने वाले, सत्त्वेन = प्राणी के द्वारा ।

टीका—नेपथ्य इति । अब्रह्मण्यम्—ब्राह्मणाय हितं ब्रह्मण्यं न ब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् = अबध्यः ('अब्रह्मण्यमबध्योक्तौ' इत्यमरः), ब्राह्मणोऽहं न बध्यः परित्राहि माम् इत्येवं कातरोक्तिरिति यावत् । प्रत्यागतचेतनः—प्रत्यागता—लब्धा चेतना = संज्ञा येन तादृशः, लब्धसंज्ञ इत्यर्थः, आर्तस्वरः = दीननादः । संशयगतम्—संशये = सन्देहे, जीवनमरणसन्देहे इत्यर्थः गतम् = प्राप्तम् । अनेन भयनामकं संध्यन्तराङ्गमुपक्षिप्तम् । तल्लक्षणं तु 'भयं त्वाकस्मिकस्त्रासः' इत्यमरः) इति । आत्तगन्धः = अभिभूतः ('आत्तगन्धोऽभिभूतः स्यात्' इत्यमरः), तिरस्कृत इति यावत् । अदृष्टरूपेण—अदृष्टम् = अनवलोकनीयम् रूपम् = आकृतिः यस्य तथाविधेन, सत्त्वेन = जन्तुना, भूतप्रेतादिनेत्यर्थः ॥

टिप्पणी—आत्तगन्धः—गन्ध का अर्थ होता है—गर्व । किसके द्वारा उसका

(पर्दे के पीछे)

महान् भय है (अर्थात् बचाओ) ।

राजा—चेतना में आकर, कान लगाकर अरे, माधव्य की तरह करुणक्रन्दन है। कौन, कौन है यहाँ जी ?

(प्रवेश करके)

प्रतिहारी—(घबराहट के साथ) महाराज, संकट में फँसे हुए मित्र (माधव्य) को बचावें ।

राजा—किसने माणवक को तिरस्कृत किया है ?

प्रतिहारी—दृष्टिगोचर न होने वाले किसी प्राणी के द्वारा जबर्दस्ती पकड़कर मेघप्रतिच्छन्द नामक प्रासाद की ऊपरी मंजिल पर वह ले जाया गया है।

राजा—(उठकर) ऐसा मत कहो। क्या मेरे भी घर भूत-प्रेत आदि के द्वारा आक्रान्त किये जाते हैं ?

प्रतिदिन अपनी ही प्रमादवश होने वाली त्रुटि को जानना नहीं संभव है, (तब) प्रजाजनों में कौन किस मार्ग में जा रहा है, यह पूर्णरूप से जानने में (किसकी) शक्ति है ? ॥ २६ ॥

गन्ध=गर्व हर लिया गया है। अर्थात् किसने उसे अपमानित किया है। अत्तः= गृहीतः गन्धः=गर्वः यस्य तादृशः ॥

सत्त्वेन—सत्त्व का अर्थ होता है—प्राणी, जीव। किन्तु यहाँ इसका अर्थ है—भूत, प्रेत आदि जीव।

व्युत्पत्तिः—अब्रह्मण्यम्—अ+ब्रह्मन्+यत्+विभक्त्यादिः ।

वयस्यम्—वयस्+यत्+विभक्तिः ॥

अन्वयः—अहनि अहनि, आत्मनः, एव, प्रमादस्खलितम्, तावत्, ज्ञातुम्, न, शक्यम्; (तदा), प्रजासु, कः, केन, पथा, प्रयाति इति, अशेषतः, वेदितुम्, (कस्य), शक्तिः, अस्ति ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—अहनि अहनि=प्रतिदिन, आत्मनः=अपनी, एव=ही, प्रमादस्खलितम्= प्रमादवश होने वाली त्रुटि को, ज्ञातुम्=जानना, न=नहीं, शक्यम्=संभव हैं, (तदा=तब) प्रजासु=प्रजाजनों में, कः=कौन, केन=किस, पथा=मार्ग से, प्रयाति=जा रहा है, इति=यह, अशेषतः=पूर्णरूप से, वेदितुम्=जानने में, (कस्य=किसकी), शक्तिः=शक्ति, अस्ति=है ॥ २६ ॥

टीका—अहनीति। अहनि अहनि=प्रतिदिनम्, आत्मनः=स्वस्य, एव, प्रमादस्खलितम्—प्रमादेन=असावधानतया स्खलितम्=स्खलनम् त्रुटिमिति यावत्, तावत्= आदौ, ज्ञातुम्=अवबोद्धुम्, न=नहि, शक्यम्=सम्भवम्; तदेतिशेषः, प्रजासु=जनेषु ('प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः), कः=को जनः, केन पथा=केन मार्गेण, प्रयाति=गच्छति, इति=एतत्, अशेषतः=पूर्णतः, वेदितुम्=ज्ञातुम्, (कस्य=कस्य

(नेपथ्ये)

भो वयस्य, अविहा अविहा । [भो वअस्स, अविहा अविहा ।]

राजा—(गतिभेदेन परिक्रामन्) सखे, न भेतव्यं न भेतव्यम्।

(नेपथ्ये)

(पुनस्तदेव पठित्वा) कथं न भेष्यामि ? एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति। [कहं ण भाइस्सं? एस मं को वि पच्चवणदसिरोहरं इक्खुं विअ तिण्णभंगं करेदि ।]

राजा—(सदृष्टिक्षेपम्) धनुस्तावत् ।

(प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता)

यवनी—भर्तः, एतद् हस्तावापसहितं शरासनम् । [भट्टा, एदं हत्थावावसहिदं सरासणं ।]

(राजा सशरं धनुरादत्ते ।)

(नेपथ्ये)

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी
शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।
आर्त्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा
दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥२७॥

जनस्य), शक्तिः=सामर्थ्यम्, अस्ति = वर्तते ॥ अत्रार्थापत्तिरप्रस्तुतप्रशंसा चालङ्कारौ। उपजतिर्वृत्तम् ॥ २६ ॥

टिप्पणी—प्रजासु कः—राजा के कहने का भाव यह है कि मैं धर्मपूर्वक शासन करता हूँ। नित्य धार्मिक कृत्य करता हूँ। बड़े-बड़े यज्ञ करता हूँ। अतः कैसे कोई प्रेत आदि हमारे घर पर आक्रमण करने की हिम्मत करेगा ? किन्तु राजा तो समूचे राष्ट्र के पाप-पुण्य का भागी होता है। अतः प्रजा जनों के दोष से भी यहाँ प्रेतबाधा आ सकती है। इसलिये किसी प्रेत आदि का यहाँ भी आक्रमण संभव हो सकता है।

चतुर्थचरण में काकु होने के कारण यहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार है। सामान्य के द्वारा विशेष की प्रतीति होने से अप्रस्तुत प्रशंसा है।

यहाँ प्रयुक्त छन्द है—उपजाति ॥ २६ ॥

व्युत्पत्तिः—ज्ञातुम्—√ज्ञा+तुमुन् । शक्यम्—√शक्+यत्। वेदितुम्—√विद् +तुमुन् ॥ २६ ॥

(पर्दे के पीछे)

हे मित्र, बचाओ—बचाओ।

राजा—(चाल बदलकर चारों ओर घूमते हुए) मित्र, डरो मत, डरो मत।

(पर्दे के पीछे)

(फिर उसी बात को कहकर) क्यों न डरूँगा ? यह कोई मेरी गर्दन को पीछे की ओर मोड़कर, ईख की तरह, मेरे तीन टुकड़े कर रहा है।

राजा—(आँखें इधर-उधर घुमाकर) धनुष तो ले आओ।

(धनुष हाथ में ली हुई प्रवेश करके)

यवनी—स्वामिन्, हस्तकवच सहित यह धनुष है।

(राजा बाण सहित धनुष लेता है)

(पर्दे के पीछे)

गर्दन के ताजे रक्त का इच्छुक (मैं), बाघ पशु को जैसे (मारता है उसी तरह,) छटपटाते हुए तुझे अभी-अभी मारता हूँ। पीड़ितों के भय को दूर करने लिए धनुष धारण किये हुए दुष्यन्त अब तुम्हारे रक्षक हों (अर्थात् तुम्हारी रक्षा करें) ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—अविहा=बचाओ। गतिभेदेन=चाल बदलकर। प्रत्यवनतशिरोधरम् =गर्दन को पीछे की ओर मोड़कर, इक्षुमिव=ईख की तरह, त्रिभङ्गम्=तीन टुकड़े। हस्तावापसहितम्=हस्तकवच सहित ॥

टीका—नेपथ्य इति। अविहेति खेदे निपातः। 'अविहाविहा निर्वेदे' इत्युक्तेः। गतिभेदेन=क्रोधोद्धतगत्येत्यर्थः। प्रत्यवनतशिरोधरम्—प्रत्यवनता=पृष्ठतो वक्रा शिरोधरा ग्रीवा यस्य तथाविधम्, इक्षुमिव=इक्षुदण्डमिव, त्रिभङ्गम्=त्रिखण्डम्, करोति। हस्तावापसहितम्=हस्तम् आवपति=रक्षति ज्याघातादिति हस्तावापः=वामहस्ते परिधेयश्चर्मविशेषः, अनेकार्थत्वाद्धातूनां वपिरत्र रक्षणार्थः, यद्वा हस्तम् अवाप्नोति लभते रक्ष्यत्वेन इति हस्तावापः, कर्मण्यण्, तेन सहितम्=युक्तम् ॥

टिप्पणी—अविहा—यह खेद को व्यक्त करने वाला अव्यय है। इसमें दो शब्द मिले हुए हैं—अव्+बचाओ इह=यहाँ।

व्युत्पत्तिः—भेतव्यम्—√भी=तव्यत्=+विभक्तिः। हस्तावापः—हस्त+आ+√वप्+अण् कर्मणि+विभक्त्यादिः। शरासनम्—शराः अस्यन्ते=क्षिप्यन्ते इति शरासनम्—शर+√अस्+ल्युट् करणे+विभक्तिः ॥

अन्वयः—अभिनवकण्ठशोणितार्थी, (अहम्), शार्दूलः, पशुम्, इव, चेष्टमानम्, त्वाम्, एषः, हन्मि, आर्तानाम्, भयम्, अपनेतुम्, आत्तधन्वा, दुष्यन्तः, इदानीम्, तव, शरणम्, भवतु ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—अभिनवकण्ठशोणितार्थी=गर्दन के ताजे रक्त का इच्छुक, (अहम्=मैं), शार्दूलः=बाघ, पशुम्=पशु को, इव=जैसे (मारता है, उसी तरह), चेष्टमानम्=छटपटाते हुए, त्वाम्=तुझे, एषः=अभी, अभी, हन्मि=मारता हूँ,

राजा—(सरोषम्) कथं मामेवोद्दिशति ? तिष्ठ कुणपाशन ! त्वमिदानीं न भविष्यसि । (शार्ङ्गमारोप्य) वेत्रवति, सोपानमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इत इतो देवः । [इदो इदो देवो ।]

(सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति ।)

राजा—(समन्ताद् विलोक्य) शून्यं खल्विदम् ।

(नेपथ्ये)

अविहा अविहा । अहमत्रभवन्तं पश्यामि । त्वं मां न पश्यसि ? बिडालगृहीतो मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः । [अविहा अविहा । अहं अत्तभवन्तं पेक्खामि ? तुमं मं ण पेक्खसि । बिडालग्गहीदो मूसओ विअ णिरासो म्हि जीविदे संवुत्तो ।]

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित, मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति । एष तमिषुं सन्दधे—

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम् ।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥२८॥

(इत्यस्त्रं सन्धत्ते ।)

आर्तानाम्=पीड़ितों के, भयम् =भय को, अपनेतुम्=दूर करने के लिये, आत्तधन्वा=धनुष धारण किये हुए, दुष्यन्तः=दुष्यन्त, इदानीम्=अब, तव=तुम्हारे, शरणम्=रक्षक, भवतु=हों ॥ २७ ॥

टीका—एष इति । अभिनवकण्ठशोणितार्थी—अभिनवम् =नूतनम् यत् कण्ठस्य = ग्रीवायाः शोणितम् = रक्तम् तदर्थी = तस्य पिपासुः अहमिति शेषः, शार्दूलः =व्याघ्रः, ('शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे इत्यमरः'), पशुमिव =चतुष्पादमिव, चेष्टमानम् =इतस्ततो वलमानम्, त्वाम् = विदूषकम्, एषः =इदानीमेव, हन्मि = मारयामि, आर्तानाम् = भीतानाम् भयम् = भीतिम्, अपनेतुम्= दूरीकर्तुम्, आत्तधन्वा—आत्तम् = गृहीतम् धनुः = शरासनम् येन तथाभूतः दुष्यन्तः = राजा तव मित्रमित्यर्थः, इदानीम् =अधुना, तव=मया हन्यमानस्य विदूषकस्येत्यर्थः, शरणम्=रक्षकम्, भवतु=स्यात्, यदि तस्य शक्तिरस्ति । अत्र प्रहर्षिणी छन्दः ॥ २७ ॥

टिप्पणी—चेष्टमानम्=छटपटाते हुए । यह 'त्वां' और 'पशुं' दोनों का ही विशेषण होगा ।

राजा—(क्रोधपूर्वक) क्या मुझे ही उद्देश्य करके कह रहा है ? ठहर राक्षस, (समझो) तुम अब नहीं रहे। (धनुष चढ़ा कर) वेत्रवती, सीढ़ी का मार्ग बतलाओ।

प्रतिहारी—इधर से, इधर से (चलें) महाराज।

(सभी लोग शीघ्रता से पास में जाते हैं)

राजा—(चारों ओर देख कर) खाली ही है यह (स्थान)।

(पर्दे के पीछे)

बचाओ, बचाओ। मैं आपको देख रहा हूँ। क्या आप मुझे नहीं देख रहे हैं ? बिल्ली के द्वारा पकड़े गये चूहे की तरह मैं अपने जीवन के विषय में निराश हो गया हूँ।

राजा—हे अदृश्य होने की विद्या के कारण गर्वीले (प्राणी), मेरा अस्त्र तुझे देख लेगा। लो यह मैं उसी बाण को चढ़ाता हूँ—

जो मारने योग्य तुमको मार डालेगा और बचाने योग्य ब्राह्मण को बचा लेगा। जैसे कि हंस दूध को ले लेता है तथा उसमें मिले हुए जल को छोड़ देता है ॥ २८ ॥

(ऐसा कह कर बाण चढ़ाता है)

शरणं भवतु— यह दुष्यन्त की शक्ति के लिये चैलेंज है। यह सुनकर राजा का पौरुष जगेगा। इसी अभिप्राय से इस शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है।

यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है—प्रहर्षिणी। छन्द का लक्षण—'म्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्' ॥ २७ ॥

व्युत्पत्तिः—चेष्टमानम्—√चेष्ट्+शानच्+विभक्त्यादिः। अपनेतुम्=अप+√नि +तुमुन्। शरणम्—√शॄ+ल्युट्+विभक्त्यादिः ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—कुणपाशन=राक्षस। सत्वरम्=शीघ्रता से, उपसर्पन्ति=पास में जाते हैं। बिडालगृहीतः=बिल्ली के द्वारा पकड़े गये, मूषकः=चूहा, जीविते=जीवन के विषय में। तिरस्करिणीगर्वित=हे अदृश्य होने की विद्या के कारण गर्वीले ॥

टीका—राजेति। कुणपाशन—कुणपम्=शवम् अश्नातीति तत्सम्बुद्धौ, हे राक्षस। सत्वरम्=शीघ्रम्, उपसर्पन्ति=समीपं व्रजन्ति। बिडालगृहीतः—बिडालेन=मार्जारेण गृहीतः=आक्रान्तः, मूषकः=आखुः इव, जीविते=जीवने। तिरस्करिणीगर्वित—तिरस्करिण्या=अदृश्यविद्यया गर्वितः तत्सम्बुद्धौ ॥

अन्वयः—यः, वध्यम्, त्वाम्, हनिष्यति, (तथा), रक्ष्यम्, द्विजम्, रक्षिष्यति; हि, हंसः, क्षीरम् आदत्ते; तन्मिश्राः, अपः, वर्जयति ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—यः=जो, वध्यम्=मारने योग्य, त्वाम्=तुमको, हनिष्यति=मार डालेगा, (तथा=और), रक्ष्यम्=बचाने के योग्य, द्विजम्=ब्राह्मण को, रक्षिष्यति=बचा लेगा। हि=जैसे कि, हंसः=हंस, क्षीरम्=दूध को, आदत्ते=ले लेता है, पी लेता है, तन्मिश्राः=उसमें मिले हुए, अपः=जल को, वर्जयति=छोड़ देता है ॥ २८ ॥

टीका—यो हनिष्यतीति। यः=यः शरः, वध्यम्=वधार्हं त्वाम्, हनिष्यति=प्रह-

(ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलिः।)

मातलिः—राजन्,

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः
शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् ।
प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने
पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः ॥२९॥

राजा—(ससंभ्रममस्त्रमुपसंहरन्) अये, मातलिः। स्वागतं महेन्द्रसारथे।

(प्रविश्य)

विदूषकः—अहं येनेष्टिपशुमारं मारितः, सोऽनेन स्वागतेनाभिनन्द्यते। [अहं जेण इट्टिपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि।]

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन्, श्रूयतां यदर्थमस्मि हरिणा भवत्सकाशं प्रेषितः।

राजा—अवहितोऽस्मि।

मातलिः—अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः।

रिष्यति; तथा रक्ष्यम्=रक्षार्हम्, द्विजम्=ब्राह्मणं विदूषकम्, रक्षिष्यति=त्रास्यते; हीत्युदाहरणे, हंसः=मरालः, क्षीरम्=दुग्धम्, आदत्ते=गृह्णाति, तथा तन्मिश्राः—तेन=दुग्धेन मिश्राः=मिलिताः, अपः=जलानि, वर्जयति=परित्यजते। दृष्टान्तोऽलङ्कारः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २८॥

टिप्पणी—वर्जयत्यपः—ऐसी साहित्यिक प्रसिद्धि है कि हंस पानी मिले दूध में से दूध पी लेता है और पानी को छोड़ देता है।

यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है ॥ २८॥

अन्वयः—हरिणा, असुराः, तव, शरव्यम्, कृताः; तेषु, इदम्, शरासनम्, विकृष्यताम्, सताम्, सुहृज्जने, प्रसादसौम्यानि, चक्षूंषि, पतन्ति, दारुणाः, शराः, न ॥ २९॥

शब्दार्थः—हरिणा=इन्द्र के द्वारा, असुराः=राक्षस, तव=आप के, शरव्यम्=लक्ष्य, कृताः=बनाए गये हैं, तेषु=उनके ऊपर, इदम्=यह, शरासनम्=धनुष, विकृष्यताम्=खींचिये, सताम्=सज्जनों की, सुहृज्जने=मित्रों पर, प्रसादसौम्यानि=कृपावश शान्त, चक्षूंषि=नेत्र, पतन्ति=पड़ते हैं, दारुणाः=भयङ्कर, शराः=बाण, न=नहीं पड़ते हैं ॥ २९॥

(तदनन्तर विदूषक को छोड़कर मातलि प्रवेश करता है)

मातलि—राजन् इन्द्र के द्वारा राक्षस आपके लक्ष्य बनाए गये हैं, (आप) उनके ऊपर यह धनुप खींचिये (चलाइये)। सज्जनों के मित्रों पर कृपावश शान्त नेत्र ही पड़ते हैं, भयङ्कर बाण नहीं ॥ २९ ॥

राजा—(शीघ्रता के साथ बाण को उतारते हुए) अरे, मातलि ? हे देवराज के सारथि, आपका स्वागत है।

(प्रवेश करके)

विदूषक—मैं जिसके द्वारा यज्ञीय पशु की मार मारा गया हूँ, वह इन (राजा) के द्वारा स्वागतपूर्वक सत्कृत किया जा रहा है।

मातलि—(मुस्कराहट के साथ) चिरञ्जीविन्, सुनिए जिसके लिये मैं इन्द्र के द्वारा आप के पास भेजा गया हूँ।

राजा—सावधान हूँ (सुनने के लिये)।

मातलि—कालनेमि के वंशज दुर्जय नामक राक्षसों का एक समूह है।

टीका—कृता इति। हरिणा = इन्द्रेण, असुराः=दैत्याः, तव=ते, शरव्यम्=लक्ष्यम्, ('लक्षं लक्ष्यं शरव्यं च' इत्यमरः), कृताः = विहिताः, निर्धारिता इति यावत्; तेषु=तेष्वसुरेष्वित्यर्थः, इदम्=एतत्, शरासनम्=धनुः, विकृष्यताम्=आकृष्यताम्, तदर्थमहमागतोऽस्मीति सूचितम्; सताम्=सज्जनानाम्, सुहृज्जने=मित्रसमवाये, प्रसाद-सौम्यानि—प्रसादेन=सज्जनतया कृपया वा सौम्यानि=अनुग्राणि, चक्षूंषि=नेत्राणि, पतन्ति; दारुणाः=भीषणाः, मर्मभेदिन इत्यर्थः, शराः=बाणाः, न=न पतन्तीत्यभिप्रायः। अत्रार्थान्तरन्यासोऽप्रस्तुतप्रशंसा काव्यलिङ्गं चालङ्काराः। वंशस्थं छन्दः ॥ २९ ॥

टिप्पणी—मातलिः—मातलि इन्द्र के सारथी का नाम है।

इस श्लोक में वंशस्थ छन्द है। छन्द का लक्षण—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' ॥ २९ ॥

व्युत्पत्तिः—शरव्यम्। शृणाति इति शरुः तस्मै हितं शरव्यम्—शरु+यत्+विभक्तिः। सौम्य०—सोमः देवता अस्य सः। सोम+टयण्=विभक्त्यादिकार्यम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—ससंभ्रमम्=शीघ्रता के साथ, उपसंहरन्=उतारते हुए। इष्टिपशुमारम्=यज्ञीय पशु की मार। हरिणा=इन्द्र के द्वारा ॥

टीका—राजेति। ससंभ्रमम्—संभ्रमेण=वेगेन सहितं ससंभ्रमम्=सवेगम्, उपसंहरन्=अपसारयन्। इष्टिपशुमारम्—इष्टेः=यज्ञस्य यः पशुः तस्य मारम्=हननम् इव मारितः=ताडितः। हरिणा= इन्द्रेण ॥

टिप्पणी—कालनेमि—कालनेमि हिरण्यकशिपु का पुत्र था। इसके सौ शिर और सौ हाथ थे। विष्णु ने इसका वध किया था।

दानव—दक्ष की एक पुत्री थी—दनु। इसका विवाह कश्यप से हुआ था। इसके अत्याचारी पुत्र दानव कहे जाते हैं।

राजा—अस्ति। श्रुतपूर्वं मया नारदात्।

मातलिः—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्य-
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्ति-
स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥३०॥

स भवानात्तशस्त्र एव इदानीमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम्।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया मघवतः संभावनया। अथ माधव्यं प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम्?

मातलिः—तदपि कथ्यते। किंचिन्निमित्तादपि मनःसन्तापादायुष्मान् मया विक्लवो दृष्टः। पश्चात् कोपयितुमायुष्मन्तं तथाकृतवानस्मि। कुतः—

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जनः ॥३१॥

नारदात्—नारद प्रसिद्ध मुनि हैं। ये ब्रह्मा के दस मानसपुत्रों में एक हैं। नारद वीणा लिये सर्वदा भ्रमण करते रहते हैं।

अन्वयः—सः, किल, ते, सख्युः, शतक्रतोः, अजय्यः; त्वम्, रणशिरसि, तस्य, निहन्ता, स्मृतः; सप्तसप्तिः, यत्, नैशम्, तिमिरम्, उच्छेत्तुम्, न, प्रभवति; तत्, चन्द्रः, अपाकरोति ॥ ३० ॥

शब्दार्थ :—सः=वह राक्षस-समूह, किल=वस्तुतः, ते=आप के, सख्युः=मित्र, शतक्रतोः=इन्द्र के लिये, अजय्यः=अजेय है; त्वम्=आप, रणशिरसि=संग्राम में, तस्य=उसको, निहन्ता=मारने वाले, स्मृतः=माने गये हैं; सप्तसप्तिः=सूर्य, यत्=जिस, नैशम्=रात्रि के, तिमिरम्=अन्धकार को, उच्छेत्तुम्=विनष्ट करने में, न=नहीं, प्रभवति=समर्थ होता है, तत्=उसको, चन्द्रः=चन्द्रमा, अपाकरोति=दूर करता है ॥३०॥

टीका—सख्युरिति। सः=कालनेमिप्रसूतिः दानवगणः इत्यर्थः, किल=वस्तुतः, प्रसिद्धौ वा, ते=तव, सख्युः=मित्रस्य, शतक्रतोः=इन्द्रस्य, अजय्यः=प्रयत्नसहस्रैरपि जेतुमशक्य इत्यर्थः; त्वम्=राजा दुष्यन्तः, रणशिरसि=संग्राममध्ये, तस्य=दानवगणस्य, निहन्ता=विनाशकः स्मृतः=कथितः; सप्तसप्तिः=सूर्यः, यत्, नैशम्—निशायां भवं नैशम्=निशासम्बन्धि, तिमिरम्=अन्धकारम्, उच्छेत्तुम्=नाशयितुम्, न प्रभवति=न समर्थो

राजा—हैं। मैंने इसे पहले ही नारद से सुन रखा है।

मातलि—वह राक्षस-समूह वस्तुतः आपके मित्र इन्द्र के लिये अजेय है। आप संग्राम में उसको मारने वाले माने गये हैं। सूर्य रात्रि के जिस अन्धकार को विनष्ट करने में नहीं समर्थ होता है। उसको चन्द्रमा दूर करता है॥ ३०॥

अतः आप शस्त्र धारण किये हुए ही इन्द्र के (इस) रथ पर चढ़ कर विजय के लिये प्रस्थान करें।

राजा—मैं इन्द्र के इस सम्मान से अनुगृहीत हूँ। अच्छा, माधव्य के साथ आप ऐसा व्यवहार क्यों किया?

मातलि—उसे भी कह रहा हूँ। मैंने चिरंजीविन (आप) को किसी कारणवश मानसिक सन्ताप के कारण विकल देखा। बाद में आप को कुपित करने के लिये वैसा मैंने किया है। क्योंकि—

अग्नि इन्धन के हिला देने से प्रज्वलित हो जाता है। सर्प अपमानित होने पर फन को फैलाता है। निश्चय ही व्यक्ति प्रायः उत्तेजना के कारण अपने पराक्रम को धारण करता है॥ ३१॥

भवति; तत् = तादृशं नैशं तमः, चन्द्रः = निशाकरः, अपाकरोति = दूरीकरोति। अत्रानेन स्वस्वामिनः सूर्योपमानत्वेन तेजस्वित्वं वदता तदशक्यकरत्वेनास्य चन्द्रोपमानत्वं वदतोऽप्यत्रौचित्यं ध्वनितम्। दृष्टान्तोऽलङ्कारः। प्रहर्षिणी छन्दः॥ ३०॥

टिप्पणी— शतक्रतोः— भारतीय मान्यता है कि सौ अश्वमेघ यज्ञ (क्रतु) करने वाला व्यक्ति इन्द्र के पद का अधिकारी होता है। पाश्चात्य विद्वान क्रतु का अर्थ बल करते हैं। उनके अनुसार शतक्रतु का अर्थ है—सौ गुना बल से युक्त, असंख्य बल से सम्पन्न।

सप्तसप्तिः—सूर्य के रथ में सात हरे अश्व जुते रहते हैं। अतः उन्हें सप्त = सात-सप्ति = घोड़े वाला कहा जाता है।

यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार तथा प्रहर्षिणी छन्द है।

छन्द का लक्षण—'त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्'॥३०॥

व्युत्पत्तिः—अजय्यः—जेतुं शक्यः जय्यः, न जय्यः अजय्यः—अ + √जि + कर्मणि यत् + विभक्तिः। 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' (पा० ६।१।८१) इति निपातनादस्य सिद्धिः। अन्यथा जेयः इति रूपम्। उच्छेत्तुम्—उद् + √छिद् + तुमुन्॥३०॥

शब्दार्थः—आत्तशस्त्रः = शस्त्र धारण किये हुए, ऐन्द्रम् = इन्द्र के, रथम् = रथ पर। मघवतः = इन्द्र के, संभावनया = सम्मान से॥

टीका—स भवानिति। आत्तशस्त्रः—आत्तम् = गृहीतम् शस्त्रम्=आयुधम् येन तादृशः, ऐन्द्रम्—इन्द्रस्येदमन्द्रम्=इन्द्रसम्बन्धि, रथम्=स्यन्दनम्, मघवतः=इन्द्रस्य, संभावनया=संभाववेन, सम्मावेनेति यावत्॥

अन्वयः—अग्निः, चलितेन्धनः, ज्वलति, पन्नगः, विप्रकृतः, फणाम्, कुरुते; हि, जनः, प्रायः, क्षोभात्, स्वम्, महिमानम्, प्रतिपद्यते॥ ३१॥

राजा--(जनान्तिकम्) वयस्य, अनतिक्रमणीया दिवस्पते-
राज्ञा। तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि।

त्वन्मतिः केवला तावत् परिपालयतु प्रजाः।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतं धनुः ॥३२॥

विदूषकः--यद् भवानाज्ञापयति। [जं भवं आणवेदि।]

(इति निष्क्रान्तः।)

मातलिः--आयुष्मान् रथमारोहतु।

(राजा रथाधिरोहणं नाटयति।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

॥ षष्ठोऽङ्कः ॥

शब्दार्थः—अग्निः=अग्नि, चलितेन्धनः=इन्धन के हिला देने से, ज्वलति=प्रज्वलित हो जाता है; पन्नगः=सर्प, विप्रकृतः=अपमानित होने पर, छेड़ने पर, फणाम्=फन को, कुरुते=करता है, फैलाता है; हि=निश्चय ही, जनः=व्यक्ति, प्रायः=प्रायः, क्षोभात्=उत्तेजना के कारण, स्वम्=अपने, महिमानम्=प्रभाव को, पराक्रम को, प्रतिपद्यते=प्राप्त करता है, धारण करता है ॥ ३१ ॥

टीका—ज्वलतीति। अग्निः=वह्निः, चलितेन्धनः—चलितानि=चालनं प्रापितानि इन्धनानि=काष्ठादीनि यस्य तादृशः सन् ज्वलति, पन्नगः=सर्पः, विप्रकृतः=कोपितः सन्, फणाम्=फटाम् ('फटायां तु फणा द्वयोः' इत्यमरः), कुरुते=विदधाति। हि=निश्चितम्, जनः=व्यक्तिः, प्रायः=बाहुल्येन, क्षोभात्=चित्तक्षोभात्, स्वम्=स्वकीयम्, महिमानम्=प्रभावम्, प्रतिपद्यते=प्राप्नोति। अत्राप्रस्तुतप्रशंसाऽर्थान्तरन्यासो दृष्टान्तश्चालङ्काराः। आर्या जातिः ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—यहाँ पर दुष्यन्त के स्थान पर सामान्य जन के कहने से अप्रस्तुत प्रशंसा है। पूर्वार्ध विशेष के उत्तरार्ध सामान्य से समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास है। अग्नि तथा पन्नग दो के साथ साधर्म्य होने से दृष्टान्त अलंकार है ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—अनतिक्रमणीया=अनुल्लङ्घनीय है, दिवस्पतेः=स्वर्ग के अधिपति इन्द्र की। परिगतार्थम्=इस बात को बतलाकर ॥

राजा—(हाथ से आड़कर एक ओर) मित्र, स्वर्ग के अधिपति इन्द्र की आज्ञा अनुल्लङ्घनीय है। अतः इस बात को बतला कर मेरी ओर से मन्त्री पिशुन से कहना कि—अकेले आपकी बुद्धि है तब तक प्रजा का परिपालन करे। यह डोरी चढ़ा हुआ धनुष दूसरे (राक्षसों के वध रूपी) कार्य में संलग्न हो गया है ॥ ३२ ॥

विदूषक—जो आप आज्ञा दे रहे हैं (वही करूँगा)। ऐसा कह कर निकल गया)।

मातलि—चिरञ्जीवी आप रथ पर सवार हों।

(राजा रथ पर सवार होने का अभिनय करता है)

(इस प्रकार सभी निकल गये)

॥ छठा अङ्क समाप्त ॥

●

टीका—राजेति। अनतिक्रमणीया=अनुल्लङ्घनीया, दिवस्पतेः = स्वर्गाधिपतेः इन्द्रस्य। परिगतार्थम्-परिगतः=ज्ञातः अर्थः=वार्ता यस्य तादृशम्, कृत्वा=विधाय ॥

अन्वयः—केवला, त्वन्मतिः, तावत्, प्रजाः, परिपालयतु; इदम्, अधिज्यम्, धनुः, अन्यस्मिन्, कर्मणि व्यापृतम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—केवला = अकेले, त्वन्मतिः=आपकी बुद्धि, तावत्=तबतक, प्रजाः=प्रजा का, परिपालयतु= परिपालन करे; इदम्=यह, अधिज्यम्=डोरी चढ़ा हुआ, धनुः=धनुष अन्यस्मिन्=दूसरे, कर्मणि=कार्य में, व्यापृतम्=संलग्न हो गया है। ॥ ३२ ॥

टीका—त्वन्मतिरिति। केवला=एकाकिनी, त्वन्मतिः—तव=भवतः मतिः=बुद्धिः, तावत्=सम्प्रति, प्रजाः=राज्यजनान्, परिपालयतु=रक्षतु। पूर्वं प्रजापरिपालने उभयमपि व्यापृतमासीत्। अधुना ते मतिरेवेति केवलेत्युक्तम्। इदम्=एतत् मदीयम्, अधिज्यम्—ज्याम्=प्रत्यञ्चाम् अधिगतम् अधिज्यम्=समौर्वीकम्, धनुः=कोदण्डः, अन्यस्मिन्=अपरस्मिन् दानवमारणरूपे, कर्मणि=कार्ये, व्यापृतम्=संलग्नमास्ते। अनुष्टुप् छन्दः ॥ ३२ ॥

॥इति रमाशङ्करत्रिपाठिकृतायामभिज्ञानशाकुन्तलव्याख्यायां रमाख्यायां षष्ठोऽङ्कः समाप्तः।

टिप्पणी—केवला—इसका भाव यह है कि राजा का धनुष तथा मन्त्री की बुद्धि—दोनों ही मिलकर राज्य का सञ्चालन करते थे। अब राजा का धनुष दानवों के विध्वंस के लिये जा रहा है। अतः मन्त्री की अकेली बुद्धि ही राज्य की देखभाल करे। भारवि ने भी कहा है 'सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः।' (किरात० १-५)। यजुर्वेद भी ऐसा ही भाव अभिव्यक्त करता है—'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।' (३२।१६)।

इसमें प्रयुक्त अनुष्टुप् छन्द का लक्षण है—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ ३२ ॥

व्युत्पत्तिः—व्यापृतः—वि+आ+पृ+क्तिन्+विभक्त्यादिकार्यम् ॥ ३२ ॥

॥ समाप्तः षष्ठोऽङ्कः ॥

सप्तमोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन रथाधिरूढो राजा मातलिश्च ।)

राजा--मातले, अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये ।

मातलिः--(सस्मितम्) आयुष्मन्, उभयमप्यपरितोषं समर्थये ।

प्रथमोपकृतं मरुत्वतः
प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान् ।
गणयत्यवदानविस्मितो
भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ॥१॥

शब्दार्थः—आकाशयानेन=आकाश मार्ग से, रथाधिरूढः=रथ पर सवार। अनुष्ठितनिदेशः=आदेश का परिपालन करने वाला, आदेश का पालन कर देने पर भी, मघवतः=इन्द्र के, सत्क्रियाविशेषात्= विशिष्ट सत्कार से, अनुपयुक्तम्=अनुपयुक्त॥

टीका—तत इति। इतो ग्रन्थसमाप्ति यावत् निर्वहणसन्धिः। तल्लक्षणं यथा सुधाकरे—'मुखसन्ध्यादयो यत्र विकीर्णा बीजसंयुताः। महाप्रयोजनं यान्ति तन्निर्वहणमुच्यते ॥' सहित्यदर्पणे (६—८०) तथा दशरुपके (१—४८) चाप्यवलोकनीयम्। आकाशयानेन—आकाशः=अन्तरिक्षम् एव यात्यनेनेति यानम्=मार्गस्तेन, आकाशमार्गेणेत्यर्थः रथाधिरूढः—रथे=याने अधिरुढः=अधिष्ठितः। अनुष्ठितनिदेशः—अनुष्ठितः=कृतः निदेशः=आज्ञा दानववधरूपा येन सः तादृशोऽहमिति शेषः, मघवतः=इन्द्रस्य, सत्क्रियाविशेषात्—सत्क्रिया=सम्मानना तस्याः विशेषः=अतिशयः तस्मात्, अनुपयुक्तम्=अपात्रम्, अयोग्यमिति यावत् ॥

टिप्पणी—आकाशयानेन—यहाँ यान का अर्थ है—मार्ग।

अनुपयुक्तम्—राजा के कहने का भाव यह है कि मैंने काम तो राई जैसा किया। किन्तु उसके लिये इन्द्र ने मेरा सम्मान हिमालय जैसा किया। अतः मैं अपने को उनके सम्मान के अनुरूप नहीं समझ रहा हूँ।

उभयमपि—मातलि का अभिप्रायः यह है कि जैसे आप उनके सम्मान को महान् तथा अपने कार्य को लघु समझ रहें हैं वैसे ही इन्द्र भी आपके कार्य को गुरुतर और अपने द्वारा किये गये सम्मान को हल्का समझ रहे हैं।

अन्वयः—भवान्, मरुत्वतः, प्रतिपत्त्या, प्रथमोपकृतम्, लघु, मन्यते; सः, अपि, भवतः, अवदानविस्मितः, सत्क्रियागुणान्, न, गणयति ॥ १ ॥

सप्तम अङ्क

(तदनन्तर आकाशमार्ग से रथ पर सवार राजा और मातलि प्रवेश करते हैं।)

राजा—मातलि, इन्द्र के आदेश का परिपालन कर देने पर भी उनके विशिष्ट सत्कार की तुलना में अपने को अनुपयुक्त-सा समझ रहा हूँ।

मातलि—(मुस्कराकर) चिरञ्जीविन्, मैं समझता हूँ दोनों को ही असन्तोष है। आप इन्द्र के किये गये सत्कार से (अपने द्वारा) पहले किये गये उपकार को हल्का समझ रहे हैं। वह (इन्द्र) भी आप की विशिष्ट वीरता से आश्चर्य चकित होकर (अपने द्वारा किये गये आप के) सत्कार के महत्त्व को कुछ नहीं समझ रहे हैं ॥ १ ॥

शब्दार्थः—भवान्=आप, मरुत्वतः=इन्द्र के, प्रतिपत्त्या=गौरव से, किये गये सत्कार से, प्रथमोपकृतम्=पहले किये गये उपकार को, लघु=हल्का, मन्यते=समझ रहे हैं; सः=वह इन्द्र, अपि=भी, भवतः=आप की, अवदानविस्मितः=विशिष्ट वीरता से आश्चर्यचकित होकर, सत्क्रियागुणान्=सत्कार के महत्त्व को, न=नहीं, गणयति=समझ रहे हैं ॥ १ ॥

टीका—प्रथमेति। भवान्=वीरो राजा दुष्यन्तः, महत्वतः=इन्द्रस्य, प्रतिपत्त्या=गौरवेण पश्चात्कृतेन, इन्द्रकृतया पूजया इति यावत्, प्रथमोपकृतम्—प्रथमम्=पूर्वम् उपकृतम्=उपकारम्, स्वकृतमुपकारमित्यर्थः, लघु=स्वल्पम्, मन्यते=स्वीकरोति; सः=इन्द्रः, अपि=च, भवतः=तव, अवदानविस्मितः—अवदानेन=शुद्धकर्मणा, वीरता-कार्येणेति यावत्, ('अवदानं शुद्धकर्म' इत्यमरः), सत्क्रियागुणान्—सत्क्रिया=स्वकृत-संमानना तस्यां गुणान्=आदरातिशयादीन् अथवा तया गुणान्=तस्मिन्विनयार्जवादीन्, न गणयति=न चिन्तयति। तव कर्म स्मृत्वा मया तस्य सम्मानना कृतेति चेतस्यपि तस्य नायातीत्यर्थः। अत्र विभावना विशेषोक्तिश्चालङ्कारौ। सुन्दरी वृत्तम् ॥ १ ॥

टिप्पणी—लघु मन्यते—इस श्लोक के द्वारा राजा और इन्द्र के मानवोचित महान् गुण निरहङ्कार का दिग्दर्शन कराया गया है।

यहाँ से लेकर अंक की समाप्ति तक निर्वहण सन्धि है। विशेष के लिये देखिये टीका।

इसमें विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कार तथा सुन्दरी छन्द है। छन्द का लक्षण—

'अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः, सभरा ल्गौ यदि सुन्दरी तदा ॥' १ ॥

व्युत्पत्तिः—प्रतिपत्त्या—प्रति+√पद्+क्तिन्+विभक्तिकार्यम्। अवदानम्—अव+√दै (दा)+ल्युट्+विभक्तिः ॥ १ ॥

राजा—मातले, मा मैवम् । स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः । मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य—

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं
जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन ।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का
मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥२॥

मातलिः—किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नार्हति ? पश्य—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं
त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम् ।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः
पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥३॥

शब्दार्थः—मनोरथानाम् =अभिलाषाओं का, कल्पनाओं का, अभूमिः=अस्थान, विसर्जनावसरसत्कारः=विदाई के अवसर पर किया गया सत्कार। दिवौकसाम्=देवताओं के ॥

टीका—राजेति । मनोरथानाम्=अभिलाषाणाम्, अभूमिः=अविषयः, विसर्जनावसरसत्कारः—विसर्जनावसरे=राजधानीं प्रति प्रेषणे सत्कारः=सम्मानना । दिवौकसाम्=देवानाम्, न तु दिवौकसो देवस्य, श्रूयमाणतया न, अपि तु समक्षम्=प्रत्यक्षम्। आसनमात्रे न, अपि तु स्वार्धासने । निविष्टस्य न, अपि तूपवेशितस्येत्यस्य श्लोकेनान्वयः ॥

अन्वयः—अन्तिकस्थम्, अन्तर्गतप्रार्थनम्, जयन्तम्, उद्वीक्ष्य, कृतस्मितेन, हरिणा, आमृष्ट–वक्षोहरिचन्दनाङ्का, मन्दारमाला, पिनद्धा॥ २ ॥

शब्दार्थः—अन्तिकस्थम् =पासमें ही खड़े, अन्तर्गतप्रार्थनम्=भीतर ही भीतर (माला के) इच्छुक, जयन्तम्=जयन्त को, उद्वीक्ष्य=ध्यान से देखकर, ऊपर देखकर, कृतस्मितेन=मुस्कराते हुए, हरिणा=इन्द्र के द्वारा, आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का=वक्षःस्थल पर लगे हरिचन्दन से लाञ्छित, मन्दारमाला=मन्दार–पुष्प की माला, पिनद्धा=पहना दी गई ॥ २ ॥

टीका—अन्तरिति । अन्तिकस्थम्=समीपस्थम्, अन्तर्गत–प्रार्थनम्—अन्तर्गता=हृद्गता प्रार्थना=मन्दारमालाविषयिणी यञ्चा यस्य स तम्, जयन्तम्=स्वपुत्रम्, उद्वीक्ष्य=उद्=अधिकम्=वीक्ष्य=दृष्ट्वा, कृतस्मितेन—कृतम्=विहितम् स्मितम्=ईषद्धासः येन तथाविधेन, हरिणा=इन्द्रेण, आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का—आमृष्टम्=स्पृष्टम् वक्षसि=

राजा—मातलि, नहीं, ऐसा नहीं। मेरी विदाई के अवसर पर किया गया वह सत्कार वस्तुतः कल्पनाओं से भी परे की चीज है। क्योंकि उन्होंने, देवताओं के समक्ष अपने आधे आसन पर बिठा कर मुझे—

पास में ही खड़े, भीतर ही भीतर (माला के) ईच्छुक जयन्त को ध्यान से देखकर मुस्कराते हुए इन्द्र के द्वारा वक्षःस्थल पर लगे हरिचन्दन से लाञ्छित मन्दारपुष्प की माला पहना दी गई ॥ २॥

मातलि—वह ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसे आप देवराज इन्द्र से नहीं पा सकते हैं ? देखिये—सम्प्रति गाँठ पर से झुके हुए, आप के बाणों के द्वारा तथा प्राचीन समय में गाँठ पर मुड़े हुए नृसिंह के नाखूनों के द्वारा—इन दोनों के द्वारा—आनन्द-भोग में संलग्न इन्द्र के स्वर्ग को दानवरुप कण्टकों से विहीन कर दिया गया है।

हृदये यद् हरिचन्दनम्=हरिचन्दनस्यालेपः सोऽङ्कश्चिह्नं यस्याः सा तादृशम्, मन्दामाला= मन्दाराख्यसुरपादपपुष्पमालिका, मम पिनद्धा=स्वयं परिधापिता, न तु दत्ता। अनेन गौरवस्याधिक्यमुक्तम्। अत्र परिकर उदात्तं चालङ्कारो। उपजातिर्वृत्तम् ॥ २॥

टिप्पणी—अन्तर्गत०—इन्द्र का लाडला बेटा जयन्त चाह रहा था कि मन्दार की वह माला मुझे पहना दी जाय। पर इन्द्र ने उसे न पहना कर दुष्यन्त को पहनाई।

हरिचन्दन०—स्वर्ग में जो चन्दन है उसे हरिचन्दन कहते हैं। क्योंकि वह हरि=इन्द्र को अधिक प्रिय है। पद्मपुराण (१२।७) के अनुसार हरिचन्दन एक विशेष प्रकार का लेप हैं। इसके बनाने की विधि इस प्रकार है—'घृष्टं च तुलसीकाष्ठं कर्पूरागुरुयोगतः। अथवा केसरैर्योज्यं हरिचन्दनमुच्यते ॥

मन्दारमाला—स्वर्ग के पाँच प्रसिद्धवृक्षों में मन्दार एक है। इन पाँच वृक्षों के नाम हैं—मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन (अमरकोष)।

यहाँ साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया गया है। अतः परिकर अलंकार है। गौरव की अधिकता वर्णित की गई हैं। अतः उदात्त अलङ्कार भी है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—उपजाति ॥ २॥

व्युत्पत्तिः—उद्वीक्ष्य—उद् + √वि + √ईक्ष् + ल्यप्।

पिनद्धा—अपि + √नह् + क्त + टाप् + विभक्त्यादिकार्ये 'वष्टि भागुरि०' इत्यनेनाकारलोपः ॥ २॥

अन्वयः—अधुना, नतपर्वभिः, तव, शरैः, पुरा च, नतपर्वभिः, पुरुषकेसरिणः, नखैः, उभयैः, सुखपरस्य, हरेः, त्रिदिवम्, उद्धृतदानवकण्टकम्, कृतम् ॥ ३॥

शब्दार्थः—अधुना=सम्प्रति, नतपर्वभिः=गाँठ पर से झुके हुए, तव=आपके, शरैः=बाणों के द्वारा, च=तथा, पुरा=प्राचीन समय में, नतपर्वभिः=गाँठ पर से मुड़े हुए, पुरुषकेसरिणः=नृसिंह के, नखैः=नाखूनों के द्वारा, उभयैः=इन दोनों के द्वारा, हरेः=इन्द्र के, सुखपरस्य=आनन्द—भोग में संलग्न, त्रिदिवम्=स्वर्ग को, उद्धृत-दानवकण्टकम्=दानवरूप कण्टकों से विहीन, कृतम्=कर दिया गया ॥ ३॥

राजा—अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्यः ।

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।
किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥४॥

मातलिः—सदृशमेवैतत् । (स्तोकमन्तरमतीत्य) आयुष्मन्, इतः पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशसः।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां
वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु ।

टीका—सुखपरस्येति । अधुना=सम्प्रति, वर्तमाने युगे, नतपर्वभिः—नतानि=ईषदाकुञ्चितानि पर्वाणि=ग्रन्थयः येषां ते नतपर्वाणस्तैः । पर्वणां नतत्वं ग्रन्थिस्थले तल्लक्षणात् । एतेन सरलत्वं शीघ्रगत्वं मनोहरत्वं च ध्वनितम् । तव=परमशूरस्य विख्यातपौरुषस्य भवतः, शरैः=बाणैः, च=तथा, पुरा=प्राचीने काले, नतपर्वभिः—नतानि=इषदाकुञ्चितानि पर्वाणि=अङ्गुलिपर्वभागाः येषां तैः, पुरुषकेशरिणः=नृसिंहस्य, नखैः=नखरैः, उभयैः=शरैः नखैश्च, सुखपरस्य-सुखे=भोगे परः=लीनः तस्य, यद्वा—सुखमेव परं यस्यातिसुखिन इति, हरेः=इन्द्रस्य, त्रिदिवम्=स्वर्गम्, सिंहपक्षे—सुखम्, ('त्रिदिवं सुखे । स्वर्गे च त्रिदिवा नद्याम्' इति हैमः), उद्धृतदानवकण्टकम्—दानवाः=दैत्याः कण्टकाः इव दानवकण्टकाः उद्धृताः=उत्पाटिताः दानवकण्टकाः यत्र तत् तादृशम्, कृतम्=विहितम् । दीपकमलङ्कारः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

टिप्पणी—उभयैः—कैयट के मतानुसार उभयशब्द का प्रयोग द्विवचन में नहीं होता है। आचार्य हरदत्त के अनुसार इसका प्रयोग तीनों वचनों में होता है। 'उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति' इति कैयटः, अस्ति इति हरदत्तः। (सिद्धान्तकौमुदी सूत्र २१७ ॥

नतपर्वभिः—इसका दुष्यन्त के बाणों तथा पुरुषकेशरी के नखों—दोनों—से सम्बन्ध है। यहाँ दीपक अलङ्कार तथा द्रुतविलम्बित छन्द है। छन्द का लक्षण—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' ॥ ३ ॥

व्युत्पत्तिः—त्रिदिवम्—दीव्यति इति, त्रि+√दिव्+क+विभक्तिः ॥ ३ ॥

अन्वयः—महत्सु, अपि, कर्मसु, नियोज्याः, यत्, सिध्यन्ति, तम्, ईश्वराणाम्, संभावनागुणम्, अवेहि, किं वा, अरुणः, तमसाम् विभेत्ता, अभविष्यत्, चेत्, सहस्रकिरणः तम्, धुरि, न, अकरिष्यत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—महत्सु=महान्, अपि=भी, कर्मसु=कार्यों में, नियोज्याः=सेवक, आज्ञाकारी व्यक्ति, यत्=जो कि, सिध्यन्ति=सफल होते हैं, तम्=उसे, ईश्वराणाम्=

राजा—इस विषय में तो इन्द्र की ही महत्ता प्रशंसनीय है।

महान् भी कार्यों में सेवक जो कि सफल होते हैं, उसे स्वामियों के गौरव का गुण (ही) समझिये। क्या (सूर्यसारथि) अरुण अन्धकार-समूह का विनाशक हो सकता था यदि सूर्य उसको (अपने रथ के) आगे न किये होते? ॥ ४ ॥

मातलि—यह कथन (आपके लिये) उचित ही है। (थोड़ी दूरी लांघ कर) चिरञ्जीविन्, इधर देखिये स्वर्गतल पर प्रतिष्ठित अपने यश के सौभाग्य को।

ये स्वर्गनिवासी गाने के योग्य अर्थ-समूह को सोचकर देवाङ्गनाओं के अङ्गराग

स्वामियों के, संभावनागुणम्=गौरव का गुण, अवेहि=समझिये, किंवा=क्या, अरुणः=अरुण, तमसाम्=अन्धकार—समूह का, विभेत्ता=विनाशक, अभविष्यत्=हो सकता था, चेत्=यदि, सहस्रकिरणः=सूर्य, तम्=उसको, धुरि=आगे, न=नहीं, अकरिष्यत्=किये होते ॥ ४॥

टीका—सिध्यन्तीति। महत्सु=गौरवेषु, अपि=च, कर्मसु=कार्येषु, नियोज्याः=सेवकाः, यत्सिध्यन्ति=कार्यनिष्पादका भवन्ति; तम् ईश्वराणाम्=प्रभूणाम्, संभावनागुणम्—संभावना=गौरवम् तस्य गुणम्=फलम्, ('संभावना वासनायां गौरवे ध्यानकर्मणि, इत्यजयः), अवेहि=जानीहि। प्रभुमहत्त्वेनैव तत्कार्यसिद्धिः, सेवकगुणः, कोऽपिनास्तीति भावः। किं वा=कथम्, =अरुणः=सूर्यसारथिः, वरुणभ्राता, तमसाम्=अन्धकाराणाम्, विभेत्ता=भेदकः, अन्धकारनाशक इत्यर्थः, अभविष्यत्=स्यात्, नैवाभविष्यदित्यर्थः, चेत्=यदि, सहस्रकिरणः—सहस्रम्=बहवः इत्यर्थः किरणाः=अंशवः यस्य स तादृशः, सूर्य इत्यर्थः, तम्=अरुणम्, धुरि=अग्रे, यानमुखे इति भावः, न अकरिष्यत्=न अस्थापयिष्यत्। अत्राप्रस्तुतप्रशंसाऽर्थान्तरन्यासश्चालङ्कारौ। वसन्ततिलका छन्दः ॥४॥

टिप्पणी—अरुणः—सूर्य के सारथि का नाम है—अरुण। इसीलिये सूर्योदय को अरुणोदय भी कहते हैं। सहस्रकिरणः=सूर्य। असंख्यकिरणों से संवलित होने के कारण सूर्य को सहस्रकिरण कहते हैं।

सहस्र का अर्थ हजार और असंख्य—दोनों ही—होता है।

यहाँ पर प्रस्तुत इन्द्र और दुष्यन्त के स्थान पर अप्रस्तुत प्रभु और नियोज्य के कथन के कारण अप्रस्तुत-प्रशंसा है। सामान्य पूर्वार्ध के द्वारा उत्तरार्ध विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका। छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ ४ ॥

व्युत्पत्तिः—नियोज्याः—नि+√युज्+यत्+विभक्तिकार्यम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—स्तोकम्=थोड़ी सी, अन्तरम्=दूरी, अतीत्य=लांघ कर। नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य=स्वर्गतल पर प्रतिष्ठित, आत्मयशसः=अपने यश का ॥

टीका—मातलिरिति। स्तोकम्=स्वल्पम्, अन्तरम्=अध्वानमित्यर्थः, अतीत्य=गत्वा। नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य—नाकपृष्ठे=स्वर्गतले प्रतिष्ठितस्य=स्थिरत्वेन प्रतिष्ठां प्राप्तस्य, आत्मयशसः—आत्मनः=स्वस्य, यशसः=कीर्तेः, दानवजयजातायाः कीर्तेरित्यर्थः ॥

विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं
दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति ॥५॥

राजा—मातले, असुरसंप्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता मया न लक्षितः स्वर्गमार्गः। कतमस्मिन् मरुतां पथि वर्तामहे?

मातलिः—

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां
ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं
वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥६॥

अन्वयः—अमी, दिवौकसः, गीतक्षमम्, अर्थजातम्, विचिन्त्य, सुरसुन्दरीणाम्, विच्छित्तिशेषैः, वर्णैः, कल्पलतांशुकेषु, त्वच्चरितम्, लिखन्ति। ५॥

शब्दार्थः—अमी=ये, दिवौकसः=स्वर्ग—निवासी, गीतक्षमम्=गाने के योग्य, अर्थजातम्=अर्थ-समूह को, विचिन्त्य=सोच कर, सुरसुन्दरीणाम्=देवाङ्गनाओं के, विच्छित्तिशेषैः=अङ्गराग से बचे हुए, वर्णैः=रंगों से, कल्पलतांशुकेषु=कल्पवृक्ष के रेशमी वस्त्रों पर, त्वच्चरितम्=आपके चरित को, लिखन्ति=लिख रहे हैं ॥५॥

टं.का—विच्छित्तीति। अमी=एते, पुरतो दृश्यमानाः, दिवौकसः—दिवम्=स्वर्गः ओकः=निवासः येषां ते दिवौकसः=देवाः, गीतक्षमम्—गीतस्य=गानस्य क्षमम्=योग्यम्, अर्थजातम्—अर्थानाम्=वस्तूनाम् जातम्=समूहम्, पदावलिमित्यर्थः, विचिन्त्य=विचार्य, सुरसुन्दरीणाम्=देवाङ्गनानाम्, विच्छित्तिशेषैः—विच्छित्तेः=अङ्गरागात् ('विच्छित्तिरङ्गरागेऽपि' इति विश्वः) शेषैः=अवशिष्टैः, वर्णैः=वर्णकैः सितपीतादिभिः, कल्पलतांशुकेषु—कल्पलतायाः=कल्पवल्ल्याः यानि अंशुकानि=वस्त्राणि तेषु, त्वच्चरितम्—तव=भवतः चरितम्=दुर्जयजयावदानमित्यर्थः, लिखन्ति=लिपिबद्धं कुर्वन्ति। परिणामोऽलङ्कारः। उपजातिर्वृत्तम् ॥ ५ ॥

टिप्पणी—विच्छित्तिः—सुगन्धित पदार्थों से गालों और मस्तक आदि पर सजाना विच्छित्ति कहा गया है।

कल्पलतांशुकेषु—कल्पलता स्वर्गनिवासियों को पहनने के लिये रेशमी वस्त्र प्रदान करता है।

चरितम्—दानवों पर विजयरूपी तुम्हारे कार्य को। चरित और चरित्र में भेद है। चरित्र का अर्थ है—आचरण तथा चरित का अर्थ है—जीवन की घटनाएँ।

यहाँ अङ्गों में लगाने से अवशिष्ट अङ्गराग से लेखन का कार्य होने से परिणाम अलङ्कार है। यहाँ प्रयुक्त छन्द है—उपजाति। लक्षण के लिये देखिये—२—७;

से बचे हुए रंगों से कल्पवृक्ष के रेशमी वस्त्रों पर आपके चरित को लिख रहे हैं ॥५॥

राजा—मातलि, असुरों के साथ युद्ध करने की उत्कण्ठा वाले मैंने पिछले दिन स्वर्ग की ओर चढ़ते समय स्वर्ग के मार्ग को विशेष ध्यान से नहीं देखा था। (तो बतलाओ) वायुओं के किस मार्ग में हम लोग (सम्प्रति) हैं ?

मातलि—जो आकाश में स्थित आकाश गंगा को धारण करता है तथा अपनी वायुरूपी किरणों को फैला कर (जो) ग्रह-नक्षत्रों को ठीक-ठीक चलाता है उस परिवह नामक वायु का, (वामनरूपधारी) विष्णु के द्वितीय चरण-विन्यास से पावन, यह मार्ग कहा जाता है ॥ ६ ॥

५—५ ॥ ५ ॥

व्युत्पत्तिः—विच्छित्तिः—वि + √छिद् + क्तिन् भावे + विभक्तिः । शेषः—√शिष् + घञ् भावे कर्मणि + विभक्त्यादिः ॥ ५ ॥

टिप्पणी—मरुतां पथि—हिन्दू विचारकों ने आकाश को सात भागों में बाँटा है और प्रत्येक भाग में एक-एक वायु का आधिपत्य स्वीकार किया है। इन सात वायुओं के नाम हैं—(१) आवह (२) प्रवह (३) उद्वह (४) संवह (५) सुवह (६) परिवह और (७) परावह 'भूवायुरावह इह प्रवहस्तदूर्ध्वं स्यादुद्वहस्तदनु संवहसंज्ञकश्च । अन्यस्ततोऽपि सुवहः परिपूर्वकोऽस्माद्बाह्यः परावह इमे पवनाः प्रसिद्धाः ॥' (सिद्धान्तशिरोमणि) ॥

अन्वयः—यः, गगनप्रतिष्ठाम्, त्रिस्रोतसम्, वहति; च, प्रविभक्तरश्मिः, (यः), ज्योतींषि, वर्तयति, तस्य, परिवहस्य, वायोः, द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम्, इमम्, मार्गम्, वदन्ति ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—यः=जो, गगनप्रतिष्ठाम्=आकाश में स्थित, त्रिस्रोतसम्=आकाशगंगा को, वहति=धारण करता है, च=तथा, प्रविभक्तरश्मिः=अपनी वायुरूपी किरणों को फैला कर, (यः=जो), ज्योतींषि=ग्रह-नक्षत्रों को, वर्तयति=ठीक-ठीक चलाता है; तस्य=उस, परिवहस्य=परिवह नामक, वायोः=वायु को, द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम्=(वामनरूप धारी) विष्णु के द्वितीय चरण—विन्यास से पावन, इमम्=यह, मार्गम्=मार्ग, वदन्ति=कहा जाता है ॥ ६ ॥

टीका—त्रिस्रोतसमिति । यः=यो मार्गः, गगनप्रतिष्ठाम्—गगने=आकाशे प्रतिष्ठा=स्थितिः यस्याः सा तां तादृशीम्, गगनस्य प्रतिष्ठा=समृद्धिर्यया सा तादृशीं वेति, त्रिस्रोतसम्=त्रिमार्गगाम्, वहति=धारयति, यत्र मार्गे आकाशगङ्गायाः स्थितिरित्यर्थः, च=तथा, प्रविभक्तरश्मिः—प्रविभक्ताः चतुर्षु दिक्षु विस्तृताः रश्मयः=किरणाः यस्य सः, य इति शेषः, ज्योतिंषि=नक्षत्राणि, वर्तयति=चालयति वहति वा; तस्य=तादृशस्य, परिवहस्य=परिवहनामकस्य, वायोः=पवनस्य, द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम्—द्वितीयः=द्विसंख्याकः यः हरेः=वामनरूपिणः विष्णोः विक्रमः=पदक्रमः तेन निस्तमस्कम्=निर्मलम्, इमम्=एतम्, मार्गम्=पन्थानम्, वदन्ति=कथयन्ति । अत्रोदात्तमलङ्कारः । वसन्ततिलका छन्दः ॥ ६ ॥

टिप्पणी—त्रिस्रोतसम्—गङ्गा की तीन धाराएँ मानी गई हैं। आकाश में स्थित

राजा—मातले, अतः खलु सबाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति। (रथाङ्गमवलोक्य) मेघपदवीमवतीर्णौ स्वः।

मातलिः—कथमवगम्यते ?

राजा—अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि-
हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां
पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमिः ॥७॥

मातलिः—क्षणादायुष्मान् स्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते।

राजा—(अधोऽवलोक्य) वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः। तथा हि—

गंगा को आकाशगंगा अथवा मन्दाकिनी कहते हैं। भूतल पर बहने वाली गंगा को भागीरथी तथा पातालस्थ गंगा को भोगवती कहते हैं। परिवह नामक वायु के क्षेत्र में आकाशगंगा तथा सप्तर्षि-मण्डल है।

ज्योतींषि—यहाँ पर इसका अभिप्राय सप्तर्षि-मण्डल से है।

द्वितीयहरि०—जब वामन रूपधारी भगवान् विष्णु त्रिलोकी को नाप रहे थे तो उनका एक पग आकाश में, परिवह नामक वायु के क्षेत्र में, पड़ा था। भगवान् के पैर के पड़ने से परिवह वायु का क्षेत्र अत्यन्त पुनीत तथा पापविहीन हो गया था।

यहाँ उदात्त अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥' ६ ॥

व्युत्पत्तिः—०प्रतिष्ठाम्—प्रति+√स्था+अङ्+टाप्+विभक्तिः। ०विक्रम—वि+√क्रम+घञ् अच् वा+विभक्तिः ॥ ६ ॥

अन्वयः—शीकरक्लिन्ननेमिः, अयम्, ते, रथः, अरविवरेभ्यः, निष्पतद्भिः, चातकैः, च, अचिरभासाम्, तेजसा, अनुलिप्तैः, हरिभिः, वारिगर्भोदराणाम्, घनानाम्, उपरि, गतम्, पिशुनयति ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—शीकरक्लिन्ननेमिः=जल-कणों से जिसके रथ के चक्र का प्रान्त भाग भीग गया है ऐसा, अयम्=यह, ते=आपका, रथः=रथ, अरविवरेभ्यः=आरों (चक्र में लगे डण्डों) के मध्य-भागों से, निष्पतद्भिः=निकल कर जाते हुए, चातकैः=चातकों के द्वारा, च=तथा, अचिरभासाम्=विद्युत की, बिजली की, तेजसा=प्रभा से, अनुलिप्तैः=रंजित, हरिभिः=घोड़ों के द्वारा, वारिगर्भोदराणाम्=जल से परिपूर्ण, सजल, घनानाम्=मेघों के, उपरि=ऊपर, गतम्=चलने को, पिशुनयति=सूचित कर रहा है ॥ ७ ॥

टीका—अयमिति। शीकरक्लिन्ननेमिः—शीकरैः=जलकणैः क्लिन्नाः=आर्द्राः

राजा—मातलि, यही कारण है कि (चक्षु आदि) बाहरी तथा (मन, बुद्धि आदि) भीतरी इन्द्रियों के साथ मेरी अन्तरात्मा प्रसन्न हो रही है। (रथ के पहिए को देख कर) हम लोग बादलों के मार्ग पर उतर आए हैं।

मातलि—कैसे मालूम हो रहा है ?

राजा—जल-कणों से जिसके रथ के चक्र का प्रान्तभाग भीग गया है ऐसा यह आपका रथ, अरों (चक्र में लगे डण्डों) के मध्य-भागों से निकलकर जाते हुए चातकों के द्वारा तथा विद्युत की प्रभा से रंजित घोड़ों के द्वारा, सजल मेघों के ऊपर चलने को सूचित कर रहा है॥ ७॥

मातलि—क्षण भर में चिरञ्जीवी (आप) अपने आधिपत्य की भूमि पर पहुँच जाएँगे।

राजा—(नीचे की ओर देख कर) वेग से उतरने के कारण मनुष्य-लोक आश्चर्यजनक दृश्यवाला प्रतीत हो रहा है। जैसे कि—

नेमयः=चक्रप्रान्ताः यस्य स तादृशः, अयम्=एषः, ते=तव, रथः=स्यन्दनम्, कर्तृपदम्, अरविवरेभ्यः—अराणि=चक्राङ्गानि तेषां ('अरं शीघ्रे च चक्राङ्गे' इति विश्वः), विवरेभ्यः=छिद्रेभ्यः, निष्पतद्भिः=निर्गच्छद्भिः चातकैः=पक्षिविशेषैः, च=तथा, अचिरभासाम्—अचिरा=क्षणिका भाः=दीप्तिः यासां तासाम्, विद्युतामित्यर्थः,तेजसा=प्रभया, अनुलिप्तैः=रञ्जितैः, हरिभिः=रथाश्वैः, वारिगर्भोदराणाम्—वारिगर्भाणि=जलपूर्णानि उदराणि=मध्यभागाः येषां ते तादृशाम्, घनानाम् =उपरि=ऊर्ध्वम्, मेघानाम्,=मेघानाम्, गतम्=गमनम्, पिशुनयति=सूचयति ('पिशुनौ खलसूचकौ' इत्यमरः)। अत्र समुच्चयः काव्यलिङ्गम् अनुमानं चालङ्काराः। मालिनी छन्दः॥ ७॥

टिप्पणी—चातकैः—लोकभाषा में चातक को पपीहा कहते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि चातक भूतल पर पड़े जल को नहीं पीते। वे आकाशस्थ जल को ही पीते हैं। यही कारण है कि चातक मेघों के आस-पास अधिक रहते हैं।

श्लोक के पूर्वार्द्ध में मेघ पथ पर चलने के दो कारण दिये गये हैं। अतः समुच्चय है। 'शीकरक्लिन्ननेमिः' मेघपथ पर जाने का हेतु है, अतः काव्यलिंग है। कारणों के द्वारा मेघपथ पर चलने का अनुमान हो रहा है। अतः अनुमान अलङ्कार है। यहाँ प्रयुक्त मालिनी छन्द का लक्षण—

'न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः' ॥ ७॥

व्युत्पत्तिः—अनुलिप्तैः—अनु+√लिप्+क्त+तृतीयाबहुवचने विभक्तिकार्यम्। गतम्—√गम्+क्त+विभक्तिः। पिशुनयति—पिशुन+णिच्+विभक्तिः॥ ७॥

शब्दार्थः—स्वाधिकारभूमौ=अपने आधिपत्य की भूमि पर। आश्चर्यदर्शनः=आश्चर्यजनक दृश्यवाला, मनुष्यलोकः=मानवलोक॥

टीका—क्षणादिति रथवेगं सूचयति। स्वाधिकारभूमौ—स्वस्य अधिकारो यस्यां सा

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात् पादपाः।
सन्तानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥८॥

मातलिः—साधु दृष्टम्। (सबहुमानमवलोक्य) अहो, उदाररमणीया पृथ्वी।

राजा—मातले, कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरस-निस्यन्दी सान्ध्य इव मेघपरिघः सानुमानालोक्यते?

मातलिः—आयुष्मन्, एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुष-पर्वतस्तपःसंसिद्धिक्षेत्रम्। पश्य—

स्वाधिकारा सा चासौ भूमिश्च तस्याम्, स्वाधीने भूतले इत्यर्थः। आश्चर्यदर्शनः—आश्चर्यम्=विचित्रं दर्शनम्=अवलोकनं यस्य तथाविधिः, मनुष्यलोकः=भूतलम्, संलक्ष्यते=भाति ॥

अन्वयः—मेदिनी, उन्मज्जताम्, शैलानाम्, शिखरात्, अवरोहति, इव; पादपाः, स्कन्धोदयात्, पर्णाभ्यन्तरलीनताम्, विजहति; तनुभावनष्टसलिलाः, आपगाः, सन्तानैः, व्यक्तिम्, भजन्ति; पश्य, उत्क्षिपता, केन, अपि, भुवनम्, मत्पार्श्वम्, आनीयते, इव ॥८॥

शब्दार्थः—मेदिनी=पृथिवी, उन्मज्जताम्=उभरते हुए, प्रकट होते हुए, शैलानाम्=पर्वतों के, शिखरात्=शिखर से, अवरोहति=उतर रही है, इव=सी, तरह; पादपाः=वृक्ष, स्कन्धोदयात्=तनों के दिखलाई पड़ने से, पर्णाभ्यन्तरलीनताम्=पत्तों के भीतर छिपने को, विजहति=छोड़ रहे हैं, तनुभावनष्टसलिलाः=क्षीणता के कारण जिनका जल नहीं दिखलाई पड़ता था ऐसी, आपगाः=नदियाँ, सन्तानैः=विस्तार के कारण, व्यक्तिम्=प्रकटता को, भजन्ति=धारण कर रही हैं, पश्य=देखिये, उत्क्षिपता=ऊपर फेंकने वाले, केन=किसी के द्वारा, अपि=भी, भुवनम्=भू-मण्डल, मत्पार्श्वम्=मेरे पास, आनीयते=लाया जा रहा है, इव=सा, तरह ॥ ८ ॥

टीका—शैलानामिति। मेदिनी=पृथिवी, उन्मज्जताम्=प्रकटीभवताम्, शैलानाम्=पर्वतानाम्, शिखरात्=अग्रभागात्, जात्येकवचनम्, अवरोहति=अधो यातीवेत्युत्प्रेक्षा, पादपाः=वृक्षाः, स्कन्धोदयात्—स्कन्धानाम्=प्रकाण्डानाम् ('अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यात्' इत्यमरः), उदयात्=प्राकट्यात्, पर्णाभ्यन्तरलीनताम्—पर्णानाम्=पत्राणाम् अभ्यन्तरे=मध्ये, लीनताम्=गुप्ततां तदाकारतामित्यर्थः, विजहति=त्यजन्ति, प्रकटीभवन्तीत्यर्थः; तनुभावनष्टसलिलाः—तनोर्भावस्तनुत्वं तनुभावेन=क्षीणतया नष्टम्=अदृश्यम् सलिलम्=जलम् यासां तास्तादृश्यः, आपगाः=नद्यः, सन्तानैः=विस्तारैः, अर्थाद्दृष्टैरित्यर्थः, व्यक्तिम्=प्रकटताम्, भजन्ति=यान्ति; पश्य=अवलोकय,

पृथिवी उभरते हुए पर्वतों के शिखर से उतर-सी रही है। वृक्ष तनों के दिखलाई पड़ने से पत्तों के भीतर छिपना छोड़ रहे हैं। क्षीणता के कारण जिनका जल नहीं दिखलाई पड़ता था ऐसी नदियाँ अब विस्तार के कारण प्रकट हो रही हैं। देखिये, ऐसा मालूम पड़ता है कि भू-मण्डल मानो किसी के द्वारा उछाल कर मेरे पास लाया जा रहा है ॥ ८ ॥

मातलि—बहुत ठीक देखा। (अत्यन्त आदर के साथ देख कर) वाह, पृथिवी कैसी विस्तृत और चित्ताकर्षक है।

राजा—मातलि, पूर्व तथा पश्चिम सागर तक प्रविष्ट, सुवर्ण के रस को बहाने वाला, सायंकालीन बादलों की अर्गला के सदृश यह कौन पर्वत दिखलाई पड़ रहा है।

मातलि—चिरञ्जीविन्, तपस्या की सिद्धि का क्षेत्र, किंपुरुषवर्ष का यह हेमकूट नामक पर्वत है। देखिये—

उत्क्षिपता=ऊर्ध्वीकुर्वता, केनापि=केनापि जनेन, भुवनम्=भूलोकः, मत्पार्श्वम्=मन्निकटम्, आनीयते इव=प्राप्यते इवेत्युत्प्रेक्षा। उत्प्रेक्षा स्वभावोक्तिः काव्यलिङ्गं चालङ्काराः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—शैलानाम्—वायुयान से आकाश में बहुत ऊपर जाकर तीव्र गति से वापस होइए। उस समय, जब आप काफी ऊँचे होंगे तो पृथिवी और पर्वतों का भेद प्रतीत न होगा। किन्तु जैसे-जैसे नीचे उतरेंगे वैसे-वैसे ज्ञात होगा कि अब पृथिवी पर्वतों की चोटियों से धीरे-धीरे उतर रही है। पहले जो हरे-हरे पिण्ड दीख पड़ते थे, उनमें अब डालियाँ आदि अलग प्रतीत हो रही हैं। ऊपर रहने पर क्षीण जल वाली नदियाँ नहीं दिखलाई पड़ती थीं। किन्तु नीचे आने पर वे भी, जल के दीख पड़ने से, दिखलाई पड़ रही हैं। मालूम पड़ता है कि नीचे की ओर से कोई, गेंद की तरह, पृथिवी को ऊपर की ओर फेंक रहा है।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा स्वभावोक्ति तथा काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥ ८ ॥

व्युत्पत्तिः—व्यक्तिम्—वि+√अञ्ज्+क्तिन्+विभक्त्यादिकार्यम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—साधु=बहुत ठीक, सबहुमानम्=अत्यन्त आदर के साथ, उदाररमणीया=विस्तृत और चित्ताकर्षक, पूर्वापरसमुद्रावगाढः=पूर्व तथा पश्चिम सागर तक प्रविष्ट, कनकरसनिस्यन्दी=सुवर्ण के रस को बहाने वाला, मेघपरिघः=बादलों की अर्गला के सदृश, सानुमान्=पर्वत, तपःसंसिद्धिक्षेत्रम्=तपस्या की सिद्धि का क्षेत्र।

टीका—मातलिरिति। साधु=सम्यक्। बहुमानेन सहितं सबहुमानम्=सादरम्। उदाररमणीया—उदारा=महती रमणीया=मनोहारिणी च। पूर्वापरसमुद्रावगाढः—पूर्वं च अपरं चेति पूर्वापरौ यौ समुद्रौ तयोरवगाढः—सम्बद्धः, पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्येत्यर्थः, कनकरसनिष्यन्दी—कनकरसस्य=सुवर्णरसस्य निस्यन्दः=प्रस्रवणम्, स यस्यास्तीति मत्वर्थे इनिः, मेघपरिघः—मेघानाम्=जलदानाम् परिघः=अर्गलः इव। अर्गलेनौपम्यं दैर्घ्यज्ञापनार्थम्। सानुमान्=पर्वतः। तपःसंसिद्धिक्षेत्रम्—तपसः=

स्वायंभुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः ।
सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ॥९॥

राजा—तेन ह्यनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि । प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि ।

मातलिः—प्रथमः कल्पः । (नाट्येनावतीर्णौ ।)

राजा—(सविस्मयम्)

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः
प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः ।
अभूतलस्पर्शतयाऽनिरुद्धत-
स्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥१०॥

तपस्यायाः संसिद्धेः=सफलतायाः क्षेत्रम्=स्थानम् । किंपुरुषात । तदुक्त विष्णुपुराणे—'भारतं प्रथमं वर्षं ततः किंपुरुषं स्मृतम् । हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विज ॥'

टिप्पणी—किंपुरुषपर्वतः—प्राचीन भारत के साहित्य ने नौ वर्ष स्वीकार किया है। इनके नाम हैं—(१) कुरु (२) हिरण्मय (३) रम्यक (४) इलावृत (५) हरि (६) केतुमाल (७) भद्राश्व (८) किंपुरुष तथा (९) भारत। किंपुरुषवर्ष भारत के उत्तर में स्थित माना गया है। इस वर्ष का प्रधान पर्वत है—हेमकूट=सोने की चोटी वाला शैल। यह पर्वत हिमालय के उत्तर में कैलास के समीप माना गया है।

अन्वयः—स्वायंभुवात्, मरीचेः, यः, प्रजापतिः, प्रबभूव; सः, सुरासुरगुरुः, सपत्नीकः, अत्र, तपस्यति ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—स्वायंभुवात्=ब्रह्मा के पुत्र, मरीचेः =मरीचि से, यः =जो, प्रजापतिः= प्रजापति, प्रबभूव=हुए हैं, सः=वे ही, सुरासुरगुरुः=देवों तथा दानवों के पिता, सपत्नीकः=पत्नी के साथ, अत्र=यहाँ, तपस्यति=तपस्या कर रहे हैं ॥ ९ ॥

टीका—स्वायंभुवादिति । स्वायंभुवात्—स्वयं भवतीति स्वयंभूः=ब्रह्मा, तस्यापत्यं स्वायम्भुवः=ब्रह्मणो मानसः पुत्रः तस्मात्; अणि सति 'ओर्गुणः' इति गुणे प्राप्ते—ओरोदिति—वक्तव्ये गुणग्रहणं संज्ञापूर्वको विधिरनित्यो यथा स्यात्—तेन स्वायंभुव इति सिद्धं भवतीति वृत्तिकारवचनमुद्धृतं श्रीशारदारञ्जनटीकायाम्, मरीचेः=मरीचि-संज्ञकात् महर्षः, य प्रजापतिः=यो लोकस्रष्टा कश्यप इति, प्रबभूव=जज्ञे; सः, सुरासुर-गुरुः—सुराः=देवाः असुराः=दैत्याश्च तेषां गुरुः=जनकः, सपत्नीकः=सस्त्रीकः, तपस्यति=तपस्यां करोति । श्लोको वृत्तम् ॥ ९ ॥

टिप्पणी—प्रजापतिः—प्रजापति से यहाँ कश्यप ऋषि से अभिप्राय है। कश्यप के पिता का नाम था मरीचि। मरीचि का पुत्र होने से इन्हें मारीच भी कहते हैं। इनकी प्रधानतया दो स्त्रियाँ थीं—दिति और अदिति। दिति से दैत्य और अदिति से देवता

ब्रह्मा के पुत्र मरीचि से जो प्रजापति हुए हैं, वे ही देवों तथा दानवों के पिता पत्नी के साथ यहाँ तपस्या कर रहे हैं ।। ९ ।।

राजा—तो कल्याणकारक वस्तुएँ अनुल्लङ्घनीय हुआ करती हैं। अतः पूज्य (कश्यप) की प्रदक्षिणा करके ही यहाँ से आगे बढ़ना चाहता हूँ।

मातलि—उत्तम विचार है। (अभिनयपूर्वक दोनों उतर गये)

राजा—(आश्चर्यपूर्वक)

भूतल का स्पर्श न होने के कारण पहियों के प्रान्त-भागों ने शब्द नहीं किया है। धूलि भी उठती हुई नहीं दिखलाई पड़ रही है। (ऊबड़-खाबड़ जमीन पर) हचक न लगने से आपका रथ (भूतल पर) उतरा हुआ भी नहीं प्रतीत होता है ।। १० ।।

पैदा हुए हैं। इस तरह इन्हें देवों और दैत्यों—दोनों—के जनक होने का गौरव प्राप्त है। महाभारत के आदि पर्व ६६१ के सात प्रजापतियों में तथा प्रसिद्ध पुराण विष्णु-पुराण में वर्णित प्रजापतियों के मध्य इनकी गणना नहीं की गई है। वायुपुराण में इन्हें प्रजापति माना गया है।

इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है ।। ९ ।।

व्युत्पत्तिः—स्वायंभुवात्—स्वयं+√भू+अण्+विभक्त्यादिः ।। ९ ।।

शब्दार्थः—अनतिक्रमणीयानि=अनुल्लङ्घनीय होते हैं, श्रेयांसि=कल्याण, मंगल। प्रथमः=उत्तम, कल्पः=पक्ष, विधि, विचार।।

टीका—राजेति। अनतिक्रमणीयानि=अतिक्रम्य गन्तुमनर्हाणि, श्रेयांसि= मङ्गलानि। प्रथमः=मुख्यः, कल्पः=पक्षो विधिर्वा ।।

टिप्पणी—अनतिक्रम०—कल्याणकारक मङ्गलप्रद व्यक्ति या वस्तु के मिलने पर प्रणाम तथा प्रदक्षिणा आदि करके ही आगे बढ़ना चाहिए। इस मर्यादा का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति सुख का भागी नहीं होता। अतः दुष्यन्त कश्यप मुनि को प्रणाम करके ही आगे बढ़ना चाहते हैं। ऐसा ही भाव रघुवंश (१।७९) में व्यक्त किया गया है :—'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।'

प्रदक्षिणी०—मिल जाने पर इन चीजों की प्रदक्षिणा करके ही आगे बढ़ना चाहिए—'मृदङ्गं दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्। प्रदक्षिणानि कुर्वीत विज्ञातांश्च वनस्पतीन् ।। (मनुस्मृति ४।३९) ।।

अन्वयः—अभूतलस्पर्शतया, रथाङ्गनेमयः, उपोढशब्दाः, न; रजः, च, प्रवर्तमानम्, न, दृश्यते; अनिरुद्धतः, तव, रथः, अवतीर्णः, अपि, न, लक्ष्यते ।। १० ।।

शब्दार्थः—अभूतलस्पर्शतया=भूतल का स्पर्श न होने के कारण, रथाङ्गनेमयः =पहियों के प्रान्तभागों ने, उपोढशब्दाः=शब्द को किया है, न=नहीं; रजः=धूलि, च=भी, प्रवर्तमानम्=उठती हुई, न=नहीं, दृश्यते=दिखलाई पड़ रही है, अनिरुद्धतः=हचक न लगने से, ऊपर नीचे न होने से, तव=आपका, रथः=रथ, अवतीर्णः—(भूतल पर) उतरा हुआ, अपि=भी, न=नहीं, लक्ष्यते=प्रतीत होता है ।। १० ।।

मातलिः—एतावानेव शतक्रतोरायुष्मतश्च विशेषः।

राजा—मातले, कतमस्मिन् प्रदेशे मारीचाश्रमः ?

मातलिः—(हस्तेन दर्शयन्)

वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा सन्दष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः॥११॥

टीका—उपोढेति। अभूतलस्पर्शतया—अविद्यमानः भूतलस्य = पृथिव्याः स्पर्शः = संसर्गः भूमिसम्पर्क इत्यर्थः यस्य तस्य भावेन भूमिस्पर्शाभावेनेत्यर्थः, त्रिष्वपि वाक्येषु हेतुत्वेनात्रेदं पदं हेतुत्वेन योज्यम्, रथाङ्गनेमयः—रथाङ्गस्य = चक्रस्य नेमयः = प्रधयः उपोढशब्दाः—उपोढः = कृतः शब्दः = स्वनं यैस्तथाविधाः, न = न सन्ति। रजः = धूलिः, च = अपि, प्रवर्तमानम्—नेम्युद्धतम्, न दृश्यते = नावलोक्यते। अनिरुद्धतः = उद्धाताभावात्, भूतलस्पर्शे सत्यनिरोधात्, तव = भवतः, रथः = स्यन्दनम्, अवतीर्णः = हैमकूट शिखरे संपतितः, अपि = च, न लक्ष्यते = न प्रतीयते। विशेषोक्तिः काव्यलिङ्गं चालङ्कारौ। वंशस्थं छन्दः॥ १०॥

टिप्पणी—अभूतलस्पर्शतया—इसका श्लोक के तीनों वाक्यों के साथ सम्बन्ध है। भूतल का स्पर्श न होने से पहिये और भूमि के संयोग से होने वाली खड़खड़ाहट नहीं हो रही है। धूलि नहीं उड़ रही है। रथ का भूतल पर उतरना नहीं मालूम पड़ रहा है। देवराज इन्द्र का रथ सर्वदा भूमि से एक-दो फुट ऊपर ही रहता था। अतः भूतल से उसके स्पर्श का प्रश्न ही नहीं उठता।

अनिरुद्ध०—इसका अर्थ—न रोकना, लगाम न खींचने के कारण—करने की अपेक्षा ऊपर दिया हुआ अर्थ अधिक ठीक है। पाठभेद—निरुद्धतिः = झटका न लगने के कारण—भी उक्त अर्थ का ही समर्थन करता है।

यहाँ रथ के उतरने पर भी शब्द आदि न होने से, कारण के रहने पर भी कार्य के न होने से, विशेषोक्ति अलङ्कार तथा पहले के वाक्य उतरना ज्ञात न होने के प्रति कारण हैं, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है—वंशस्थ। छन्द का लक्षण—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ॥' १०॥

व्युत्पत्तिः—उपोढ०—उप + √वह् + क्त + विभक्त्यादिः। अवतीर्णः—अव + √तॄ + क्त + विभक्त्यादिः॥ १०॥

शब्दार्थः—एतावान् = इतना, एव = ही, शतक्रतोः = इन्द्र से, आयुष्मतः = चिरञ्जीवी (आप) का, विशेषः = अन्तर है। कतमस्मिन् = किस, प्रदेशे = स्थान पर॥

टीका—मातलिरिति। एतावान् = इयान्, एवेति व्यतिरेकालंकारे, शतक्रतोः =

मातलि—इतना ही इन्द्र से आपका अन्तर है। अथवा—इतना ही इन्द्र के और आपके (रथ में) अन्तर है।

राजा—मातलि, मारीच (कश्यप) का आश्रम किस स्थान पर है ?

मातलि—(हाथ से दिखलाता हुआ)—

वल्मीक (बेमौट या दिमौट) से आधी ढकी शरीर वाले, लिपटी हुई साँप की केंचुल वाली छाती से युक्त (अर्थात् जिसकी छाती में साँप की केंचुल लिपटी हुई है ऐसे), प्राचीन लता–तन्तु–समूह से गले में (कसने के कारण) अत्यधिक पीडित, कन्धे तक फैले हुए, पक्षियों के घोंसलों से व्याप्त जटा-समूह को धारण करते हुए, ठूँठ की तरह निश्चल, यह मुनि जहाँ पर सूर्य-मण्डल को लक्ष्य बनाकर खड़े हैं (वहीं मारीच ऋषि का आश्रम है।) ॥ ११ ॥

शतमखस्येन्द्रस्य, आयुष्मतः = चिरञ्जीविनो भवतः, विशेषः=अन्तरम्। कतमस्मिन्= कस्मिन्, प्रदेशे =स्थाने ॥

अन्वयः—वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिः, सन्दष्टसर्पत्वचा, उरसा, (उपलक्षितः), जीर्ण-लताप्रतानवलयेन, कण्ठे, अत्यर्थसंपीडितः; अंसव्यापि, शकुन्तनीडनिचितम्, जटामण्डलम्, बिभ्रत्, स्थाणुः, इव, अचलः, असौ, मुनिः; यत्र, अर्कबिम्बम्, अभि, स्थितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिः=वल्मीक (बेमौट या दिमौट) से आधी ढकी शरीर वाले; सन्दष्टसर्पत्वचा=लिपटी हुई साँप की केंचुल वाली, उरसा=छाती से, (उपलक्षितः=युक्त); जीर्णलताप्रतानवलयेन=प्राचीन लता–तन्तु–समूह से, कण्ठे= गले में, अत्यर्थसंपीडितः=(कसने के कारण) अत्यधिक पीडित; अंसव्यापि=कन्धे तक फैले हुए, शकुन्तनीडनिचितम्=पक्षियों के घोंसलों से व्याप्त, जटामण्डलम्=जटा-समूह को, बिभ्रत्=धारण करते हुए, स्थाणुः=ठूँठ की, इव=तरह, अचलः=निश्चल, असौ= यह, मुनिः=मुनि, यत्र=जहाँ पर, अर्कबिम्बम् =सूर्यमण्डल को, अभि=लक्ष्य बनाकर, स्थितः=खड़े हैं ॥ ११ ॥

टीका—वल्मीकेति। वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिः—वल्मीके पिपीलिकाकृतपुञ्जे अर्धं निमग्ना=निविष्टा, मूर्तिः=शरीरम् यस्य सः, अनेनानेककालतपश्चरणमुक्तम्, सन्दष्टसर्प-त्वचा–सन्दष्टाः =संसक्ताः सर्पत्वचः=निर्मोकाः यत्र तेन, उरसा=वक्षसा, उपलक्षितः, अनेन सर्वजन्तुसाधारणत्वमुक्तम्; जीर्णलताप्रतानवलयेन—जीर्णानाम्=प्राचीनानां शुष्काणामित्यर्थः लताप्रतानानाम्=वल्लीतन्तूनाम् वलयेन=वेष्टनेन, 'कण्ठे जीर्ण'त्यनेन स्थूलत्वं बहुशाखत्वं ध्वनितम्। लताप्रतानं वल्लीसमूहः, स वलय इव कण्ठरोमाणीवेत्युप-मितसमासः। संपीडनस्य साधकत्वात्। 'वलयः कण्ठरोग्मि स्याद्वलयं कङ्कणेऽपि च' इति विश्वः। इति राघवभट्टाः। कण्ठे=गलप्रदेशे, अत्यर्थसंपीडितः—अत्यर्थम् =अत्य-धिकम् संपीडितः = सम्यक् जडित इत्यर्थः; अंसव्यापि—अंसयोः=स्कन्धयोः व्याप्नोतीति तदंसव्यापि, शकुन्तेति—शकुन्तानाम्=पक्षिणाम् नीडम्=स्थानम् तेन निचितम्=व्याप्तम्;

राजा—नमस्ते कष्टतपसे ।

मातलिः—(संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा) एतावदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः ।

राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम् । अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि ।

मातलिः—(रथं स्थापयित्वा) अवतरत्वायुष्मान् ।

राजा—(अवतीर्य) मातले, भवान् कथमिदानीम् ?

मातलिः—संयन्त्रितो मया रथः । वयमप्यवतरामः । (तथा कृत्वा) इत आयुष्मन् ! (परिक्रम्य) दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणां तपोवनभूमयः ।

जटामण्डलम्—जटानां मण्डलम्=वलयम् समूहमित्यर्थः, बिभ्रत्=दधानः; स्थाणुः=काण्डशेषो वृक्षः, इव=यथा, अचलः=निश्चलः । स्थाणुपक्षेऽपि विशेषणानि योज्यानि । उरसा मध्येन । कण्ठे उपकण्ठे, समीप इति यावत् । अंसः स्कन्धः । जटा प्ररोहरूपा। असौ=सः, मुनिः=ऋषिः, यत्र=यस्मिन् प्रदेशे, अर्कबिम्बम्=सूर्यमण्डलम्, अभिलक्ष्यीकृत्य, स्थितः=तिष्ठति । तत्र मारीचाश्रम इति वाक्यशेषः । परिकरः श्लेष उपमा चालंकाराः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ ११ ॥

टिप्पणीः—वल्मीकार्धः०—दीमक मिट्टी के जिस ढेर को लगा कर ऊंचा कर देते हैं उसे वल्मीक या बेमौट आदि नामों से कहते हैं । दीमक प्रायः सूखे वृक्ष या ठूठ पर इस प्रकार की मिट्टी (वल्मीक) चढ़ाते हैं । ऋषि को दीमकों ने निश्चल ठूठ समझ लिया है । यह मारीच के आश्रम के किसी अन्य ऋषि का वर्णन है ।

शकुन्त०—पक्षियों ने ऋषि-शरीर को सूखा वृक्ष तथा उनकी जटाओं को झाड़ी समझ कर घोंसला बनाया है ।

अभ्यर्क०—यहाँ 'अभिरभागे' (१।४।९१) से अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा तथा 'कर्मप्रवचनीय०' (२।३।८) से द्वितीया होती है । यदि 'अभ्यर्कबिम्बम्' मान लिया जाय तब 'लक्षणेनाभिप्रती०' (२।१।१४) से अव्ययीभाव समास होगा ।

इस श्लोक में आये मुनि के सारे विशेषण स्थाणु के भी विशेषण होंगे। यहाँ साभिप्राय विशेषणों के कारण परिकर । उरसा कण्ठे आदि श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग होने से श्लेष अलङ्कार है। प्रयुक्त छन्द शार्दूलविक्रीडित का लक्षण—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥' ११ ॥

व्युत्पत्तिः—निमग्न०—नि+√मस्ज+क्त+विभक्त्यादिः । जीर्ण—√जॄ+क्त+विभक्त्यादिः । निचितम्—नि+√चि+क्त+विभक्तिः ॥ ११ ॥

राजा—कठिन तपस्या करनेवाले (मुनि) को (मेरा) नमन है।

मातलि—(रथ की बागडोर खींचकर) अदिति के द्वारा बढ़ाए गये मन्दार-वृक्ष वाले, प्रजापति (कश्यप) के आश्रम में हम दोनों आ गये हैं।

राजा—(यह) स्वर्ग से भी अधिक सुखप्रद स्थान है। (यहाँ पर) मैं मानो अमृत के तालाब में डूबा हुआ हूँ।

मातलि—(रथ को स्थित करके) चिरञ्जीवी (आप) उतरें।

राजा—(उतरकर) मातलि, अब आप क्या करेंगे ?

मातलि—मैंने रथ में लाग (ओट) लगाकर इसे निश्चल बना दिया है। (अब) हम भी उतरते हैं। (वैसा करके) इधर से (चलें) आयुष्मान्। (चारों ओर घूमकर) पूज्य ऋषियों के तपोवन के स्थानों को देखिये।

शब्दार्थः—कष्टतपसे=कठिन तपस्या करनेवाले। संयतप्रग्रहम्—संयत=रोककर, खींचकर, प्रग्रह=लगाम। अदितिवरिर्वधितमन्दारवृक्षम्=अदिति के द्वारा बढ़ाए गये मन्दार-वृक्ष वाले। निर्वृतिस्थानम्=सुखप्रद स्थान। अवगाढः=डूबा हुआ, गोते लगा रहा॥

टीका—कष्टतपसे—कष्टम्=कठिनम् तपः=तपस्या यस्य तथोक्ताय। संयत-प्रग्रहम्—संयताः=नियमिताः प्रग्रहाः=रश्मिरज्जवो यत्र तत्, रथमित्यार्थम्। अदितिरिति—अदितिः=कश्यपपत्नी तया परिवर्धिताः=पालिताः मन्दारवृक्षाः यत्र तादृशम्। निर्वृतिस्थानम्=सुखस्थानम्। अवगाढः=कृतावगाहनः, निमज्जित इति यावत्॥

टिप्पणी—निर्वृति०—निर्वृति का अर्थ सुख तथा शान्ति दोनों ही होता है। यहाँ दोनों अर्थ किये जा सकते हैं।

अमृत०—व्यक्ति जब सुख-आनन्द की अवस्था में रहता है, प्रकृति उसके ऊपर अपना सर्वस्व समर्पित कर रही है, तो उसे प्रतीत होता है, मानो वह अमृत के तालाब में डुबकियाँ लगा रहा है।

संयन्त्रितः—गाड़ियों एवं रथ आदि को खड़ा कर पीछे की ओर दोनों पहियों में एक लकड़ी कस कर बाँध दी जाती है। इसे लाग या ओट कहते हैं। इसी प्रकार मातलि ने रथ को संयन्त्रित किया था।

व्युत्पत्तिः—निर्वृति०—निर्+√वृ+क्तिन्+विभक्तिः। अवगाढः√अव+√गाह्+क्त+विभक्तिः॥

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यत् कांक्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी॥१२॥

मातलिः—उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना। (परिक्रम्य। आकाशे) अये वृद्धशाकल्य, किमनुतिष्ठति भगवान् मारीचः? किं ब्रवीषि? दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति।

अन्वयः—(अत्र), सत्कल्पवृक्षे, वने, अनिलेन, प्राणानाम्, वृत्तिः, उचिता; काञ्चनपद्मरेणुकपिशे, तोये, धर्माभिषेकक्रिया, रत्नशिलातलेषु, ध्यानम्, विबुधस्त्रीसंनिधौ, संयमः; अन्यमुनयः, तपोभिः, यत्, कांक्षन्ति, तस्मिन्, अमी, तपस्यन्ति॥ १२॥

शब्दार्थः—(अत्र = यहाँ), सत्कल्पवृक्षे = विद्यमान हैं कल्पवृक्ष जिसमें ऐसे, वने = वन में, अनिलेन = वायु से अर्थात् वायु पीकर, प्राणानाम् = जीवन का, वृत्तिः = व्यापार, यापन, चलाना, उचिता = चलाया जाता है, किया जाता है; काञ्चनपद्मरेणुकपिशे = स्वर्ण-कमलों के पराग से पीले, तोये = जल में, धर्माभिषेकक्रिया = धार्मिक स्नान का कार्य (होता है); रत्नशिलातलेषु = रत्नों के शिलाखण्डों पर, ध्यानम् = ध्यान किया जाता है, विबुधस्त्रीसन्निधौ = देवाङ्गनाओं की सन्निधि में, संयमः = इन्द्रिय-निग्रह चलता है; अन्यमुनयः = दूसरे मुनि-जन, तपोभिः = तपश्चरणों से, यत् = जिन वस्तुओं की, कांक्षन्ति = अभिलाषा रखते हैं, तस्मिन् = उनमें, अमी = ये मुनिजन, तपस्यन्ति = तपस्या करते हैं॥ १२॥

टीका—प्राणानामिति। अत्रेत्यध्याहार्यम्, सत्कल्पवृक्षे—सन्तः = विद्यमानाः कल्पवृक्षाः तादृशे, वने = अरण्ये, अनिलेन = वायुना, वायुभक्षणेनेत्यर्थः, प्राणानाम् = जीवनानाम्, वृत्तिः = धारणक्रिया, उचिता = निर्वाहिता भवति। अत्र प्राणधारणक्रियाऽनिलेन भवति न तु अभीष्टप्रदकल्पवृक्षदत्तवस्तुनेति भावः। काञ्चनपद्मरेणुकपिशे—काञ्चपद्मानाम् = सुवर्णकमलानाम् रेणुभिः = परागैः, कपिशे = पिङ्गलवर्णे, तोये = जले, धर्माभिषेकक्रिया—धर्मार्थम् = पुण्यार्थम्, न तु भोगार्थम्, अभिषेकस्य = स्नानस्य क्रिया = कर्म भवति। रत्नशिलातलेषु = मणिमयपाषाणसद्मसु, ध्यानम् = समाध्यनुष्ठानं सम्पन्नं भवति। विबुधस्त्रीसन्निधौ—देवानाम् = सुराणाम् स्त्रियः = सुन्दर्यस्तासां सन्निधौ = समीपे, अप्सरसां समीपे इत्यर्थः, संयमः = इन्द्रियवशीकरणम्, अभ्यस्यते इति शेषः। अन्यसन्ति धावेव

राजा—वस्तुतः मैं (इसे) आश्चर्य से देख रहा हूँ।

(यहाँ) विद्यमान हैं कल्पवृक्ष जिसमें ऐसे वन में वायु पीकर जीवन-यापन किया जाता है। स्वर्ण-कमलों के पराग से पीले जल में धार्मिक स्नान का कार्य (होता है)। रत्नों के शिला-खण्डों पर ध्यान किया जाता है। देवाङ्गनाओं (अप्सराओं) की सन्निधि में इन्द्रिय-निग्रह चलता है। दूसरे मुनि-जन तपश्चरणों से जिन वस्तुओं की अभिलाषा रखते हैं, उनमें ये मुनिजन तपस्या करते हैं ॥१२॥

मातलि—बड़े लोगों की (अर्थात् महर्षियों की) इच्छा सर्वदा ऊर्ध्वगामिनी हुआ करती है। (चारों ओर घूमकर। आकाश में) हे वृद्ध शाकल्य पूज्य मारीच क्या कर रहे हैं? क्या कह रहे हो? कि दाक्षायणी (अदिति) ने पतिव्रता धर्म के विषय में उनसे पूछा था और वे महर्षि-पत्नियों के सहित उनसे उसके विषय में कह रहे हैं।

संयमो न सिध्यति, विशेषत; स्त्रीसन्निधौ, ततोऽपि देवस्त्रीसन्निधावित्यर्थः। अन्यमुनयः= अपरे भूयिष्ठास्तपस्विनः, तपोभिः=तपश्चरणैः, यत्=स्थानं स्वर्गादिकं वस्तु वा, कांक्षन्ति=वाञ्छन्ति, तस्मिन्=तादृशे स्थाने, अमी=एते, तपस्यन्ति=तपश्चरन्ति। 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' (पा० ३।१।१५) इति क्यङ्। विशेषोक्तिः काव्यलिङ्गं चालङ्कारौ। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ १२ ॥

टिप्पणी—यत्…तस्मिन्—मुनिजन तपस्या करते हैं। उनमें अधिक तपस्वी इसी अभिलाषा से तपस्या करते हैं कि (१) मुझे कल्पवृक्ष का सान्निध्य मिलता तो अपनी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करता, (२) अपने पास सुवर्ण की ढेर लगा लेता, (३) सुवर्ण-कमलों के मध्य विहार करता, (४) रत्नों की शिलाओं का समुच्चय अपने पास कर लेता, (५) मुझे अप्सरा मिल जाती तो मजा आ जाता आदि-आदि। किन्तु धन्य हैं ये मुनि-जन जो इन वस्तुओं को ठुकरा कर तपस्या कर रहे हैं।

इस श्लोक में कारणों के वर्तमान रहने पर भी कार्य न होने से मालारूप में विशेषोक्ति अलङ्कार है। चौथे चरण के प्रति पूर्व तीन चरण कारण हैं, अतः काव्यलिंग भी है। यहाँ प्रयुक्त छन्द शार्दूलविक्रीडित का लक्षण—

'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥'

व्युत्पत्तिः—वृत्तिः—√वृत्+क्तिन्+विभक्तिः। संयमः—सम्+यम्+अप्+विभक्तिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—उत्सर्पिणी—ऊपर की ओर जाने वाली, ऊर्ध्वगामिनी, प्रार्थना= इच्छा। धर्ममधिकृत्य=धर्म के विषय में।

टीका—मातलिरिति। उत्सर्पिणी=उपरि धावन्ती, उत्=ऊर्ध्वं सर्पणम्=धावनम् यस्याः सा तादृशी, प्रार्थना=इच्छा। धर्ममधिकृत्य=धर्ममवलम्ब्येत्यर्थः।

टिप्पणी—आकाशे—इसे आकाश भाषित कहते हैं। वृद्धशाकल्य—इसे ऋग्वेद

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये, प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः ।

मातलिः—(राजानमवलोक्य) अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान्, यावत्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि ।

राजा—यथा भवान् मन्यते । (इति स्थितः ।)

मातलिः—आयुष्मन्, साधयाम्यहम् । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा ।)

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा ।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ॥१३॥

(नेपथ्ये)

मा खलु चापलं कुरु । कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम् ?
[मा क्खु चावलं करेहि । कहं गदो एव्व अत्तणो पकिदिं ?]

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अभूमिरियमविनयस्य । को नु खल्वेष निषिध्यते ? (शब्दानुसारेणावलोक्य । सविस्मयम्) अये, को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्त्वो बालः ?

की शाकल शाखा को पढ़ानेवाला कहा गया है। पतिव्रता०—कालिदास ने यह सूचित करने के लिये इस प्रसंग को यहाँ रक्खा है कि शकुन्तला यहाँ आश्रम में में पतिव्रता के रूप में रह रही है॥

अन्वयः—मनोरथाय, न, आशंसे, हे बाहो, वृथा, किम्, स्पन्दसे; हि, पूर्वावधीरितम्, श्रेयः, दुखाय, परिवर्तते ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—इन्द्रगुरवे=इन्द्र के पिताजी से, मनोरथाय=अभीष्ट प्राप्ति की, न=नहीं, आशंसे=आशा करता हूँ; हे बाहो=हे बाहु, वृथा=व्यर्थ ही, किम्=क्यों, स्पन्दसे=फड़क रहे हो; हि=क्योंकि, निश्चय ही, पूर्वावधीरितम्=पहले तिरस्कृत किया गया, श्रेयः=कल्याण, दुःखाय=दुःख के लिये, दुःख के रूप में, परिवर्तते=बदल जाता है, बदलकर सामने आता है ॥ १३ ॥

टीका—इन्द्रगुरवे—इन्द्रस्य=देवराजस्य गुरवे=पित्रे । मनोरथायेति । मनोरथाय=शकुन्तलारूपाय स्वाभिलषिताय, न आशंसे=न आशां करोमि, मम तु मनोरथाशंसापि नास्ति, प्राप्तिस्तु दूरतो निरस्तेतिभावः । हे बाहो=हे मम दक्षिणभुज, वृथा=निरर्थकम्, किं स्पन्दसे=किमर्थं स्फुरसि ? हि=यतः, पूर्वावधीरितम्—पूर्वम् अवधीरितम्=तिरस्कृतम्, श्रेयः=कल्याणम्, दुःखाय=कष्टाय, दुःखं यथा स्यात्तथा, परिवर्तते=परिणमति । अत्रार्थान्तरन्यासोऽतिशयोक्तिश्चालङ्कारौ । अनुष्टुप्छन्दः ॥१३॥

राजा—(कान लगाकर) यह (पतिव्रता धर्म के कथन का) प्रसंग ऐसा है कि हमें उसकी (समाप्ति की) प्रतीक्षा करनी ही चाहिए।

मातलि—(राजा को देखकर) चिरञ्जीवी आप तब तक इस अशोक वृक्ष के नीचे ठहरें, जब तक मैं इन्द्र के पिता (मारीच) से आपके आने की सूचना देने के लिये अवसर ढूंढता हूँ।

राजा—जैसा आप उचित समझें (ऐसा कहकर बैठ गये)

मातलि—चिरञ्जीवी, कार्य सिद्ध करने के लिए मैं जाता हूँ। (ऐसा कहकर निकल गया)

राजा—(शकुन का, अर्थात् दाहिनी भुजा के फड़कने का, अभिनय करके)—

(मैं यहाँ शकुन्तलारूप) अभीष्ट-प्राप्ति की आशा नहीं करता हूँ। हे बाहु, (तो) व्यर्थ में क्यों फड़क रहे हो ? निश्चय ही पहले तिरस्कृत किया गया कल्याण दुःख के रूप में बदल जाता है ।। १३ ।।

(पर्दे के पीछे)

अरे, चंचलता मत करो। क्या अपने स्वभाव पर आ गया ? (अर्थात् क्या इसने चंचलता शुरू कर दी ?)

राजा—(कान लगाकर) यह स्थान उद्दण्डता का नहीं है। तो यह कौन रोका जा रहा है ? (जिधर से शब्द आया था उधर देखकर। आश्चर्यपूर्वक) अरे, दो तापसियों के द्वारा अनुगमन किया जाता हुआ, प्रौढोचित बल से सम्पन्न यह कौन बालक है ?

टिप्पणी—दुःखाय परिवर्तते—इसका तीन प्रकार से अर्थ किया जा सकता है—(१) पहले तिरस्कृत किया गया कल्याण दुःखरूप में ही लौटता है। (२) पूर्वतिरस्कृत कल्याण की वस्तु बड़े कष्ट से पुनः लौटती है। (३) मैंने पहले कल्याणकारी वस्तु शकुन्तला का तिरस्कार किया है, अतः अब चारों ओर से मुझे दुःख घेर रहा है।

उत्तरार्ध सामान्य से पूर्वार्ध विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है। मनोरथ के विषय शकुन्तला को मनोरथ कहने से अतिशयोक्ति अलङ्कार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—अनुष्टुप् ।। १३ ।।

व्युत्पत्तिः—वृथा—√वृ + थाल् + किच्च + विभक्त्यादिः।

अवधीरितम्—अव + √धीर् + क्त + विभक्त्यादिः ।। १३ ।।

शब्दार्थः—चापलम् = चंचलता। प्रकृतिम् = स्वभाव को। अविनयस्य = उद्दण्डता का। अनुबध्यमानः = अनुगमन किया जाता हुआ, पीछा किया जाता हुआ, अबालसत्त्वः = प्रौढोचित बल से सम्पन्न, असामान्य बल से युक्त ।।

टीका—नेपथ्य इति। चापलम् = चंचलताम्। प्रकृतिम् = स्वभावम्, स्वभावचापलं कृतवानेवेत्यर्थः। अविनयस्य = औद्धत्यस्य। अनुबध्यमानः = अनुगम्यमानः, अबालसत्त्वः—अबालस्येव = प्रौढस्येवेत्यर्थः सत्त्वम् = बलम् यस्य सः असामान्यबलसम्पन्न इत्यर्थः ।।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम् ।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति ॥१४॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्यां सह बालः ।)

बालः—जृम्भस्व सिंह, दन्तांस्ते गणयिष्ये [जिम्भ सिंघ, दन्ताइं दे गणइस्सं ।]

प्रथमा—अविनीत, किं नोऽपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि ? हन्त, वर्धते ते संरम्भः । स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि । [अविणीद, किं णो अपच्चणिव्विसेसाणि सत्ताणि विप्पअरेसि ? हन्त, वड्ढइ दे संरम्भो । ठाण क्खु इसिजणण सव्वदमणो त्ति किदणामहओ सि ।]

राजा—किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः ? नूनमनपत्यता मां वत्सलयति ।

द्वितीया—एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयति यद्यस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि । [एसा क्खु केसरिणी तुमं लंघेदि जइ से पुत्तणं ण मुंचेसि ।]

बालः—(सस्मितम्) अहो, बलीयः खलु भीतोऽस्मि । [अम्हह, बलिअं क्खु भीदो म्हि ।] (इत्यधरं दर्शयति ।)

टिप्पणी—अबालसत्त्वः—भरत अभी स्वल्प वय का बालक था। किन्तु उसमें साहस और बल कूट-कूट कर भरा था। वह ऐसे-ऐसे साहसिक कार्य करता था जिसे करने का साहस बालकों में संभव न था। उसका बल वयस्क व्यक्तियों का-सा था। यही है, उसका अबालसत्त्व होना। इसी तरह की बात बुद्धचरित (२—३३) में भी आई है :—बालोऽप्यबालप्रतिमो बभूव धृत्या च शौचेन धिया श्रिया च ॥

अन्वय :—मातुः, अर्धपीतस्तनम्, आमर्दक्लिष्टकेसरम्, सिंहशिशुम्, प्रक्रीडितुम्, बलात्कारेण, कर्षति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ :—मातुः=माँ के, अर्धपीतस्तनम्=स्तनों को आधा ही पिया हुआ, जिसने माता के स्तनों से आधा ही दूध पिया है ऐसे, आमर्दक्लिष्टकेसरम्=रगड़ से जिसके गले के बाल विगड़ गये हैं ऐसे, सिंहशिशुम्=सिंह के बच्चे को, प्रक्रीडितुम्=खेलने के लिये, बलात्कारेण=जबर्दस्ती, कर्षति=खींच रहा है ॥ १४ ॥

टीका—अर्धेति । मातुः=जनन्याः, अर्धपीतस्तनम्—अर्धम्=अपूर्णम् पीतः=पानं कृतः स्तनः येन तं तथोक्तम्, 'शिशुनान्यत्कर्षणमेव दुष्करम्, तत्रापि सिंहशिशुकर्षणम्, तत्राप्यन्यस्मात्, तत्रापि मातुः क्रोडात्, तत्रापि स्तनं धयन्तमिति सर्वोत्कर्षो व्यज्यते।' इति राघवभट्टः । आमर्दक्लिष्टकेसरम्—आमर्देन=आकर्षणेनावेगेन क्लिष्टाः=विसंस्थुलाः, विक्षिप्ता इत्यर्थः, केसराः=गलबालाः यस्य तं तादृशम्, सिंहशिशुम्—केसरिणः

जिसने माता के स्तनों से आधा ही दूध पिया है, रगड़ से जिसके गले के बाल बिगड़ गये हैं, ऐसे सिंह के बच्चे को खेलने के लिये जबर्दस्ती खींच रहा है ॥ १४॥

(तत्पश्चात् दो तपस्विनियों के साथ पूर्व निर्दिष्ट कार्य करता हुआ बालक प्रवेश करता है।)

बालक—सिंह, तूं जँभाई ले। मैं तुम्हारे दाँतों को गिनूंगा।

पहली तपस्विनी—धृष्ट, हमारे पुत्र-सदृश (इन) प्राणियों को क्यों परेशान कर रहे हो? खेद है कि तुम्हारा क्रोध बढ़ ही रहा है। ठीक ही ऋषि-जनों ने तुम्हारा नाम सर्वदमन रक्खा है।

राजा—यह क्या बात है कि इस बालक पर औरस पुत्र की तरह मेरा मन स्नेह कर रहा है? निश्चय ही निःसन्तानता मुझसे (इस प्रकार) स्नेह करा रही है।

दूसरी तपस्विनी—यह सिंहिनी अब अवश्य आक्रमण कर देगी, यदि तुम इसके प्यारे बच्चे को नहीं छोड़ोगे।

बालक—(मुस्कराकर) ओह, मैं अत्यन्त डर गया। (ऐसा कह कर अपना निचला होठ दिखलाता है)

शावकम्, प्रक्रीडितुम् = क्रीडां कर्तुम्, बलात्कारेण—बलात् = प्रसह्य, अव्ययमेतत्, यः कारः = कारणम् तेन, हठादित्यर्थः, कर्षति = आकर्षति। अत्र स्वभावोक्तिः उदात्तं चालङ्कारौ अनुष्टुप् छन्दः ॥ १४ ॥

टिप्पणी—कुमारसंभव (११-४४, ४५) में कुमार का वर्णन भी कुछ इसी प्रकार किया गया है:—गृह्णन् विषाणे हरवाहनस्य स्पृशन् उमाकेसरिणः सटालीः।' इत्यादि।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति तथा उदात्त अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है। छन्द के उदाहरण के लिये देखिये श्लोक १—५,६ आदि की टिप्पणी ॥ १४ ॥

व्युत्पत्तिः—पीत०—√पा+क्त+विभक्त्यादिः। क्लिष्ट०—√क्लिश्+क्त+विभक्त्यादिः। प्रक्रीडितुम्—प्र+√क्रीड्+तुमुन् ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—यथानिर्दिष्टकर्मा = पूर्व निर्दिष्ट कार्य करता हुआ। जृम्भस्व = जँभाई ले। अविनीत = धृष्ट, अपत्यनिर्विशेषाणि = पुत्रसदृश, सत्त्वानि=प्राणियों को, विप्ररोषि = परेशान कर रहे हो। संरम्भः=क्रोध ॥

टीका—ततः प्रविशतीति। यथानिर्दिष्टकर्मा—यथानिर्दिष्टम् = निर्देशानुरूपम् सिंहबालकाकर्षणरूपमित्यर्थः कर्म = कार्यम् यस्य सः। जृम्भस्व = मुखं विस्तारयेत्यर्थः। अविनीत = धृष्ट, अपत्यनिर्विशेषाणि—अपत्येभ्यः = सन्ततेः, निर्विशेषाणि = अभिन्नानि, सत्त्वानि = प्राणिनः, विप्रकरोषि = उत्पीडयसि। संरम्भः = क्रोधः ॥

टिप्पणी—नामधेयः—नामधेय का अर्थ है—नाम। नाम शब्द से स्वार्थ में धेय प्रत्यय होता है ॥

शब्दार्थः—औरसे = निजी, अपने से उत्पन्न। अनपत्यता = निःसन्तानता, वत्सलयति = स्नेह करा रही है। केसरिणी = सिंहिनी, लंघयति – आक्रमण करेगी। बलीयः = अत्यन्त ॥

राजा—

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे ।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः ॥१५॥

प्रथमा—वत्स, एनं बालमृगेन्द्रं मुञ्च । अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि । [वच्छ, एदं बालमिइन्दअं मुञ्च । अवरं दे कीलणअं दाइस्सं ।]

बालः—कुत्र ? देह्येतत् । [कहिं ? देहि णं ।]

(इति हस्तं प्रसारयति ।)

राजा—(बालस्य हस्तमवलोक्य) कथं चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते ? तथा ह्यस्य—

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो
विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः ।
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया
नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम् ॥१६॥

टीका—राजेति । औरसे—उरसः = हृदयात् जाते इव पुत्रे । अनपत्यता = सन्तानहीनता, वत्सलयति = वत्सलम् = सस्नेहम् करोति, तत्करोत्यर्थे णिच् । केसरिणी = सिंही, लंघयति = अभिभवति । बलीयः = अत्यर्थम् ॥

टिप्पणी—औरसे—पुत्र कई प्रकार के होते हैं। मनुस्मृति (९—१५९, १६०, १६६) में १२ प्रकार के पुत्रों का वर्णन किया गया है—औरस, क्षेत्रज तथा दत्त आदि। अपनी पत्नी में पति के द्वारा संसर्ग के परिणामस्वरूप जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे औरस कहते हैं ॥

व्युत्पत्तिः—औरसे—उरसः जातः—उरस् + अण् + विभक्तिः ।

पुत्रकः—पुत्रः + कन् + विभक्तिः ॥

अन्वयः—महतः, तेजसः, बीजम् अयम्, बालः, स्फुलिङ्गावस्थया, एधापेक्षः, स्थितः, वह्निः, इव, मे, प्रतिभाति ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—महतः = महान्, तेजसः = तेज का, बीजम् = बीजरूप, अयम् = यह, बालः = शिशु, स्फुलिङ्गावस्थया = चिनगारी की अवस्था में, एधापेक्षः = इन्धन की अपेक्षा करते हुए, स्थितः = विद्यमान, वह्निः = अग्नि की, इव = तरह, मे = मुझे, प्रतिभाति = प्रतीत हो रहा है ॥ १५ ॥

टीका—महत इति । महतः = प्रबलस्य, तेजसः = प्रतापस्य, बीजम् = कारणं निदानं वा, अयम् = पुरो वर्तमानः एषः, बालः = शिशुः, स्फुलिङ्गावस्थया—स्फुलिङ्गस्य

राजा—महान् तेज का बीजरूप यह शिशु, चिनगारी की अवस्था में इन्धन की अपेक्षा करते हुए विद्यमान अग्नि की तरह, मुझे प्रतीत हो रहा है ॥ १५ ॥

पहली तपस्विनी—बेटा, इस सिंहशावक को छोड़ दो। तुम्हें दूसरा खिलौना दूंगी।

बालक—कहाँ है ? दो वह मुझे। (ऐसा कहकर हाथ फैलाता है)

राजा—(बालक के हाथ को देखकर) क्या यह चक्रवर्ती राजा के लक्षण को भी धारण करता है ? जैसे कि इसका—

ललचाने वाली वस्तु के लिये प्रेम के कारण फैलाया गया, जाल की तरह गुँथी-गुँथी अँगुलियों से युक्त, इसका हाथ, समृद्ध लालिमा से सम्पन्न, नवागत उषा के द्वारा विकसित किये गये जिसकी पँखुड़ियों का मध्यभाग दिखलाई नहीं पड़ता ऐसे, अपूर्व कमल की भाँति, प्रतीत होता है ॥ १६ ॥

= अग्निकणस्य या अवस्था = रूपम् तया, एधापेक्षः—एधांसि = इन्धनानि अपेक्षते इति एधापेक्षः = इन्धनाकांक्षी, स्थितः = वर्तमानः, वह्निः = अग्निः, इव = यथा, मे = मम, प्रतिभाति = प्रतीयते। उपमालङ्कारः अनुष्टुप् छन्दः ॥ १५ ॥

टिप्पणी—तेजसो बीजम्—इससे यह बात समर्थित होती है कि—यह बालक आगे चलकर महान् प्रतापी होगा।

स्फुलिङ्ग०—आग की चिनगारी इन्धन की अपेक्षा रखती है। इन्धन मिलते ही वह महान् लपटों को फेंकती हुई असह्य हो जाती है। ठीक इसी प्रकार तेज का बीजभूत यह बालक भी भविष्य में यौवन का सहारा पाकर असह्य प्रतापी होगा।

एधापेक्षः—'एधस्' सान्त तथा 'एध' अकारान्त शब्द हैं। यहाँ अकारान्त शब्द का प्रयोग हुआ है।

यहाँ उपमा अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है ॥ १५ ॥

टिप्पणी—चक्रवर्ती राजा का हाथ अत्यन्त रक्त होता है। अँगुलियाँ गुँथी होती हैं। हथेली में धनुष-अङ्कुश-चक्र एवं कुण्डल का चिह्न होता है ॥

अन्वयः—प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः, जालग्रथिताङ्गुलिः, अस्य, करः, इद्धरागया, नवोषसा, भिन्नम्, अलक्ष्यपत्रान्तरम्, एकपङ्कजम्, इव, विभाति ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः = ललचाने वाली वस्तु के लिये प्रेम के कारण फैलाया गया, जालग्रथिताङ्गुलिः = जाल की तरह गुँथी-गुँथी अँगुलियों से युक्त, अस्य = इसका, करः = हाथ, इद्धरागया = बढ़ी हुई लालिमा से सम्पन्न, नवोषसा = नवीन उषाकाल के द्वारा, भिन्नम् = विकसित किया गया, अलक्ष्यपत्रान्तरम् = जिसकी पंखुड़ियों का मध्य भाग दिखलाई नहीं पड़ता ऐसे, एकपङ्कजम् = अपूर्व कमल की, इव = भाँति, विभाति = प्रतीत होता है ॥ १६ ॥

टीका—प्रलोभ्येति। प्रलोभ्यवस्त्विति—प्रलोभ्यम् = प्रलोभकारकम् यद्वस्तु

द्वितीया—सुव्रते, न शक्य एष वाचामात्रेण विरमयितुम्। गच्छ त्वम्। मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति। तमस्योपहर। [सुव्वदे, ण सक्को एसो वाआमेत्तेण विरमाविदुं। गच्छ तुमं। ममकेरए उडए मक्कंडेअस्स इसिकुमारअस्स वण्णचित्तिदो मित्तिआमोरओ चिट्ठदि। तं से उवहर।]

प्रथमा—तथा। [तह।] (इति निष्क्रान्ता।)

बालः—अनेनैव तावत् क्रीडिष्यामि। [इमिणा एव्व दाव कीलिस्सं।] (इति तापसीं विलोक्य हसति।)

राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥१७॥

तत्र यः प्रणयः = याञ्चा प्रीतिर्वा तेन प्रसारितः = अग्रे सारितः, इति स्वभावाख्यानम्, तेन विना दर्शनाभावात्, जालग्रथिताङ्गुलिः—जालवद्ग्रथिताः = संश्लिष्टाः अङ्गुलयो यस्य सः, अस्य = पुरोवर्तिनः एतस्य बालकस्य, करः = पाणिः करतलमिति यावत्, इद्धरागया—इद्धः = समृद्धः रागः = लौहित्यम् यस्यास्तया, नवोषसा = नवागतेन प्रातःकालेन, भिन्नम् = भेदं प्राप्तम्, न तु विकसितम्, अत एव अलक्ष्याणि = अदृश्यानि पत्राणाम् = पर्णानाम् अन्तराणि = संधिभागाः यस्य तत्, एकपंकजम्—एकम् = मुख्यम्, पंकजम् = पद्मम्, इव = यथा, विभाति = शोभते। काव्यलिङ्गमुपमा चालङ्कारौ। वंशस्थं छन्दः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—एकपङ्कजम्—यहाँ एक शब्द अद्वितीय या अपूर्व अर्थ को बतलाता है। इस प्रकार उसका हाथ अपूर्व कमल की भाँति सुन्दर था।

इस श्लोक में काव्यलिंग तथा उपमा अलंकार एवं वंशस्थ छन्द है। छन्द का लक्षण:—

'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ॥ १६ ॥

व्युत्पत्तिः—प्रलोभ्य—प्र+√लुभ्+यत्। प्रसारितः—प्र+√सृ+णिच्+क्त+विभक्त्यादिः। ग्रथित०—√ग्रन्थ+क्त+नलोपः+विभक्त्यादिः। भिन्नम्—√भिद्+क्त, तस्य नकारः+विभक्त्यादिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—वाचामात्रेण = वचन मात्र से, कहने भर से। उटजे = कुटिया में,

दूसरी तपस्विनी—सुव्रता, कहने भर से इसे शान्त नहीं कराया जा सकता। जाओ तुम। मेरी कुटिया में ऋषिकुमार मार्कण्डेय का रंगों से चित्रित मिट्टी का मोर रक्खा हुआ है। उसे लाकर इसे दो।

पहली—ठीक है। (ऐसा कहकर निकल गई)

बालक—इसी से तब तक खेलूँगा। (ऐसा कहकर तपस्विनी को देखकर हँसता है)

राजा—वस्तुतः इस हठीले बालक (को प्यार करने) के लिये मैं ललक रहा हूँ।

बिना कारण की हँसी से कुछ-कुछ जिनका दाँतरूपी अंकुर दिखलाई पड़ रहा है, अस्पष्ट वर्णों के उच्चरण से (अर्थात् तोतली बोली से) जिनका बोलना मनोहर लगता है, जो गोद में चढ़ने की अभिलाषा करते हैं ऐसे पुत्रों को (गोद में) लिये हुए भाग्यशाली व्यक्ति ही उन (बच्चों) के अङ्गों में लगी धूल से मलिन होते हैं ॥ १७ ॥

वर्णचित्रितः = रंगों से चित्रित, मृत्तिकामयूरः = मिट्टी का मोर। दुर्ललिताय = कठिनता से प्रसन्न किये जा सकने वाले, दुलारे, हठीले ॥

टीका—द्वितीयेति। वाचामात्रेण = केवलेन वचसेत्यर्थः। उटजे = कुटीरे, वर्णचित्रितः—वर्णैः = विविधैः रङ्गैः चित्रितः = आलेपितः, मृत्तिकामयूरः—मृत्तिकया = मृदा निर्मितः = रचितः मयूरः, (शाकपार्थिवादिः)। दुर्ललिताय—ललितम् = विलासः दुष्टं ललितं यस्य तस्मै ॥

टिप्पणी—मृत्तिकामयूरः—इससे प्रतीत होता है कि कालिदास के समय में मिट्टी के खिलौने अधिक प्रचलित थे। विक्रमोर्वशीय (५—१३) में आयु भी मोर माँगता है ॥

अन्वयः—अनिमित्तहासैः, आलक्ष्यदन्तमुकुलान्, अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्, अङ्काश्रयप्रणयिनः, तनयान्, वहन्तः, धन्याः, तदङ्गरजसा, मलिनीभवन्ति ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—अनिमित्तहासैः = बिना कारण की हँसी से, आलक्ष्यदन्तमुकुलान् = कुछ-कुछ जिनका दाँतरूपी अंकुर दिखलाई पड़ रहा है, अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् = अस्पष्ट वर्णों के उच्चारण से (अर्थात् तोतली बोली से) जिनका बोलना मनोहर लगता है, अङ्काश्रयप्रणयिनः = जो गोद में चढ़ने की अभिलाषा करते हैं ऐसे, तनयान् = पुत्रों को, वहन्तः = लिये हुए, धन्याः = भाग्यशाली व्यक्ति, तदङ्गरजसा = उनके (बच्चों) के अङ्गों में लगी धूल से, मलिनीभवन्ति - मलिन होते हैं ॥ १७ ॥

टीका—आलक्ष्येति। अनिमित्तहासैः—अनिमित्ताः = अकारणाः ये हासाः = हसनानि तैः कारणैः, आलक्ष्येति—आ = ईषत् लक्ष्याः = दृश्याः दन्तमुकुलाः = दन्तकुड्मलानि येषां ते तान्, अव्यक्तेत्यादिः—अव्यक्ताः = अस्पष्टाः = वर्णाः = अक्षराणि यासु ताः अत एव रमणीया = मनोहराः वचसां प्रवृत्तयः = वाग्व्यापाराः येषां तानिति।

तापसी——भवतु। न मामयं गणयति। (पार्श्वमवलोक्य) कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम्? (राजानमवलोक्य) भद्रमुख, एहि तावत्। मोचयानेन दुर्मोचहस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम्। [होदु। ण मं अअं गणेदि। को एत्थ इसिकुमाराणं? भद्दमुह, एहि दाव। मोएहि इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेण डिम्भलीलाए बाहीअमाणं बालमिइन्दअं।]

राजा——(उपगम्य। सस्मितम्) अयि भो महर्षिपुत्र,

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना
संयमः किमिति जन्मतस्त्वया।
सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते
कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः ॥१८॥

बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः, अङ्काश्रयेति——अङ्के = क्रोडे य आश्रयः = स्थितिस्तत्र प्रणयः = याञ्चा प्रीतिर्वा येषां तान्, तनयान् = पुत्रान्, वहन्तः = धारयन्तः, धन्याः = सौभाग्यशालिनो जनाः, तदङ्गरजसा——तेषाम् = बालानामित्यर्थः, अङ्गानाम् = अवयवानाम् रजसा = धूल्या, जातावेकवचनम्, मलिनीभवन्ति——अमलिना मलिना भवन्तीति मलिनीभवन्ति = कलुषीभवन्ति। स्वभावोक्तिरप्रस्तुतप्रशंसा चालङ्कारौ। वसन्ततिलका छन्दः ॥ १७ ॥

टिप्पणी——इस श्लोक का भाव सभी सरलता से समझ सकते हैं। क्योंकि सबके घर में या पास-पड़ोस में प्यारे-प्यारे बच्चे होते ही हैं।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है——वसन्ततिलका। छन्द का लक्षण——

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥' १७ ॥

व्युत्पत्तिः——आलक्ष्य०——आ + √लक्ष् + ण्यत् + विभक्त्यादिः। प्रणयिनः——प्रणय + इनिः + विभक्त्यादिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थः——दुर्मोचहस्तग्रहेण = जिसके हाथ की पकड़ कठिनता से छुड़ाई जा सकती है ऐसे, डिम्भलीलया = बाल-क्रीडा के द्वारा, बालमृगेन्द्रम् = सिंहशावक को ॥

टीका——तापसीति। दुर्मोचहस्तग्रहेण——दुःखेन = कष्टेन मुञ्चति एतम् इति दुर्मोचः, हस्तेन ग्रहः हस्तग्रहः, दुर्मोचः हस्तग्रहः यस्य तेन तादृशेन, डिम्भलीलया——डिम्भस्य = बालकस्य लीलया = क्रीडया, बालमृगेन्द्रम् = सिंहशिशुम् ॥

व्युत्पत्तिः——दुर्मोच०——दुर् + √मुच् + खल् (अ) + विभक्त्यादिः। हस्तग्रहः——हस्त + √ग्रह + अप् + विभक्त्यादिः ॥

अन्वयः——एवम्, आश्रमविरुद्धवृत्तिना, त्वया, जन्मतः, सत्त्वसंश्रयसुखः, अपि, संयमः, कृष्णसर्पशिशुना, चन्दनः, इव, किमिति, दूष्यते ॥ १८ ॥

तपस्विनी—अच्छा, यह मुझे कुछ नहीं समझ रहा है। (अगल-बगल देखकर) यहाँ कौन ऋषि-कुमार है ? (राजा को देखकर) भलेमानस, जरा इधर आइए। बाल-क्रीडा के द्वारा परेशान किये जाते हुए इस सिंहशावक को, जिसके हाथ की पकड़ कठिनता से छुड़ाई जा सकती है, ऐसे इस (बालक) से छुड़ाइए।

राजा—(पास में जाकर मुस्कराकर) हे महर्षिपुत्र !

इस प्रकार आश्रम के विपरीत आचरण से तुम्हारे द्वारा जन्मकाल से ही जीवों को आश्रय देने के कारण सुखप्रद भी (अहिंसा-आदि) संयम, काले साँप के बच्चे के द्वारा चन्दनवृक्ष की तरह, क्यों दूषित किया जा रहा है ? ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—एवम् = इस प्रकार, आश्रमविरुद्धवृत्तिना = आश्रम के विपरीत आचरण से, त्वया = तुम्हारे द्वारा, जन्मतः = जन्मकाल से ही, सत्त्वसंश्रयसुखः = जीवों को आश्रय देने के कारण सुखप्रद, अपि = भी, संयमः = संयम, कृष्णसर्पशिशुना = काले साँप के बच्चे के द्वारा, चन्दनः = चन्दन वृक्ष की, इव = तरह, किमिति = क्यों, दूष्यते = दूषित किया जा रहा है ॥ १८ ॥

टीका—एवमिति । एवम् = इत्थम्, आश्रमविरुद्धवृत्तिना—आश्रमस्य = तपोवनस्य विरुद्धा = विपरीता वृत्तिः = वर्तनम्, व्यवहार इति यावत्, यस्य तेन तादृशेन, त्वया जन्मतः = जन्मारभ्य, बाल्यकालादेवेत्यर्थः, सत्त्वसंश्रयसुखः—सत्त्वानाम् = प्राणिनाम् संश्रयः = सम्यग् रक्षणम् तेन सुखयतीति सुखः = सुखकरः, तथाविधोऽपि, संयमः = सम्यग्यमोऽहिंसादिः, कृष्णसर्पशिशुना—कृष्णश्चासौ सर्पः = अहिस्तस्य शिशुना, चन्दनः = तदाख्यो वृक्षः, इव = यथा, किमिति = कस्मात्। दूष्यते = कलुषीक्रियते। कृष्णसर्पशिशुना यथा चन्दनं दूष्यते तथेत्यर्थः। 'अत्रापि सामान्यधर्मस्योभयत्र यथास्थितत्वेनान्वयान्न विलिङ्गत्वं दोषः। अथवा 'चन्दनोऽस्त्रियाम्' इति कोशाच्चन्दन इति पठनीयम्। तदा सत्त्वसंश्रयसुख इति विशेषणमपि योज्यम्। आश्रमेत्यादिविशिष्टस्यैवोपमेयत्वान्न न्यूनोपमात्वम्। उपमालंकारः। रथोद्धता वृत्तम् ॥ १८ ॥

टिप्पणी—सत्त्वसंश्रयसुखः—इसका अन्वय संयम तथा चन्दन दोनों के साथ किया जा सकता है। दोनों ही प्राणियों को आश्रय देते हैं। इसका एक दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—सत्त्व अर्थात् सात्विक गुण के आश्रय होने के कारण सुखदायक संयम।

चन्दनः—कहीं-कहीं 'चन्दनम्' 'यह पाठभेद स्वीकार किया गया है। किन्तु' संयमः, के पुंलिङ्ग होने के कारण 'चन्दनः' यह पुंलिङ्ग पाठ ही समीचीन है।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा रथोद्धता छन्द है। छन्द का लक्षणः—'रान्नराविह रथोद्धता लगौ ॥' १८॥

व्युत्पत्ति :—विरुद्ध०—वि + √रुध् + विभक्त्यादिः । संयमः—सम् + √यम् + अप् + विभक्तिः । संश्रय०—सम्√श्रि + अच् + विभक्तयादिः ॥ १८ ॥

तापसी—भद्रमुख, न खल्वयमृषिकुमारः। [भद्दमुह, ण वखु अअं इसिकुमारओ।]

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति। स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवंतर्किणः। (यथाभ्यर्थितमनुतिष्ठन् बालस्पर्शमुपलभ्य। आत्मगतम्)

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्
यस्यायमङ्कात् कृतिनः प्ररूढः॥१९॥

तापसी—(उभौ निर्वर्ण्य) आश्चर्यमाश्चर्यम्। [अच्छरिअं अच्छरिअं।]

राजा—आर्ये, किमिव?

तापसी—अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरिति विस्मिताऽस्मि। अपरिचितस्यापि तेऽप्रतिलोमः संवृत्त इति। [इमस्स बालअस्स दे वि संवादिणी आकिदी त्ति विम्हिदम्हि। अपरिइदस्स वि दे अप्पडिलोमो संवुत्तो त्ति।]

राजा—(बालकमुपलालयन्) न चेन्मुनिकुमारोऽयम्, अथ

शब्दार्थः—भद्रमुख = भलेमुँह वाले, भलेमानस। आकारसदृशम् = स्वरूप के सदृश, चेष्टितम् = व्यवहार, चेष्टा। स्थानप्रत्ययात् = स्थान के विश्वास के कारण॥

टीका—तापसीति। भद्रमुख = शुभानन। आकारसदृशम्—आकारेण आकारस्य वा सदृशम् = अनुरूपम्, चेष्टितम् = व्यवहारः कर्म वा। आकारश्चेष्टितञ्चेत्यर्थः। स्थानप्रत्ययात् = स्थानविश्वासात्। आश्रमे ऋषिकुमारस्यैव संभवादिति प्रत्ययात्।

टिप्पणी—भद्रमुख—भले मुखवाले। किसी भी सभ्य व्यक्ति को सम्बोधित करने का यह एक शालीन पद्धति और शब्द था।

स्थानप्रत्ययात्—यह आश्रम है। यहाँ ऋषियों का निवास है। अतः यह भी ऋषि-पुत्र ही होगा। इसी विश्वास के कारण मैंने इसे ऋषि-पुत्र कहा है।

अन्वयः—कस्यापि, कुलाङ्कुरेण, अनेन, स्पृष्टस्य, मम, गात्रेषु, एवम्, सुखम्, (जायते, तर्हि), यस्य, कृतिनः, अङ्कात्, अयम्, प्ररूढः, तस्य, चेतसि, काम्, निर्वृतिम्, कुर्यात्॥ १९॥

तपस्विनी—भले मानस, यह ऋषिपुत्र नहीं है।

राजा—स्वरूप के सदृश इसका व्यवहार ही यह बतला रहा है कि (यह ऋषि-पुत्र नहीं है)। किन्तु (आश्रमरूपी) स्थान के विश्वास के कारण हमने ऐसा अनुमान किया था। (तपस्विनी की पूर्व प्रार्थना के अनुसार कार्य करते हुए बालक के स्पर्श को पाकर। अपने आप)

किसी भी कुल के अङ्कुर रूप इस बालक के द्वारा स्पर्श किये गये मेरे अङ्गों में (यदि) ऐसी आनन्दानुभूति (हो रही है तो) जिस सौभाग्यशाली की गोद से यह उत्पन्न हुआ है, उसके चित्त में कैसी सुखानुभूति को करता होगा ?॥ १९॥

तपस्विनी—(दोनों को ध्यान से देखकर आश्चर्य है, आश्चर्य है।)

राजा—आदरणीया, वह क्या है (जिससे आपको आश्चर्य हो रहा है) ?

तापसी—इस बालक का तथा आपका आकार मिलता-जुलता है, इसलिए मैं आश्चर्य-चकित हूँ। अपरिचित भी आपके अनुकूल हो गया है (यह) इसलिये भी आश्चर्य हो रहा है (इति)

राजा—(बालक को दुलारते हुए) यदि यह मुनि कुमार नहीं है तो इसका

शब्दार्थः—कस्यापि = किसी भी, कुलाङ्कुरेण = कुल के अङ्कुर रूप, अनेन = इस बालक के द्वारा, स्पृष्टस्य = स्पर्श किये गये, मम = मेरे, गात्रेषु = अंगों में, एवम् = ऐसी, सुखम् = आनन्दानुभूति, (जायते = हो रही है, तर्हि = तो), यस्य = जिस, कृतिनः = सौभाग्यशाली की, अङ्कात् = गोद से, अयम् = यह, प्ररूढः = उत्पन्न हुआ है, तस्य = उसके, चेतसि = चित्त में, काम् = कैसी, निर्वृतिम् = सुखानुभूति को, कुर्यात् = करता होगा ॥ १९ ॥

टीका—अनेनेति। कस्यापि = अज्ञायमानस्याथवा वाचा वर्णयितुमशक्यस्य, कुलाङ्कुरेण—कुलस्य = वंशस्य अंकुरेण = वंशसन्तानबीजेन, अनेन = एतेन बालेन, स्पृष्टस्य = आमृष्टस्य, मम = राज्ञो दुष्यन्तस्येत्यर्थः, गात्रेषु = शरीरावयवेषु, एवम् = वक्तुमशक्यमनुभवैकगम्यं विगलितवेद्यान्तरमित्यर्थः, सुखम् = आनन्दानुभूतिः, जायते तर्हीति शेषः, यस्य कृतिनः = धन्यस्य, सौभाग्यशालिनः, अङ्कात् = उत्सङ्गात्, अयं प्ररूढः = संजातः वृद्धिं प्राप्तो वा, तस्य चेतसि = हृदये, काम् = कीदृशीम्, अवाङ्मनसगोचरामित्यर्थः, निर्वृतिम् = सुखम्, कुर्यात् = विदध्यात्। इति न ज्ञायते इति भावः। अर्थापत्तिः रूपकं चालङ्कारौ। उपजातिवृत्तम् ॥ १९ ॥

टिप्पणी— कृतिनः—राजा पुत्रहीन है। उसका वंश प्रायः लुप्त होने वाला है। वह अपने आपको अभागा समझता है। उसकी दृष्टि में वे लोग सौभाग्यशाली हैं, जिनकी गोद में पुत्ररत्न लोटा करते हैं।

यहाँ कुलाङ्कुर में रूपक अलङ्कार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—उपजाति। लक्षण के लिये देखिये—२-७; ५-५ की टिप्पणी ॥ १९ ॥

व्युत्पत्तिः—स्पृष्टस्य—√स्पृश् + क्त + विभक्त्यादिः। निर्वृतिम्—√निर् + √वृ + क्तिन् + विभक्तिः। प्ररूढः—प्र + √रुह् + क्त + विभक्त्यादिः ॥ १९ ॥

कोऽस्य व्यपदेशः ?

तापसी—पुरुवंशः। [पुरुवंसो।]

राजा—(आत्मगतम्) कथमेकान्वयो मम ? अतः खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते। अस्त्येतत् पौरवाणामन्त्यं कुलव्रतम्।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं
क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात्
तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥२०॥

(प्रकाशम्) न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः।

तापसी—यथा भद्रमुखो भणति। अप्सरःसंबन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता। [जह भद्दमुहो भणादि। अच्छरासंबन्धेण इमस्स जणणी एत्थ देवगुरुणो तवोवणे प्पसूदा।]

राजा—(अपवार्य) हन्त, द्वितीयमिदमाशाजननम्। (प्रकाशम्) अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?

अन्वयः—ये, पूर्वम्, क्षितिरक्षार्थम्, रसाधिकेषु, भवनेषु, निवासम्, उशन्ति; पश्चात्, तेषाम्, नियतैकयतिव्रतानि, तरुमूलानि, गृहीभवन्ति ॥ २० ॥

शब्दार्थः—ये = जो, पूर्वम् = पहले (जवानी में), क्षितिरक्षार्थम् = पृथिवी की रक्षा के लिये, रसाधिकेषु = भोगों से परिपूर्ण, भवनेषु = भवनों में, निवासम् = निवास, उशन्ति = चाहते हैं; पश्चात् = बाद में (वृद्धावस्था में), तेषाम् = उनका, नियतैकयतिव्रतानि = नियमितरूप से पावन वानप्रस्थ का जीवन जिनके नीचे बिताते हैं ऐसे, तरुमूलानि = वृक्षों की जड़ें, गृहीभवन्ति = घर हो जाते हैं ॥ २० ॥

टीका—भवनेष्विति। ये = पौरवाः नृपाः, पूर्वम् = यौवने, क्षितिरक्षार्थम् = पृथिवीरक्षणाय, रसाधिकेषु—रसः = रागः शृङ्गारादिश्च मधुरादिश्चास्वादश्च एते अधिकाः = पर्याप्ताः येषु तथाविधेषु, रसैः = भोगैः अधिकेषु = आढ्येषु वा, भवनेषु = प्रासादेषु, निवासम् = स्थितिम्, उशन्ति = वाञ्छन्ति, 'वश् कान्तौ' इति धातुः, कान्तिरिच्छेति क्षीरतरङ्गिणीकारः, पश्चात् = वार्धक्ये, तेषाम् = पौरवाणां राज्ञाम्, नियतैकयतिव्रतानि—नियतम् = व्यवस्थितम् एकम् = पावनम्, ('एकं पावनकेवलयोः' इति कोशः), यतिव्रतम् = वानप्रस्थव्रतम् येषु तथाविधानि तरुमूलानि—तरूणाम् = वृक्षाणाम् मूलानि = तलानि, गृहीभवन्ति = गृहाणि सम्पद्यन्ते। नियतैकपतिव्रतानीति पाठे तु नियता = नियमयुक्ता तपःसन्तोषादियुता एका = केवला पतिव्रता = धर्मपत्नी येषु तानि। एतेन तत्पुत्रजन्मादिसंभावनापाकृता। परिणामोऽलङ्कारः। मालभारिणी छन्दः ॥ २० ॥

टिप्पणी—नियतैक०—'चौथे पन नृप कानन जाहीं' का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति

वंश (व्यपदेश) क्या है ?

तपस्विनी—पुरुवंश ।

राजा—(अपने आप) क्या मेरा सगोत्र (एकवंशवाला) है ? यही कारण है कि यह पूज्या तपस्विनी इसे मेरे समान आकारवाला मान रही है। पुरुवंशियों का यह अन्तिम कुल-व्रत (भी) है कि—

जो पहले (जवानी में) पृथिवी की रक्षा के लिये भोगों से परिपूर्ण भवनों में निवास करना चाहते हैं, बाद में (अर्थात् वृद्धावस्था में) उनका, नियमित रूप से पावन वानप्रस्थ का जीवन जिनके नीचे बिताते हैं ऐसे वृक्षों की जड़ें घर हो जाते हैं ॥ २० ॥

(प्रकट रूप से) यह स्थान मनुष्यों की अपनी स्वाभाविक गति का विषय नहीं है (अर्थात् मानव अपनी स्वाभाविक चाल या शक्ति से यहाँ नहीं पहुँच सकता है)।

तपस्विनी—जैसा भलेमानस आप कह रहे हैं, ठीक है। अप्सरा (मेनका) से सम्बन्ध होने के कारण इसकी माँ ने यहाँ देवपिता (कश्यप) के आश्रम में इसको पैदा किया।

राजा—(मुँह को दूसरी ओर फेरकर तथा हाथ से आड़कर) वाह, यह दूसरी आशाजनक बात है। (प्रकट रूप से) अच्छा, आदरणीया वह (इसकी माँ) किस राजर्षि की अर्द्धाङ्गिनी हैं ?

का मूल रहा है। राजा लोग जङ्गल में जाकर एक यति का व्रत लेकर वृक्ष के नीचे तपस्या करके जीवन को चरितार्थ करने की कामना करते थे। यहाँ यति का अर्थ वानप्रस्थ आश्रम है।

इसमें परिणाम अलङ्कार तथा मालभारिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—'विषमे ससजा गुरू समे चेत्सभरा येन तु मालभारणीयम् ॥' २० ॥

व्युत्पत्तिः—निवासम्—नि+√वस्+घञ्+विभक्त्यादिः ॥ २० ॥

शब्दार्थः—आत्मगत्या = अपनी स्वाभाविक शक्ति से, मनुष्यस्वरूप से, एषः = यह स्थान, विषयः = गन्तव्य प्रदेश। देवगुरोः = देवों के पिता कश्यप के, प्रसूता = बच्चे को पैदा की। हन्त = यह प्रसन्नता का सूचक अव्यय है। आशाजननम् = आशाजनक। किमाख्यस्य = किस नामवाले ॥

टीका—प्रकाशमिति। आत्मगत्या = स्वभावगत्या, मानवस्वरूपेणेति यावत्, अथवा आत्मगत्या पादचारेणेति यावत्, विमानं विना नात्रागन्तुं शक्यते इति भावः। एषः = स्थानमिदम्, विषयः = विचरणस्थलमिति यावत्। देवगुरोः = देवजनकस्य कश्यपस्य, प्रसूता = अस्य जननं कृतवती। हन्तेति हर्षे। आशाजननम्—आशायाः जननम् = हेतुः। किमाख्यस्य—का आख्या = नाम यस्य तस्य।

टिप्पणी—द्वितीयमाशाजननम्—राजा के लिये प्रथम आशाजनक बात यह थी कि वह बालक पुरुवंश से सम्बन्ध रखने वाला था। दूसरी आशाजनक बात यह है कि

तापसी—कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम संकीर्तयितुं चिन्तयिष्यति ? [को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम संकीतिदुं चिन्तिस्सदि ?]

राजा—(स्वगतम्) इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति। यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि। अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः।

(प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता)

तापसी—सर्वदमन, शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व। [सव्वदमण, सउन्दलावण्णं पेक्ख।]

बालः—(सदृष्टिक्षेपम्) कुत्र वा मम माता ? [कहिं वा मे अज्जू ?]

उभे—नामसादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः। [णामसारिस्सेण वंचिदो माउवच्छलो।]

द्वितीया—वत्स, अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि। [वच्छ, इमस्स मित्तिआमोरअस्स रम्मत्तणं देक्ख त्ति भणिदो सि।]

राजा—(आत्मगतम्) किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या। सन्ति पुनर्नामधेयसादृश्यानि। अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते।

इसकी माँ अप्सरा से सम्बद्ध है। दुष्यन्त यह जानते ही थे कि शकुन्तला मेनका अप्सरा की बेटी है। अतः कहानी उसे अपनी ओर बढ़ती प्रतीत हो रही है।

शब्दार्थः—धर्मदारपरित्यागिनः = धर्मपत्नी का परित्याग करने वाले। अनार्यः = अनुचित, अशिष्टता, परदारव्यवहारः = दूसरे की स्त्री के विषय में पूछ-ताछ। शकुन्तलावण्यम् = पक्षी के सौन्दर्य को॥

टीका—तापसीति। धर्मदारपरित्यागिनः—धर्मार्था=धर्मप्रयोजना धर्मसहाया वा दाराः=पत्नीः, शाकपार्थिवादिः, यद्वा धर्मस्य दाराः, तादर्थ्ये षष्ठीसमासः, तान् यः साधु

तपस्विनी—धर्मपत्नी का परित्याग करने वाले उस व्यक्ति का नाम लेने का विचार कौन करेगा ?

राजा—(अपने आप) यह कथा तो मुझे ही लक्ष्य बना रही है। तो अब इस बालक की माता का नाम पूछता हूँ। अथवा दूसरे की स्त्री के विषय में पूछ-ताछ अनुचित है।

(मिट्टी का मोर हाथ में ली हुई तपस्विनी का प्रवेश)

तपस्विनी—सर्वदमन, इस शकुन्त (पक्षी) के लावण्य (सौन्दर्य) को देखो।

बालक—(इधर-उधर आँख फिराकर) कहाँ है मेरी माँ ?

दोनों—नाम की समानता के कारण बेचारा मातृभक्त ठगा गया है।

दूसरी तपस्विनी—बेटा, इस मिट्टी के मोर की रमणीयता को देखो—यह कहे गये हो।

राजा—(अपने आप) क्या शकुन्तला इसकी माँ का नाम है ? किन्तु नामों की समानता तो बहुत मिलती है। क्या मृगतृष्णा की तरह (शकुन्तला) नाम का आ जाना मेरे दुःख के लिये है ?

परित्यक्तवान् (इति घिनुण्) तस्य। अनार्यः = अभद्रः, अनुचित इत्यर्थः, परदारव्यवहारः—परस्य दाराणां व्यवहारः = आलोचना, तत्सम्बन्धिनी कथा, परस्त्रीप्रश्नप्रसङ्गः। शकुन्तलावण्यम्—शकुन्तस्य = पक्षिणो मयूरस्य लावण्यम् = सौन्दर्यम् ॥

टिप्पणी—धर्मदारत्यागिनः—धर्मपत्नी का परित्याग अधर्म माना गया है। अधार्मिक व्यक्ति का नाम लेने से भी पाप लगता है। अतः तापसी कह रही है कि धर्मपत्नी के त्याग रूप पाप को करने वाले उस व्यक्ति का नाम कौन लेगा ?

शकुन्तलावण्यम्—इस पद में शकुन्तला शब्द भी है। अतः बालक पूछता है कि—कहाँ है मेरी माँ शकुन्तला ? इस वाक्य में श्लेषमूलक वक्रोक्ति है। श्लिष्ट वाक्य के प्रयोग के कारण यहाँ पताका स्थानक है। लक्षण के लिए देखिये साहित्यदर्पण (६-४९) ॥

शब्दार्थः—नामसादृश्येन = नाम की समानता के कारण, वञ्चितः = ठगा गया, धोखा दिया गया। रम्यत्वम् = रमणीयता को। आख्या = नाम। विषादाय = दुःख के लिये।

टीका—उभे इति। नामसादृश्येन—नाम्नः = अभिधानस्य सादृश्येन = साम्येन, वञ्चितः = प्रतारितः। रम्यत्वम् = सौन्दर्यम्। आख्या = नाम, संज्ञा। विषादाय = दुःखाय।

बालः—मातः, रोचते म एष भद्रमयूरः। [अज्जुए, रोअदि मे एसो भद्दमोरओ।] (इति क्रीडनकमादत्ते।)

प्रथमा—(विलोक्य। सोद्वेगम्) अहो, रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते। [अम्हहे, रक्खाकरंडअं से मणिबन्धे ण दीसदि।]

राजा—अलमावेगेन। नन्विदमस्य सिंहशावकविमर्दात् परिभ्रष्टम्। (इत्यादातुमिच्छति।)

उभे—मा खल्वेतदवलम्ब्य—कथम्? गृहीतमनेन। [मा क्खु एदं अवलम्बिअ। कहं? गहीदं णेण।]

(इति विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयतः।)

राजा—किमर्थं प्रतिषिद्धाः स्मः?

प्रथमा—शृणोतु महाराजः। एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता। एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति। [सुणादु महाराओ। एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा। एदं किल मादापिदरो अप्पाणं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेह्णादि।]

राजा—अथ गृह्णाति?

प्रथमा—ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति। [तदो तं सप्पो भविअ दसइ।]

राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया?

उभे—अनेकशः। [अणेअसो।]

शब्दार्थः—भद्रमयूरः = सुन्दर मोर। क्रीडनकम् = खिलौने को। रक्षाकरण्डकम् = रक्षा-सूत्र। मणिबन्धे = कलाई में। आवेगेन = घबराहट से। परिभ्रष्टम् = गिर गया है।

टीका—बाल इति। भद्रतरः = शोभनः। क्रीडनकम् = क्रीडासाधनं मयूरम्। रक्षाकरण्डकम्—करण्डः = पुष्पपत्रादिकृतो ग्रन्थिबन्धः। क्षुद्रः करण्डः करण्डकम्, ह्रस्वे वा अल्पार्थे कन्। रक्षार्थं दत्तं करण्डकम् = रक्षासूत्रमित्यर्थः, रक्षावीटिकेति यावत्, ('करण्डो मधुकोशे स्याद्वीटिकाखड्गकोशयोः' इत्यमरः), मणिबन्धे = लोके कलाई इति प्रसिद्धे हस्तस्थाने। आवेगेन = चिन्तया। परिभ्रष्टम् = पतितम्।

बालक—माँ, अच्छा लग रहा है मुझे यह सुन्दर मोर। (ऐसा कहकर खिलौने को ले लेता है)

पहली तपस्विनी—(देखकर, घबराहट के साथ) अरे, रक्षा-सूत्र इसकी कलाई में नहीं दिखलाई पड़ रहा है।

राजा—घबड़ाइए नहीं। सिंह-शिशु से रगड़ खाकर इसका यह रक्षा-सूत्र यहाँ गिर पड़ा है (यह कहकर उसे उठाना चाहता है)।

दोनों—अरे मत (छूइए)। इसे छूने से……। क्या इसे इन्होंने उठा लिया ?
(ऐसा कहकर छाती पर हाथ रखे हुई वे दोनों एक-दूसरी को देखती हैं।)

राजा—किस लिये (इसे उठाने से आप लोगों के द्वारा) मैं रोका गया हूँ ?

पहली— महाराज, सुनें। यह अपराजिता नाम की ओषधि है। यह इस (बालक) के जातकर्म के समय पूज्य मारीच के द्वारा दी गई थी। पृथिवी पर गिरी हुई इस (औषध) को माता-पिता तथा स्वयं को छोड़कर कोई दूसरा नहीं उठाता है।

राजा—यदि उठा लेता है (तो क्या होता है) ?

पहली—तो यह सर्प होकर उसे डँस लेती है।

राजा—क्या आप दोनों ने इसका औषधि से साँप बनना स्वयं देखा है ?

दोनों—अनेक बार (देखा है)।

टिप्पणी—रक्षाकरण्डकम्—आज भी इस देश की जंगली जातियाँ, पिछड़े प्रदेश के निवासी अपनी कल्याणकामना से अथवा बच्चों के मङ्गल की इच्छा से पीले वस्त्र में या सूत्र में किसी देवी-देवता का भस्म अथवा जड़ी-बूटी बाँधते हैं। इसे तावीज तथा रक्षा-सूत्र कहते हैं। यह प्रथा अब धीरे-धीरे सभ्य-समाज से उठती जा रही है। महाकवि के समय इस प्रथा का पर्याप्त प्रचलन प्रतीत होता है।

शब्दार्थः—जातकर्मसमये = जातकर्म नामक संस्कार के समय। वर्जयित्वा = छोड़कर। विक्रिया = बदलना, ओषधि से साँप बनना॥

टीका—प्रथमेति। जातकर्मसमये = जातकर्मसंस्कारकाले। वर्जयित्वा = परित्यज्य। विक्रिया = परिवर्तनम्॥

टिप्पणी—जातकर्मसमये—जातकर्मसंस्कार १६ संस्कारों में चतुर्थ संस्कार है। बालक के जन्म के अनन्तर यह पहला संस्कार है। इस संस्कार में पिता नवजात शिशु की जीभ पर सोने की शलाका से 'ओ ३ म्' लिखता है तथा उसे घृत एवं शहद चटाता है। पिता के न रहने पर इस संस्कार को कोई भी दूसरा व्यक्ति कर सकता है। मनु० (२-२९) में इस संस्कार के विषय में इस प्रकार लिखा है :—

'प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते। मन्त्रवत् प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥''

राजा—(सहर्षम् । आत्मगतम्) कथमिव सम्पूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि ? (इति बालं परिष्वजते ।)

द्वितीया—सुव्रते, एहि । इमं वृत्तान्तं नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयावः । [सुव्वदे, एहि । इमं वुत्तन्तं णिअमव्वावुडाए सउन्दलाए णिवेदेम्ह ।] (इति निष्क्रान्ते ।)

बालः—मुञ्च माम् । यावन्मातुः सकाशं गमिष्यामि । [मुंच मं । जाव अज्जुए सआसं गमिस्सं ।]

राजा—पुत्रक, मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि ।

बालः—मम खलु तातो दुष्यन्तः । न त्वम् । [मम क्खु तादो दुस्सन्दो । ण तुमं ।]

राजा—(सस्मितम्) एष विवाद एव प्रत्याययति ।

(ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला ।)

शकुन्तला—विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न मे आशाऽऽसीदात्मनो भागधेयेषु । अथवा यथा सानुमत्याऽऽख्यातं तथा संभाव्यत एतत् । [विआरकाले वि पकिदित्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ण मे आसा आसि अत्तणो भाअहेएसु । अहवा जह साणुमदीए आचक्खिदं तह संभावीअदि एदं ।]

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य) अये, सेयमत्रभवती शकुन्तला । यैषा—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥२१॥

शब्दार्थः—एकवेणीधरा = एक चोटी को धारण की हुई । विकारकाले = परिवर्तन के अवसर पर, प्रकृतिस्थाम् = अविकृत । आख्यातम् = कहा गया था ॥

अन्वयः—परिधूसरे, वसने, वसाना, नियमक्षाममुखी, धृतैकवेणिः, शुद्धशीला, अतिनिष्करुणस्य, मम, दीर्घम्, विरहव्रतम्, बिभर्ति ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—परिधूसरे = अत्यन्त धूमिल, वसने = वस्त्र, वसाना = पहने हुई, नियमक्षाममुखी = नियम—पालन के कारण दुर्बल मुखवाली, धृतैकवेणिः = एक चोटी

राजा—(प्रसन्नता के साथ, अपने आप) क्यों न मैं पूर्ण हुए अपने मनोरथ का अभिनन्दन करूँ? (ऐसा सोचकर बालक को कलेजे से लगा लेता है।)

दूसरी—सुव्रता, आओ। इस समाचार को नियम में संलग्न शकुन्तला से कहा जाय। (इस प्रकार दोनों निकल गईं)

बालक—छोड़ो मुझे। मैं माँ के पास जाऊँगा।

राजा—प्यारे बेटे, मेरे साथ ही माँ का अभिनन्दन करना।

बालक—मेरे पिता तो दुष्यन्त हैं। तुम नहीं।

राजा—(मुस्कराकर) यह विवाद ही विश्वास दिलाता है (कि मैं तेरा पिता हूँ)।

(तदनन्तर एक चोटी को धारण की हुई शकुन्तला प्रवेश करती है।)

शकुन्तला—परिवर्तन के अवसर पर सर्व-दमन की औषधि को अविकृत सुनकर भी मुझे अपने भाग्य पर ऐसी आशा न थी (कि पतिदेव मुझे खोजते हुए कभी यहाँ आयेंगे)। अथवा जैसा सनुमती के द्वारा कहा गया था, उससे यह संभव भी है।

राजा—(शकुन्तला को देखकर) अरे, वही यह आदरास्पद शकुन्तला है, जो यह—

अत्यन्त धूमिल वस्त्र पहने हुई, नियम-पालन के कारण दुर्बल मुखवाली, एक चोटी धारण की हुई, शुद्ध आचरण वाली (यह शकुन्तला) अत्यन्त निर्दय मेरे चिरकालीन विरह-व्रत को धारण कर रही है॥ २१॥

धारण की हुई, शुद्धशीला = शुद्ध आचरणवाली, अतिनिष्करुणस्य = अत्यन्त निर्दय, मम = मेरे, दीर्घम् = चिरकालीन, लम्बे, विरहव्रतम् = विरह व्रत को, बिभर्ति = धारण कर रही है॥ २१॥

टीका—वसन इति। परिधूसरे—परितः = सर्वतः धूसरे = मलिने, वसने = वाससी, अन्तरीयोपसंव्याने, वसाना = दधाना, नियमक्षाममुखी—नियमेन = तप आदिना क्षामम् = कृशम्, मुखम् = आननम् यस्याः सा तादृशी, धृतैकवेणिः—धृता = कृता एका = केवला वेणिः यया सा तादृशी, यत एतादृश्यत एव शुद्धशीला—शुद्धम् = पवित्रम् शीलम् = चरितम् यस्यास्तथाभूता, अतिनिष्करुणस्य = अतिशयकृपाविहीनस्य, मम = मत्सम्बन्धिनम्, दीर्घम् = बहुकालीनम्, विरहव्रतम्—विरहस्य = वियोगस्य विरहोचितं वा व्रतम् = आचारम्, बिभर्ति = धारयति। काव्यलिङ्गं स्वभावोक्तिश्चालङ्कारौ। मालभारिणी छन्दः॥ २१॥

टिप्पणी—वसने परिधूसरे—अतीत काल की विरहिणी स्त्रियाँ अपने पति-वियोग काल में न तो आकर्षक वस्त्र धारण करती थीं, न शरीर का प्रसाधन ही करती थीं। वे अपने बालों में दो नहीं एक ही चोटी करती थीं तथा व्रत-उपवास आदि के द्वारा अपने शरीर को कृश बना डालती थीं। इससे उनकी प्रबल पति-भक्ति सूचित होती है।

शकुन्तला—(पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा) न खल्वार्यपुत्र इव । ततः क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति ? [ण क्खु अज्जउत्तो विअ । तदो को एसो दाणिं किदरक्खामंगलं दारिअं मे गत्तसंसग्गेण दूसेदि ?]

बालः—(मातरमुपेत्य) मातः, एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति । [अज्जुए, एसो को वि पुरिसो मं पुत्त त्ति आलिंगदि ।]

राजा—प्रिये, क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तम्, यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हृदय, समाश्वसिहि समाश्वसिहि । परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पितास्मि दैवेन । आर्यपुत्रः खल्वेषः । [हिअअ, समस्स समस्सस । परिच्चत्तमच्छरेण अणुअप्पिअ म्हि देव्वेण । अज्जउत्तो क्खु एसो ।]

राजा—प्रिये,

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि ।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ॥२२॥

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग एवं स्वभावोक्ति अलङ्कार तथा मालभारिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—

'विषमे ससजा गुरू समे चेत्, सभरा येन तु मालभारणीयम्' ॥ २१ ॥

व्युत्पत्तिः—वसाना—√वस्+शानच्+टाप्+विभक्त्यादिः । क्षामः—√क्षै=क्त+निष्ठातकारस्य स्थाने मः+विभक्त्यादिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—पश्चात्तापविवर्णम्=पश्चात्ताप के कारण मलिन । कृतरक्षामङ्गलम्=रक्षा-सूत्र को धारण किये हुए, दारकम्=पुत्र को, गात्रसंसर्गेण=शरीर के सम्पर्क से । उपेत्य=पास जाकर, क्रौर्यम्=क्रूरता, प्रयुक्तम्=की गई थी, अनुकूलपरिणामम्=अनुकूल परिणाम वाली, प्रत्यभिज्ञातम्=पहचान लिया गया । परित्यक्तमत्सरेण=द्वेष-भाव को छोड़कर ॥

टीका—शकुन्तलेति । पश्चात्तापविवर्णम्—पश्चात्तापेन विवर्णम्=विरूपम् । कृतरक्षामङ्गलम्—कृतम्=विहितम् रक्षारूपं मङ्गलं यस्य तादृशम्, दारकम्=बालकम्, गात्रसंसर्गेण—गात्रस्य=शरीरस्य संसर्गेण=सम्पर्केण । उपेत्य=पार्श्वे गत्वा ।

शकुन्तला—(पश्चात्ताप के कारण मलिन राजा को देखकर) पतिदेव की तरह यह नहीं हैं। तो यह कौन हैं जो रक्षा-सूत्र को धारण किए हुए मेरे पुत्र को (अपने) शरीर के सम्पर्क से दूषित कर रहे हैं?

बालक—(माँ के पास जाकर) माँ, यह अपरिचित व्यक्ति मुझे पुत्र कहकर छाती से लगा रहा है।

राजा—प्रिये, मैंने तुम्हारे साथ क्रूरता की थी, फिर भी वह अनुकूल परिणाम-वाली सिद्ध हुई है, क्योंकि मैं सम्प्रति अपने को तुम्हारे द्वारा पहचान लिया गया देख रहा हूँ।

शकुन्तला—(अपने आप) हृदय, धैर्य धारण करो, धैर्य धारण करो। भाग्य ने (अब) द्वेष-भाव छोड़कर मेरे ऊपर अनुकम्पा की है। यह पतिदेव ही हैं।

राजा—प्रिये,

हे सुन्दरी, सौभाग्य से स्मरण हो आने के कारण समाप्त अज्ञानरूपी अन्धकार-वाले मेरे समक्ष खड़ी हो, (जैसे) ग्रहण के पश्चात् रोहिणी चन्द्रमा से मिल जाती है ॥ २२ ॥

क्रौर्यम् = क्रूरता, प्रयुक्तम् = आचरितम्, अनुकूलपरिणामम्—अनुकूलः = सरसः परिणामः = विपाकः यस्य तथाविधम्, प्रत्यभिज्ञातम् = परिचितम्। परित्यक्त-मत्सरेण—परित्यक्तः = परिहृतः मत्सरः = द्वेषः येन तथाविधेन, दैवेन = विधिना ॥

टिप्पणी—अनुकूलपरिणामम्—दुष्यन्त का कहना है कि मैंने तुम्हारे साथ क्रूरता की थी। निर्दय बनकर तुम्हें छोड़ दिया था। किन्तु इस क्रूरता का भी परिणाम अच्छा ही हुआ है। नियम-संयम के पालन से तुम्हारा जीवन पावन हुआ है। तुम पतिव्रता सिद्ध हुई हो। महर्षि के पावन आश्रम में पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके बाल-संस्कार यहाँ पवित्र ऋषियों के हाथों सम्पन्न हुआ है। ऋषि के आशीर्वाद से बालक को अप्रतिम तेज मिला है। ये ही उस क्रूरता के सुफल हैं।

व्युत्पत्तिः—क्रौर्यम्—क्रूर + ष्यञ् + विभक्त्यादिः। संवृत्तम्—सम् + √वृत् + क्त + विभक्तिः। प्रत्यभिज्ञातम्—प्रति + अभि + √ज्ञा + क्त + विभक्तिः ॥

अन्वयः—हे सुमुखि, दिष्ट्या, स्मृतिभिन्नमोहतमसः, मे, प्रमुखे, स्थिता, असि; (यथा), उपरागान्ते, रोहिणी, शशिनः, योगम्, समुपगता ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—हे सुमुखि = हे सुन्दरी, दिष्ट्या = सौभाग्य से, स्मृतिभिन्नमोहतमसः = स्मरण हो आने के कारण समाप्त अज्ञानरूपी अन्धकारवाले, मे = मेरे, प्रमुखे = समक्ष; स्थिता = खड़ी, असि = हो; (यथा जैसे), उपरागान्ते = ग्रहण के पश्चात्, रोहिणी = रोहिणी, चन्द्रमा की स्त्री, शशिनः = चन्द्रमा के, योगम् = संयोग को, मिलन को, समुपगता = मिल जाती है ॥ २२ ॥

शकुन्तला—जयतु जयत्वार्यपुत्रः। [जेदु जेदु अज्जउत्तो।] (इत्यर्धोक्ते बाष्पकण्ठी विरमति।)

बालः—मातः, क एषः? [अज्जुए, को एसो?]

शकुन्तला—वत्स, ते भागधेयानि पृच्छ। [वच्छ, दे भाअहेआइं पुच्छेहि।]

राजा—सुन्दरि,

बाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम् ॥२३॥

टीका—स्मृतीति। हे सुमुखि=हे शोभनानने, दिष्ट्या=भाग्येन, स्मृतीति—स्मृत्या=स्मरणेन भिन्नम्=नष्टम् मोहः=अज्ञानमेव तमः=अन्धकारम् यस्य तादृशस्य, मे=मम, प्रमुखे=सम्मुखे, स्थिता=वर्तमाना, असि=वर्तसे। उपरागान्ते—उपरागः=राहुणा ग्रासः तस्य अन्ते=अवसाने, रोहिणी=चन्द्रपत्नी, शशिनः=चन्द्रमसः, योगम्=सन्निधिम्, समुपगता=सम्प्राप्ता॥ दृष्टान्तोऽलङ्कारः। आर्या छन्दः॥ २२॥

टिप्पणीः—रोहिणी—रोहिणी दक्ष प्रजापति की २७ पुत्रियों में चतुर्थ थी। यह चन्द्रमा की सर्वाधिक प्रिय स्त्री थी।

यहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव के होने से दृष्टान्त अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या। छन्द के लक्षण के लिए देखिये—१।२,३ श्लोक की टिप्पणी।

व्युत्पत्तिः—स्मृति०—√स्मृ+क्तिन्+विभक्तिः। भिन्न०—√भिद्+क्त+निष्ठातस्य नः+विभक्त्यादिः। योगम्—√युज्+घञ्+कुत्वम्+विभक्तिः॥ २२॥

अन्वयः—जयशब्दे, बाष्पेण, प्रतिषिद्धे, अपि, मया, जितम्, यत्, असंस्कारपाटलोष्ठपुटम्, ते, मुखम्, दृष्टम्॥ २३॥

शब्दार्थः—जयशब्दे='जय' शब्द के, बाष्पेण=आँसू से, प्रतिषिद्धे=रोक लिये जाने पर, अपि=भी, मया=मेरे द्वारा, जितम्=विजय हासिल कर लिया गया; यत्=क्योंकि, जो कि, असंस्कारपाटलोष्ठपुटम्=बिना सजावट (प्रसाधन) के भी रक्त होठों से युक्त, ते=तुम्हारा, मुखम्=मुख, आनन, दृष्टम्=देख लिया गया॥ २३॥

टीका—बाष्पेणेति। जयशब्दे=जयतु जयत्विति शब्दे, बाष्पेण=अश्रुप्रारम्भेण, प्रतिषिद्धे=प्रतिरुद्धे, अपि, मया=दुष्यन्तेन, जितम्=ऋद्धिः प्राप्ता। यत्=यतो हि,

शकुन्तला—विजयी बनें, विजयी बनें आर्यपुत्र। (ऐसा आधा ही कहने पर आँसू से गला भर जाने के कारण चुप हो जाती है।)

राजा—सुन्दरी,

'जय' शब्द के आँसू से रोक लिये जाने पर भी मेरे द्वारा विजय हासिल कर लिया गया; क्योंकि बिना प्रसाधन के भी रक्त होठों से युक्त तुम्हारा मुख देख लिया गया ।। २३ ।।

बालक—माँ, यह कौन है ?

शकुन्तला—बेटा, अपने भाग्य से पूछो।

असंस्कारपाटलोष्ठपुटम्—असंस्कारेऽपि पाटलम्=रक्तम् स्वभावरक्तमिति यावत्, ओष्ठयोः पुटं यस्मिन् तत् तादृशम्, यद्वा असंस्कारात्=संस्काराभावात् पाटलम्= ईषद्रक्तम् ओष्ठपुटं यस्मिन् तत् तादृशम्, ते=तव, मुखम्=आननम्, दृष्टम्= अवलोकितम्। विरोधाभासः काव्यलिङ्गं चालंकारौ। अनुष्टुप् छन्दः ।। २३ ।।

टिप्पणी—बाष्पेण—दुष्यन्त के कहने का भाव है कि—जब तुम हमारे लिये 'जय' शब्द कह रही थी, उस समय आँसुओं से तुम्हारा गला भर आया और तुम अपना वाक्य पूरा न कर सकी।

जितम्—फिर भी मेरी विजय हुई है। क्योंकि मैं तुम्हारा मुख देखना चाहता था। तुमसे मिलना चाहता था और यह सफलता मुझे मिल भी गयी। अतः मेरी विजय ही है।

असंस्कार०—इसके दो अर्थ किये जा सकते हैं—(क) प्रसाधन के बिना भी लाल ओष्ठवाले मुख को, (ख) प्रसाधन न करने के कारण जिसके ओठ पीले पड़े हैं, ऐसे मुख को। इसमें प्रथम अर्थ ही अधिक समीचीन है। क्योंकि इससे शकुन्तला के निसर्ग सुन्दर मुख की स्वाभाविकता तथा सुन्दरता वर्णित है। यद्यपि विरहिणी की अवस्था में प्रसाधन नहीं किया गया है। फिर भी ओठों की लालिमा के कारण मुख दर्शनीय है। यह है अभिप्राय दुष्यन्त का। जो लोग इसका दूसरा भावार्थ निकालते हैं, वह ठीक नहीं है।

पाटलोष्ठपुटम्—यहाँ 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इस वार्तिक से विकल्प से पर रूप होता है। अतः दोनों ही रूप बनते हैं—'पाटलोष्ठपुटम्' तथा 'पाटलौष्ठपुटम्।' इसी तरह बिम्बोष्ठ तथा बिम्बौष्ठ दोनों ही रूप सही हैं।

यहाँ जयशब्द के आँसुओं से रोक लिये जाने पर भी जय होने से विरोधाभास है। पूर्वार्द्ध जय के लिये उत्तरार्द्ध कारण है। अतः काव्यलिङ्ग है ।। २३ ।।

व्युत्पत्तिः—प्रतिषिद्धे—प्रति + √सिध् + क्त + विभक्त्यादिः। जितम् + √जि + क्त + विभक्तिः। दृष्टम्—√दृश् + क्त + विभक्तिः ।। २३ ।।

राजा—(शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य ।)

सुतनु हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत् ।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥२४॥

शकुन्तला—उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः । नूनं मे सुचरित-प्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामाभिमुखमासीद् येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः । [उट्ठेदु अज्जउत्तो । णूणं मे सुअरिअप्पडिबन्धअं पुराकिदं तेसु दिअहेसु परिणामाहिमुहं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउत्तो मइ विरसो संवुत्तो ।] (राजोत्तिष्ठति ।)

अन्वयः—हे सुतनु, ते, हृदयात्, प्रत्यादेशव्यलीकम्, अपैतु; तदा, मे, मनसः, किमपि, बलवान्, संमोहः, अभूत्; हि, शुभेषु, प्रबलतमसाम्, वृत्तयः, एवंप्रायाः, (भवन्ति), अन्धः, शिरसि, क्षिप्ताम्, स्रजम्, अपि, अहिशङ्कया, धुनोति ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—हे सुतनु = हे सुन्दरी, ते = तुम्हारे, हृदयात् = हृदय से, प्रत्यादेश-व्यलीकम् = (मेरे द्वारा किये गये) परित्याग का दुःख, अपैतु = दूर हो जाय, निकल जाना चाहिए; तदा = उस समय, मे = मेरे, मनसः = मन को, मन में, किमपि = अद्भुत, कुछ विलक्षण, बलवान् = प्रबल, संमोहः = अज्ञान, अभूत् = उत्पन्न हो गया था; हि = क्योंकि, शुभेषु = मङ्गलप्रद वस्तुओं के विषय में, प्रबलतमसाम् = प्रबल तमोगुणवालों की, प्रवृत्तयः = प्रवृत्तियाँ, एवंप्रायाः = इसी तरह की, (भवन्ति = होती हैं), अन्धः = अन्धा व्यक्ति, शिरसि = मस्तक पर, क्षिप्ताम् = फेंकी गई, स्रजम् = फूलों की माला को, अपि = भी, अहिशङ्कया = सर्प की शङ्का से, धुनोति = फेंक देता है, झटक कर गिरा देता है ॥ २४ ॥

टीका—सुतन्विति । हे सु = शोभना तनूः = शरीरम् यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ, ते = तव, हृदयात् = मनसः, प्रत्यादेशव्यलीकम् — प्रत्यादेशस्य = परित्यागस्य व्यलीकम् = दुःखम्, निराकरणाप्रियमित्यर्थः, अपैतु = दूरीभवतु । ('व्यलीकं त्वप्रियेऽनृते' इत्यमरः) । "अप्रियस्य हृदयात्त्यागेऽर्थतः सिद्धेऽपि पुनस्तद्ग्रहणं विप्रियं मया त्यक्त-मिति वाङ्मात्रेण न त्यागः । अपितु तत्संस्कारोन्मूलनपूर्वकं त्याग इति ध्वनयति ।" इति राघवभट्टाः । तदा = तस्मिन् काले, तवप्रत्याख्यानसमये इत्यर्थः मे = मम,

राजा—(शकुन्तला के पैरों पर गिरकर)

हे सुन्दरी, तुम्हारे हृदय से (मेरे द्वारा किये गये) परित्याग का दुःख निकल जाना चाहिए। उस समय मेरे मन में अद्भुत प्रबल अज्ञान उत्पन्न हो गया था, क्योंकि मङ्गलप्रद वस्तुओं के विषय में प्रबल तमोगुणवालों की प्रवृत्तियां इसी तरह की (होती हैं)। अन्धा व्यक्ति मस्तक पर फेंकी गई फूलों की माला को भी सर्प की शङ्का से झटक कर गिरा देता है ॥ २४ ॥

शकुन्तला—आर्यपुत्र, उठें। निश्चय ही पुण्य कर्म का अवरोधक पूर्व जन्म में किया हुआ मेरा पाप उन दिनों फलोन्मुख था, जिससे सदय होते हुए भी आर्य-पुत्र मुझ पर निर्दय हो गये थे। (राजा उठता है।)

मनसः = चेतसः किमपि = अनिर्वचनीयम्, बलवान् = अतिप्रबलः, संमोहः = अज्ञानम्, अभूत् = जातः। हि = यतो हि, शुभेषु = कल्याणप्रदेषु कार्येषु, प्रबलतमसाम्—प्रबलम् = घोरम् तमः = मोहः अन्धकारश्च येषां ते तेषाम् वृत्तयः = व्यापाराः, एवंप्रायाः = एवंविधाः, शुभत्यागरूपा इत्यर्थः, भवन्तीति यावत्, दृष्टान्तमाह—अन्धः = चक्षुर्विहीनः, शिरसि = मस्तके, क्षिप्ताम् = केनापि पातिताम्, स्रजम् = मालाम्, अपि = च, अहिशङ्कया = सर्पशङ्कया, धुनोति = क्षिपति, तिरस्करोतीत्यर्थः। अत्रार्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गं भ्रान्तिमान् चालङ्काराः वसन्ततिलका छन्दः ॥ २४ ॥

टिप्पणी—सुतनु—शोभना तनूः यस्याः सा सुतनूः तत्सम्बुद्धौ हे सुतनु। संबोधन होने के कारण ऊ को ह्रस्व हो जाता है। यह दीर्घ ऊकारान्त तनू शब्द के सम्बोधन का रूप है। ह्रस्व उकारान्त तनु शब्द का सुतनो रूप बनेगा।

स्रजमपि—जैसे अन्धा व्यक्ति शिर पर किसी के द्वारा रख दी गई माला को साँप समझ कर फेंक देता है। उसी प्रकार माला-सी मोहक तुमको मैंने छोड़ दिया था। बड़ी सुन्दर उपमा है यह।

तीसरे चरण में सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन किया गया है। अतः अर्थान्तरन्यास है। दूसरा चरण पहले चरण का कारण है, अतः काव्यलिंग है।

अहि की शंका भ्रान्तिमान् है। यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है—हरिणी। छन्द का लक्षणः—'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता ॥' २४ ॥

व्युत्पत्तिः—प्रत्यादेशः—प्रति+आ+√दिश्+घञ्+विभक्त्यादिः। संमोहः—सम्+√मुह+घञ्+विभक्तिः। क्षिप्ताम्—√क्षिप्+क्त+टाप्+विभक्तिः ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—सुचरितप्रतिबन्धकम् = पुण्य कर्म का अवरोधक, पुराकृतम् = पूर्वजन्म में किया हुआ पाप, परिणामाभिमुखम् = फलोन्मुख, सानुक्रोशः = सदय, विरसः = निर्दय, संवृत्तः = हो गये थे।

शकुन्तला—अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखभाग्ययं जनः ? [अह कहं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाई अअं जणो ?]

राजा—उद्धृतविषादशल्यः कथयिष्यामि ।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते
यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः ।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य
बाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥२५॥

(इति यथोक्तमनुतिष्ठति ।)

शकुन्तला—(नाममुद्रां दृष्ट्वा) आर्यपुत्र, इदं तदङ्गुलीयकम् । [अज्जउत्त, एदं तं अंगुलीअअं ।]

राजा—अस्मादङ्गुलीयोपलम्भात् खलु स्मृतिरुपलब्धा ।

शकुन्तला—विषमं कृतमनेन यत्तदार्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत् । [विसमं किदं णेण जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चअकाले दुल्लहं आसि ।]

टीका—शकुन्तलेति । सुचरितप्रतिबन्धकम्—सुचरितस्य = पुण्यकर्मणः प्रतिबन्धकम् = प्रतिरोधकम्, पुण्यफलरोधकमित्यर्थः, पुराकृतम् = पूर्वजन्मनि अनुष्ठितं पापकर्म इत्यर्थः, परिणामाभिमुखम् = परिणामे = परिणतौ मुखं यस्य तादृशम्, पाकाभिमुखमिति यावत्, आसीत्; सानुक्रोशः = सदयः, विरसः विगतः = दूरीभूतः रसः = रागः अनुरागः इत्यर्थः यस्य तथाविधः, निरनुराग इति यावत्, संवृत्तः = संजातः ।

शब्दार्थः—उद्धृतविषादशल्यः = दुःखरूपी कील के निकल जाने पर, अपगत दुःखरूपी कीलवाला ।

टीका—उद्धृतविषादशल्यः—उद्धृतम् = उत्खातम् विषादरूपम् = दुःखरूपम् शल्यम् = शङ्कुः यस्य तादृशः भूत्वा ॥

टिप्पणी—उद्धृतविषादः—निरपराध तुम्हें त्यागने का मेरे हृदय में महान् कष्ट है । यह कष्ट मेरे हृदय में नुकीली कील की भाँति गड़ रहा है । पहले तुम मुझे क्षमा कर दो । मेरा कष्ट दूर हो जाय । कष्ट रूपी कील हृदय से निकल जाय । फिर मैं बतलाऊँगा कि कैसे तुम्हें मैंने याद किया ।

अन्वयः—हे सुतनु, ते, अधरम्, परिबाधमानः, यः, बाष्पबिन्दुः, मया, मोहात्, पूर्वम्, उपेक्षितः; आकुटिलपक्ष्मविलग्नम्, तम्, बाष्पम्, प्रमृज्य, तावत्, विगतानुशयः, भवेयम् ॥ २५ ॥

शकुन्तला—अच्छा, किस तरह आर्यपुत्र के द्वारा दुःखी यह जन याद किया गया ?

राजा—दुःखरूपी कील के निकल जाने पर कहूँगा।

हे सुन्दरी, तुम्हारे अधर को पीडित करती हुई जो आँसू की बूँदे मेरे द्वारा अज्ञानवश पहले परित्याग के समय उपेक्षित कर दी गई थीं, कुछ तिरछी पलकों में लगी हुई उसी आँसू को पोंछकर सम्प्रति मैं पश्चात्तापविहीन होऊँगा॥ २५॥

(ऐसा कहकर आँसू पोंछता है।)

शकुन्तला—(नामांकित अँगूठी को देखकर) आर्यपुत्र, यह वही अँगूठी है (जिसे आपने मेरी अँगुली में पहनाया था)।

राजा—इस अँगूठी की प्राप्ति से ही वस्तुतः (तुम्हारी मुझे) याद आई।

शकुन्तला—इसने बहुत अनुचित किया था जो कि तब आपको विश्वास दिलाने के समय दुर्लभ हो गई थी।

शब्दार्थः—हे सुतनु=हे सुन्दरी, ते =तुम्हारे, अधरम्=अधर को, परिबाधमानः= पीडित करती हुई, यः = जो, बाष्वबिन्दुः=आँसू की बूँदें, मया = मेरे द्वारा, मोहात्= अज्ञानवश, पूर्वम् = पहले परित्याग के समय, उपेक्षितः = उपेक्षित कर दी गई थीं, आकुटिलपक्ष्मविलग्नम्=कुछ तिरछी पलकों में लगी हुई, तम्=उसी, बाष्पम् = आँसू को, प्रमृज्य = पोंछ कर, तावत् = सम्प्रति, विगतानुशयः = पश्चात्तापविहीन, भवेयम् = होऊँगा॥ २५॥

टीका—मोहादिति। हे सुतनु=हे सुन्दरी, ते=तव, अधरम् = अधरोष्ठम्, परिबाधमानः—परितः = सर्वतो बाधमानः = पीडयन्, स्थित इति शेषः, यः बाष्पबिन्दुः = नेत्रजलबिन्दुः, मया = परमविवेकिना धर्मभीरुणा परमविदग्धेन दुष्यन्तेनेत्यर्थान्तिरसंक्रान्तम्, मोहात् =अज्ञानात्, पूर्वम् = ते प्रत्याख्यानकाले इत्यर्थः, उपेक्षितः = तिरस्कृतः, न मार्जित इत्यर्थः; आकुटिलपक्ष्मविलग्नम्—आ = ईषत् कुटिलम् = वक्रम् यत् पक्ष्म = नेत्रलोमानि तत्र विलग्नम् = संबद्धम्, तम् = तदेव त्वत्सम्बन्धीत्यर्थः, बाष्पम् = अश्रु, जातावेकवचनम्, प्रमृज्य = प्रोञ्छ्य, तावत् = सम्प्रति, विगतानुशयः—विगतः = दूरीभूतः अनुशयः = पश्चात्तापः यस्यासौ तादृशः, भवेयम् = स्याम्। अनुप्रासालङ्कारः। वसन्ततिलका छन्दः॥ २५॥

टिप्पणी—बाष्पम्—इस श्लोक में बाष्प शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है। अतः यह खटकता है। दूसरे बाष्प के स्थान पर यदि 'कान्ते' पाठ मान लिया जाय तो अधिक उचित होगा।

यहाँ अनुप्रास अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः'॥ २५॥

व्युत्पत्तिः—उपेक्षितः—उप+√ईक्ष +क्त+विभक्त्यादिः। विलग्नम्—वि+√लग्+विभक्त्यादिः। प्रमृज्य—प्र+√मृज्+ल्यप्॥ २५॥

राजा—तेन हि ऋतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां सता-कुसुमम् ।

शकुन्तला—नास्य विश्वसिमि । आर्यपुत्र एवैतद् धारयतु ।
[ण से विस्ससामि । अज्जउत्तो एव्व णं धारेदु ।]

(ततः प्रविशति मातलिः ।)

मातलिः—दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान् वर्धते ।

राजा—अभूत् सम्पादितस्वादुफलो मे मनोरथः । मातले, न खलु विदितोऽयमाखण्डलेन वृत्तान्तः स्यात् ?

मातलिः—(सस्मितम्) किमीश्वराणां परोक्षम् ? एत्वायुष्मान् । भगवान् मारीचस्ते दर्शनं वितरति ।

राजा—शकुन्तले, अवलम्ब्यतां पुत्रः । त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि ।

शकुन्तला—जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम् ।
[हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीवं गन्तुं ।]

राजा—अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु । एह्येहि ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

(ततः प्रविशत्यदित्या सार्धमासनस्थो मारीचः ।)

मारीचः—(राजानमवलोक्य) दाक्षायणि,

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी
दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता ।
चापेन यस्य विनिर्वर्तितकर्म जातं
तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः ॥२६॥

विशेष—वसन्त ऋतु के आगमन पर लताएँ फूल उठती हैं । वे सज-धज जाती हैं । क्यों न ऐसा हो जो कि वसन्त पुरुष ठहरा और लताएँ स्त्री । वस्तुतः ये पुष्प वसन्त और लताओं के मिलन के चिह्न हैं । यहाँ दुष्यन्त अपने आपको वसंत तथा शकुन्तला को लता बतला रहा है । वह अँगूठी को पुनः मिलन की निशानी बनाना चाहता है ।

शब्दार्थः—सम्पादितस्वादुफलः = मधुर फल को प्रदान करने वाला । आखण्ड-

राजा—तो दुष्यन्तरूप वसन्त ऋतु से मिलन के चिह्नस्वरूप (अँगूठीरूपी) इस पुष्प को (शकुन्तलारूपी) लता धारण करे।

शकुन्तला—मैं इसका विश्वास नहीं करती। आप ही इसे धारण करें।

(तदनन्तर मातलि प्रवेश करता है।)

मातलि—सौभाग्य से धर्म-पत्नी के समागम तथा पुत्र के मुख-दर्शन से चिरञ्जीवी आप बढ़ रहे हैं (अर्थात् पत्नी के मिलन तथा पुत्र के मुखदर्शन पर आपको बधाई है)।

राजा—मेरा मनोरथ (आज) मधुर फल का प्रदाता बन गया है। मातलि, यह वृत्तान्त इन्द्र को विदित तो न हुआ होगा ?

मातलि—(मुस्कराकर) ऐश्वर्यशालियों के लिये कौन-सी बात छिपी हुई है ? चिरञ्जीवी आप आएँ। पूज्य मारीच ने आपको दर्शन देना स्वीकार कर लिया है।

राजा—शकुन्तला, बच्चे को लो। तुम्हे आगे करके भगवान् (मारीच) का दर्शन करना चाहता हूँ।

शकुन्तला—आर्यपुत्र (आप) के साथ गुरुजनों के पास चलने में लजा रही हूँ।

राजा—अभ्युदय के समय में यह कर्तव्य ही है। आओ-आओ।

(सभी चारों ओर घूमते हैं।)

(तदनन्तर अदिति के साथ आसन पर विराजमान मारीच प्रवेश करते हैं)

मारीच—(राजा को देखकर) दाक्षायणी, इनका नाम दुष्यन्त है। ये भू-मण्डल के पालक तथा तुम्हारे पुत्र (इन्द्र) के संग्राम में आगे-आगे चलने वाले हैं। इनके धनुष से सम्पादित कृत्यवाला तीक्ष्ण जगद्विदित वज्र इन्द्र का आभूषणमात्र बन कर रह गया है ॥ २६ ॥

लेन = इन्द्र के द्वारा। ईश्वराणाम् = ऐश्वर्यशालियों के लिये, परोक्षम् = अज्ञात, ओझल, छिपी हुई, पुरस्कृत्य = आगे करके। जिह्रेमि = लजा रही हूँ ॥

टीका—राजेति। सम्पादितस्वादुफलः—सम्पादितम् = उपस्थापितम् स्वादु = मधुरम् फलम् = येन तादृशः अभूत्। आखण्डलेन = इन्द्रेण। ईश्वराणाम् = प्रभूणाम्, परोक्षम् = अविदितम्, पुरस्कृत्य = अग्रेकृत्वा। जिह्रेमि = लज्जे ॥

अन्वयः—अयम्, दुष्यन्तः, इति, अभिहितः, भुवनस्य, भर्ता, ते, पुत्रस्य, रणशिरसि, अग्रयायी, (वर्तते); यस्य चापेन, विनिवर्तितकर्म, कोटिमत्, तत्, कुलिशम्, मघोनः, आभरणम्, जातम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—अयम् = यह, दुष्यन्तः = दुष्यन्तः, इति = यह, अभिहितः = नामवाले, भुवनस्य = भूमण्डल के, भर्ता = पालक हैं; ते = तुम्हारे, पुत्रस्य = पुत्र (इन्द्र) के,

अदितिः—संभावनीयानुभावाऽस्याकृतिः। [संभावणीआणुभावा से आकिदी।]

मातलिः—आयुष्मन्, एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावायुष्मन्तमवलोकयतः। तावुपसर्प।

राजा—मातले,

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम्।
यस्मिन्नात्मभवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम् ॥२७॥

रणशिरसि = संग्राम में, अग्रयायी = आगे-आगे चलने वाले, (वर्तते = हैं); यस्य= जिनके, चापेन = धनुष से, विनिवर्तितकर्म = सम्पादित कृत्यवाला, कोटिमत् = तेज नोकवाला, तीक्ष्ण, तत् = वह, जगद्विदित, कुलिशम् = वज्र, मघोनः = इन्द्र का, आभरणम्=आभूषणमात्र, जातम् = बन कर रह गया है ॥ २६ ॥

टीका—पुत्रस्येति। अयम् = एषः, दुष्यन्त इति अभिहितः = दुष्यन्तनामधेयक इत्यर्थः, भुवनस्य = भूमण्डलस्य, भर्ता = पालकः; ते = तव, पुत्रस्य = सुतस्येन्द्रस्य, रणशिरसि = युद्धाङ्गणे, अग्रयायी = अग्रेसरः वर्तते। यस्य चापेन = धनुषा, विनिवर्तितकर्म—विनिवर्तितम्=सम्पादितम् कर्म=कार्यम् यस्य तत् तादृशम्, कोटिमत्= तीक्ष्णाग्रम्, अकुण्ठकोटिमदित्यर्थः, तत् = जगद्विदितम्, कुलिशम् = वज्रम्, मघोनः= इन्द्रस्य, आभरणम्=आभूषणमात्रम्, जातम् = सम्पन्नम्। उदात्तं काव्यलिङ्गञ्चालङ्कारौ। वसन्ततिलका छन्दः ॥ २६ ॥

टिप्पणी—दाक्षायणि—दक्षस्य अपत्यं स्त्री दाक्षायणी तत्सम्बुद्धौ हे दाक्षायणि। मारीच की पत्नी अदिति दक्ष की पुत्री थीं। अतः उन्हें दाक्षायणी भी कहा जाता था।

विनिर्वातित कर्म···आभरणाम्—इन्द्र का वज्र देव शत्रुओं के विनाश के लिये बना था। किन्तु देवशत्रु राक्षसों एवं दैत्यों का विनाश अब दुष्यन्त का धनुष ही करता है। अतः वज्र के सारे कार्य राजा के धनुष से ही सम्पन्न हो जाते हैं। कार्य न होने से अब वज्र केवल इन्द्र के हाथ की शोभा भर बढ़ाता है। अतः वह आभूषण बनकर रह गया है।

इस श्लोक में लोकातिशायी पराक्रम-सम्पत्ति के कथन से उदात्त अलङ्कार है। विनिर्वातित कर्म आभरणत्व का कारण है। अतः काव्यलिङ्ग भी है। प्रयुक्त छन्द वसन्ततिलका का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥' २६ ॥

व्युत्पत्तिः—दाक्षायणि—दक्ष+फिञ् (आयनि)+ङीप्+विभक्त्यादिः।

कुलिशम्—कुलौ=हस्ते शेते इति कुलिशः, कुलि+शी+ड (अ)+विभक्तिः

अदिति—जिससे प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है ऐसी इसकी आकृति है (अर्थात् इसकी आकृति से इसके प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है)।

मातलि—चिरञ्जीवी, ये देवताओं के माता-पिता पुत्र-स्नेह-सूचक दृष्टि से (अर्थात् वात्सल्यपूर्ण नेत्रों से) आपको देख रहे हैं। उनके पास चलिए।

राजा—मातलि,

मुनिजन जिस (जोड़े) को बारह रूपों में स्थित तेज (सूर्य) का जनक कहते हैं, जिस (जोड़े) ने त्रिलोकी के रक्षक तथा यज्ञभाग के अधिकारी देवों के स्वामी (इन्द्र) को पैदा किया है, स्वयंभू परम पुरुष विष्णु ने भी (वामनावतार में) जिसको आश्रय बनाया था, दक्ष और मरीचि से उत्पन्न (तथा) ब्रह्मा से एक पीढ़ी का अन्तरवाला जगद्विदित यह वही जोड़ा है॥ २७॥

अथवा कुलिनः=पर्वतान् श्यति=खण्डयति इति कुलिशः, कुलि+√शो+क (अ)+विभक्तिः॥ २६॥

शब्दार्थः—संभावनीयानुभावा = जिससे प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है, ऐसी। पुत्रप्रीतिपिशुनेन = पुत्र-स्नेह-सूचक, वात्सल्यपूर्ण, दिवौकसाम् = देवताओं के।

टीका—अदितिरिति। संभावनीयानुभावा—संभावनीयः=अनुमेयः अनुभावः=प्रभावः यया सा तादृशी। पुत्रप्रीतिपिशुनेन—पुत्रे=सुते या प्रीतिः=स्नेहः तां पिशुनयति सूचयतीति तेन, वात्सल्यपूर्णेनेत्यर्थः, दिवौकसाम्=स्वर्गवासिनां देवानाम्॥

अन्वयः—मुनयः, यत्, द्वादशधा, स्थितस्य, तेजसः, कारणम्, प्राहुः, यत्, भुवनत्रयस्य, भर्तारम्, यज्ञभागेश्वरम्, सुषुवे, आत्मभवः, परः, पुरुषः, अपि, भवाय, अस्मिन्, आस्पदम्, चक्रे, दक्षमरीचिसंभवम्, (तथा) स्रष्टुः, एकान्तरम्, तत्, इदम्, द्वन्द्वम्, (आस्ते)॥ २७॥

शब्दार्थः—मुनयः=मुनिजन, यत्=जिस (जोड़े) को, द्वादशधा=बारहरूपों में, स्थितस्य=विद्यमान, स्थित, तेजसः=तेज (सूर्य) का, कारणम्=जनक, प्राहुः=कहते हैं, यत्=जिस (जोड़े) ने, भुवनत्रयस्य=त्रिलोकी के, भर्तारम्=रक्षक, यज्ञभागेश्वरम् यज्ञभाग के अधिकारी देवों के स्वामी (इन्द्र) को, सुषुवे=पैदा किया है, आत्मभवः=स्वयंभू, परः=परम, पुरुषः=पुरुष विष्णु ने, अपि=भी, यस्मिन्=जिसमें, जिसको, आस्पदम्=आश्रय, चक्रे=बनाया था, दक्षमरीचिसंभवम्=दक्ष और मरीचि से उत्पन्न, (तथा=और), स्रष्टुः=ब्रह्मा से, एकान्तरम्=एक पुरुष (पीढ़ी) का अन्तरवाला, तत्=जगद्विदित, इदम्=यह, द्वन्द्वम्=जोड़ा, (आस्ते=है)॥ २७॥

टीका—प्राहुरिति। मुनयः=व्यासादयः, यत्=द्वन्द्वम्, द्वादशधा=द्वादशसु मासेषु द्वादशरूपेण, स्थितस्य=वर्तमानस्य, द्वादशमूर्तिधरस्येत्यर्थः, तेजसः=सूर्यस्य, कारणम्=निदानम्, जनकमित्यर्थः, प्राहुः=आमनन्ति, अथवा द्वादशधा स्थितस्य=द्वादशकलात्मकस्य, तदुक्तमाचार्यैः—'तपिनी तापिनी धूम्रा मरीचिज्वालिनी रुचिः। सुषुम्णा भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा॥ कभाद्या वसुधाः सौर्या ठण्डान्ता

मातलिः—अथ किम् ?

राजा—(उपगम्य) उभाभ्यामपि वासवनियोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति।

मारीचः—वत्स, चिरं जीव। पृथिवीं पालय।

अदितिः—वत्स, अप्रतिरथो भव। [वच्छ अप्पडिरहो होहि।]

शकुन्तला—दारकसहिता वां पादवन्दनं करोमि। [दारअ-सहिदा वो पादवन्दणं करेमि।]

मारीचः—वत्से,

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव ॥२८॥

द्वादशेरिताः' इत्यर्थद्योतनिकायाम्। यत् = द्वन्द्वम्, भुवनत्रयस्य = भूर्भुवःस्वर्लक्षणस्य, त्रिलोक्या इत्यर्थः, भर्तारम् = पोषकत्वेन धारणसमर्थम्, स्वामिनमिति यावत्, यज्ञभागेश्वरम्—यज्ञस्य भागो विद्यते येषां ते यज्ञभागाः = देवास्तेषामीश्वरम् = राजानमिन्द्रमित्यर्थः, सुषुवे = जनयामास। आत्मभवः—आत्मना भवतीति आत्मभवः = स्वयंभूः, परः पुरुषः = परमात्मा विष्णुः, अपि = च, भवाय = जन्मने, अस्मिन् = एतस्मिन् द्वन्द्वे, आस्पदम् = स्थानम्, चक्रे = कृतवान्। तथा च विष्णुपुराणे—'मन्वन्तरे च संप्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज। वामनः कश्यपाद्विष्णुरदित्यां संबभूव ह' इति। दक्षमरीचिसम्भवम्—दक्षः मरीचिश्च संभवः = उत्पत्तिस्थानम् यस्य तत्। दक्षः प्रजापतिस्तत्संभवादितिः। मरीचिसंभवः कश्यपः। अत एव स्रष्टुः = ब्रह्मणः, एकान्तरम्—एको मरीच्यादिरन्तरम् = व्यवधानम् यस्य तत्, तत् = एतादृशं जगद्विदितमित्यर्थः, इदम् = एतत्, सम्मुखासीनमिति यावत्, द्वन्द्वम् = युगलम्, आस्ते इति शेषः। अत्रोदात्तं विरोधाभासश्चालङ्कारौ। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ २७ ॥

टिप्पणी—द्वादशधा—प्रत्येक माह के अलग-अलग सूर्य माने जाते हैं। अतः बारह महीनों के बारह सूर्य होते हैं। वस्तुतः एक ही सूर्य बारह महीनों में रूप धारण करते हैं। अतः उनके १२ रूप मान लिये गये हैं। सूर्य की १२ कलाएँ भी मानी गई हैं। देखिये टीका। इस दृष्टि से भी सूर्य को द्वादशधा स्थित कह सकते हैं।

आत्मभवः—विष्णु अपनी इच्छानुसार जन्म लेने वाले हैं। अतः उन्हें आत्मभू कहते हैं। विष्णु ने वामन रूप से अदिति की कोख से जन्म लिया था। अतः ये दोनों विष्णु के माता-पिता होते हैं।

एकान्तरम्—ब्रह्मा से इनका एक पीढ़ी का अन्तर है। ब्रह्मा के पुत्र हैं—दक्ष और मारीचि। उनकी सन्तान हैं ये दोनों।

महापुरुष के चरित्रवर्णन के कारण यहाँ उदात्त अलङ्कार हैं। 'आत्मभवः भवाय'

मातलि—और क्या ?

राजा—(पास में जाकर) इन्द्र का आज्ञाकारी दुष्यन्त आप दोनों को प्रणाम कर रहा है।

मारीच—बेटा बहुत, बहुत दिनों तक जीओ। पृथिवी का पालन करो।

अदिति—बेटा, बेजोड़ महारथी बनो।

शकुन्तला—पुत्र के सहित मैं आप दोनों का चरण-वन्दन करती हूँ।

मारीच—बेटी,

तुम्हारा पति इन्द्र के समान (तथा) पुत्र जयन्त के सदृश (है और तुम) इन्द्राणी के समान बनो। (इसके अलावा) अन्य दूसरा आशीर्वाद तुम्हारे योग्य नहीं है ॥ २८ ॥

में विरोधाभास है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द शार्दूलविक्रीडित का लक्षण—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥' २७ ॥

व्युत्पत्तिः—स्थितस्य —√स्था + क्त + विभक्त्यादिः। कारणम्—√कृ + णिच् + ल्युट् + विभक्त्यादिः ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—वासवनियोज्यः = इन्द्र का आज्ञाकारी, सेवक। अप्रतिरथः = बेजोड़ महारथी। दारकसहिता = पुत्र के सहित ॥

टीका—राजेति। वासवनियोज्यः—वासवस्य = इन्द्रस्य नियोज्यः = आज्ञाकारी, सेवक इति यावत्। अप्रतिरथः—न विद्यते प्रतिरथः यस्यासौ अप्रतिरथः। दारक-सहिता—दारकेण = पुत्रेण सहिता = सङ्गता ॥

अन्वयः—ते, भर्ता, आखण्डलसमः, (तथा), सुतः, जयन्तप्रतिमः ,(वर्तते, त्वम्), पौलोमी-सदृशी, भव; (अतः), अन्या, आशीः, ते, योग्या, न, (अस्ति) ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—ते = तुम्हारा, भर्ता = पति, आखण्डलसमः = इन्द्र के समान, (तथा = और), सुतः = पुत्र, जयन्तप्रतिमः = जयन्त के सदृश, (वर्तते = है; त्वम् = तुम), पौलोमीसदृशी = इन्द्राणी के समान, भव = बनो, अन्याः = अन्य दूसरा, आशीः = आशीर्वाद, ते = तुम्हारे, योग्या = योग्य, अनुकूल, न = नहीं, (अस्ति = है) ॥ २८ ॥

टीका—आखण्डलेति। ते = तव, भर्ता = पतिः, आखण्डलस्य = इन्द्रस्य समः = योग्यः तथा सुतः = पुत्रः सर्वदमनः, जयन्तप्रतिमः—जयन्तस्य = इन्द्रपुत्रस्य प्रतिमः = समः, वर्तते। त्वं पौलोमी—पुलोम्नः = एतन्नामकराक्षसस्य अपत्यं स्त्री पौलोमी = इन्द्राणी तस्याः सदृशी = तुल्या, भव। अतः = अस्मात्, अन्या = विशिष्टा, आशीः = आशी-र्वचनम्, ते = तव, योग्या = अनुरूपा, नास्ति = न वर्तते। अनुष्टुप् छन्दः ॥ २८ ॥

टिप्पणी—जयन्तप्रतिमः—इस श्लोक में दुष्यन्त को इन्द्र के सदृश, सर्वदमन को जयन्त के तुल्य तथा शकुन्तला को इन्द्राणी के समान होने का आशीष दिया गया है। अन्य दो पूर्ण ठीक हैं। किन्तु भरत (सर्वदमन) को जयन्त के सदृश होने का

अदितिः—जाते, भर्तुर्बहुमता भव। अयं च दीर्घायुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु। उपविशत। [जादे, भत्तुणो बहुमदा होहि। अअं च दीहाऊ वच्छओ उहअकुलणन्दणो होदु। उवविसह।] (सर्वे प्रजापतिमभित उपविशन्ति)

मारीचः—(एकैकं निर्दिशन्)

दिष्टया शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम्॥२९॥

राजा—भगवन् प्रागभिप्रेतसिद्धिः। पश्चाद् दर्शनम्। अतोऽपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः। कुतः—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रम-
स्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः॥३०॥

आशीष ठीक नहीं है। संस्कृत साहित्य में जयन्त न तो योद्धा के रूप में और न उच्चकोटि के व्यक्ति के रूप में ही चित्रित किया गया है। भरत भारतवर्ष का प्रथम अनुपम योद्धा राजा था। इसके विपरीत जयन्त नालायक के रूप में ही साहित्य में वर्णित है। अतः भरत के साथ भला उसकी क्या तुलना?

पौलोमी—पुलोमन् नामक एक राक्षस था। इन्द्र ने उसकी पुत्री शची के साथ विवाह किया था। बाद में इन्द्र ने उस राक्षस का वध कर डाला था। (हरिवंश पुराण २०-१३३) तथा रामायण (७२८।१६-१२०)।

इसमें अनुष्टुप् छन्द है॥ २८॥

अन्वयः—साध्वी, शकुन्तला, इदम्, सद्, अपत्यम्, भवान्। दिष्टया, श्रद्धा वित्तम्, विधिः, च, इति, तत्, त्रितयम्, समागतम्॥ २९॥

शब्दार्थ :—साध्वी = सती, पतिव्रता, शकुन्तला = शकुन्तला है; इदम् = यह, सद् = सद्गुण-सम्पन्न, अपत्यम् = पुत्र है; भवान् = आप हैं। दिष्टया = सौभाग्य से, श्रद्धा = आस्तिकता, वित्तम् = सम्पत्ति, विधिः = विधान, इति = इस प्रकार, तत् = वे, त्रितयम् = तीनों वस्तुएँ, समागतम् = एक स्थान पर मिल गई हैं॥२९॥

टीका—दिष्ट्येति। साध्वी=पतिव्रता शकुन्तला इयमस्ति। इदम्=एतत्, सद्=सद्गुणसम्पन्नम्, अपत्यम्=पुत्रः आस्ते। अयं सर्वगुणविशिष्टो भवान्। इत्थं दिष्टया=सौभाग्येन, श्रद्धा=आस्तिक्यबुद्धिः,वित्तम्=धनम्, विधिः=कर्मानुष्ठानस्य शास्त्रीयं विधानम्, चेतिपादपूर्तौ, इति—इत्थम्, तत्=अनुष्ठानस्यावश्यकम्, त्रितयम्=त्र्यवयवं वस्तु,

अदिति—बिटिया, पति की अत्यन्त प्यारी बनो। चिरञ्जीवी यह दुलारा बच्चा (माता-पिता) दोनों कुलों को आनन्दित करने वाला बने। तुम सब बैठ जाओ। (सभी लोग प्रजापति के चारों ओर बैठ जाते हैं।)

मारीच—(एक-एक को निर्देश करते हुए)

यह साध्वी शकुन्तला है। यह सद्गुणसम्पन्न पुत्र है। यह आप हैं। (इस प्रकार) सौभाग्य से श्रद्धा, वित्त और विधि ये तीनों ही वस्तुएँ एक स्थान पर मिल गई हैं ॥ २९ ॥

राजा—भगवन्, पहले अभीष्ट की प्राप्ति होती है और बाद में आपका दर्शन होता है। इस प्रकार आपकी कृपा अपूर्व है। क्योंकि :—

पहले पुष्प निकलता है, तदनन्तर फल लगता है। पहले मेघ घिरते हैं, उसके बाद जल बरसाता है। कारण और कार्य का यही क्रम है, किन्तु आपकी कृपा के आगे-आगे सम्पत्तियाँ चलती हैं ॥ ३० ॥

समागतम्=एकत्र मिलितम्। निदर्शना यथासंख्यं चालंकारौ। अनुष्टुप् छन्दः ॥ २९ ॥

टिप्पणी—त्रितयम्—यज्ञ के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—सर्वप्रथम श्रद्धा होनी चाहिए, ततः सम्पत्ति आवश्यक है, और फिर शास्त्रीय विधि-विधान। जहाँ ये तीनों बातें होती हैं, वहाँ सत्यपरिणाम तथा कल्याण होता है। संसार भी एक यज्ञ है। इसे चलाने के लिये भी उक्त तीनों बातें आवश्यक हैं। अतः शकुन्तला को श्रद्धा, पुत्र को सम्पत्ति एवं राजा को विधि कहा गया है। यहाँ तीनों शब्दों का लिंगसाम्य विशेष द्रष्टव्य है ॥ २९ ॥

व्युत्पत्तिः—त्रितयम्—त्रि+तयप्+विभक्तिः ॥ २९ ॥

अन्वयः—पूर्वम्, कुसुमम्, उदेति, ततः, फलम्, (उद्गच्छति), प्राक्, घनोदयः, तदनन्तरम्, पयः, (वर्षति), निमित्तनैमित्तिकयोः, अयम्, क्रमः, तु, तव, प्रसादस्य, पुरः, सम्पदः, (चलन्ति) ॥ ३० ॥

शब्दार्थः—पूर्वम् = पहले, कुसुमम् = पुष्प, उदेति = निकलता है, ततः = तदनन्तर, फलम् = फल, (उद्गच्छति = लगता है), प्राक् पहले, घनोदयः = मेघ घिरते हैं, तदनन्तरम् = उसके बाद, पयः = जल, (वर्षति = बरसता है), निमित्तनैमित्तिकयोः = कारण और कार्य का, अयम् = यही, क्रमः = क्रम है, तु = किन्तु, तव = आपकी, प्रसादस्य = कृपा के, पुरः = आगे-आगे, सम्पदः = सम्पत्तियाँ (चलन्ति चलती हैं ॥ ३० ॥

टीका—उदेतीति। पूर्वम् = प्रथमम्, कुसुमम् = प्रसूनम्, उदेति = उद्गच्छति, ततः = तदनन्तरम्, फलम् = तत्कार्यरूपमाम्रादिफलम्, उद्गच्छति = निःसरति। प्राक् = पूर्वम्, घनोदयः = मेघोद्गमः, तदनन्तरम् = ततः, पयः = जलवर्षणम्। निमित्तनैमित्तिकयोः = कार्यकारणयोः, अयम् = एषः पूर्वोक्तः क्रमो वर्तते रिक्ति व्यतिरेके, तव = भवतः, प्रसादस्य = अनुग्रहस्य, पुरः = पूर्वम्, सम्पदः = सम्पत्तयः,

मातलिः—एवं विधातारः प्रसीदन्ति।

राजा—भगवन्, इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाह-विधिनोपयम्य कस्यचित् कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृति-शैथिल्यात् प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्स-गोत्रस्य कण्वस्य। पश्चादङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमव-गतोऽहम्। तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति।

यथा गजो नेति समक्षरूपे
तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात्।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत् प्रतीति-
स्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥३१॥

चलन्तीति शेषः। काव्यलिङ्गमतिशयोक्तिरप्रस्तुतप्रशंसा चालङ्काराः। वंशस्थं छन्दः ॥ ३० ॥

टिप्पणी—तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः—ऋषियों-मुनियों के आशीष तथा दर्शन से व्यक्ति का कल्याण पहले हो गया है और दर्शन तथा आशीष की प्राप्ति बाद में हुई है। दुष्यन्त अपने पुत्र तथा चिरवियुक्त पत्नी को पहले पाता है। फिर उन्हें लेकर मारीच ऋषि का दर्शन करता है। यहाँ कल्याणरूपी कार्य पहले तथा दर्शनरूपी कारण बाद में उपस्थित होता है।

तृतीय चरण के प्रति पूर्व वाक्य कारण हैं। अतः काव्यलिङ्ग है। कार्य-कारण के पूर्वापर नियम के विपर्यय के करण अतिशयोक्ति है। पत्नी और पुत्र को साक्षात् निर्देश न कर सम्पत्ति कहने से अप्रस्तुत प्रशंसा है। विश्वनाथ के अनुसार यह श्लोक प्रियोक्ति नामक नाटकीय लक्षण का उदाहरण है। (साहित्य० ६।१९४)

वंशस्थ छन्द का लक्षण—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ॥' ३० ॥

व्युत्पत्तिः—नैमित्तिक०—निमित्त+ठक्+विभक्त्यादिः ॥ ३० ॥

अन्वयः—यथा, समक्षरूपे, (गजे), गजः, न, इति, (विश्वासः, स्यात्, किन्तु), तस्मिन्, अपक्रामति, संशयः, स्यात्, तु, पदानि, दृष्ट्वा, प्रतीतिः, भवेत्, तथाविधः, मे, मनसः, विकारः, (आसीत्) ॥३१॥

शब्दार्थः—यथा = जैसे, समक्षरूपे = सामने वर्तमान रूप वाले, (गजे = हाथी के होने पर), गजः = यह हाथी, न = नहीं है; इति = ऐसा, (विश्वासः = विश्वास, स्यात् = होवे, किन्तु = परन्तु), तस्मिन् = उसके, अपक्रामति = चले जाने पर, संशयः = सन्देह, स्यात् = हो, तु = और, फिर, पदानि = चरण-चिह्नों को, दृष्ट्वा =

मातलि—सृष्टिकर्ता लोग (अथवा भाग्य-विधाता लोग) इसी प्रकार कृपा करते हैं।

राजा—भगवन्, आपकी इस आज्ञाकारिणी (शकुन्तला) से गान्धर्व-विधि से विवाह करके पुनः कुछ काल के अनन्तर बन्धुओं के द्वारा जब यह मेरे पास लाई गई तब स्मरण-शक्ति की क्षीणता के कारण इसका परित्याग करके मैंने आपके वंशज पूजनीय कण्व ऋषि के प्रति अपराध किया है। बाद में अँगूठी के मिल जाने पर मुझे ज्ञान हुआ कि मैंने इससे विवाह किया था। यह बात मुझे बड़ी विचित्र लगती है।

जैसे सामने वर्तमानरूपवाले हाथी के होने पर 'यह हाथी नहीं है'—ऐसा विश्वास हो। किन्तु उसके चले जाने पर सन्देह हो और फिर चरण-चिह्नों को देख कर विश्वास किया जाय (कि यह हाथी ही था)। ठीक उसी प्रकार का मेरे मन का विकार था ॥ ३१ ॥

देखकर, प्रतीतिः = विश्वास, भवेत् = किया जाय, तथाविधः = उसी प्रकार का, मे = मेरे, मनसः = मन का, विकारः = विकार, (आसीत् = था) ॥३१॥

टीका—यथेति। यथा = येन प्रकारेण, समक्षरूपे—समक्षम् = प्रत्यक्षम् रूपम् = आकृतिः यस्य तादृशे, गज इति शेषः, अयं गजः = हस्ती, न = नास्ति, इति = इत्थम्, विश्वासः स्यात् किन्तु, तस्मिन् = गजे, अपक्रामति = निर्गते सति, संशयः = सन्देहः, स्यात् = भवेत्; तु = किन्तु, पदानि = चरणचिह्नानि, दृष्ट्वा = अवलोक्य, प्रतीतिः = विश्वासः, भवेत् = स्यादयं गज एवासीदिति। तथाविधः = तादृशः, मे = मम, मनसः = चेतसः, विकारः = विकृतिरासीदिति। निदर्शनालंकारः। उपजातिर्वृत्तम् ॥३१॥

टिप्पणी—यथा गजो न—एक दिन देवदत्त सड़क के किनारे बैठा था। राजा साहब का विशालकाय हाथी उसके सामने से गुजरा। उसने उसे देखकर सोचा कि यह विशालकाय पशु कौन है? क्या हाथी है? नहीं यह तो हाथी नहीं है। हाथी के दूर चले जाने पर उसे सन्देह होने लगा—शायद यह हाथी ही था। फिर पद-चिह्नों को देखकर उसने निश्चय किया कि यह तो हाथी ही था। ठीक यही दशा दुष्यन्त की है। शकुन्तला के सामने आने पर उसने निश्चयपूर्वक कहा था कि यह मेरी पत्नी नहीं है 'चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणम्' (अंक ५)। शकुन्तला के चले जाने पर उन्हें सन्देह हुआ था कि क्या यह वस्तुतः मेरी विवाहिता है?—'सन्दिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्' 'मूढः स्यामहमेषा वा' (५।२९)। फिर अँगूठी के मिलने पर विश्वास हो गया कि यह मेरी विवाहिता पत्नी ही थी।

यहाँ उपमा में पर्यवसित निदर्शना है। छन्द के लिये देखिये श्लोक २।७ तथा ५।५ की टिप्पणी ॥ ३१ ॥

व्युत्पत्तिः— दृष्ट्वा — √दृश् + क्त्वा। विकारः — वि+√कृ + घञ् + विभक्त्यादिः ॥ ३१ ॥

मारीचः—वत्स, अलमात्मापराधशङ्कया। संमोहोऽपि त्वय्यनुपपन्नः। श्रूयताम्।

राजा—अवहितोऽस्मि।

मारीचः—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात् प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति। स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः।

राजा (सोच्छ्वासम्) एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि।

शकुन्तला—(स्वगतम्) दिष्ट्याऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्रः। न खलु शप्तमात्मानं स्मरामि। अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदितः। अतः सखीभ्यां सन्दिष्टास्मि भर्तुरङ्गुलीयकं दर्शयितव्यमिति। [दिट्ठिआ अकारणपच्चादेसी ण अज्जउत्तो। ण हु सत्तं अत्ताणं सुमरेमि। अहवा पत्तो मए स हि सावो विरहसुण्णहिअआए ण विदिदो। दो सहीहिं संदिट्ठम्हि भत्तुणो अंगुलीअअं सइदव्वं त्ति।]

मारीचः—वत्से, चरितार्थासि। तदिदानीं सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः। पश्य—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥३२॥

शब्दार्थः—आत्मापराधशंकया = अपने अपराध की शंका से। संमोहः = चित्तविकार अनुपपन्नः = युक्तियुक्त नहीं है। प्रत्यक्षवैक्लव्याम् = प्रत्यक्ष विकलतावाली। अङ्गुलीयकदर्शनावसानः = अँगूठी देखते ही समाप्त हो जाने वाला था॥

टीका—मारीच इति। आत्मापराधशङ्कया—आत्मनः = स्वस्य अपराधः = दोषः तस्य शङ्का = सन्देहः तया। नास्त्यत्र तवापराधलेश इति भावः। संमोहः = चित्तविकारः, अनुपपन्नः = न युक्तिसंगतः। प्रत्यक्षवैक्लव्याम्—प्रत्यक्षम् = दृष्टिगतं मेनकया वैक्लव्यम् = विह्वलता यस्या सा तां तादृशीम्। अंगुलीयकदर्शनावसानः—अंगुलीयकस्य = अंगुलिमुद्रायाः दर्शनम् = साक्षात्कारः अवसानम् = समाप्तिसीमा यस्य तादृशः॥

शब्दार्थः—वचनीयात् = निन्दा से, अकारणप्रत्यादेशी = बिना कारण के ही परित्याग करने वाले। शप्तम् = शाप दी गई। विरहशून्यहृदयया = विरह के कारण

मारीच—बेटा, अपने अपराध की शंका न करो। तुममें चित्तविकार भी युक्तियुक्त नहीं है। सुनो।

राजा—सावधान हूँ (सुनने के लिये)।

मारीच—जभी अप्सरा तीर्थ के घाट से प्रत्यक्ष विकलतावाली (अर्थात् अत्यन्त विकल) शकुन्तला को लेकर मेनका दाक्षायणी के पास आई तभी ध्यान से मैंने जान लिया था कि दुर्वासा के शाप के कारण यह बेचारी सहधर्मचारिणी तुम्हारे द्वारा तिरस्कृत हुई है न कि अन्य कारण से। और वह शाप अँगूठी देखते ही समाप्त हो जाने-वाला था।

राजा—(लम्बी सांस लेकर) अब मैं निन्दा से बरी हो गया।

शकुन्तला—(अपने आप) यह सौभाग्य की बात है कि आर्यपुत्र (अर्थात् पतिदेव) बिना कारण के ही परित्याग करने वाले नहीं हैं। किन्तु मुझे कब शाप दिया गया यह याद नहीं आ रहा है। अथवा यह शाप मुझे मिला होगा, किन्तु उस समय मैं विरह के कारण शून्य हृदय थी, अतः उसे जान न पाई। इसीलिये (विदाई के अवसर पर) सखियों ने मुझे सिखलाया था कि (आवश्यकता पड़ने पर) यह अँगूठी पति को दिखलाना।

मारीच—बेटी, तुम कृतकृत्य हो गई। तो अब अपने पति के प्रति तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिए (कि इन्होंने मेरा परित्याग कर दिया था)। देखो—

शापवश स्मरण शक्ति के अवरोध के कारण निष्ठुर पति के द्वारा तुम तिरस्कृत हो गई थी। (किन्तु अब) समाप्त अज्ञानवाले (उन पर) तुम्हारी ही प्रभुता होगी। धूल पड़ने के कारण विनष्ट स्वच्छतावाले शीशे में प्रतिबिम्ब नहीं दिखलाई पड़ता। किन्तु (उसके) स्वच्छ हो जाने पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है ॥ ३२ ॥

शून्य हृदयवाली ॥

टीका—राजेति। वचनीयात् = निन्दायाः, अकारणप्रत्यादेशी—अविद्यमानं कारणं यस्मिन् तत् यथा तथा प्रत्यादिशति = निराकरोति यस्तादृशः। शप्तम् = शापं गमितम्। विरहशून्यहृदयया—विरहेण = पतिवियोगेन शून्यम् = रिक्तम् हृदयम् = चेतः यस्याः सा तादृश्या ॥

अन्वयः—शापात्, स्मृतिरोधरूक्षे, भर्तरि, प्रतिहता, असि, (किन्तु, सम्प्रति), अपेततमसि, (तस्मिन्), तव, एव, प्रभुता, (भविष्यति), मलोपहतप्रसादे, दर्पणतले, छाया, न, मूर्च्छति, तु, (तस्मिन्), शुद्धे (सति), सुलभावकाशा ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—शापात् = शापवश, स्मृतिरोधरूक्षे = स्मरणशक्ति अवरोध के कारण निष्ठुर, भर्तरि = पति के द्वारा, प्रतिहता = तिरस्कृत, असि = हो गई थी, (किन्तु = परन्तु, सम्प्रति = अब), अपेततमसि = समाप्त अज्ञानवाले, (तस्मिन् = उन पर), तव = तुम्हारी, एव = ही, प्रभुता = प्रभुता, अधिकार (भविष्यति = होगा), मलोपहतप्रसादे = धूल पड़ने के कारण विनष्ट स्वच्छतावाले, दर्पणतले = शीशे में,

राजा—यथाह भगवान् ।

मारीचः—वत्स, कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः ?

राजा—भगवन्, अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा । (इति बालं हस्तेन गृह्णाति ।)

मारीचः—तथाभाविनमेनं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान् । पश्य—

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः ।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥३३॥

छाया = प्रतिबिम्ब, न = नहीं, मूर्च्छति = प्रतिफलित होती, दिखलाई पड़ती, तु = किन्तु, (तस्मिन् = उसके), शुद्धे (सति) = स्वच्छ हो जाने पर, सुलभावकाशा = स्पष्ट दिखलाई पड़ती है, उसे दर्पण में आसानी से स्थान मिल जाता है ॥ ३२ ॥

टीका—शापादिति । शापात् = दुर्वाससा दत्तात् शापात्, स्मृतिरोधरूक्षे—पूर्वं स्मृतेः = स्मरणस्य रोधेन = व्याहतत्त्वेन रूक्षे = निःस्नेहे, भर्तरि = पत्यौ, प्रतिहता = तिरस्कृता, असि = आसीः । शापादित्यनेन तस्य दोषाभाव उक्तः । किन्तु सम्प्रतीति योज्यम्, अपेततमसि—अपेतम् = दूरीभूतम् तमः = शापजातमज्ञानम् यस्मादेवंभूते, (तस्मिन् = भर्तरि), तव = शकुन्तलायाः, एवेत्यन्यप्रतिषेधः, प्रभुता = आधिपत्यं भविष्यतीति योज्यम्, उदाहरति—मलोपहतप्रसादे—मलेन = आगन्तुकेन दोषेण, धूल्यादिनेत्यर्थः, उपहतः = दूरीभूतः प्रसादः = प्रसन्नता, निर्मलतेत्यर्थः, यस्य तस्मिन् तादृशे, दर्पणतले = मुकुरतले, छाया = प्रतिबिम्बः, ('छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपे, इत्यमरः) न मूर्च्छति = न प्रसरति, तु = किन्तु, तस्मिन् दर्पणतले, शुद्धे = निर्मले सति, सा छाया सुलभावकाशा—सुलभः = सुकरः अवकाशः = स्थानम् यस्याः तादृशी भवति । अत्यन्तं व्यक्ता दृश्यत इत्यर्थः । उपमालङ्कारः । वसन्ततिलका छन्दः ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—प्रभुता—इन पर अब तुम्हारा ही जादू काम करेगा । तुम इनकी पटरानी बनोगी । तुम्हारी बात इनके लिये महामन्त्र होगी ।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है । छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।' ३२ ॥

व्युत्पत्तिः—प्रतिहता—प्रति + √हन् + क्त + टाप् + विभक्त्यादिः । रूक्षे—√रूक्ष् + अच् + सप्तम्यैकवचने विभक्तिः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—कच्चित् = क्या, अनुष्ठितजातकर्मा = किया गया है जातकर्म संस्कार

राजा—जैसा आपने कहा (वह सत्य है)।

मारीच—वेटा, क्या तुमने हम लोगों के द्वारा विधिपूर्वक किया गया है जातकर्म संस्कार जिसका ऐसे इस शकुन्तला से उत्पन्न पुत्र का अभिनन्दन किया ?

राजा—भगवन्, इस पर मेरे वंश की प्रतिष्ठा निर्भर है। (ऐसा कहकर बालक का हाथ पकड़ता है।)

मारीच—आप इसे उसी प्रकार का होने वाला (अर्थात् वंश का प्रतिष्ठापक) चक्रवर्ती सम्राट् समझें। देखिये—

अद्वितीय महारथी यह अस्खलित तथा शान्त गतिवाले रथ से सागरों को पार करके भविष्य में सात द्वीपों वाली पृथिवी को जीतेगा। यहाँ आश्रम में प्राणियों का बलपूर्वक दमन करने के कारण इसका नाम 'सर्वदमन' रक्खा गया है। भविष्य में संसार का भरण-पोषण करने के कारण यह 'भरत' इस नाम से प्रसिद्ध होगा ॥ ३३ ॥

जिसका ऐसा, शाकुन्तलेयः = शकुन्तला से उत्पन्न। भाविनम् = आगे होने वाले, भावी, चक्रवर्तिनम् = सम्राट् ॥

टीका—मारीच इति। कच्चिदिति प्रश्ने, अनुष्ठितजातकर्मा—अनुष्ठितम् = कृतम् जातकर्म = जातकर्मसंस्कारः यस्य स तादृशः, शाकुन्तलेयः—शकुन्तलायाः अपत्यं पुमान् शाकुन्तलेयः = शकुन्तलाजातः। भाविनम् = भाविनि काले सम्पद्यमानम्, चक्रवर्तिनम् = सार्वभौमं सम्राजम् ॥

व्युत्पत्तिः—अभिनन्दितः—अभि + √नन्द् + क्त + विभक्त्यादिः। शाकुन्तलेयः = शकुन्तला + ढक् (एय) + विभक्त्यादिः। प्रतिष्ठा—प्रति + √स्था + अङ् + टाप् ॥

अन्वयः—अप्रतिरथः, अयम्, अनुद्घातस्तिमितगतिना, रथेन, तीर्णजलधिः, पुरा, सप्तद्वीपाम्, वसुधाम्, जयति, इह, सत्त्वानाम्, प्रसभदमनात्, सर्वदमनः, (अस्ति), पुनः, लोकस्य, भरणात्, भरतः, इति, आख्याम्, यास्यति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—अप्रतिरथः = अद्वितीय महारथी, अयम् = यह, अनुद्घातस्तिमितगतिना = अस्खलित तथा शान्त गतिवाले, रथेन = रथ से, तीर्णजलधिः = सागरों को पार करके, पुरा = भविष्य में, सप्तद्वीपाम् = सात द्वीपों वाली, वसुधाम् = पृथिवी को, जयति = जीतेगा। इह = यहाँ आश्रम में, सत्त्वानाम् = प्राणियों का, प्रसभदमनात् = बलपूर्वक दमन करने के कारण, सर्वदमनः = सर्वदमन नामवाला, (अस्ति = है)। पुनः = भविष्य में, लोकस्य = संसार का, भरणात् = भरण-पोषण करने के कारण, भरतः = भरत, इति = इस, आख्याम् = संज्ञा को, नाम को, यास्यति = प्राप्त करेगा ॥ ३३ ॥

टीका—रथेनेति। न विद्यते प्रतिद्वन्द्वी रथो यस्यासौ अप्रतिरथः, अथवा न विद्यते प्रतिरथः = प्रतियोद्धा यस्य सः, अयम् = एषः बालकः, अनुद्घातेति—अनुद्घाता = अस्खलिता अतएव स्तिमिता = निश्चला गतिः = गमनम् यस्य तेन तादृशेन, रथेन = स्यन्दनेन, तीर्णजलधिः—तीर्णाः = उत्तीर्णाः जलधयः = सागराः येन तादृशः, तीर्णसमुद्र इत्यर्थः,

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन् वयमाशास्महे।

अदितिः—भगवन्, अस्या दुहितृमनोरथसम्पत्तेः कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम्। दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति। [भअवं, इमाए दुहिदुमणोरहसंपत्तीए कण्णो वि दाव सुदवित्थारो करीअदु। दुहिदुवच्छला मेणआ इह एव्व उपचरन्ती चिट्ठदि।]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) मनोरथः खलु मे भणितो भगवत्या। [मणोरहो क्खु मे भणिदो भअवदीए।]

मारीचः—तपःप्रभावात् प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः।

राजा—अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः।

मारीचः—तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः श्रावयितव्यः। कः कोऽत्र भोः ?

शिष्यः—(प्रविश्य) भगवन्, अयमस्मि।

मारीचः—गालव, इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात् तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा—पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति।

पुरा = प्रथमम्, सप्तद्वीपाम्—सप्त = कुशक्रौञ्चादिद्वीपानि यस्याः सा सप्तद्वीपा ताम्, वसुधाम् = पृथिवीम्, जयति = जेष्यति। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' (पा० ३।३।४) इत्यनेन पुरा योगे भविष्यदर्थे लट्। इह = अत्राश्रमे, सत्त्वानाम् = प्राणिनाम्, प्रसभदमनात्—प्रसभम् = हठेन दमनात् = शासनात्, सर्वदमनः इत्याख्यामभिधां यातः। पुनः = भाविनि काले, लोकस्य = संसारस्य, भरणात् = पालनात् भरत इति आख्याम् = संज्ञाम्, यास्यति = गमिष्यति। भरत इति नाम्ना प्रसिद्धो भविष्यतीति यावत्। भाविकं काव्यलिङ्गं चालङ्कारौ। शिखरिणी छन्दः॥ ३३॥

टिप्पणी—पुरा जयति—जीतेगा। पुरा के साथ होने से यहाँ भविष्यत् अर्थ में 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' (पा० ३।३।४) से लट् लकार हुआ है।

सप्तद्वीपाम्—पौराणिक वाङ्मय के अनुसार समूची पृथिवी सात द्वीपों में विभक्त मानी गई है। प्रत्येक द्वीप विभिन्न समुद्रों से घिरे हुए हैं। इनमें जम्बूद्वीप मुख्य था। इन द्वीपों के नाम हैं—जम्बु, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर। जम्बू द्वीप की स्थिति बीच में मानी गई है। इसके बीचोबीच सुमेरु पर्वत माना गया है।

राजा—आपके द्वारा संस्कार किये गये इस बालक में हम लोग सब कुछ आशा करते हैं।

अदिति—भगवन्, पुत्री के (पूर्ण हुए इस) मनोरथ-वैभव से कण्व को भी विदित करा देना चाहिए। पुत्रि-वत्सला मेनाका तो हमलोगों की सेवा करती हुई यहीं है (अतः उसे तो ज्ञात ही हो जायगा)

शकुन्तला—(अपने आप) पूज्या (अदिति) ने तो वस्तुतः मेरा मनोरथ ही कह दिया है।

मारीच—तपस्या के प्रभाव से आदरणीय कण्व को सारी बातें विदित ही हैं।

राजा—इसीलिये मुनि (कण्व) मेरे ऊपर अधिक क्रुद्ध नहीं हुए।

मारीच—तो भी यह प्रिय समाचार हमें (उन्हें) सुनाना ही है। कौन-कौन है यहाँ जी ?

शिष्य—(प्रवेश करके) भगवन्, यह मैं हूँ।

मारीच—गालव, अभी आकाशमार्ग से जाकर मेरी ओर से आदरणीय कण्व से (यह) प्रिय समाचार सादर निवेदन करो कि पुत्रसहित शकुन्तला अपने शाप की समाप्ति पर स्मरण करने वाले दुष्यन्त के द्वारा स्वीकार कर ली गई है।

भरतः—कालिदास ने भृ धातु से भरत शब्द की निष्पत्ति माना है। इन्हीं भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है। यद्यपि वायुपुराण (४५-७५,७६) तथा ब्रह्माण्डपुराण (४९) में मनु की भी संज्ञा भरत बतलाई गई है। वायुपुराण का कथन है—'वर्षं तद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा। भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते ॥' किन्तु इस भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारतवर्ष मानना अधिक समीचीन है।

यहाँ भाविक तथा काव्यलिंग अलङ्कार तथा शिखरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' ॥ ३२ ॥

व्युत्पत्तिः—तीर्ण०—√तॄ + क्त + विभक्त्यादिकार्यम्।

भरणात्—√भृ + ल्युट् + विभक्तिकार्ये रूपम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—कृतसंस्कारे = संस्कार किये गये, दुहितृमनोरथसम्पत्तेः—पुत्री के मनोरथ-वैभव से, श्रुतविस्तारः = विस्तारपूर्वक बतलाये गये। उपचरन्ति = सेवा करती हुई ॥

टीका—राजेति। कृतसंस्कारे—कृतः = विहितः संस्कारः यस्यासौ तस्मिन्। दुहितृमनोरथसम्पत्तेः—दुहितुः = पुत्र्याः यो मनोरथः = अभिलाषः पतिप्रतिग्रहणरूपः तस्य या सम्पत्तिः = सिद्धिः तस्याः। श्रुतविस्तारः—श्रुतः = आकर्णितः विस्तारः = विस्तारः येन तादृशः। उपचरन्ती = सेवमाना ॥

शब्दार्थः—विहायसा = आकाश से, आकाशमार्ग से, स्मृतिमता = स्मरणयुक्त,

शिष्यः—यदाज्ञापयति भगवान् (इति निष्क्रान्तः ।)

मारीचः—वत्स, त्वमपि स्वापत्यदारसहितः सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानीं प्रतिष्ठस्व ।

राजा—यदाज्ञापयति भगवान् ।

मारीचः—अपि च—

तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयस्व ।
युगशतपरिवर्तानेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥३४॥

राजा—भगवन्, यथाशक्ति श्रेयसे यतिष्ये ।

मारीचः—वत्स, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति । यदीह भगवान् प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु । (भरतवाक्यम्)—

याद करने वाले, प्रतिगृहीता = स्वीकार कर ली गई है । स्वापत्यदारसहितः = अपने पुत्र और पत्नी के साथ, सख्युः = मित्र, आखण्डलस्य = इन्द्र के ॥

टीका—मरीच इति । विहायसा = आकाशेन, आकाशमार्गेण, स्मृतिमता = स्मरणशालिना, प्रतिगृहीता = स्वीकृता । स्वापत्यदारसहितः—स्वस्य अपत्येन = शाकुन्तलेयेन भरतेन दारैः = शकुन्तलया च सहितः = संयुक्तः, सख्युः = मित्रस्य, आखण्डलस्य = इन्द्रस्य ॥

अन्वयः—विडौजाः, तव, प्रजासु, प्राज्यवृष्टिः, भवतु, त्वम्, अपि, विततयज्ञः (सन्), वज्रिणम् प्रीणयस्व, एवम्, उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः, अन्योन्यकृत्यैः, युगशतपरिवर्तान्, नयतम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—विडौजाः = इन्द्र, तव = तुम्हारी, प्रजासु = प्रजाओं के मध्य, प्राज्यवृष्टिः = पर्याप्त वृष्टि वाला हो, त्वम् = तुम, अपि = भी, विततयज्ञः (सन्) = यज्ञों का विस्तार कर, वज्रिणम् = इन्द्र को, प्रीणयस्व = प्रसन्न करो, एवम् = इस प्रकार, उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः = (स्वर्ग तथा भूतल) दोनों लोकों के उपकार के कारण प्रशंसनीय, अन्योन्यकृत्यैः = पारस्परिक कार्यों से, युगशतपरिवर्तान् = सैकड़ों युगों को, नयतम् = बिताओ ॥ ३४ ॥

टीका—तवेति । वेवेष्टि इति विट् = व्यापकम् ओजः = बलम् तेजो वा यस्य सः,

शिष्य—पूज्य आपकी जैसी आज्ञा। (ऐसा कहकर निकल गया)।

मारीच—बेटा, तुम भी अपने पुत्र और पत्नी के साथ मित्र इन्द्र के रथ पर चढ़कर अपनी राजधानी के लिये प्रस्थान करो।

राजा—पूज्य आपकी जैसी आज्ञा।

मारीच—और भी—

इन्द्र तुम्हारी प्रजाओं के मध्य पर्याप्त वृष्टिवाला हो (अर्थात् पर्याप्त वृष्टि करे)। तुम भी यज्ञों का विस्तारकर इन्द्र को प्रसन्न करो। इस प्रकार (स्वर्ग तथा भूतल) दोनों लोकों के उपकार के कारण प्रशंसनीय पारस्परिक कार्यों से (तुम दोनों) सैकड़ों युगों को बिताओ ॥ ३४ ॥

राजा—भगवन्, मैं अपनी शक्ति भर (लोक—) मङ्गल के लिये प्रयास करूँगा।

मारीच—बेटा, मैं और क्या तुम्हारा प्रिय उपकार करूँ ?

राजा—क्या इससे भी बड़ा कोई प्रिय हो सकता है ? यदि आप कुछ और प्रिय करना चाहते हैं तो यह हो—(भरतवाक्य)—

अथवा विडति = भिनत्ति रिपून् इति विडम् = शत्रुभेदकम् ओजः यस्य सः विडौजाः = इन्द्रः, तव = राज्ञो दुष्यन्तस्य, प्रजासु = जनेषु, ('प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः), प्राज्यवृष्टिः—प्राज्या = प्रभूता वृष्टिः = वर्षणम् यस्य स तथाविधः, भवतु = स्यात्। काले काले प्रभूतजलवर्षणेन भूलोकं पुष्यतु इत्यर्थः। त्वमपि, विततयज्ञः—वितताः = विस्तीर्णाः यज्ञाः = इष्टयः येन तादृशः सन्, वज्रिणम् = इन्द्रम्, प्रीणयस्व = प्रसादय। एवम् = इत्थम्, उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः—उभयोः = द्वयोः लोकयोः = द्यावापृथिव्योरित्यर्थः अनुग्रहेण = उपकारेण श्लाघनीयैः = प्रशंसनीयैः, अन्योन्यकृत्यैः—अन्योन्यस्य = परस्परस्य कृत्यैः = कार्यैः, युगशतपरिवर्तान्—युगानाम् = त्रेतादीनाम् शतानि तेषां परिवर्ताः = परिवृत्तयस्तान्, नयतम् = अतिवाहयतम्। परिवृत्तिरलङ्कारः। मालिनी छन्दः ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—युगशत०—युग चार हैं—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग। इन चारों के बीतने को एक चौकड़ी कहते हैं। ये एक के बाद एक आते रहते हैं। यह चौकड़ी बराबर घूमती रहती है। मारीच के कहने का भाव यह है कि इस प्रकार सैकड़ों चौकड़ी तुम दोनों व्यतीत करो।

यहाँ पर पारस्परिक आदान-प्रदान की बात होने से परिवृत्ति अलङ्कार है। श्लोक में प्रयुक्त मालिनी छन्द का लक्षण—'न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः' ॥ ३४ ॥

व्युत्पत्तिः—प्राज्य०—प्र + आज्य + विभक्तिः। कृत्यैः—√ कृ + ल्यप् + विभक्त्यादिः ॥ ३४ ॥

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतमहतां महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥३५॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ इति सप्तमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तमिदमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम् ॥

अन्वयः—पार्थिवः, प्रकृतिहिताय, प्रवर्तताम्, श्रुतमहताम्, सरस्वती, महीयताम्, परिगतशक्तिः, आत्मभूः, नीललोहितः, मम, अपि, पुनर्भवम्, क्षपयतु ॥ ३५ ॥

शब्दार्थः—पार्थिवः = राजा, प्रकृतिहिताय = प्रजा के हित के लिये, प्रवर्तताम् = प्रयत्नशील हो; श्रुतमहताम् = ज्ञानवरिष्ठ लोगों की, सरस्वती = वाणी, महीयताम् = गौरवमण्डित हो; परिगतशक्तिः = सर्वशक्तिमान्, आत्मभूः = स्वयंभू, नीललोहितः = शिव, मम = मेरे, अपि = भी, पुनर्भवम् = पुनर्जन्म को, क्षपयतु = समाप्त करें ॥ ३५ ॥

टीका—प्रवर्ततामिति । पार्थिवः = पृथिव्या ईश्वरः राजा, प्रकृतिहिताय—प्रकृतिः = प्रजा तस्याः हिताय = कल्याणाय, पौरश्रेणिहितायेत्यर्थः, प्रवर्तताम् = प्रवृत्तः स्यात् । श्रुतमहताम्—श्रुतेन = शास्त्रश्रवणेन महताम् = गरिष्ठानाम्, उत्कृष्टशक्तिमतां कवीनामित्यर्थः, सरस्वती = वाणी, महीयताम् = गौरवं लभताम् । परिगतशक्तिः—परितः = सर्वतः गताः = व्याप्ताः शक्तयः यस्यासौ तादृशः, सर्वशक्तिसम्पन्न इत्यर्थः, आत्मभूः—आत्मना भवतीति आत्मभूः = आत्मजन्मा, नीललोहितः = महादेवः, मम = कवेः कालिदासस्य, प्रकृते राज्ञो दुष्यन्तस्य, अपि = च, पुनर्भवम् = जन्मान्तरम्, पुनरुत्पत्तिमित्यर्थः, क्षपयतु = नाशयतु । अनुप्रासालङ्कारः । रुचिरा छन्दः ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—भरतवाक्यम्—नाटक का अन्तिम श्लोक, जो प्रशस्ति के रूप में होता

राजा प्रजा के हित के लिये प्रयत्नशील हों। ज्ञानवरिष्ठ लोगों की वाणी (अर्थात् कवियों की कृति) गौरव-मण्डित हो। सर्वशक्तिमान् स्वयंभू शिव मेरे भी पुनर्जन्म को समाप्त करें (अर्थात् मुझे मुक्ति प्रदान करें) ॥ ३५ ॥

(इस प्रकार सभी निकल जाते हैं)

॥ सातवाँ अङ्क समाप्त ॥

॥ यह अभिज्ञान शाकुन्तल नामक नाटक समाप्त हुआ ॥

●

है, भरतवाक्य कहा जाता है। 'भरत' शब्द का अर्थ है—नट। भरतवाक्य = नट-वाक्य। नाट्यशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य भरत के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए ही अभिनेता नट अपने वाक्य को भरतवाक्य की संज्ञा देता है। भरतवाक्य में प्राणिमात्र की भलाई की कामना की जाती है।

श्रुतिमहती—कहीं-कहीं श्रुतिमहती पाठ मिलता है। इसका अर्थ है—वेदों में प्रतिपादित महत्त्ववाली संस्कृत विद्या का गौरव बढ़े। अथवा वैदिक-वाङ्मय के कारण समृद्ध संस्कृत विद्या का गौरव बढ़े।

परिगतशक्तिः—शैवागमों में शिव की तीन प्रधान शक्तियाँ बतलाई गई हैं। इनके नाम हैं—१—ज्ञानशक्ति, २—इच्छाशक्ति तथा ३—क्रियाशक्ति।

आत्मभूः—इसका अर्थ है—बिना किसी तत्त्व तथा व्यक्ति की सहायता के स्वयं अपनी इच्छा से जन्म धारण करने वाले। यह विशेषण ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—तीनों—के लिए प्रयुक्त होता है।

इस श्लोक में अनुप्रास अलङ्कार तथा रुचिरा छन्द है। छन्द का लक्षण:—'जभौ रजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः' ॥ ३५ ॥

व्युत्पत्तिः—पार्थिवः—पृथिवी+अण्+आदिवृद्धौ विभक्त्यादिः ॥ ३५ ॥

॥ इति रमाशङ्करत्रिपाठिकृतायां शाकुन्तलव्याख्यायां रमाख्यायां सप्तमोऽङ्कः ॥

विन्ध्यक्षेत्रान्तरे रम्ये मीरजापुर मण्डले।
गम्भीरपुरनामास्ति ग्रामः ख्यातो महीतले ॥१॥
तत्र रामप्रसादाख्यस्त्रिपाठी ब्राह्मणोऽह्यभूत्।
तस्यासीत् प्रबला भक्तिर्विष्णोश्चरणपङ्कजे ॥२॥
अतो नामापरं तस्य रामदासेति विश्रुतम्।
जातः परमहंसोऽयमन्तिमे समये महान् ॥३॥

चत्वार आत्मजास्तस्य बभूवुः कृतिनां वराः ।
ज्येष्ठो गणपतिस्तेषु सोमदत्तोऽपरस्तथा ॥४॥
तृतीयो देवदत्तश्च कृष्णदत्तश्चतुर्थकः ।
कृष्णदत्तस्य तुर्यस्य द्वौ सुतौ प्रबभूवतुः ॥५॥
दीनान्तः शीतलस्तत्र प्रथमः प्रथितोऽभवत् ।
श्रीमान् रामदयाल्वाख्यो द्वितीयोऽभूत् परः कृती ॥६॥
आद्यः शीतलदीनो यश्चतुरः सुषुवे सुतान् ।
चतुरान् कृतविद्यांश्च चतुरः सागरानिव ॥७॥
आदित्यरामस्तत्रैकः कर्मकाण्डी महायशाः ।
दिवाकरो भास्करश्च प्रभाकर इतीरिताः ॥८॥
आदित्यरामस्यैकोऽभूज्ज्येष्ठः पुत्रः सुधीवरः ।
शिवप्रतापनाम्ना यः प्रसिद्धिं परमां गतः ॥९॥
द्वितीयः शिवसम्पत्तिर्गुणज्ञो गुणवान् मतः ।
शिवप्रतापस्य पुत्रो द्वेषमात्सर्यवर्जितः ॥१०॥
श्रीमान् रामसुमेरुर्हि पुण्यवान् भाग्यवांस्तथा ।
तस्य भार्याऽञ्जनानाम्नी शङ्करस्य सती यथा ॥ ११ ॥
प्रासूत चतुरः पुत्रान् प्राणौपम्येन संस्मृतान् ।
येषां ज्येष्ठो रामरूपो दयाधर्मान्वितः सुधीः ॥ १२ ॥
त्रिवेणीशङ्करः ख्यातः पण्डितोऽस्ति द्वितीयकः ।
रमाशङ्करनामाहं टीकाकृत्तु तृतीयकः ॥ १३ ॥
वात्सल्यभाङ् नः सततं चतुर्थो हरिशङ्करः ।
सहायभूतः सर्वेषामेषां स्नेहानुवर्द्धितः ॥ १४ ॥
सोऽहं सम्प्रार्थये मूलं परमात्मानमीश्वरम् ।
हृदयग्राहिणी भूयात् कृतिः कान्ता विदां मम ॥ १५ ॥

॥ इति सप्तमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

परिशिष्ट—१

श्लोकानुक्रमणिका

(इस सूची में पहली संख्या के द्वारा अंक और दूसरी संख्या के द्वारा श्लोक का निर्देश किया गया है। कोष्ठ में छन्दों के नाम दिए गये हैं।)

—————

परिशिष्ट—२

(अ) सुभाषित-वाक्यानि

पृष्ठ-संख्या

५९. मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति । ४२
६०. मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु । २९८
६१. रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्थाः । ३६६
६२. राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम । ५२
६३. राज्ञां तु चरितार्थता दुःखोत्तरैव । २७४
६४. लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं, श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् । १६४
६५. वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती । ५०
६६. वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः । ३२४
६७. विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य । १५२
६८. विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम । ३२
६९. विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति । १७२
७०. सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः । ४८
७१. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम् । ४२
७२. सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यति । ११०
७३. सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी संपद्यते जन्तुः । २७४
७४. सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति । ३१०
७५. सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति । १६०
७६. स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति । १५४
७७. स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशंकया । ४७२
७८. स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः । २९२

(आ) सुभाषित श्लोक

अंक—श्लोकसंख्या

१. अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ ५-२४

२. आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥ ७-१७

३. औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥ ५-६

४. ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते ।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जनः ॥ ६-३१

५. भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥ ५-१२

६. भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥ ५-४

७. मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः ॥ २-५

८. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ ५-२

९. शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद् वमन्ति ॥ २-७

१०. शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥ ४-१८

११. सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥ ५-१७

१२. सहजं किल यद् विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥ ६-१

१३. सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।
किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥ ७-४

१४. स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात–
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥ ५-२२

परिशिष्ट—३

छन्दः परिचय

(शाकुन्तल में प्रयुक्त छन्दों के लक्षण आदि)

(१) संस्कृत में प्रत्येक श्लोक में ४ भाग होते हैं। श्लोक के चतुर्थ भाग को पाद या चरण कहते हैं। छन्द दो प्रकार के होते हैं—(क) वर्णवृत्त, (ख) मात्रिक। (क) वर्णवृत्तों में प्रत्येक पाद के वर्णों (अक्षरों) की गणना की जाती है। (ख) मात्रिक में मात्राओं की संख्या गिनी जाती है। वर्णवृत्तों को 'वृत्त' कहते हैं, जैसे—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि। मात्रिक छन्दों को 'जाति' कहते हैं, जैसे—आर्या। वृत्त तीन प्रकार के होते हैं—(क) समवृत्त—जिसमें चारों पदों में वर्णों की संख्या बराबर होती है। जैसे—इन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका आदि। अधिकांश छन्द इसी प्रकार के होते हैं। (ख) अर्धसमवृत्त—जहाँ पर प्रथम और तृतीय चरण में तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में ही समता होती है। जैसे—पुष्पिताग्रा, वियोगिनी। (ग) विषमवृत्त—जहाँ पर चरणों में समानता नहीं होती है। जैसे—आर्या।

(२) दोनों प्रकार के छन्दों में स्वरों पर ध्यान दिया जाता है। अ, इ, उ, ऋ, और लृ ये 'लघु' (ह्रस्व) स्वर हैं। आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ ओ, औ ये 'गुरु' (दीर्घ) स्वर माने गये हैं। अनुस्वार, विसर्ग तथा संयुक्त अक्षर से पूर्व यदि लघु स्वर भी होता है तो वह गुरु माना जाता है। पाद का अन्तिम लघु अक्षर कभी गुरु भी मान लिया जाता है।

सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत्।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा॥

(३) संस्कृत में वर्णवृत्तों की गणना के लिए 'गण' का उपयोग किया जाता है। एक 'गण' में तीन अच्चर होते हैं। छन्दों के लक्षण में इन गणों का ही प्रयोग होता है, अतः इन इनको स्मरण करना अनिवार्य है। लघु वर्ण के लिए '।' सीधी लकीर चिह्न हैं और गुरुवर्ण के लिए 'ऽ' चिह्न है। गण ८ हैं। इनके नाम और लक्षण के लिये निम्नलिखित श्लोक याद कर लेना चाहिये।

मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो, भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः, सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः॥

मगण ऽऽऽ, नगण ।।।, भगण ऽ।।, यगण ।ऽऽ
जगण ।ऽ।, रगण ऽ।ऽ, सगण ।।ऽ, तगण ऽऽ।

दूसरा लक्षण निम्नलिखित है—

आदिमध्यावसानेषु य-र-ता यान्ति लाघवम्।
भ-ज-सा गौरवं यान्ति म-नौ तु गुरुलाघवम्॥

जैसे—म या मगण कहने पर अर्थ होगा—तीन गुरु अक्षर, न का अर्थ होगा तीनों लघु अक्षर, भ का अर्थ होगा प्रथम गुरु अक्षर तथा शेष दो लघु अक्षर।

(४) (क) लक्षणों में जहाँ पर 'ल' आता है, उसका अर्थ होगा 'लघु' और 'ग' का अर्थ है 'गुरु'। यदि 'लौ' या 'गौ' हो तो दो लघु या दो गुरु अर्थ होगा।

(ख) 'यति' का अर्थ है विराम या विश्राम। जहाँ पर श्लोक या श्लोकार्ध के बीच में उच्चारण करते समय थोड़ा रुकना होता है, उसे 'यति' कहते हैं। लक्षणों में इसका निर्देश किया गया है कि कितने वर्णों के बाद यति आती है। इसका आगे कोष्ठों में निर्देश किया गया है।

अभिज्ञानशाकुन्तल में २४ छन्दों का प्रयोग हुआ है। अकारादि-क्रम से उनका विवेचन यहाँ किया गया है। उनके लक्षणादि निम्नलिखित हैं—

(१) अनुष्टुप् या श्लोक—श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

अनुष्टुप् को श्लोक भी कहते हैं। इसके प्रत्येक पाद में ८ अक्षर होते हैं। इसमें षष्ठ अक्षर सदा गुरु होता है और पंचम अक्षर सदा लघु। द्वितीय और चतुर्थ चरण में सप्तम अक्षर लघु होता है और प्रथम तथा तृतीय चरण में गुरु होता है। अन्य अक्षर लघु या गुरु हो सकते हैं।

श्लोक—शाकुन्तलम् १—५,६,११,१२,२६; २—१३,१६,१७; ३—१, १७,२०, ४—४,७; ५—१४,२४,२६,२९; ६—२३,२८,३२; ७—९,१३ १४,१५,२३,२८,२९। (योग २७)

(२) अपरवक्त्र—अयुजि ननरला गुरुः समे, तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ।

अपरवक्त्र के प्रथम और तृतीय चरण में ११ वर्ण होते हैं—२ नगण, १ रगण, १ लघु, १ गुरु। इसके द्वितीय और चतुर्थ चरण में १२ वर्ण होते हैं—१ नगण, २ जगण, १ रगण। यह अर्धसम वृत्त है। शाकु० ४—१०,५—१। (२)

(३) आर्या—यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥

यह मात्रिक छन्द है। इसके प्रथम पाद में १२ मात्राएँ होती हैं, द्वितीय में १८, तृतीय में १२ और चतुर्थ में १५ मात्राएँ। इसका प्रयोग शाकुन्तल में प्रायः हुआ है।

शाकु०—१—२,३,१३,१६,१७,२१,२५,२८,२९,३४; २—१,८; ३—२,४,५,९, १२,१४,१५,१९; ४—१२,१६,२१; ५—११,१३,१६,१८,२१,२८,३१; ६—२,३, ७,१५,१९,२१,३१; ७—२२। (३८)

(४) इन्द्रवज्रा—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

इन्द्रवज्रा के प्रत्येक पाद में ११ वर्ण होते हैं। २ तगण, १ जगण, २ गुरु अक्षर। शाकु० ४—२२, ५—४। (२)

(५) उद्गाथा या गीति—

यह आर्या छन्द का ही एक प्रकार है। इसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में ३०, ३० मात्राएँ होती हैं। पूरे श्लोक में ६० मात्राएँ होती हैं। पूर्वार्ध में १२+१८=३० मात्राएँ तथा उत्तरार्ध में भी १२+१८=३० मात्राएँ होती हैं। शाकु० १—४, ३—१३। (२)

(६) उपजाति—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम।

उपजाति के प्रत्येक पाद में ११ वर्ण होते हैं। यह इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा दोनों छन्दों के मिश्रण से बनता है। किसी चरण में इन्द्रवज्रा छन्द होता है और किसी में उपेन्द्रवज्रा। इन्द्रवज्रा में ११ वर्ण होते हैं—२ तगण, १ जगण, २ गुरु। उयेन्द्रवज्रा में भी ११ वर्ण होते हैं—१ जगण, १ तगण, १ जगण, २ गुरु। शाकु० २—७; ५—५, २०, २५, ६—१०,२४,२६, ७—२,५,१९,३१। (११)

(७) त्रिष्टुप्—यह वैदिक छन्द है। लौकिक साहित्य में इसका प्रयोग बहुत अधिक नहीं होता। इसके प्रत्येक पाद में ११ वर्ण होते हैं। कालिदास ने इस वैदिक छन्द का प्रयोग अंक ४ श्लोक ८ में किया है। इसमें चतुर्थ या पंचम वर्ण पर यति होती है। शाकु० ४—८। (१)

(८) द्रुतविलम्बित—द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

द्रुतविलम्बित के प्रत्येक पाद में १२ वर्ण होते हैं। १ नगण, २ भगण, १ रगण। शाकु० २—११, ३—१६, ५—२७, ६—८, ७—३। (५)

(९) पथ्यावक्त्र—युजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्।

यह अनुष्टुप् का एक भेद है। अनुष्टुप् के द्वितीय और चतुर्थ पाद में चतुर्थ अक्षर के बाद जगण आता है तो पथ्यावक्त्र छन्द होता है। शाकु० ६–१४, २२। (२)

(१०) पुष्पिताग्रा—अयुजि नयुगरेफतो यकारो।
युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा॥

पुष्पिताग्रा छन्द के प्रथम और तृतीय चरण में १२ वर्ण होते हैं—२ नगण, १ रगण, १ यगण। द्वितीय और चतुर्थ चरण में १३ वर्ण होते हैं—१ नगण, २ जगण, १ रगण, १ गुरु। यह अर्धसम वृत्त है। शाकु० १—३२, २—३, ६—११। (३)

(११) प्रहर्षिणी—(३,१०) त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्।

प्रहर्षिणी छन्द के प्रत्येक पाद में १३ वर्ण होते हैं। १ मगण, १ नगण, १ जगण, १ रगण, १ गुरु। इसमें ३–१० पर यति होती है। शाकु० ६—२७, ३०। (२)

(१२) मन्दाक्रान्ता—(४, ६, ७)

मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्।

मन्दाक्रान्ता के प्रत्येक पाद में १७ वर्ण होते हैं। १ मगण, १ भगण, १ नगण, २ तगण, २ गुरु। इसमें ४–६–७ पर यति होती है। शाकु० १—१५,३३; २—१४,१५। (४)

(१३) मालभारिणी—विषमे ससजा गुरू समे चेत्

सभरा येन तु मालभारिणीयम्।

मालभारिणी के प्रथम और तृतीय चरण में ११ वर्ण होते हैं—२ सगण, १ जगण, २ गुरु। द्वितीय और चतुर्थ चरण में १२ वर्ण होते हैं—१ सगण, १ भगण, १ रगण, १ यगण। मालभारिणी को औपच्छन्दसिक भी कहते हैं। यह अर्धसमवृत्त है। शाकु० ३—२१, २२; ७—२०, २१। (४)

(१४) मालिनी—(८,७) ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

मालिनी छन्द के प्रत्येक पाद में १५ वर्ण होते हैं —२ नगण, १ मगण, २ यगण। इसमें ८–७ पर यति होती है। शाकु०—१—१०,१९,२०; २—४, ३—३, ५—७, ८, १९; ७—७; ३४। (१०)

(१५) रथोद्धता—रान्नराविह रथोद्धता लगौ।

रथोद्धता के प्रत्येक पाद में ११ वर्ण होते हैं—१ रगण, १ नगण, १ रगण, १ लघु, १ गुरु। शाकु० ७—१८। (१)

(१६) रुचिता—(४,९) जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः।

रुचिरा के प्रत्येक पाद में १३ वर्ण होते हैं—१ जगण, १ भगण, १ सगण, १ जगण, १ गुरु। इसमें ४–९ पर यति होती है। शाकु०. ७—३५। (१)

(१७) वंशस्थ—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

वंशस्थ के प्रत्येक पाद में १२ वर्ण होते हैं—१ जगण, १ तगण, १ जगण, १ रगण। शाकु० १—१८,२२,२३; ३—११, ४—१, ५—१२, १५, १७; ६—१३, १८, २९; ७—१०, १६, ३०। (१४)

(१८) वसन्ततिलका—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

वसन्ततिलका छन्द के प्रत्येक पाद में १४ वर्ण होते हैं—१ तगण, १ भगण, २ जगण, २ गुरु। शाकु० १—८,२७,३१; २—९,१२; ३—८,१८,२४, ४—२,३,११,१३,१४,१५,२०; ४—२,३,६,२२,२३; ६—१२,१६,२०,२५; ७—४, ६,१७,२५,२६,३२। (३०)

(१९) वियोगिनी—विषमे ससजा· गुरुः समे
सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी।

वियोगिनी के प्रथम और तृतीय पाद में १० वर्ण होते हैं—२ सगण, १ जगण १ गुरु। द्वितीय और चतुर्थ पाद में ११ वर्ण होते हैं—१ सगण, १ भगण, १ रगण, १ लघु, १ गुरु। यह अर्धसमवृत्त है। शाकु०, २--१८, ६–१, ७--१। (३)

(२०) शार्दूलविक्रीडित—(१२,७)

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।

शार्दूलविक्रीडित छन्द के प्रत्येक पाद में १९ वर्ण होते हैं—१ मगण १ सगण, १ जगण, १ सगण २ तगण, १ गुरु। इसमें १२-७ पर यति होती है। शाकु० १—१४,३०; २—२,५,६; ३—७,२३; ४—५,६,९,१७,१८; ५—९; ६—४,५, ६,१७; ७—८,११,१२,२७। (२१)

(२१) शालिनी—(४,७) मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः।

शालिनी के प्रत्येक पाद में ११ वर्ण होते हैं—१ मगण, २ तगण, २ गुरु। इसमें ४—७ पर यति होती है। शाकु० ५—३०। (१)

(२२) शिखरिणी—(६,११)

रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी।

शिखरिणी छन्द के प्रत्येक पाद में १७ वर्ण होते हैं—१ यगण, १ मगण, १ नगण, १ सगण, १ भगण, १ लघु, १, गुरु। इसमें ६–११ पर यति होती है। शाकु० १—९, २४; २—१०; ३—६; ५—१०; ६—९; ७—३३। (७)

(२३) स्रग्धरा (७,७,७)

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।

स्रग्धरा छन्द के प्रत्येक पाद में २१ वर्ण होते हैं—१ मगण, १ रगण, १ भगण, १ नगण, ३ यगण। इसमें ७-७ ७ पर यति होती है। शाकु० १—१,७। (२)

(२४) हरिणी—(६,४,७) नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता।

हरिणी छन्द के प्रत्येक पाद में १७ वर्ण होते हैं—१ नगण, १ सगण, १ मगण, १ रगण, १ सगण, १ लघु, १ गुरु। इसमें ६-४-७ पर यति होती है। शाकु० ३—१०, ४—१९, ७—२४। (३)

परिशिष्ट—४

शाकुन्तल से साम्य वाले कालिदास के अन्य श्लोक

शाकुन्तल	कालिदास के अन्य ग्रन्थ
१. या सृष्टि···। प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनु- भिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ (१-१)	एकैश्वर्यस्थितोऽपि···। अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः, सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स नस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥ (मालविका० १-१)
२. मेदश्छेदकृशोदरं लघु भव- त्युत्थानयोग्यं वपुः, सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिम- च्चित्तं भयक्रोधयोः । उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले, मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगया- मीदृग् विनोदः कुतः ॥ (२-५)	परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम् । श्रमजयात् प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥ (रघु० ९-४९)
३. उद्गलितदर्भकवला मृग्यः, परित्यक्तनर्तना मयूराः । अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥ (४-१२)	नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षाः दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः । तस्याः प्रपन्ने समदुःखभाव- मत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि ॥ (रघु० १९-६९)
४. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्...। तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ (५-२)	रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां···। गतेयमात्मप्रतिरूपमेव, मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम् ॥ (रघु० ७-१५)

५. किं तावद् व्रतिनामुपोढतपसां
विघ्नैस्तपो दूषितं,
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत
प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।
आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितै-
र्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरि-
च्छेदाकुलं मे मनः।। (५-९)

(क) राजन्प्रजासु ते कश्चि-
दपचारः प्रवर्तते।
तमन्विष्य प्रशमये-
र्भवितासि ततः कृती॥
(रघु० १५-४७)

(ख) कायेन वाचा मनसापि शश्वद्
यत्संभृतं वासवधैर्यलोपि।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः
कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत्॥
(रघु० ५-५)

६. प्रजागरात् खिलीभूत-
स्तस्याः स्वप्ने समागमः।
बाष्पस्तु न ददात्येनां
द्रष्टुं चित्रगतामपि॥ (६-२२)

(क) त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः
शिलायाम्...। अस्रैस्तावन्मुहुरुप-
चितैर्दृष्टिरालुप्यते मे, क्रूरस्तस्मिन्नपि
न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥
(मेघ० २-४४)

(ख) कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागम-
कारिणीम्। न च सुवदनामालेख्येऽपि
प्रियां समवाप्य तां, मम नयन-
योरुद्बाष्पत्वं सखे न भविष्यति।
(विक्रमो० २-१०)

७. मातले, कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः
कनकरसनिष्यन्दी सान्ध्य इव मेघ-
परिघः सानुमानालोक्यते। (७-९)

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥
(कुमार० १-१)

८. अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति।
नूनं प्रसूति विकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति॥
(६-२५)

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः,
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः॥
मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया।
पयः पूर्वैः स्वनिश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते।
(रघु० १-६६, ६७)

९. वसने परिधूसरे वसाना
नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।

आद्ये बद्धा विरहदिवसे
या शिखा दाम हित्वा
गण्डाभोगात् कठिनविषमा-
मेकवेणीं करेण ॥
(मेघ० २-२९)

१०. दिष्टया शकुन्तला साध्वी
सदपत्यमिदं भवान् ।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति
त्रितयं तत्समागतम् ॥ (७-२९)

बभौ च सा तेन सतां मतेन
श्रद्धेव साक्षाद् विधिनोपपन्ना ॥
(रघु० २-१६)

किसी भी चोट को न प्राप्त करके अव्यवस्था रहेगा ।